नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

भाग

1

सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2



आगम - ०५

'भगवती' मूलं एवं वृत्तिः [१]

मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर सूरीश्वरजी महाराज साहेब



श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

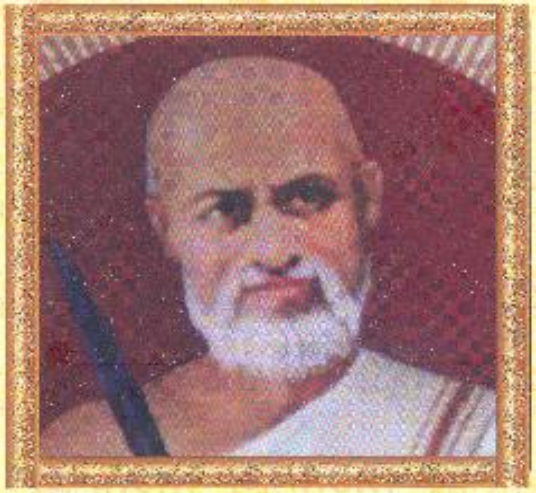
करीब पचास साल पहेले <u>परम पूज्य स्वर्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब</u> द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू-भगवंत एवं साध्वी-महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

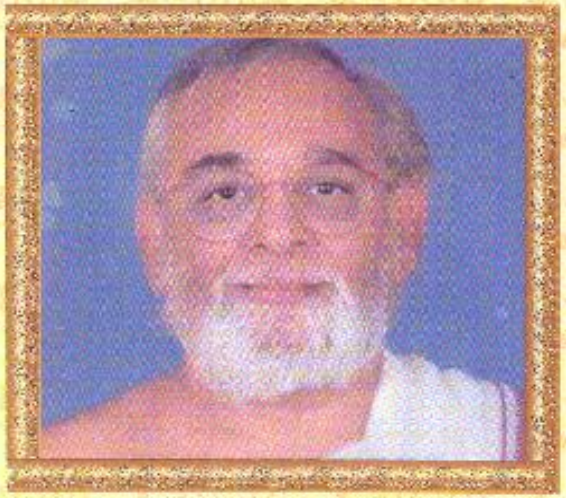
सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275



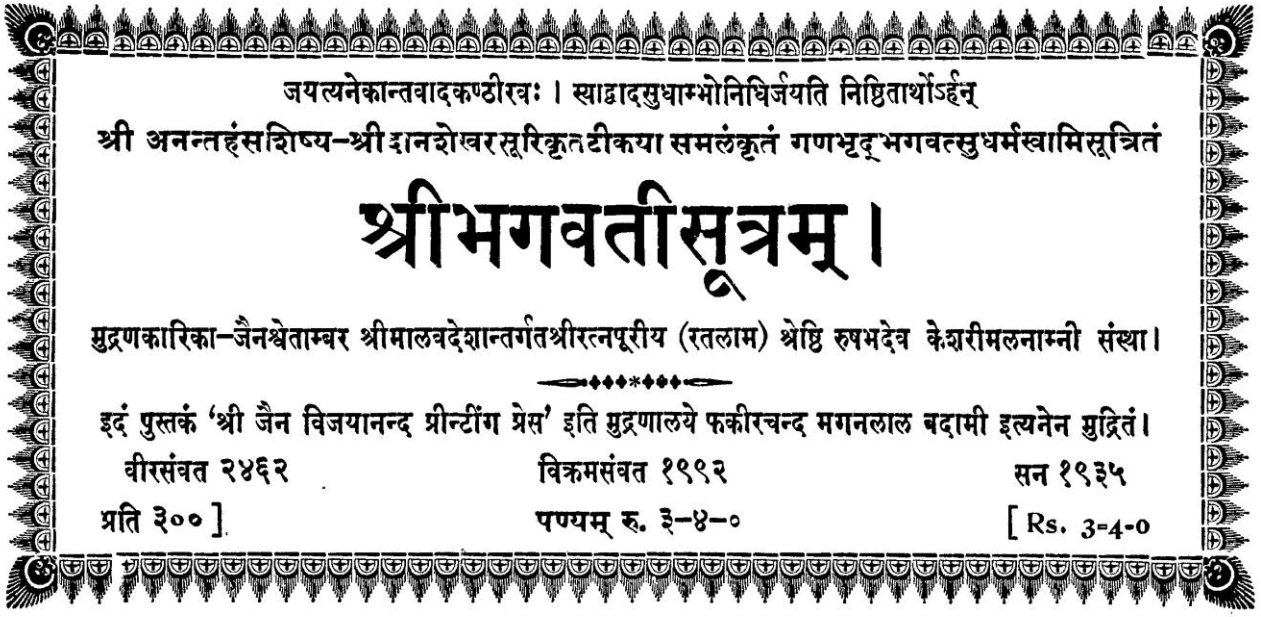
आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः



जयत्यनेकान्तवादकण्ठीरवः । स्याद्वादसुधाम्भोनिधिर्जयति निष्ठितार्थोऽर्हन्

श्री अनन्तहंसशिष्य–श्री दानशेखरसूरिकृतटीकया समलंकृतं गणभृद्भगवत्सुधर्मस्वामिसूत्रितं

श्रीभगवतीसूत्रम् ।

मुद्रणकारिका–जैनश्वेताम्बर श्रीमालवदेशान्तर्गतश्रीरत्नपूरीय (रतलाम) श्रेष्ठि रुषभदेव केशरीमलनाम्नी संस्था।

इदं पुस्तकं 'श्री जैन विजयानन्द प्रीन्टींग प्रेस' इति मुद्रणालये फकीरचन्द मगनलाल बदामी इत्यनेन मुद्रितं।

वीरसंवत २४६२	विक्रमसंवत १९९२	सन १९३५
प्रति ३००]	पण्यम् रु. ३–४–०	[Rs. 3-4-0

भगवती-(अङ्ग)सूत्रस्य मूल "टाइटल पेज"

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अव चूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ७०० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... ***.....मुनि दीपरत्नसागर...***

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

`*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्यपरिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण* " इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |

*** मुनि दीपरत्नसागर...

अनुदान दाता संस्था:- "श्री परम-आनंद श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ"

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठककर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब ५० साल पहेले <u>परम पूज्य स्व. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब</u> द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेंद्रसागरसूरीजी म०सा० ही है | इस संघमें पूज्य साधू भगवंत एवं साध्वीजीओ का उपाश्रय भी है जहा हर-साल चातुर्मास करवाके श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

**** मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" श्रेणि भाग १ से ८ के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये " सवृत्तिक-आगम-सुत्राणि-2" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई , उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे | समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रेज]पूना, शंखेश्वर, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

मूलांक::	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
♦	शतकं - १	०१४	..♦	.....शतकं - ३	---	..♦	.....शतकं - ५	----
००१	उद्देशक: ०१ चलन	०१४	१७०	उद्देशक: ०२ चमरोत्पात	१२४	२६४	उद्देशक: ०९ राजगृह	१७६
०२६	उद्देशक: ०२ दु:ख	०३९	१७८	उद्देशक: ०३ क्रिया	१३१	२७१	उद्देशक: १० चन्द्रमा	१७९
०३४	उद्देशक: ०३ कांक्षाप्रदोष	०५१	१८४	उद्देशक: ०४ यान	१३४	♦	शतकं - ६	१७९
०४६	उद्देशक: ०४ कर्मप्रकृति	०५७	१८९	उद्देशक: ०५ स्त्री	१३६	२७२	उद्देशक: ०१ वेदना	१७९
०५२	उद्देशक: ०५ पृथ्वी	०६१	१९१	उद्देशक: ०६ नगर	१३६	२७७	उद्देशक: ०२ आहार	१८१
०६९	उद्देशक: ०६ यावंत	०७3	१९३	उद्देशक: ०७ लोकपाल	१३७	२७८	उद्देशक: ०३ महा-आश्रव	१८१
०७९	उद्देशक: ०७ नैरयिक	०७९	२०१	उद्देशक: ०८ देवाधिपति	१४१	२८६	उद्देशक: ०४ सप्रदेशक	१८८
०८५	उद्देशक: ०८ बाल	०८४	२०५	उद्देशक: ०९ इन्द्रिय	१४१	२९१	उद्देशक: ०५ तमस्काय	१९९
०९४	उद्देशक: ०९ गुरुत्व	०८७	२०६	उद्देशक: १० परिषद्	१४२	३००	उद्देशक: ०६ भव्य	२०२
१०२	उद्देशक: १० चलत	०९१	♦	शतकं - ४	१४५	३०२	उद्देशक: ०७ शाली	२०३
♦	शतकं - २	०९७	२०७	उद्देशका: १-४ लोकपाल-विमान	१४५	३१३	उद्देशक: ०८ पृथ्वी	२०६
१०५	उद्देशक: ०१ स्कंदक	०९७	२१०	उद्देशका: ५-८लोकपालराजधानी	१४५	३१७	उद्देशक: ०९ कर्म	२११
११८	उद्देशक: ०२ समुद्घात	१०७	२११	उद्देशक: ०९ नैरयिक	१४६	३२०	उद्देशक: १० अन्ययूथिक	२१२
११९	उद्देशक: ०३ पृथ्वी	१०८	२१२	उद्देशक: १० लेश्या	१४६	♦..	शतकं - ७....	२१४
१२२	उद्देशक: ०४ इन्द्रिय	१०९	♦..	शतकं - ५.....	१४७	३२७	उद्देशक: ०१ आहार	२१४
१२३	उद्देशक: ०५ अन्यतीर्थिक	११०	२१५	उद्देशक: ०१ रवि	१४७	३३९	उद्देशक: ०२ विरति	२१९
१३८	उद्देशक: ०६ भाषा	११५	२२०	उद्देशक: ०२ वायु	१५२	३४५	उद्देशक: ०३ स्थावर	२२२
१३९	उद्देशक: ०७ देव	११६	२२३	उद्देशक: ०३ जालग्रंथिका	१५५	३५१	उद्देशक: ०४ जीव	२२४
१४०	उद्देशक: ०८ चमरचंचा	११७	२२५	उद्देशक: ०४ शब्द	१५६	३५३	उद्देशक: ०५ पक्षी	२२५
१४१	उद्देशक: ०९ समयक्षेत्र	११८	२४१	उद्देशक: ०५ छद्मस्थ	१६२	३५५	उद्देशक: ०६ आयु	२२५
१४२	उद्देशक: १० अस्तिकाय	११९	२४४	उद्देशक: ०६ आयु	१६२	३६१	उद्देशक: ०७ अनगार	२२९
♦..	शतकं - ३.....	१२3	२५३	उद्देशक: ०७ पुद्गल	१६७	३६५	उद्देशक: ०८ छद्मस्थ	२३१
१५१	उद्देशक: ०१ चमरविकुर्वणा	१२०	२६२	उद्देशक: ०८ निर्ग्रन्थीपुत्र	१७२	३७१	उद्देशक: ०९ असंवृत	२३३

मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
..♦	.....शतकं - ७	----	..♦	.....शतकं - १०	----	..♦	.....शतकं - १२	----
३७७	उद्देशक: १० अन्यतीर्थिक	२३७	४८२	उद्देशक: ०३ आत्मऋद्धि		५४२	उद्देशक: ०५ अतिपात	
♦	शतकं - ८	२३९	४८७	उद्देशक: ०४ श्यामहस्ती		५४६	उद्देशक: ०६ राहू	
३८१	उद्देशक: ०१ पुद्गल	२३९	४८८	उद्देशक: ०५ देव		५५०	उद्देशक: ०७ लोक	
३८९	उद्देशक: ०२ आशीविष	२४९	४९०	उद्देशक: ०६ सभा		५५२	उद्देशक: ०८ नाग	
३९७	उद्देशक: ०३ वृक्ष	२६९	४९३	उद्देशका: ०७-३४ अंतर्द्वीप		५५४	उद्देशक: ०९ देव	
४००	उद्देशक: ०४ क्रिया	२७१	♦	शतकं - ११		५६०	उद्देशक: १० आत्मा	
४०१	उद्देशक: ०५ आजीविक	२७२	४९४	उद्देशक: ०१ उत्पल		♦	शतकं - १३	
४०५	उद्देशक: ०६ प्रासुकआहार	२७५	४९९	उद्देशक: ०२ शालूक		५६३	उद्देशक: ०१ पृथ्वी	
४१०	उद्देशक: ०७ अदत्तादान	२८०	५००	उद्देशक: ०३ पलाश		५६७	उद्देशक: ०२ देव	
४१२	उद्देशक: ०८ प्रत्यनिक	२८१	५०१	उद्देशक: ०४ कुम्भिक		५६८	उद्देशक: ०३ नरक	
४२२	उद्देशक: ०९ प्रयोगबन्ध	२८१	५०२	उद्देशक: ०५ नालिक		५६९	उद्देशक: ०४ पृथ्वी	
४३०	उद्देशक: १० आराधना	३११	५०३	उद्देशक: ०६ पद्म		५८४	उद्देशक: ०५ आहार	
♦	शतकं - ९		५०४	उद्देशक: ०७ कर्णिक		५८५	उद्देशक: ०६ उपपात	
४३८	उद्देशक: ०१ जम्बू		५०५	उद्देशक: ०८ नलिन		५८९	उद्देशक: ०७ भाषा	
४४०	उद्देशक: ०२ ज्योतिष्क		५०६	उद्देशक: ०९ शिवराजर्षि		५९३	उद्देशक: ०८ कर्मप्रकृति	
४४४	उद्देशका: ०३-३० अंतर्द्विप		५१०	उद्देशक: १० लोक		५९४	उद्देशक: ०९ अनगारवैक्रिय	
४४५	उद्देशक: ३१ असोच्चा		५१४	उद्देशक: ११ काल		५९५	उद्देशक: १० समुद्घात	
४५१	उद्देशक: ३२ गांगेय		५२५	उद्देशक: १२ आलभिका		♦..	शतकं - १४.....	
४६०	उद्देशक: ३३ कुण्डग्राम		♦..	शतकं - १२.....		५९६	उद्देशक: ०१ चरम	
४७१	उद्देशक: ३४ पुरुषघातक		५२९	उद्देशक: ०१ शंख		६००	उद्देशक: ०२ उन्माद	
♦..	शतकं - १०.....		५३४	उद्देशक: ०२ जयंति		६०३	उद्देशक: ०३ शरीर	
४७३	उद्देशक: ०१ दिशा		५३७	उद्देशक: ०३ पृथ्वी		६०७	उद्देशक: ०४ पुद्गल	
४७७	उद्देशक: ०२ संवृतअनगार		५३८	उद्देशक: ०४ पुद्गल		६१२	उद्देशक: ०५ अग्नि	

मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
..♦	.....शतकं - १४		..♦	.....शतकं - १७	----	..♦	.....शतकं - १९	----
६१५	उद्देशक: ०६ आहार		७०६	उद्देशक: ०४ क्रिया		७७०	उद्देशक: ०८ निर्वृत्ति	
६१८	उद्देशक: ०७ संश्लिष्ट		७०८	उद्देशका: ६-११		७७४	उद्देशक: ०९ करण	
६२४	उद्देशक: ०८ अंतर		७१५	उद्देशक: १२ एकेन्द्रिय		७७५	उद्देशक: १० व्यंतर	
६३१	उद्देशक: ०९ अनगार		७१६	उद्देशका:१३-१७		♦	शतकं - २०	
६३६	उद्देशक: १० केवली		♦	शतकं - १८		७७९	उद्देशक: ०१ बेईन्द्रिय	
♦	शतकं - १५		७२१	उद्देशक: ०१ प्रथम		७८१	उद्देशक: ०२ आकाश	
६३७	--गोशालक		७२७	उद्देशक: ०२ विशाखा		७८३	उद्देशक: ०३ प्राणवध	
♦	शतकं - १६		७२८	उद्देशक: ०३ माकंदीपुत्र		७८५	उद्देशक: ०४ उपचय	
६६०	उद्देशक: ०१ अधिकरण		७३३	उद्देशक: ०४ प्राणातिपात		७८६	उद्देशक: ०५ परमाणु	
६६६	उद्देशक: ०२ जरा		७३६	उद्देशक: ०५ असुरकुमार		७८९	उद्देशक: ०६ अंतर	
६७०	उद्देशक: ०३ कर्म		७४०	उद्देशक: ०६ गुडवर्णादि		७९२	उद्देशक: ०७ बन्ध	
६७२	उद्देशक: ०४ जावंतिय		७४२	उद्देशक: ०७ केवली		७९३	उद्देशक: ०८ भूमि	
६७३	उद्देशक: ०५ गंगदत्त		७४९	उद्देशक: ०८ अनगारक्रिया		८०१	उद्देशक: ०९ चारण	
६७७	उद्देशक: ०६ स्वप्न		७५०	उद्देशक: ०९ भव्यद्रव्य		८०३	उद्देशक: १० आयु	
६८२	उद्देशक: ०७ उपयोग		७५३	उद्देशक: १० सोमिल		♦	शतकं - २१	
६८३	उद्देशक: ०८ लोक		♦..	शतकं - १९.....		८०६	वर्ग्ग: १ शाली-आदि	
६८७	उद्देशक: ०९ बलिन्द्र		७५८	उद्देशक: ०१ लेश्या		८१५	वर्ग्गा:२-८ मूलअलसी, वंश,	
६८८	उद्देशक: १० अवधि		७६०	उद्देशक: ०२ गर्भ			इक्षु,सेडिय, अमरुह, तुलसी	
६८९	उद्देशक: ११-१४ द्विपादि०		७६१	उद्देशक: ०३ पृथ्वी		♦	शतकं - २२	
♦..	शतकं - १७.....		७६५	उद्देशक: ०४ महाश्रव		८२२	वर्ग्गा:१-६ताड़,निम्ब,अगस्ति	
६९३	उद्देशक: ०१ कुंजर		७६६	उद्देशक: ०५ चरम			वेंगन, सिरियक,पुष्पकलिका	
६९९	उद्देशक: ०२ संयत		७६८	उद्देशक: ०६ द्वीप		♦	शतकं - २३	
७०३	उद्देशक: ०३ शैलेशी		७६९	उद्देशक: ०७ भवन		८२९	वर्ग्गा:१-४आलू,लोही,आय,पाठा	

मूलांक::	विषय:	पृष्ठांक	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
♦	शतकं - २४		♦	शतकं - २८		♦	शतकं - ३५	
८३५	उद्देशक: ०१ नैरयिक		९९२	उद्देशका: १-११ जीव आदि--		१०४४	एकेन्द्रिय शतकानि-१२	
८४३	उद्देशक: ०२ परिमाण			जाव २६ शतक		♦	शतकं - ३६	
८४४	उद्देशक: ०३-११नागादिकुमारा		♦	शतकं - २९		१०५८	बेन्द्रिय शतकानि-१२	
८४६	उद्देशक: १२-१६ पृथ्व्यादि		९९५	उद्देशका: १-११ जीव आदि--		♦	शतकं - ३७	
८५३	उद्देशक: १७-२० बेईन्द्रियादि			जाव २६ शतक		१०६१	त्रिन्द्रिय शतक	
८५७	उद्देशक: २१-२४ मनुष्यादि		♦	शतकं - ३०		♦	शतकं - ३८	
♦	शतकं - २५		९९८	उद्देशका: १-११ समवसरण,		१०६२	चतुरिन्द्रिय शतक	
८६१	उद्देशका: १-१२ लेश्या, द्रव्य,			लेश्या आदि		♦	शतकं - ३९	
	संस्थान, युग्म,पर्यव, निर्गन्थ		♦	शतकं - ३१		१०६३	असंज्ञीपंचेन्द्रिय शतकानि	
	संयत, ओघ, भव्य, अभव्य,		१००३	उद्देशका: १-२८ युग्म, नरक,		♦	शतकं - ४०	
	सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि			उपपात आदि विषयका:		१०६४	संज्ञीपंचेन्द्रिय शतकानि	
♦	शतकं - २६		♦	शतकं - ३२		♦	शतकं - ४१	
९७५	उद्देशका: १-११ जीव, लेश्या,		१०१६	उद्देशका: १-२८ नारक्स्य---		१०६८ से	उद्देशका: १-१९६ राशियुग्म,	
	पखिय, दृष्टि, अज्ञान, ज्ञान,			उद्वर्तन, उपपात, लेश्यादि		---१०७९	त्र्योजराशि, द्वापरयुग्मराशि	
	संज्ञा,वेद,कषाय,उपयोग,योग		♦	शतकं - ३३			कल्योजराशि इत्यादि	
♦	शतकं - २७		१०१८	एकेन्द्रिय शतकानि-१२			----------	
९९१	उद्देशका: १-११ जीव आदि--		♦	शतकं - ३४		१०८० से	उपसंहार गाथा	
	जाव २६ शतक		१०३३	एकेन्द्रिय शतकानि-१२		---१०८६	परिसमाप्त:	

[भगवती- मूलं एवं वृत्तिः] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

अनंतहंसजी के शिष्य श्री दानशेखरसूरिजी रचित वृत्ति की प्रत सबसे पहले "श्री भगवतीसूत्र" के नामसे सन १९३५ (विक्रम संवत १९९२) में रुषभदेव केशरीमल संस्था द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब | पूज्यपाद श्री अभयदेवसूरिजीने भी भगवतीजी सूत्र पर एक विशाल वृत्ति की रचना कि है, जो हमारी "आगम सुत्ताणि सटीकं" एवं "सवृत्तिक आगम सूत्राणि" मे मुद्रित हुइ है |

✣ हमारा ये प्रयास क्यों? ✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया, जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी, ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम, फिर शतक-वग्र्ग-उद्देशक-मूलसूत्र- आदि के नंबर लिख दिए, ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा शतक, उद्देशक आदि चल रहे है उसका सरलता से ज्ञान हो शके, बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है, उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है, इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची है|

हमने एक अनुक्रमणिका भी बनायी है, जिसमे प्रत्येक शतक, वग्र्ग एवं उद्देशक लिख दिये है , साथमें इस सम्पादन के पृष्ठांक भी दिए है, जिससे अभ्यासक व्यक्ति अपने चहिते शतक या विषय तक आसानी से पहुँच शकता है | अनेक पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट भी लिखी है, जिसमे उस पृष्ठ पर चल रहे ख़ास विषयवस्तु की, मूल प्रतमें रही हुई कोई-कोई मुद्रण-भूल की या क्रमांकन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है |

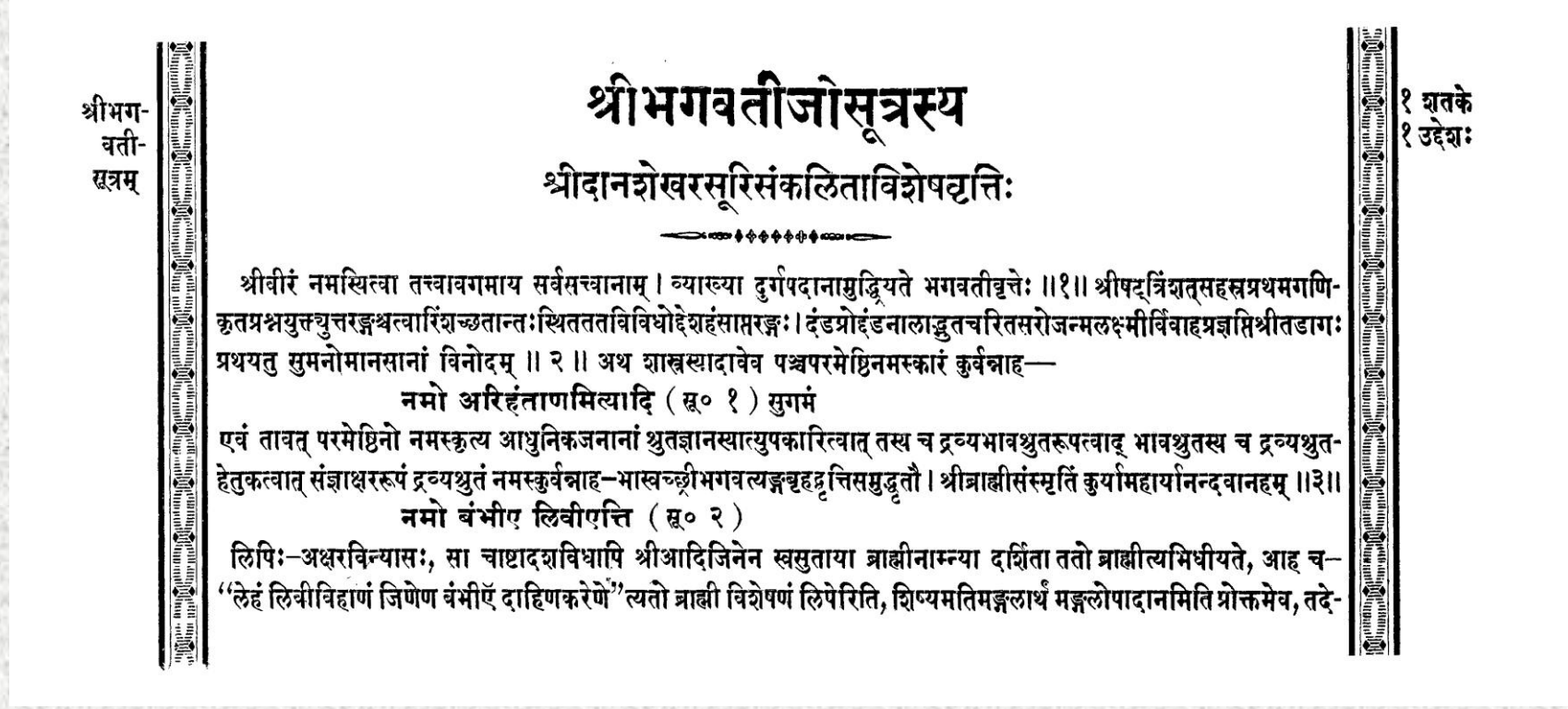
✣ शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणासे और श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि_2" भाग-१ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

. .... मुनि दीपरत्नसागर.

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः



श्रीभग-वती-सूत्रम्

श्रीभगवतीजोसूत्रस्य

श्रीदानशेखरसूरिसंकलितविशेषवृत्तिः

१ शतके १ उद्देशः

श्रीवीरं नमस्थित्वा तत्त्वावगमाय सर्वसत्त्वानाम् । व्याख्या दुर्गपदानामुद्धियते भगवतीवृत्तेः ॥१॥ श्रीषट्त्रिंशत्सहस्रप्रथमगणि-कृतप्रश्नयुक्त्युत्तरङ्गश्चत्वारिंशच्छतान्तःस्थिततत्त्वविविधोद्देशहंसाप्तरङ्गः । दंडप्रोद्दंडनालाद्भुतचरितसरोजन्मलक्ष्मीर्विवाहप्रज्ञप्तिश्रीतडागः प्रथयतु सुमनोमानसानां विनोदम् ॥ २ ॥ अथ शास्त्रस्यादावेव पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं कुर्वन्नाह—

नमो अरिहंताणमित्यादि (सू० १) सुगमं

एवं तावत् परमेष्ठिनो नमस्कृत्य आधुनिकजनानां श्रुतज्ञानस्यात्युपकारित्वात् तस्य च द्रव्यभावश्रुतरूपत्वाद् भावश्रुतस्य च द्रव्यश्रुत-हेतुकत्वात् संज्ञाक्षररूपं द्रव्यश्रुतं नमस्कुर्वन्नाह–भास्वच्छ्रीभगवत्यङ्गवृहद्वृत्तिसमुद्धृतौ । श्रीब्राह्मीसंस्मृतिं कुर्यामहार्यानन्दवानहम् ॥३॥

नमो बंभीए लिवीएत्ति (सू० २)

लिपिः–अक्षरविन्यासः, सा चाष्टादशविधापि श्रीआदिजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनाम्न्या दर्शिता ततो ब्राह्मीत्यभिधीयते, आह च– "लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिणकरेणं" त्यतो ब्राह्मी विशेषणं लिपेरिति, शिष्यमतिमङ्गलार्थं मङ्गलोपादानमिति प्रोक्तमेव, तदे-

अत्र भगवती-सूत्रे प्रथम शतकं आरभ्यते

शतक-१, उद्देशक : १ आरब्धः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

श्रीभगवतीसूत्रम्

वमस्य शास्त्रस्यैकश्रुतस्कंधरूपस्य सातिरेकाध्ययनशतमितस्य उद्देशकदशसहस्रीभूतस्य षट्त्रिंशत्सहस्रप्रश्नप्रमितस्य अष्टाशीतिसहस्राधिकलक्षद्वयप्रमाणपदराशेर्मङ्गलादीनि दर्शितानि, अथ प्रथमशते ग्रन्थान्तरपरिभाषया अध्ययने च दशोद्देशकाः स्युः,तद्गाथामिमामाह– **रायगिह चलण१ दुक्खे२ कंखपओसे३ य पगइ४ पुढवीओ५। जावंते६ नेरइए७ बाले८ गुरुए९ य चलणाओ १०।१।**

'रायगिहे'त्ति लुप्तसप्तम्येकवचनत्वाद् राजगृहे नगरे वक्ष्यमाणोद्देशकदशकस्यार्थो वीरेण दर्शित इति व्याख्येयम्, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्, **'चलण'त्ति** चलनविषयः प्रथमोद्देशकः, 'चलमाणे चलिए' इत्याद्यर्थनिर्णयार्थः १, **'दुक्खे'त्ति** दुःखविषयो द्वितीयः 'जीवा भदंत! स्वयंकृतं दुःखं वेदयन्ति?' इति प्रश्ननिर्णयार्थः २, **'कंखपओसे'त्ति** कांक्षा–मिथ्यात्वमोहनीयोदयसमुत्थोऽन्यान्यदर्शनाभिलाषरूपो जीवपरिणामः स एव प्रकृष्टो दोषो–जीवद्वेषणं कांक्षाप्रदोषः तद्विषयस्तृतीयः, 'जीवेन भदन्त! कांक्षामोहनीयं कर्म कृत'मित्यादिनिर्णयार्थः ३, **'पगइ'त्ति** प्रकृतयः–कर्मभेदाः, 'कति भदंत! कर्मप्रकृतयः?' इत्यादिनिर्णयार्थश्चतुर्थः ४, **'पुढवीओ'त्ति** 'कति भदंत! पृथिव्यः?' इत्यादिसूत्रवाच्यः पञ्चमः ५, **'जावंते'त्ति** 'यावतो भदंत! आकाशान्तरात् सूर्य उदेति' इति षष्ठः ६, **'नेरइए'त्ति** 'नैरयिको भदंत! निरये उत्पद्यमान' इति सप्तमः ७, **'बाले'त्ति** 'एकान्तबालो भदंत मनुष्य' इति अष्टमः ८, **'गुरुए'त्ति** 'कथं भदंत! जीवा गुरुकत्वमागच्छन्ति' इति नवमः ९, च समुच्चयार्थः **'चलणाओ'त्ति** बहुवचननिर्देशाच्चलनाद्या दशमोद्देशकस्यार्थाः, तत्सूत्रं चैवं–"अन्ययूथिका भदंत! एवमाख्यांति–'चलत् अचलित'मिति, सूत्रम्। प्रथमशतोद्देशकसंग्रहणीगाथार्थः ॥ तदेवं कृतमङ्गलादिकृत्योऽपि प्रथमशतादौ विशेषात् मङ्गलमाह—

नमो सुयस्सत्ति (सू० ३)

१ शतके
१ उद्देशः

॥१॥

श्रीभगवतीसूत्रम्

१ शतके १ उद्देशः

नमोऽस्तु श्रुताय-द्वादशाङ्गीरूपायार्हत्प्रवचनाय ।

वण्णओत्ति (सू० ४)

इह स्थानके नगरवर्णको वाच्यः, ग्रन्थगौरवभयादिह तस्यालिखितत्वात्, स चैवं-रिद्धत्थिमियसमिद्धे, रिद्धं-पुरभवनादिभिर्वृद्धं, स्तिमितं—स्थिरं, स्वचक्रादिभयवर्जितत्वात्, समृद्धं—धनधान्यादिविभूतियुक्तत्वात्, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः, 'पमुइयजणजाणवए' प्रमुदिता-हृष्टा जना-नगरवास्तव्याः जानपदाश्च-जनपदभवास्तत्रायाताः सन्तो यत्र तत् प्रमुदितजनजानपदमित्यादिरौपपातिकात् सव्याख्यानोऽत्र दृश्यः, 'तस्स णं'ति षष्ठ्याः पञ्चम्यर्थत्वात् तस्माद्राजगृहान्नगरात् 'बहिय'त्ति बहिस्तात् 'उत्तरपुरच्छिमे'त्ति उत्तरपौरस्त्य दिग्भाग ईशानकुणिविदिग्भागे गुणशिलकं नाम चैत्यं-व्यन्तरायतनं 'होत्थ'त्ति बभूव, इह च यन्न व्याख्यास्यते तत्प्रायः सुगमत्वादित्यवसेयमिति ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणेत्ति (सू० ५)

"श्रमु तपसि खेदे चे'ति वचनात् श्राम्यति-तपस्यतीति श्रमणः, अथवा सह शोभनेन मनसा वर्तत इति समनाः, शोभनत्वं च मनसो व्याख्यातं स्तवप्रस्तावात्, 'भगवं'ति भगवान्-ऐश्वर्यादियुक्तः, पूज्य इत्यर्थः, 'महावीरे'त्ति महांश्चासौ दुर्जयान्तररिपुतिरस्करणाद्वीरश्चेति महावीरः 'आदिकरे'त्ति आदितो धर्मम्-आचारादिश्रुतं करोतीत्यादिकरः 'सहसंबुद्धे'त्ति सह-आत्मनैव संबुद्धो, नान्योपदेशत इत्यर्थः 'धम्मवरचाउरंत'त्ति त्रयः समुद्राश्चतुर्थश्च हिमवान् एते चत्वारोऽन्ताः-पृथिव्यन्ताः तेषां स्वामी यथा चक्रवर्ती तथा भगवान् चतुर्धर्मचक्रवर्ती इति, 'तेण'मित्यादि शक्रस्तवव्याख्यानं सुगमत्वान्न विव्रियते ।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

श्रीभगवतीसूत्रम्

'तेण'मित्यादि (सू० ७)

तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'जेट्ठे'त्ति प्रथमः 'अंतेवासी'ति शिष्यः 'इंदभूइ'त्ति इन्द्रभूतिरिति मातापितृकृतनामा 'नामं'ति विभक्तिविपरिणामात् नाम्नेत्यर्थः, 'सत्तुस्सेहे'त्ति सप्तहस्तोच्छ्रयः 'वज्जरिसहनारायसंघयणे'त्ति संहननं–अस्थिसञ्चयविशेषः, इह वज्रादीनां लक्षणमिदम्–'रिसहो य होइ पट्टो वज्जं पुण कीलियं वियाणाहि। उभओ मक्कडबंधो नारायं तं वियाणाहि ॥१॥'त्ति वचनात् वज्रर्षभनाराचसंहननः, 'कणग'त्ति कनकं–सुवर्णं तस्य यः पुलको–लवः तस्य यो निकषः–कषपट्टके रेखालक्षणः 'पम्हले'त्ति पद्मपक्ष्माणि–केसराणि तद्वद्गौरो यः स तथा, 'उग्गतवे'त्ति उग्रं–अप्रधृष्यं तपः–अनशनादि यस्य सः उग्रतपाः, 'दित्ततवे'त्ति दीप्तं–जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलितं तपो–धर्मध्यानादि यस्य स तथा, 'तत्ततवे'त्ति तप्तं तपो येनासौ तप्ततपाः, 'ओराले'त्ति उदारः–प्रधानः, 'घोरे'त्ति घोरो–निर्घृणः, परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः, 'घोरगुणे'त्ति घोरा–अन्यैर्दुरनुचरा गुणा–मूलगुणादयो यस्य स तथा, 'उच्छूढसरीरे'त्ति उच्छूढं–उज्झितं रज इव वपुर्येन तत्संस्कारत्यागात् स तथा, 'संखित्त'त्ति संक्षिप्ता–शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला–अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वाद्विपुला विस्तीर्णा-अनेकयोजनमाना तेजोलेश्या–तीव्रतपोलब्धिप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा, 'सव्वक्खर'त्ति सर्वे अक्षरसंनिपाता–वर्णोच्चाररूपास्ते यस्य ज्ञेयतया सन्ति, अदूरसामंते विहरतीति योगः, तत्र दूरं-विप्रकृष्टं सामंतं च-संनिकृष्टं तन्निषेधाददूरसामंतं, नातिदूरे नातिनिकट इत्यर्थः, स किंभूत इत्याह 'उड्ढंजाणु'त्ति ऊर्द्धं जानुनी यस्य सः उत्कटुकासन इति, 'झाणकोट्ठ'त्ति ध्यानं धर्मध्यानादिकं तदेव कोष्ठः–कुशूलस्तत्र प्रविष्ट इति, 'उड्ढाए'त्ति ॥२॥

*** अत्र गौतमस्वामिन; वर्णनं क्रियते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-११] + गाथा

दीप अनुक्रम [८-१५]

श्रीभगवती-सूत्रम्

१ शतके १ उद्देशः

उत्थानं उत्था-ऊर्ध्ववर्तनं तया उत्तिष्ठति 'आयाहिण'त्ति आदक्षिणात्-दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणं परितो भ्रमणं आदक्षिणप्रदक्षिणं करोति 'वंदइ'त्ति वन्दते वाचा स्तौति 'नमंसइ'त्ति नमस्करोति 'पज्जुवास'त्ति पर्युपासीनः-सेवमानः श्रीगौतम एवं-वक्ष्यमाणप्रकारं वस्तु अवादीत्, 'से'इति तत् यदुक्तं पूज्यैः 'चलच्चलित'मित्यादि 'नूणं'ति निश्चितं 'चलमाणे चलिए'त्ति (सू० ९) चलत्— स्थितिक्षयादुदयमागच्छत् विपाकाभिमुखीभवदुदयत् कर्म तच्चलितं प्रोक्तम् १ 'उदीरिज्ज'त्ति उदीरणा नाम अनुदयप्राप्तं चिरेणागामिना कालेन यद्वेदयितव्यं कर्मदलिकं तदाकृष्योदये प्रक्षेपणमुदीरणा तया उदीर्यमाणं प्रथमसमयादिना कालेनोदीरितमुक्तं २ 'वेइज्जमाणे'त्ति वेद्यमानं-स्थितिक्षयादुदयं प्राप्तं उदीरणाकरणेन वोदयमुपनीतं आद्यसमयादिकालेन यत् कर्मदलिकं तद्वेदितं स्यात् ३ 'पहिज्ज'त्ति प्रहाणं तु जीवप्रदेशेभ्यः, पतनसमये प्रहीयमाणं कर्म प्रहीणं स्यात् ४ 'छिज्जमाणे'त्ति छेदनं दीर्घकालकर्मस्थितिकानां ह्रस्वतापादनं अपवर्तनाकरणेन कुर्यात्, तत् समये समये छिद्यमानं छिन्नं स्यात् ५ 'भिज्जमाणे'त्ति भेदस्तु शुभाशुभकर्मणस्तीव्ररसस्यापवर्तनाकरणेन मन्दताकरणं, समये समये रसतो भिद्यमानं कर्म्म भिन्नम् ६ 'डज्झमाणे'त्ति दाहस्तु कर्मदलिकदारूणां ध्यानाग्निना तद्रूपापनयनं कर्माभावजननं, तस्याप्यन्तर्मुहूर्तत्वेनासंख्यसमयस्यादिसमये दह्यमानं दग्धं ७ 'मिज्जमाणे'त्ति म्रियमाणं आयुःकर्म मृतं, मरणं ह्यायुःपुद्गलानां क्षयः, तच्चासंख्येयसमयवर्ति स्यात्, तस्य च जन्माद्यसमयादारभ्य आवीचिकमरणेन क्षणे क्षणे मरणसद्भावात् म्रियमाणं मृतम् ८ 'निज्जरिज्ज'त्ति नितराम्-अपुनर्भावेन क्षीयमाणं कर्म निर्जीर्णमिति, निर्जरणस्यासंख्यसमयभावित्वेन तत्प्रथमसमय एव निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम् ९, तदेवमेतान्नव प्रश्नान् गौतमेन वीरः पृष्टः सन्नुवाच-'हंता गोयम'त्ति हंत इति एवमेतदिति अभ्युपगमवचनं, एवमेतानि नव पदानि कर्माधिकृत्य वर्तमानातीतकालसामानाधिकरण्यजिज्ञा-

*** 'चलमाणे चलिये' इत्यादि नव प्रश्ना:

श्रीभगवतीसूत्रम्

सया पृष्टानि निर्णीतानि, अथैतानि चलनादीनि मिथः किं तुल्यार्थानि भिन्नानि वा इति पृच्छानिर्णयं दर्शयितुमाह–'एए णं भंते'त्ति इति व्यक्तम्, 'एगट्ठ'त्ति एकप्रयोजनानि च 'नाणाघोस'त्ति इह घोषा–उदात्तादयः 'नाणावंजण'त्ति व्यंजनानि–अक्षराणि 'उदाहु'त्ति उताहो निपातो विकल्पार्थः 'नाणट्ठ'त्ति नानार्थानि, इह चतुर्भङ्गी पदेषु दृष्टा, तत्र कानिचिदेकार्थानि एकव्यञ्जनानि, यथा क्षीरं क्षीरं १ तथा अन्यानि एकार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा क्षीरं पय इति २ तथा अन्यानि अनेकार्थानि एकव्यञ्जनानि यथा अर्कगव्यमाहिषाणि क्षीराणि ३ तथा अन्यानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटमुकुटलकुटशकटादीनि ४, एवं चतुर्भङ्गीसंभवेऽपि द्वितीयचतुर्थभङ्गकौ अत्र प्रश्नसूत्रे गृहीतौ, चलनादीनि चत्वारि पदान्याश्रित्य द्वितीयः, छिद्यमानादीनि पञ्च पदान्याश्रित्य चतुर्थः, कथं आद्यानि चत्वारि पदान्येकार्थानीत्याशंक्याह–'उप्पन्नपक्खस्स'त्ति इह च षष्ठ्यास्तृतीयार्थत्वात् उत्पन्नपक्षेण, उत्पादपर्यायो विशिष्टः केवलोत्पाद एव, यतः कर्मक्षये फलद्वयं–केवलज्ञानमोक्षप्राप्ती, तत्रैतानि पदानि केवलोत्पादपक्षविषयत्वादेकार्थान्युक्तानि, तत् कथं ?–चलितं सत् उदीरयति, उदीरितं सत् वेद्यते, विदितं सत् अनुभूयते, (अनुभूतं सत्) प्रहीयते, तस्मादेकार्थान्येतानि, केवलोत्पादपक्षसाधकानीत्यर्थः, अथ शेषाणि अनेकार्थानि पञ्च पदानि प्रतिपादयितुमाह–'छिज्जमाणे'त्ति छिद्यमानं छिन्नमितिपदं स्थितिबन्धाश्रयं, यतः सयोगिकेवली योगनिरोधं कर्तुकामो वेदनीयनामगोत्राख्यानां तिसृणां प्रकृतीनां दीर्घस्थितिकानां सर्वापवर्तनया अन्तर्मुहूर्तकं स्थितिबन्धं कुर्यात्, भिद्यमानं भिन्नमितिपदमनुभागबन्धाश्रयं, तत्र यस्मिन् काले स्थितिघातं करोति तस्मिन्नेव काले रसघातमपि करोति अतो रसघातकरणेन पूर्वस्माद्भिन्नार्थं पदमेतत्, दह्यमानं दग्धमितिपदं प्रदेशबन्धाश्रयं, अनन्तानां प्रदेशानां कर्मदलिकानां पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणकालपरिमाणयाऽसंख्यातसमयया गुणश्रेणीरचनया पूर्वं

१ शतके १ उद्देशः

॥३॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-११] + गाथा

दीप अनुक्रम [८-१५]

श्रीभग-वती-सूत्रम्

रचितानां शैलेशीकरणावस्थाभाविसमुच्छिन्नक्रियध्यानाग्निना प्रथमसमयादारभ्य यावदन्त्यसमयस्तावत् प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्धानां कर्मपुद्गलानां दहनं दाह इति दहनार्थेनेदं पूर्वस्माद्भिन्नार्थं, तथा म्रियमाणं मृतम् एतत्पदं आयुःकर्मविषयं, यतः आयुःपुद्गलानां प्रतिसमयं क्षयो मरणं,अनेन च मरणार्थेन पूर्वस्माद्भिन्नपदं, तथा निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णम् एतत् पदं सर्वकर्माभावविषयं निर्जरणार्थेन पूर्वपदेभ्यो भिन्नम्,अथैतानि पदानि नानार्थानि कस्य पक्षस्याभिधायकतया प्रवृत्तानि इत्याशंक्याह-'विगयपक्खस्स'त्ति विगतं विगमो-वस्तुनोऽवस्थान्तरापेक्षया विनाशः स एव पक्षो–वस्तुधर्मः तस्य वा पक्षः–परिग्रहो विगतपक्षः तस्य विगतपक्षस्य, वाचकानीति शेषः, विगमत्वं त्विहाशेषकर्माभावोऽभिमतो, जीवेन तस्याप्राप्तपूर्वतयाऽत्यन्तमुपादेयत्वात्, तदर्थत्वाच्च पुरुषप्रयासस्येति, एतानि त्वेवं विगमार्थानि भवन्ति–छिद्यमानपदे हि स्थितिखंडनं विगम उक्तः, भिद्यमानपदे त्वनुभावभेदो विगम उक्तः, दह्यमानपदे त्वकर्मताभवनं विगम उक्तः, म्रियमाणपदे पुनरायुःकर्माभावो विगम उक्तः, निर्जीर्यमाणपदे त्वशेषकर्माभावो विगम उक्तः, तदेवमेतानि विगतपक्षप्रतिपादकानि केवलोत्पत्तौ सर्वकर्मविगमाभिधानरूपसूत्राभिप्रायव्याख्यानेन निर्णीतानि ।

इहाद्यप्रश्नोत्तरसूत्रद्वये मोक्षतत्त्वं चिन्तितं, मोक्षः पुनर्जीवस्य, तेन जीवाश्च नारकादयश्चतुर्विंशतिविधा उक्ताः, यदाह–"नेरइया १ असुराई १० पुढवाई ५ बेंदियादओ ३ चेव। पंचिंदियतिरिय १ नरा १ वंतर १ जोइसिय १ वेमाणी १ ॥१॥" तत्र नारकान् स्थित्यादिभिश्चिंतयन्नाह-'नेरइयाणं'ति, निर्गतमयम्-इष्टफलं येषां ते निरयाः तेषु भवा नैरयिकाः तेषां नैरयिकाणां, 'दस वाससहस्स'त्ति प्रथमपृथिवीप्रथमप्रस्तटापेक्षया, 'तेत्तीसं'ति सप्तमपृथिव्यपेक्षया उत्कृष्टा, शेषा सर्वापि कालस्थितिर्मध्यमा ज्ञेया १। 'केवइकालस्स'त्ति प्राकृतशैल्या कियता कालेन 'आनमंति'त्ति 'अन श्वस प्राणने' इतिधातुपाठात् मकारस्यागमिकत्वात्, एवं प्राणमंति, एतदेव

१ शतके १ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-११] + गाथा

दीप अनुक्रम [८-१५]

श्रीभगवती-सूत्रम्

पदद्वयमर्थतः स्पष्टयन्नाह-'ऊससंति नीससंति व'त्ति, यदेवोक्तमानमंति तदेवोक्तमुच्छ्वसंति यदेवोक्तं प्राणंति तदेव निःश्वसन्ति, 'जहा ऊसासपए'त्ति एतत् प्रश्नोत्तरं प्रज्ञापनासप्तमपदे यथा तथा वाच्यं, तच्चेदं 'गोयमा ! सययं संतयामेव आणमंति वा पाणमं० उस० नीस०' 'सययं'ति–सततं निरन्तरमेव 'संतयामेव'त्ति नैकसमयेऽपि तद्विरहोऽस्तीतिभावः २ । अथ तेषामाहारं प्रश्नयन्नाह–'आहारट्ठि'त्ति आहारमर्थयन्ते–प्रार्थयन्ते इत्येवंशीलाः आहारार्थिनः 'जहा पन्नवणाए'त्ति यथा प्रज्ञापनायाः आहारपदस्याष्टाविंशतितमस्योद्देशकः, पदशब्दलोपात्, प्रथमे आहारोद्देशके तथा वाच्यो, नैरयिकाणां स्थित्यादिद्वारगाथामाह—'ठिति उस्सासाहार'त्ति स्थित्युच्छ्वासावुक्तावेव 'आहार'त्ति आहारविधिर्वाच्यः, स चैवं–नेरइयाणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?, आहारार्थः—आहारप्रयोजनम्, गोयमा ! नेरइयाणं दुविहे आहारे पन्नत्ते, तंजहा—आभोगणिव्वत्तिए अणाभोगणिव्वत्तिए, आभोगनिर्वर्त्तितः—आहारयामीतीच्छापूर्वकनिष्पन्नः, अनाभोगस्त्वेवमाहारयामीतीच्छामन्तरेण, प्रावृट्काले प्रचुरतरप्रश्रवणाद्यभिव्यङ्ग्यशीतपुद्गलाहारवत्, तत्थ णं जे से अणाभोगणिव्व० से णं अणुसमयमविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ, अनुसमयं–प्रतिक्षणं अविरहितं (प्रति) समयं क्षुद्वेदनीयकर्मोदयत ओजाहारादिना प्रकारेण, तत्थ णं जे आभोगणिव्वत्तिए से णं असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ, आहारयामीत्यभिलाष एषामसंख्यसामयिकान्तर्मुहूर्तान्निर्वर्तितः ४। 'किं वाहारेंति'त्ति किंस्वरूपं वा वस्तु नारका आहारयन्ति, गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइं–अनन्तप्रदेशवन्ति पुद्गलद्रव्याणि, तदन्येषामयोग्यत्वात्, खेत्तओ असंखेज्जपएसावगाढाइं–असंख्यातप्रदेशावगाढानि, तन्यूनतरप्रदेशावगाढानि तु तेषां न ग्रहणप्रायोग्यानि, अनन्तप्रदेशावगाढानि तु न भवन्त्येव, सकललोकस्याप्यसंख्येयप्रदेशपरिमाणत्वात्, कालओ अण्णतरट्ठिइयाइं–जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितिकानि, स्थितिश्चा-

१ शतके १ उद्देशः

॥४॥

*** अत्र नारकाणां आहार विषयक वर्णनं क्रियते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-११] + गाथा

दीप अनुक्रम [८-१५]

श्रीभगवतीसूत्रम्

१ शतके १ उद्देशः

हारयोग्यस्कंधपरिणामेनावस्थानं इत्यर्थः, भावओ वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आहारेंति, जाइं भावओ वण्णमंताइं आहारेंति ताइं किं एगवण्णाइं आहारेंति जाव किं पंचवण्णाइं आहारेंति? गोयमा! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवण्णाइंपि आहारेंति जाव पंचवण्णाइंपि आहारेंति, विहाणमग्गणं पडुच्च कालवण्णाइंपि आहारेंति जाव सुक्किल्लाइंपि आहारेंति, तत्र 'ठाणमग्गणं पडुच्च'त्ति तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं–सामान्यं यथैकवर्णमित्यादि, 'विहाणमग्गणं पडुच्च'त्ति विधानं–विशेषः कालनीलादिरिति ६, जाइं वण्णओ कालवण्णाइं आहारेंति ताइं किं एगगुणकालाइं आहारेंति जाव दसगुणकालाइं आहारेंति? संखेज्जगुणकालाइं० असंखेज्जगुणकालाइं० अणंतगुणकालाइं आहारेंति?, गोयमा! एगगुणकालाइंपि आहारेंति जाव अणंतगुणकालाइंपि आहारेंति ७, एवं नीलवण्णाइं ८, पीयवण्णाइं ९, रत्तवण्णाइं १०, सुक्किल्लाइं ११, एवं गंधओऽवि सुब्भिगंधाइं १२ दुब्भिगंधाइं १३, रसओविति जाइं भावओ रसमंताइं किं तित्त १ कडुय २ अंबिल ३ महुर ४ कसाय ५ परिणयाइं आहारेंति १८, एवं जाइं भावओ फासमंताइं ताइं ठाणमग्गणं पडुच्च णो एगफासाइं आहारेंति णो दुफासाइं आहारेंति नो तिफासाइं आहारेंति, एकस्पर्शानामसंभवात्, अन्येषां चाल्पप्रादेशिकतासूक्ष्मपरिणामाभ्यां ग्रहणायोग्यत्वात्, चउफासाइंपि आहारेंति जाव अट्ठफासाइंपि आहारेंति, बहुप्रदेशतावादरपरिणामाभ्यां ग्रहणयोग्यत्वादिति, यथा एकस्मिन् सहकारे गुरुत्वं १ मृदुत्वं २ शीतत्वं ३ स्निग्धत्वं ४ एवं चत्वारः स्पर्शाः, एतद्विपरीतास्त्वन्ये चत्वारः स्पर्शाः ज्ञेयाः, विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाइंपि आहारेंति जाव लुक्खाइंपि आहारेंति १९, जाइं फासओ कक्खडाइं आहारेंति ताइं किं एगगुणकक्खडाइं आहारेंति जाव अणंतगुणकक्खडाइंपि आहारेंति?, गोयमा! एगगुणकक्खडाइंपि जाव अणंतगुणकक्खडाइंपि आहारेंति २०-२७, एवं अट्ठवि फासा भाणियव्वा जाव अणंतगुणलुक्खाइं आहारेंति, ताइं किं पुट्ठाइं आहारेंति अपुट्ठाइं आहारेंन्ति?, गोयमा!

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-११] + गाथा

दीप अनुक्रम [८-१५]

श्रीभग-वती-सूत्रम्

पुट्ठाइं आहारेंति, नो अपुट्ठाइं आहारेंति २८, पुट्ठाइंति-आत्मप्रदेशस्पर्शवन्ति, तत् पुनरात्मप्रदेशस्पर्शनमवगाहक्षेत्राद् बहिरपि भवति अत उच्यते—जाइं भंते ! पुट्ठाइं आहारेंति ताइं किं ओगाढाइं आहारेंति अणोगाढाइं आहारेंति ?, गोयमा ! ओगाढाइं, नो अणोगाढाइं अवगाढानीति—आत्मप्रदेशैः सह एकक्षेत्रावगाढानीत्यर्थः २९, जाइं भंते ! ओगाढाइं आहारेंति ताइं किं अणंतरोगाढाइं आहारेंति परंपरोगाढाइं आहारेंति ?, गोयमा ! अणंतरोगाढाइं आहारेंति, नो परंपरोगाढाइं आहारेंति, अनन्तरावगाढानीति–येषु प्रदेशेषु आत्मा अवगाढस्तेष्वेव यानि अवगाढानि तानि अनन्तरावगाढानि, अन्तराभावेनावगाढत्वात्, यानि च तदनन्तरवर्तीनि तानि अवगाढसंबंधात् परंपरावगाढानीति ३०, जाइं भंते ! अणंतरोगाढाइं ताइं किं अणूइं आहारेंति ? बायराइं आहारेंति ?, गोयमा ! अणूइंपि आहारेंति बायराइंपि आहारेंति, तत्राणुत्वं बादरत्वं चापेक्षिकं तेषामेव आहारयोग्यानां स्कंधानां प्रदेशवृद्ध्या वृद्धानामवसेयम् ३१, जाइं भंते ! अणूइंपि आहारेंति बादराइंपि आहारेंति ताइं किं उड्ढं आहारेंति ? एवं अहोऽवि तिरियंपि ?, गोयमा ! उड्ढंपि आहारेंति एवं अहोवि० तिरियंपि० ३२, जाइं भंते ! उड्ढंपि आहारेंति अहेवि० तिरियंपि आहारेंति ताइं किं आदिं आहारेंति मज्झे आहारेंति पज्जवसाणे आहारेंति ?, गोयमा ! तिहावि, अयमर्थः–आभोगनिर्वर्तितस्याहारस्यांतर्मौहूर्तिकस्यादिमध्यावसानेषु सर्वत्राहारयन्तीति ३३, जाइं भंते ! आई मज्झे अवसाणेवि आहारेंति ताइं किं सविसए आहारेंति ? अविसए आहारेंति ?, गोयमा ! सविसए, नो अविसए आहारेंति, तत्र स्वः–स्वकीयो विषयः स्पृष्टावगाढानंतरावगाढाख्यः स्वविषयः तस्मिन् आहारयन्ति ३४, जाइं भंते ! सविसए आहारेंति ताइं किं आणुपुव्विं आहारेंति ? अणाणुपुव्विं आहारेंति ?, गोयमा ! आणुपुव्विं आहारेंति, तत्रानुपूर्व्या यथाऽऽसन्नं, नातिक्रम्य ३५, जाइं भंते ! आणुपुव्विं आहारेंति ताइं किं तिदिसिं आहारेंति ? जाव छदिसिं आहारेंति ?, गोयमा ! नियमा

१ शतके १ उद्देशः

॥५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-११] + गाथा

दीप अनुक्रम [८-१५]

श्रीभगवतीसूत्रम्

१ शतके १ उद्देशः

छद्दिसिं आहारेंति, इह नारकाणां लोकमध्यवर्तित्वेन पण्णामप्यूर्ध्वादिदिशामलोकेनानावृतत्वात् षट्सु दिक्षु आहारग्रहणमस्ति, तत उक्तं–नियमात् षड्दिशि, दिक्त्रयादिविकल्पास्तु लोकान्तवर्तिषु पृथिवीकायिकादिषु दिशां त्रयस्य द्वयस्य एकस्याश्चालोकेनावरणे भवंतीति, यद्यपि वर्णतः पंचवर्णानीत्याद्युक्तं तथापि प्राचुर्येण यद्वर्णगंधादियुतानि द्रव्याण्याहारयन्ति तद्दर्शयति–'उस्सण्णकारणं पडुच्च'त्ति बाहुल्यलक्षणं कारणमाश्रित्य, तत्र च प्रकृत्यशुभानुभाव एव कारणमिति, वण्णओ कालनीलाइं, गंधओ दुब्भिगंधाइं, रसओ तित्तकडुयरसाइं, फासओ कक्खडगुरुयसीयलुक्खाइं, एतानि च प्रायो मिथ्यादृष्टय एवाहारयन्ति, न तु भविष्यत्तीर्थकरादय इति, अथ तानि यथास्वरूपाण्येव नारका आहारयन्ति अन्यथा वेत्यस्यामाशङ्कायामभिधीयते–तेसिं पोराणे वण्णगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे विप्परिणमइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता, विपरिणामादयो विनाशार्थत्वेनैकार्था एव ध्वनयः, अण्णे य अपुव्वे वण्णगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे उप्पाएत्ता आयसरीरोगाढे पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारेंति, सव्वप्पणयाएत्ति सर्वात्मना, सर्वैरात्मप्रदेशैरित्यर्थः ३६, व्याख्यातं सूत्रसंग्रहगाथायाः किंवाऽऽहारेंतीतिपदम्, अथ 'सव्वओ वावी'ति व्याख्यायते, तत्र सर्वतः प्रदेशैः किं वापिशब्दात् अभीक्ष्णं नारका आहारयन्ति, तच्चैवं–नेरइया णं भंते ! किं सव्वओ आहारेंति सव्वओ परिणामेंति सव्वओ ऊससंति सव्वओ नीससंति वा अभिक्खणमाहारेंति, एवं पूर्ववत् सर्वत्र योज्यं, आहच्च आहारेंति ४ ?, हंता गोयमा ! नेरइया सव्वओ आहारेंति, 'सव्वओ'त्ति सर्वात्मप्रदेशैः, 'अभिक्खणं'ति अनवरतं पर्याप्तत्वे सति 'आहच्चे'ति कदाचित्, न सर्वदा, अपर्याप्तकावस्थायामिति ३७, 'कइभागं'ति आहारतयोपात्तपुद्गलानां कतिभागं आहारयन्ति ?, तच्चैवं–नेरइया० जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते णं तेसिं पोग्गलाणं सेयालंसि कतिभागमाहारेंति ? कइभागमासाएंति ?, गोयमा ! असंखेज्जइभा-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७-११] + गाथा

दीप अनुक्रम [८-१५]

श्रीभगवतीसूत्रम्

गमाहारेंति, अणंतभागमासाएंति, 'सेयालंसि'ति एष्यत्काले, ग्रहणकालोत्तरकालमिति, 'असंखेज्ज'त्ति अत्र केचिदाहुः—गवादिप्रथमबृहद्ग्रासग्रहणमिव कश्चिद् गृहीतासंख्येयभागमात्रान् पुद्गलानाहारयति, तदन्ये तु पतन्ति, अन्ये पुनराहुः असंखिज्जइभागमाहारेंतित्ति शरीरतया परिणमयन्ति, शेषास्तु किट्टीभूय मनुष्याभ्यवहृताहारवन्मलीभवन्ति, न शरीरत्वेन परिणमन्तीत्यर्थः, 'अणंतभागं'ति आहारतयाऽऽत्तपुद्गलानामनन्तभागमास्वादयन्ति, तद्रसादीन् रसनादीन्द्रियद्वारेणोपलभन्ते ३८, 'सव्वाणि व'त्ति सर्वाण्येवाहारद्रव्याणि आहारयन्ति, तच्चैवं—नेरइया णं भंते ! जे पोग्गला आहारत्ताए परिणमंति ते किं सव्वे आहारेंति णो सव्वे आहारेंति ?, गोयमा ! सव्वे अपरिसेसिए आहारेंति, इह विशिष्टग्रहणगृहीता आहारपरिणामयोग्या एव ग्राह्याः,उज्झितशेषा इत्यर्थः, अन्यथा पूर्वापरसूत्रयोर्विरोधः स्यात्, दृष्टा चैवं व्याख्या, यदाह—"जं जह सुत्ते भणियं तहेव जइ तं वियाणणा णत्थि। किं कालियाणुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ? ॥१॥ ३९, 'कीस व'त्तिपदे पदसमुदायोपचारात् कीसत्ताएत्ति दृश्यं, स्वभावतया कीदृशतया—केन प्रकारेण किंरूपतया 'भुज्जो'त्ति भूयो भूयः परिणमन्ति आहारद्रव्याणि, नेर० जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो २ परिणमंति ?, गोयमा ! सोइंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए, अणिट्ठत्ताए अकंतत्ताए अप्पियत्ताए अमणुन्नत्ताए अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए अहत्ताए नो उड्ढत्ताए दुक्खत्ताए नो सुहत्ताए एएसिं भुज्जो २ परिणमंति, तत्रानिष्टतया—सामान्येनावल्गुभतया, अकांततया सदा सद्भावेनाकमनीयतया, अप्रियतया सर्वेषामेव द्वेष्यतया, अमनोज्ञतया कथयाऽप्यमनोरमतया, अमनोगम्यतया चिन्तयाऽपि अमनोगम्यतया, अनीप्सिततया आप्तुमनिष्टतया, एकार्थाश्चैते शब्दाः, अभिज्झियत्ताए—अभिध्येयतया, तृप्तेरनुत्पादकत्वेन पुनरप्यभिलाषनिमित्ततया, अहत्ताएत्ति गुरुपरिणामतया, नो उड्ढत्ताए, नो

१ शतके १ उद्देशः

॥६॥

श्रीभगवतीसूत्रम्

लघुपरिणामतयेति संग्रहगाथार्थः ४०॥ अथ नारकाहारविषयं प्रश्नचतुष्टयमाह—

'नेरइयाण'मित्यादि० (सू. १२)

'पुव्वाहारिय'त्ति ये पूर्वकाले आहृताः—संगृहीता अभ्यवहृता वा 'पोग्गल'त्ति पुद्गलस्कंधाः ते 'परिणय'त्ति परिणता वपुष्परिणतिं गता इति प्रथमः प्रश्नः १, 'आहारिय'त्ति आहृताः पूर्ववत् 'आहरिज्जमाण'त्ति ये वर्तमानकाले आहियमाणाः—संगृह्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः इति द्वितीयः प्रश्नः २, 'अणाहारिय'त्ति ये अतीतकाले अनाहृताः, 'आहरिज्जिस्समाण'त्ति येऽनागते काले आहरिष्यमाणाः पुद्गलास्ते परिणताः इति तृतीयः प्रश्नः ३, तथा अणाहारिया अणाहरिज्जिस्समाणत्ति अतीतानागताहरणक्रियानिषेधाच्चतुर्थः ४, इह च यद्यपि चत्वार एव प्रश्ना उक्ताः तथाप्येते त्रिषष्टिः संभवन्ति, यतः पूर्वाहृताः आहियमाणा आहरिष्यमाणाः ३ अनाहृता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः ३ इतीह षड् भङ्गाः सूचिताः, तदेकैकपदाश्रयणेन षट् ६ द्विकयोगे १५ त्रिकयोगे २० चतुष्कयोगे १५ पंचकयोगे ६ षट्योगे एक १ इति, अथैतद्व्यक्तिर्विशेषतो विविच्यते, यथा आहृताः १ आहियमाणाः १ आहरिष्यमाणाः १ अनाहृताः १ अनाहियमाणाः १ अनाहरिष्यमाणाः १ अतीतवर्तमानानागतकालभेदैरेककयोगा जाताः षट्, अथ द्विकयोगाः पञ्चदश, ते चैवं—यथा आहृता आहियमाणाः १ आहृता आहरिष्यमाणाः २ आहृता अनाहृताः ३ आहृता अनाहियमाणाः ४ आहृता अनाहरिष्यमाणाः ५ आहियमाणा आहरिष्यमाणाः ६ आहियमाणा अनाहृताः ७ आहियमाणा अनाहियमाणाः ८ आहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः ९ आहरिष्यमाणा अनाहृताः १० आहरिष्यमाणा अनाहियमाणाः ११ आहरिष्यमाणा अनाहरिष्यमाणाः १२ अनाहृता अनाहियमाणाः १३ अनाहृता अनाहरिष्यमाणाः १४ अनाहियमाणा अनाहरिष्य-

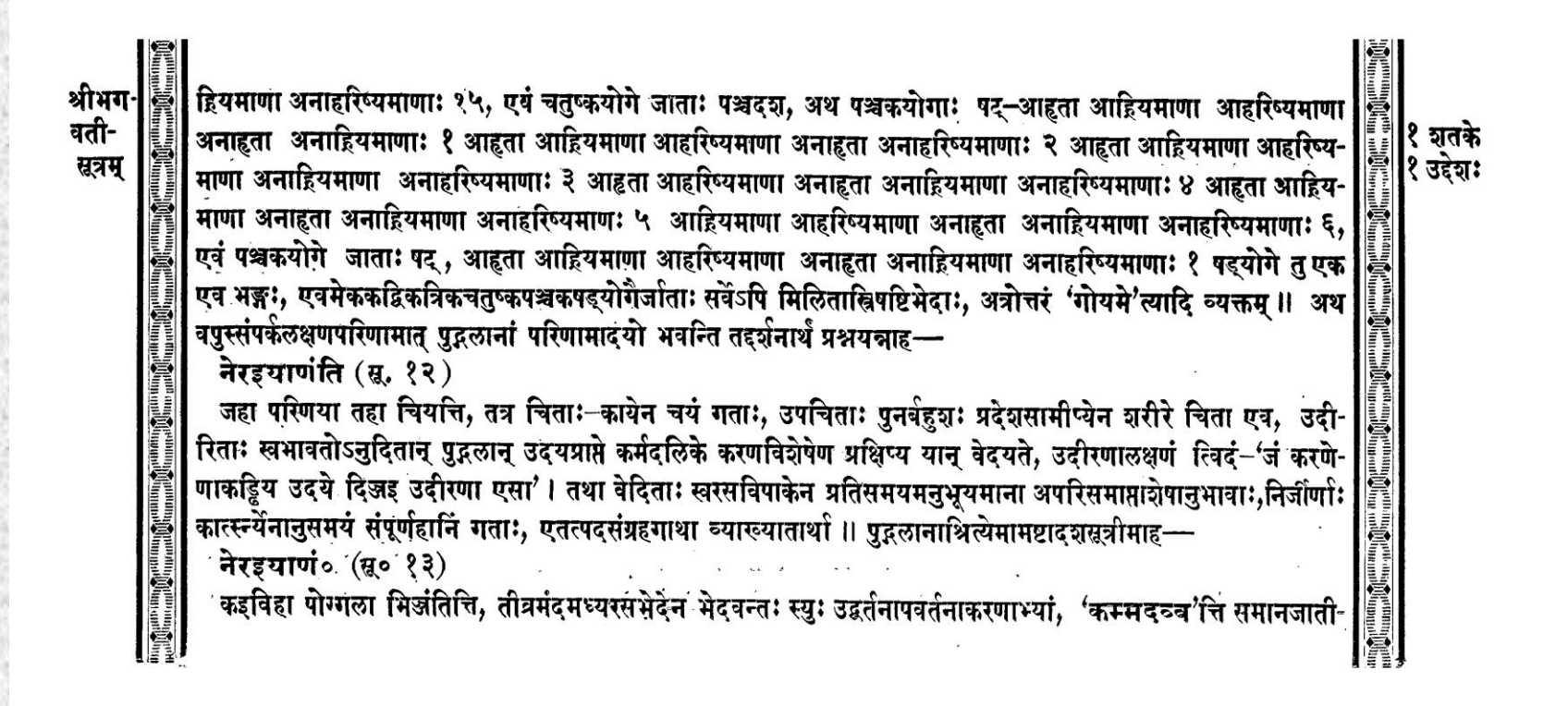
१ शतके १ उद्देशः

श्रीभग-वती-सूत्रम्

माणाः १५, अथ त्रिकयोगाः, आहता आहियमाणा आहरिष्यमाणाः १ आहता आहियमाणा अनाहताः २ आहता आहियमाणा अनाहियमाणाः ३ आहियमाणा अनाहरिष्यमाणा अनाहताः ४ आहता आहरिष्यमाणा अनाहताः ५ आहता आहरिष्यमाणा अनाहियमाणाः ६ आहता आहरिष्यमाणा अनाहरिष्यमाणाः ७ आहता अनाहता अनाहियमाणाः ८ आहता अनाहता अनाहरिष्यमाणाः ९ आहता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः १० आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहताः ११ आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहियमाणाः १२ आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहरिष्यमाणाः १३ आहियमाणा अनाहता अनाहियमाणाः १४ आहियमाणा अनाहता अनाहरिष्यमाणाः १५ आहियमाणा अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः १६ आहरिष्यमाणा अनाहता अनाहियमाणाः १७ आहरिष्यमाणा अनाहता अनाहरिष्यमाणाः १८ आहरिष्यमाणा अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः १९ अनाहता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः २० एवं त्रिकयोगे जाता विंशतिः, अथ चतुष्कयोगाः—आहता आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहताः १ आहता आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहियमाणाः २ आहता आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहरिष्यमाणाः ३ आहता आहरिष्यमाणा अनाहता अनाहियमाणाः४ आहता आहरिष्यमाणा अनाहता अनाहरिष्यमाणाः ५ आहता आहरिष्यमाणा अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः ६ आहता आहियमाणा अनाहता अनाहियमाणाः ७ आहता आहियमाणा अनाहता अनाहरिष्यमाणाः ८ आहता आहियमाणा अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः ९ आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहता अनाहियमाणाः १० आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहता अनाहरिष्यमाणाः ११ आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः १२ आहरिष्यमाणा अनाहता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः १३ आहता अनाहता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः १४ आहियमाणा अनाहता अना-

१ शतके १ उद्देशः

॥७॥



श्रीभगवतीसूत्रम्

ह्रियमाणा अनाहरिष्यमाणाः १५, एवं चतुष्कयोगे जाताः पञ्चदश, अथ पञ्चकयोगाः षट्–आहृता आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहृता अनाहियमाणाः १ आहृता आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहृता अनाहरिष्यमाणाः २ आहृता आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः ३ आहृता आहरिष्यमाणा अनाहृता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः ४ आहृता आहियमाणा अनाहृता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणः ५ आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहृता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः ६, एवं पञ्चकयोगे जाताः षट्, आहृता आहियमाणा आहरिष्यमाणा अनाहृता अनाहियमाणा अनाहरिष्यमाणाः १ षड्योगे तु एक एव भङ्गः, एवमेककद्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकषड्योगैर्जाताः सर्वेऽपि मिलिताश्त्रिषष्टिभेदाः, अत्रोत्तरं 'गोयमे'त्यादि व्यक्तम् ॥ अथ वपुस्संपर्कलक्षणपरिणामात् पुद्गलानां परिणामादयो भवन्ति तद्दर्शनार्थं प्रश्नयन्नाह—

नेरइयाणंति (सू. १२)

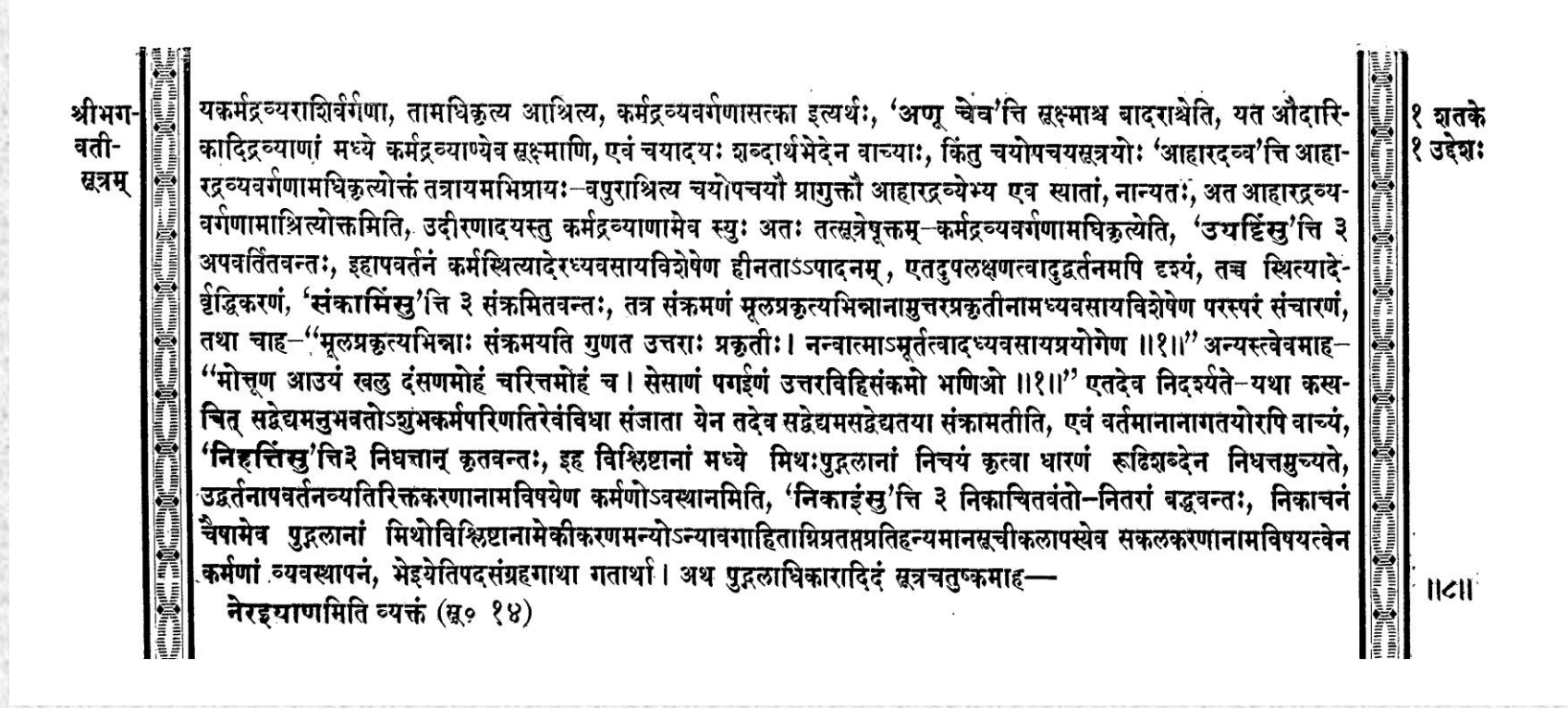
जहा परिणया तहा चियत्ति, तत्र चिताः–कायेन चयं गताः, उपचिताः पुनर्बहुशः प्रदेशसामीप्येन शरीरे चिता एव, उदीरिताः स्वभावतोऽनुदितान् पुद्गलान् उदयप्राप्ते कर्मदलिके करणविशेषेण प्रक्षिप्य यान् वेदयते, उदीरणालक्षणं त्विदं–'जं करणेणाकड्ढिय उदये दिज्जइ उदीरणा एसा'। तथा वेदिताः स्वरसविपाकेन प्रतिसमयमनुभूयमाना अपरिसमाप्ताशेषानुभावाः,निर्जीर्णाः कात्स्न्र्येनानुसमयं संपूर्णहानिं गताः, एतत्पदसंग्रहगाथा व्याख्यातार्था ॥ पुद्गलानाश्रित्येमामष्टादशसूत्रीमाह—

नेरइयाणं० (सू० १३)

कइविहा पोग्गला भिज्जंतित्ति, तीव्रमंदमध्यरसभेदेन भेदवन्तः स्युः उद्वर्तनापवर्तनाकरणाभ्यां, 'कम्मदव्व'त्ति समानजाती-

१ शतके १ उद्देशः

*** अत्र पुद्गलानां परिणाम संबंधी-वर्णनं क्रियते



श्रीभगवतीसूत्रम्

यकर्मद्रव्यराशिर्वर्गणा, तामधिकृत्य आश्रित्य, कर्मद्रव्यवर्गणासत्का इत्यर्थः, 'अणू चेव'त्ति सूक्ष्माश्च बादराश्चेति, यत औदारिकादिद्रव्याणां मध्ये कर्मद्रव्याण्येव सूक्ष्माणि, एवं चयादयः शब्दार्थभेदेन वाच्याः, किंतु चयोपचयसूत्रयोः 'आहारदव्व'त्ति आहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्योक्तं तत्रायमभिप्रायः—वपुराश्रित्य चयोपचयौ प्रागुक्तौ आहारद्रव्येभ्य एव स्यातां, नान्यतः, अत आहारद्रव्यवर्गणामाश्रित्योक्तमिति, उदीरणादयस्तु कर्मद्रव्याणामेव स्युः अतः तत्सूत्रेषूक्तम्—कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्येति, 'उयट्टिंसु'त्ति ३ अपवर्तितवन्तः, इहापवर्तनं कर्मस्थित्यादेरध्यवसायविशेषेण हीनताऽऽपादनम्, एतदुपलक्षणत्वादुद्वर्तनमपि द्रष्टव्यं, तच्च स्थित्यादेर्वृद्धिकरणं, 'संकामिंसु'त्ति ३ संक्रमितवन्तः, तत्र संक्रमणं मूलप्रकृत्यभिन्नानामुत्तरप्रकृतीनामध्यवसायविशेषेण परस्परं संचारणं, तथा चाह—"मूलप्रकृत्यभिन्नाः संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः। नन्वात्माऽमूर्तत्वादध्यवसायप्रयोगेण ॥१॥" अन्यस्त्वेवमाह—"मोत्तूण आउयं खलु दंसणमोहं चरित्तमोहं च। सेसाणं पगईणं उत्तरविहिसंकमो भणिओ ॥१॥" एतदेव निदर्श्यते—यथा कस्यचित् सद्वेद्यमनुभवतोऽशुभकर्मपरिणतिरेवंविधा संजाता येन तदेव सद्वेद्यमसद्वेद्यतया संक्रामतीति, एवं वर्तमानानागतयोरपि वाच्यं, 'निहत्तिंसु'त्ति३ निधत्तान् कृतवन्तः, इह विश्लिष्टानां मध्ये मिथःपुद्गलानां निचयं कृत्वा धारणं रूढिशब्देन निधत्तमुच्यते, उद्वर्तनापवर्तनव्यतिरिक्तकरणानामविषयेण कर्मणोऽवस्थानमिति, 'निकाइंसु'त्ति ३ निकाचितवंतो—नितरां बद्धवन्तः, निकाचनं चैषामेव पुद्गलानां मिथोविश्लिष्टानामेकीकरणमन्योऽन्यावगाहितायोग्निप्रतप्तप्रतिहन्यमानसूचीकलापस्येव सकलकरणानामविषयत्वेन कर्मणां व्यवस्थापनं, भेइयेतिपदसंग्रहगाथा गतार्था। अथ पुद्गलाधिकारादिदं सूत्रचतुष्कमाह—

नेरइयाणमिति व्यक्तं (सू० १४)

१ शतके १ उद्देशः

॥८॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१४]

दीप अनुक्रम [१९]

श्रीभगवतीसूत्रम्

१ शतके १ उद्देशः

'तेयाकंमत्ताए'त्ति तेजःशरीरकार्मणशरीरतया तद्रूपतया वा 'तीतकालसमए'त्ति कालः–समयः अतीतकालस्योत्सर्पिण्यादेः परमनिकृष्टोऽंशोऽतीतकालसमयः 'पडुप्पण्ण'त्ति प्रत्युत्पन्नो–वर्तमानः एवं त्रिकालस्वरूपं वाच्यं,उत्तरमध्येयं, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन असत्त्वात् तद्विषयग्रहणप्रतिषेधः, प्रत्युत्पन्नत्वेऽप्यभिमुखान् गृह्णाति, नान्यान् , 'गहणसमयपुरक्खडे'त्ति ग्रहणसमयः पुरस्कृतो–वर्तमानसमयस्य पुरोवर्त्ती येषां ते ग्रहणसमयपुरस्कृताः ग्रहीष्यमाणा इतियावत् , ऊदीरणा च पूर्वगृहीतानामेवातोऽतीतकालसमयगृहीतानुदीरयन्ति, वर्तमानगृह्यमाणानां ग्रहीष्यमाणानां वा निषेधः, तत उक्तं–'नो पडुप्पण्णे'त्यादिपदद्वयं, वेदनानिर्जरासूत्रयोरप्येषैवोपपत्तिरिति। अथ कर्माधिकारादेवेयमष्टसूत्री—

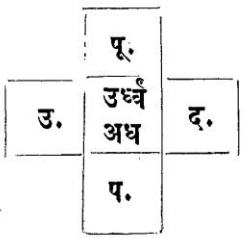
नेरइयाणं भंते ! जीवाओ किं चलियंति (सू० १५)

जीवप्रदेशेभ्यश्चलितं-अनवस्थानशीलं तदितरत्त्वचलितं तदेव बध्नाति, एवमुदीरणावेदनापवर्तनासंक्रमनिधत्तनिकाचनानि भाव्यानि, निर्जरा च पुद्गलानां निरनुभावीकृतानामात्मप्रदेशेभ्यः शातनं, सा नियमाच्चलितस्य कर्मणो, नाचलितस्य, इह सङ्ग्रहणीगाथा गतार्था, केवलमुदयशब्देनोदीरणा गृहीतेति। उक्ता नारकवक्तव्यता,अथ चतुर्विंशतिदंडकक्रमागतामसुरकुमारवक्तव्यतामाह–असुरकुमारवक्तव्यता नारकवक्तव्यतावज्ञेया, यतः 'ठिईऊसासाहारे'त्यादिगाथोक्तानि ४० सूत्राणि 'परिणयचिए' इति गाथोक्तानि ६ 'भेइयचिए' इति गाथोक्तानि १८ 'बंधोदये' इति गाथोक्तानि ८, तदेवं च द्विसप्ततिः सूत्राणि नारकप्रकरणोक्तानि त्रयोविंशतावसुरादिप्रकरणेषु समानि, नवरं–विशेषोऽयं–उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमंति इत्युक्तं बलीन्द्रमाश्रित्य, यतः—"चमर बलि सारमहियं"ति, 'सत्तण्हं थोवाणं'ति सप्तानां स्तोकानामुपरीति गम्यते, स्तोकलक्षणं चेदं–"हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो। एगे ऊसासनी-

*** अत्र 'समय' विषयक वर्णनं क्रियते

श्रीभगवतीसूत्रम्

सासे एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥१॥ सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे । लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥२॥" इदं जघन्यमुच्छ्वासादिमानं जघन्यस्थितिकानां,उत्कृष्टं चोत्कृष्टस्थितिकानां,'चउत्थभत्तस्स'त्ति चतुर्थभक्तमित्येकोपवासस्य संज्ञा, एकत्र दिने भुक्त्वाऽहोरात्रमतिक्रम्य तृतीये भुङ्क्ते इति भावः, नागकुमारवक्तव्यतायां 'उक्कोसेणं दो देसूणाइं पलिओवमाइं'ति यदुक्तं तदुत्तरश्रेणिमाश्रित्य, यतः–"दाहिण दिवड्ढ पलियं दो देसूणुत्तरिल्लाण"मिति,'मुहुत्तपुहुत्तस्स'त्ति मुहूर्तः–उक्तलक्षण एव, पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यः संख्याविशेषः, एवं 'सुवण्णकुमाराणवि'त्ति नागकुमाराणामिव सुपर्णकुमाराणामपि स्थित्यादि वाच्यं, जाव थणियकुमाराणंति यावत् स्तनितकुमाराणां । अथ पृथिव्यादिस्थित्यादीन्याह–'पुढवी'त्यादि व्यक्तमाक्नस्पतिसूत्रात्, नवरं 'अंतोमुहुत्तं'ति मुहूर्तस्यान्तरन्तर्मुहूर्तं, भिन्नमुहूर्तमित्यर्थः 'उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं'ति तत् खरपृथिवीमाश्रित्योक्तं,यदाह-"सण्हा य १ सुद्ध २ वालु०" 'वेमायाए'त्ति विषमा विविधा वा मात्रा-कालविभागो विमात्रा तया, इदमुक्तं स्यात्-विषमकाला पृथिवीकायिकानामुच्छ्वासादिक्रिया, इयत्कालादिति या न निरूपयितुं शक्या, 'जहा नेरइयाण'मित्यतिदेशात् 'खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं कालओ अण्णयरठिइयाइं' इत्यादि दृश्यं,'निव्वाघाए'त्ति व्याघातः आहारस्य लोकान्तर्निष्कुटेषु कोणेषु स्यात्, नान्यत्र, षट्सु दिक्षु, कथं?, चतसृषु पूर्वादिदिक्षु ऊर्ध्वमधश्च पुद्गलग्रहणं करोति, तत्स्थापना चैवं 'वाघायं' व्याघातं 'पडुच्च'त्ति प्रतीत्य, व्याघातो लोकान्तकोणेषु स्यात् तत्र च 'सिय तिदिसिं'ति स्यात्–कदाचित् तिसृषु दिक्षु आहारग्रहणं स्यात्, कथं?, यदा पृथ्वीकायिकोऽधस्तने उपरितने वा कोणे स्थितः स्यात् तदाऽधस्तादलोकः पूर्वदक्षिणयोश्चालोकः, एवं तिसृणा-



१ शतके १ उद्देशः

॥९॥

मलोकावृतत्वात् तदन्यासु तिसृषु दिक्षु पुद्गलग्रहणं स्यात्,एवमुपरितनकोणेऽपि पुद्गलग्रहणं वाच्यं, यदाऽध उपरि वाऽलोको न स्यात्तदा चतसृषु, यदा पूर्वादीनां षण्णां दिशामन्यतरस्यामलोकः स्यात् तदा पञ्चस्वपि, 'सेसं'ति शेषं भणितावशेषं तथैव यथा नारकाणां तथा पृथिवीकायिकादीनामपि, तच्चेदं–'जाइं भंते! लुक्खाइं आहारेंति ताइं किं पुट्ठाइं अपुट्ठाइं ओगाढाइं अणोगाढाइं' इत्यादि, 'नाणत्तं'ति नानात्वं–भेदः पृथिव्यादीनां नारकापेक्षयाऽऽहारं प्रतीदं–कतिभागमाहारेंति इति, एवं फासाइंति आहारपुद्गलान् स्पर्शयन्ति, स्पर्शनेन्द्रियेण आहारपुद्गलानां कतिभागं स्पृशन्तीत्यर्थः, 'सेसं जह'त्ति, तच्चैवं–'पुढविकाइयाणं भंते! पुव्वाहारिया पोग्गला परिणया' इत्यादि प्राग्वद्व्याख्येयं, पृथ्वीवदप्तेजोवायूनां स्वरूपं ज्ञेयं, नवरं 'ठिई'त्ति (१६ सू.)'जा जस्स'त्ति जघन्यमन्तर्मुहूर्तं सर्वेषां,उत्कृष्टं तु त्रयाणां अपां सप्त वर्ष सहस्राणि, तेजसामहोरात्रत्रयं वायूनां त्रीणि वर्षसहस्राणि जाव वणस्सइत्ति वनस्पतीनां दश, इत्युक्ता पृथिव्यादिपञ्चकस्थितिः 'बेंदियाणं'ति द्वीन्द्रियाणां द्वादश वर्षाणि, द्वीन्द्रियाहारसूत्रं चैवं 'तत्थ णं'ति तस्यायमर्थः-असंख्यातसामयिक आहारकालः स्यात् , स चावसार्पिण्यादिरूपोऽप्यस्ति अत उच्यते–आन्तर्मौहूर्तिकः, तत्रापि विमात्रया अंतर्मुहूर्तसमयासंख्यातत्वस्यासंख्येयभेदत्वादिति 'बेंदियाणं दुविहे'त्ति लोमाहार ओघतो वर्षादिषु यः पुद्गलप्रवेशः, प्रक्षेपाहारस्तु कावलिकः, तत्र प्रक्षेपाहारे बहवः अस्पृष्टा एव शरीरादन्तर्बहिश्च विध्वंसन्ते, स्थौल्यसौक्ष्म्याभ्यां, अत एव आह--जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ति, 'असंखिज्जभागं'ति, असंख्यातभागं 'अणेगाइं'ति असंख्येयभागाः अणासाइंति रसनेन्द्रियतः अफासाइंति स्पर्शनेन्द्रियतः, सव्वत्थोवत्ति सर्वस्तोकाः, अनास्वाद्यमानानां अस्पृश्यमानानां चानंतभागवर्तिनो रसनेन्द्रियविषया इति,ये त्वस्पृश्यमानास्तेऽनन्तगुणाः रसनेन्द्रियविषयेभ्यः सकाशात्, 'तेंदिय'त्ति त्रिचतुरिन्द्रिययोः स्थितिः एकोनपञ्चाशद् दिनानि षण्मासाश्च, तथाऽऽहारेऽपि नानात्वं अणाघाइंति अनाघ्रायमाणानि, अत्रैतदतिरिक्तं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१५-१७]

दीप अनुक्रम [२०-२३]

श्रीभगवतीसूत्रम्

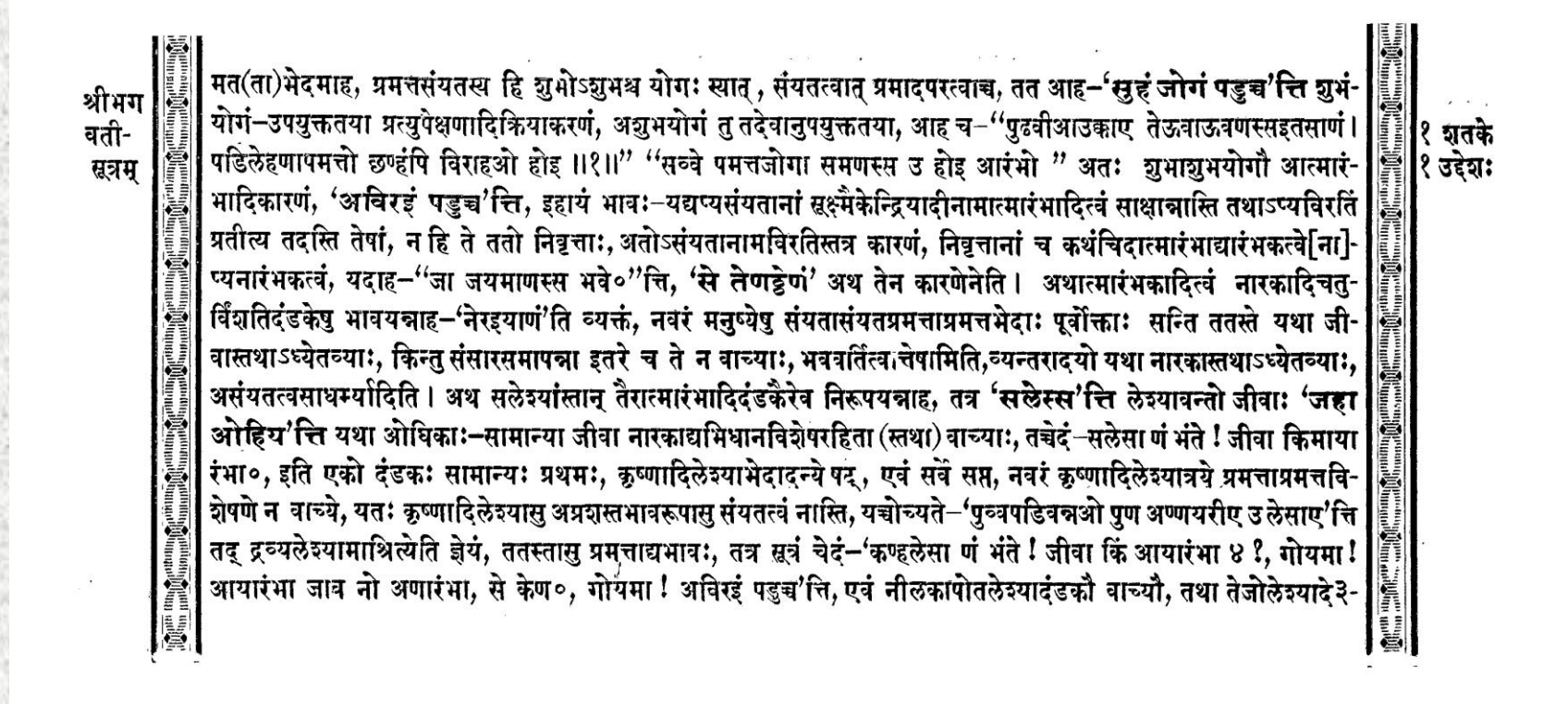
घ्राणेन्द्रियं, चतुरिन्द्रियाणां चक्षुरधिकं, एतन्नानात्वं ज्ञेयं, पञ्चेन्द्रियतिरश्चां स्थितिं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तां उत्कृष्टतस्त्रिपल्योपमां च भणित्वा उच्छ्वासो विमात्रया वाच्यः, 'छट्ठभत्तस्स'त्ति तदेवकुरूत्तरकुरुतियक्षु लभ्यते, मनुष्यसूत्रे 'अट्ठमभत्तस्स'त्ति देवकुर्वादिमिथुनकनरानाश्रित्य ज्ञेयमिति, 'वाणमंतराणं'ति व्यन्तराणां स्थितौ नानात्वं, स्थितेरवशेषं प्रागुक्तमाहारादि वस्तु यथा नागकुमाराणां, व्यन्तराणां नागकुमाराणां च प्रायः साधर्म्यात्, तत्र व्यन्तरस्थितिर्जघन्येन दश वर्षसहस्राणि उत्कर्षेण तु पल्योपममिति, 'जोइसियाणं'ति तत्र ज्योतिष्कस्थितिर्जघन्येन पल्योपमाष्टभागः, उत्कर्षेण वर्षलक्षाधिकं पल्योपमं, 'उस्सासो'त्ति उच्छ्वासश्च तेषां 'जहण्णेणं'ति पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यः, तत्र यत् जघन्यं मुहूर्तपृथक्त्वं तद्विज्ञा मुहूर्ताः, उत्कृष्टं तदष्टौ नव च, आहारस्तथैव ज्ञेयः, 'वेमाणि'त्ति वैमानिकानां 'ओहिय'त्ति औधिकी सामान्या, सा च पल्योपमादिका त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता, जघन्यमुच्छ्वासप्रमाणं जघन्यस्थितिकदेवान् इतरत्तूत्कृष्टस्थितिकदेवांश्चाश्रित्य ज्ञेयं, अत्र गाथा 'जस्स जइ सागराइं तस्स ठिई तत्तिएहिं पक्खेहिं। ऊसासो देवाणं वाससहस्सेहिं आहारो ॥१॥ ग्रन्थेनैवं चतुर्विंशतिर्दंडा उक्ताः, एवमुक्ता नारकादिकर्मवक्तव्यता, सा आरंभपूर्विका इत्यारंभनिरूपणायाह—

जीवा णं भंते किमायारंभत्ति(१७सू.)आरंभो-जीवोपघातः,तत्र आत्मानं आत्मना वा स्वयमारभन्ते इत्यात्मारंभाः परमारभन्ते परेण वाऽऽरंभयन्तीति परारंभाः तदुभयं–आत्मपररूपं तदुभयेन वाऽऽरभन्ते इति तदुभयारंभाः,आत्मपरोभयारंभवर्जितास्त्वनारंभाः इति प्रश्नाः ४, नवरं अस्तिशब्दस्याव्ययत्वेन बहुत्वार्थत्वादस्ति–विद्यन्ते सन्तीत्यर्थः, **'एगइय'त्ति** एकका:–एके केचन जीवाः कदाचिदात्मारंभाः कदाचित् परारंभाः कदाचिदुभयारंभाः, एते एव नोऽनारंभाः, भिन्नार्थत्वं त्वेवम्–एके जीवा असंयताः आत्मारंभाः परारंभा वा इति, **'से केणट्ठेणं'**ति अथ केन कारणेन ?, **'दुविहा पण्णत्त'त्ति** मयाऽन्यैश्च केवलिभिः, अनेन सर्वसर्वविदां

१ शतके
१ उद्देशः

॥१०॥

*** 'आरंभ" विषयक निरूपणं



श्रीभगवती-सूत्रम्

मत(ता)भेदमाह, प्रमत्तसंयतस्य हि शुभोऽशुभश्च योगः स्यात्, संयतत्वात् प्रमादपरत्वाच्च, तत आह–**'सुहं जोगं पडुच्च'त्ति** शुभयोगं–उपयुक्ततया प्रत्युपेक्षणादिक्रियाकरणं, अशुभयोगं तु तदेवानुपयुक्ततया, आह च–"पुढवीआउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं। पडिलेहणापमत्तो छण्हंपि विराहओ होइ ॥१॥" "सव्वे पमत्तजोगा समणस्स उ होइ आरंभो " अतः शुभाशुभयोगौ आत्मारंभादिकारणं, **'अविरइं पडुच्च'त्ति**, इहायं भावः–यद्यप्यसंयतानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनामात्मारंभादित्वं साक्षान्नास्ति तथाऽप्यविरतिं प्रतीत्य तदस्ति तेषां, न हि ते ततो निवृत्ताः, अतोऽसंयतानामविरतिस्तत्र कारणं, निवृत्तानां च कथंचिदात्मारंभाद्यारंभकत्वे[ना]प्यनारंभकत्वं, यदाह–"जा जयमाणस्स भवे०"त्ति, **'से तेणट्ठेणं'** अथ तेन कारणेनेति। अथात्मारंभकादित्वं नारकादिचतुर्विंशतिदंडकेषु भावयन्नाह–**'नेरइयाणं'**ति व्यक्तं, नवरं मनुष्येषु संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तभेदाः पूर्वोक्ताः सन्ति ततस्ते यथा जीवास्तथाऽध्येतव्याः, किन्तु संसारसमापन्ना इतरे च ते न वाच्याः, भवत्वर्तित्वात्तेषामिति,व्यन्तरादयो यथा नारकास्तथाऽध्येतव्याः, असंयतत्वसाधर्म्यादिति। अथ सलेश्यांस्तान् तैरात्मारंभादिदंडकैरेव निरूपयन्नाह, तत्र **'सलेस्स'त्ति** लेश्यावन्तो जीवाः **'जहा ओहिय'त्ति** यथा ओधिकाः–सामान्या जीवा नारकाद्यभिधानविशेषरहिता (स्तथा) वाच्याः, तच्चेदं–सलेसा णं भंते ! जीवा किमायारंभा०, इति एको दंडकः सामान्यः प्रथमः, कृष्णादिलेश्याभेदादन्ये षट्, एवं सर्वे सप्त, नवरं कृष्णादिलेश्यात्रये प्रमत्ताप्रमत्तविशेषणे न वाच्ये, यतः कृष्णादिलेश्यासु अप्रशस्तभावरूपासु संयतत्वं नास्ति, यच्चोच्यते–'पुव्वपडिवन्नओ पुण अण्णयरीए उ लेसाए'त्ति तद् द्रव्यलेश्यामाश्रित्येति ज्ञेयं, ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावः, तत्र सूत्रं चेदं–'कण्हलेसा णं भंते ! जीवा किं आयारंभा ४ ?, गोयमा ! आयारंभा जाव नो अणारंभा, से केण०, गोयमा ! अविरइं पडुच्च'त्ति, एवं नीलकापोतलेश्यादंडकौ वाच्यौ, तथा तेजोलेश्यादे३-

१ शतके १ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१५-१७]

दीप अनुक्रम [२०-२२]

श्रीभगवती-सूत्रम्

जीवस्थानस्य दंडकाः ३ वाच्याः, यथा औधिकदंडकस्तथैतेऽपि, नवरं तेषु सिद्धा न वाच्याः, सिद्धानामलेश्यत्वात्, तच्चैवं—तेउलेस्सा णं भंते! जीवा किं आया०? ४, गोयमा! अत्थेगइया आयारंभावि जाव नो अणारंभा ४, अत्थेगइया नो आयारंभा जाव अणारंभा ४, से केणट्ठेणं०?, गोयमा! दुविहा तेउलेस्सा पन्नत्ता, तंजहा—संजया य असंजया य'इत्यादि॥ अथ भवाभावहेतुकं ज्ञानादिधर्मकदम्बमाह—

इहभविएत्ति (सू० १८)

इह भवे—वर्तमानजन्मनि यद्वर्तते तदैहभविकं ज्ञानं, एवं परभवेऽनंतरमनुगामितया यद्वर्तते तत्पारभविकं ज्ञानं,'तदुभय'त्ति इह-परलक्षणयोर्भवयोर्यदनुगामितया स्यात्तत्तदुभयभविकं ज्ञानमिति प्रश्नः, **'इहभविए'त्ति** उत्तरं तथैव, **'दंसणंपि एवमेव'त्ति** दर्शनं—सम्यक्त्वमवसेयं, मोक्षाधिकारात्, चरित्रसूत्रं व्यक्तं, तत्र विशेषः पुनरयं—चारित्रमैहभविकमेव, नहि चारित्रवानिह भूत्वा तेनैव चारित्रेण पुनश्चारित्री स्यात्, यावज्जीवावधिकत्वात्तस्य, अनुष्ठानरूपत्वाच्च चारित्रस्य शरीराभावे तदयोगात्, अत एवोच्यते—'सिद्धे नो चरित्ती नो अचरित्ती' नो अचरित्तीति अविरतेरभावादिति, एवं तपस्संयमावपि वाच्यौ, चारित्ररूपत्वात्तयोरिति।

असंवुडे णं (सू० १९)

असंवृतोऽनगारः—अविद्यमानगृहः, साधुरित्यर्थः, **सिज्झइत्ति** सिध्यति सिद्धियोग्यः स्यात् **'बुज्झइ'त्ति** उत्पन्नकेवलज्ञानतया सर्वजीवादिपदार्थान् जानाति, त(य)दाऽर्थान् जानाति तदा बुध्यते इत्युच्यते,**'मुच्चइ'त्ति** स एव केवली कर्मभिः प्रतिसमयं विमुच्यमानो मुच्यते इति भण्यते, **'परिनिव्वाइ'त्ति** स एव यथा यथा समयं समयं कर्मक्षयमाप्नुयात् तथा तथा शीतीभवन् परि-

१ शतके १ उद्देशः

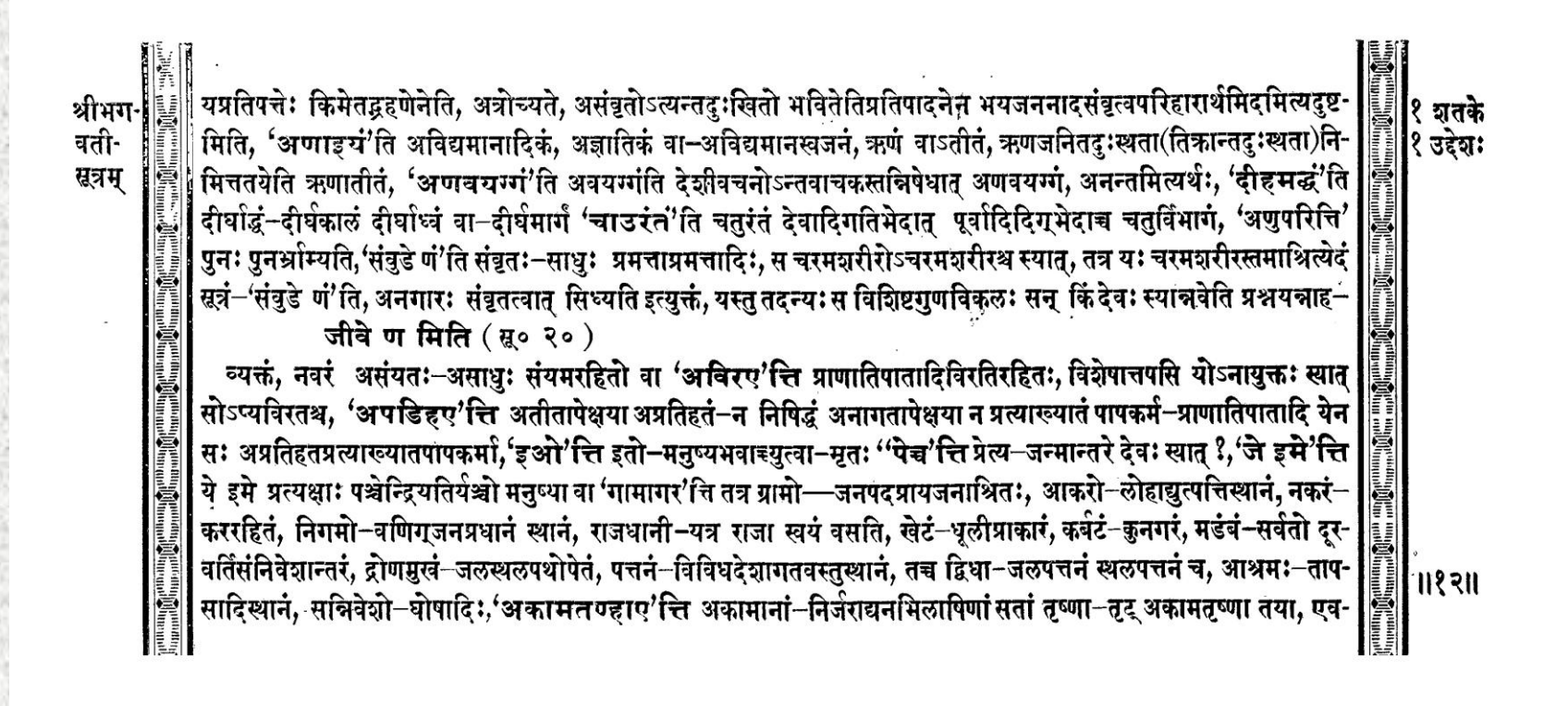
॥११॥

*** असंवृत अनगारस्य गतिः संबंधे स्पष्टिकरणम्

श्रीभगवतीसूत्रम्

निर्वातीति प्रोच्यते, स एव आयुरन्त्यसमये सर्वदुःखानामन्तं कुर्यादिति प्रश्नः, उत्तरं च कण्ठ्यं,'नो इणट्ठे समट्ठे'त्ति नायमर्थः समर्थो–बलवान्. 'आउयवज्जाओ'त्ति यस्मादेकत्र भवग्रहणे सकृदेवान्तर्मुहूर्तमात्रकाले एवायुषो बन्धः तत उक्तमायुर्वर्ज्या इति, 'सिढिलबंधणबद्धाओ'त्ति श्लथबन्धनं स्पृष्टता वा बद्धता वा निधत्तता वा तेन बद्धाः–आत्मप्रदेशेषु सम्बन्धिताः पूर्वावस्थायाम(संवृतत्वाद)शुभतरपरिणामस्य च कथंचिदभावादिति शिथिलबंधनबद्धाः, एताश्च शुभा एव द्रष्टव्याः, असंवृतभावस्य निन्दाप्रस्तावात्, ताः किमित्याह–'धणियबंधणबद्धाओ'त्ति गाढतरबंधना बद्धावस्था वा निधत्तावस्था वा निकाचितावस्था वा प्रकरोति–कर्तुमारभते, असंवृतत्वस्याशुभयोगरूपत्वेन गाढतरप्रकृतिबंधहेतुत्वाद्, आह च–"जोगा पयडिपएसं"ति, पौनःपुन्यभावे त्वसंवृतत्वस्य ताः करोत्येवेति, तथा 'हस्सकाल'त्ति ह्रस्वकालस्थितिकाः दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिः–उपात्तस्य कर्मणोऽवस्थानं तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः, असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वेन स्थितिबंधहेतुत्वाद्, आह च–"ठिइमणुभागं कसायओ कुणइ"त्ति, तथा 'मंदाणुभावे'त्यादि, इहानुभावो विपाको रसविशेष इत्यर्थः, ततश्च मन्दानुभावाः–परिपेलवरसाः सतीर्गाढरसाः प्रकरोति, असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वादेव, अनुभागबंधस्य च कषायप्रत्ययत्वादिति, 'अप्पपएसे'त्यादि, अल्पं–स्तोकं प्रदेशाग्रं–कर्मदलिकपरिमाणं यासां ताः तथा ता बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति, प्रदेशबंधस्यापि योगप्रत्ययत्वादसंवृतस्य च योगरूपत्वादिति, 'आउयं चे'त्यादि, आयुः पुनः कर्म स्यात्–कदाचिद् बध्नाति स्यात्–कदाचित् न बध्नाति, यस्मात् त्रिभागाद्यवशेषायुषः परभवायुः प्रकुर्वन्ति इति, तेन यदा त्रिभागादिः तदा बध्नाति अन्यदा न बध्नातीति, तथा 'असाये'त्यादि, असातवेदनीयं च–दुःखवेदनीयं कर्म पुनर्भूयो भूय उपचिनोति–उपचितं करोति, ननु कर्मसप्तकान्तर्वर्त्तित्वादसातवेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणेभ्य एव तदुपच-

१ शतके
१ उद्देशः



श्रीभगवतीसूत्रम्

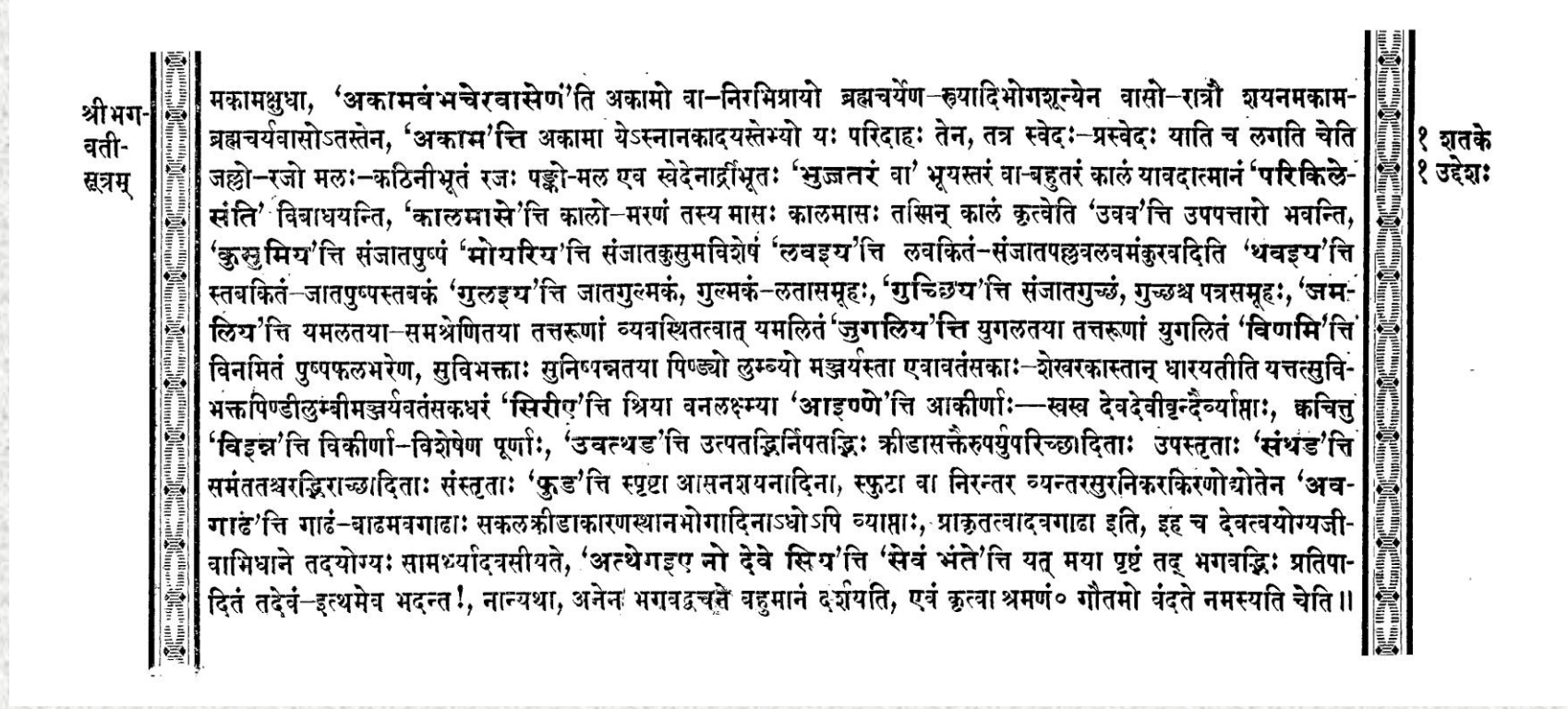
यप्रतिपत्तेः किमेतद्ग्रहणेनेति, अत्रोच्यते, असंवृतोऽत्यन्तदुःखितो भवितेतिप्रतिपादनेन भयजननादसंवृत्वपरिहारार्थमिदमित्यदुष्टमिति, **'अणाइयं'**ति अविद्यमानादिकं, अज्ञातिकं वा–अविद्यमानस्वजनं, ऋणं वाऽतीतं, ऋणजनितदुःस्थता(तिक्रान्तदुःस्थता)निमित्ततयेति ऋणातीतं, **'अणवयग्गं'**ति अवयग्गंति देशीवचनोऽन्तवाचकस्तन्निषेधात् अणवयग्गं, अनन्तमित्यर्थः, **'दीहमद्धं'**ति दीर्घाद्धं–दीर्घकालं दीर्घाध्वं वा–दीर्घमार्गं **'चाउरंतं'**ति चतुरंतं देवादिगतिभेदात् पूर्वादिदिग्भेदाच्च चतुर्विभागं, **'अणुपरियट्टि'** पुनः पुनर्भ्रम्यति,**'संवुडे णं'**ति संवृतः–साधुः प्रमत्ताप्रमत्तादिः, स चरमशरीरोऽचरमशरीरश्च स्यात्, तत्र यः चरमशरीरस्तमाश्रित्येदं सूत्रं–**'संवुडे णं'**ति, अनगारः संवृतत्वात् सिध्यति इत्युक्तं, यस्तु तदन्यः स विशिष्टगुणविकलः सन् किं देवः स्यान्नवेति प्रश्नयन्नाह–

जीवे ण मिति (सू० २०)

व्यक्तं, नवरं असंयतः–असाधुः संयमरहितो वा **'अविरए'**त्ति प्राणातिपातादिविरतिरहितः, विशेषात्तपसि योऽनायुक्तः स्यात् सोऽप्यविरतश्च, **'अपडिहए'**त्ति अतीतापेक्षया अप्रतिहतं–न निषिद्धं अनागतापेक्षया न प्रत्याख्यातं पापकर्म–प्राणातिपातादि येन सः अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा,**'इओ'**त्ति इतो–मनुष्यभवाच्च्युत्वा–मृतः **''पेच्च'**त्ति प्रेत्य–जन्मान्तरे देवः स्यात् ?,**'जे इमे'**त्ति ये इमे प्रत्यक्षाः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्या वा **'गामागर'**त्ति तत्र ग्रामो—जनपदप्रायजनाश्रितः, आकरो–लोहाद्युत्पत्तिस्थानं, नकरं–कररहितं, निगमो–वणिग्जनप्रधानं स्थानं, राजधानी–यत्र राजा स्वयं वसति, खेटं–धूलीप्राकारं, कर्वटं–कुनगरं, मडंबं–सर्वतो दूरवर्तिसंनिवेशान्तरं, द्रोणमुखं–जलस्थलपथोपेतं, पत्तनं–विविधदेशागतवस्तुस्थानं, तच्च द्विधा–जलपत्तनं स्थलपत्तनं च, आश्रमः–तापसादिस्थानं, सन्निवेशो–घोषादिः,**'अकामतण्हाए'**त्ति अकामानां–निर्जराद्यनभिलाषिणां सतां तृष्णा–तृट् अकामतृष्णा तया, एव-

१ शतके
१ उद्देशः

॥१२॥



श्रीभग-वती-सूत्रम्

मकामक्षुधा, 'अकामबंभचेरवासेणं'ति अकामो वा–निरभिप्रायो ब्रह्मचर्येण–रूयादिभोगशून्येन वासो–रात्रौ शयनमकाम-ब्रह्मचर्यवासोऽतस्तेन, 'अकाम'त्ति अकामा येऽस्नानकादयस्तेभ्यो यः परिदाहः तेन, तत्र स्वेदः–प्रस्वेदः याति च लगति चेति जल्लो–रजो मलः–कठिनीभूतं रजः पङ्को-मल एव स्वेदेनार्द्रीभूतः 'भुज्जतरं वा' भूयस्तरं वा-बहुतरं कालं यावदात्मानं 'परिकिलेसंति' विबाधयन्ति, 'कालमासे'त्ति कालो–मरणं तस्य मासः कालमासः तस्मिन् कालं कृत्वेति 'उववत्ति उपपत्तारो भवन्ति, 'कुसुमिय'त्ति संजातपुष्पं 'मोयरिय'त्ति संजातकुसुमविशेषं 'लवइय'त्ति लवकितं-संजातपल्लवलवमंकुरवदिति 'थवइय'त्ति स्तवकितं–जातपुष्पस्तवकं 'गुलइय'त्ति जातगुल्मकं, गुल्मकं–लतासमूहः, 'गुच्छिय'त्ति संजातगुच्छं, गुच्छश्च पत्रसमूहः, 'जमलिय'त्ति यमलतया–समश्रेणितया तत्तरूणां व्यवस्थितत्वात् यमलितं 'जुगलिय'त्ति युगलतया तत्तरूणां युगलितं 'विणमि'त्ति विनमितं पुष्पफलभरेण, सुविभक्ताः सुनिष्पन्नतया पिण्ड्यो लुम्ब्यो मञ्जर्यस्ता एवावतंसकाः–शेखरकास्तान् धारयतीति यत्तत्सुविभक्तपिण्डीलुम्बीमञ्जर्यवतंसकधरं 'सिरीए'त्ति श्रिया वनलक्ष्म्या 'आइण्णे'त्ति आकीर्णाः—स्वस्व देवदेवीवृन्दैर्व्याप्ताः, क्वचित्तु 'विइन्न'त्ति विकीर्णा–विशेषेण पूर्णाः, 'उवत्थड'त्ति उत्पतद्भिर्निपतद्भिः क्रीडासक्तैरुपर्युपरिच्छादिताः उपस्तृताः 'संथड'त्ति समंततश्चरद्भिराच्छादिताः संस्तृताः 'फुड'त्ति स्पृष्टा आसनशयनादिना, स्फुटा वा निरन्तर व्यन्तरसुरनिकरकिरणोद्योतेन 'अवगाढे'त्ति गाढं–बाढमवगाढाः सकलक्रीडाकारणस्थानभोगादिनाऽधोऽपि व्याप्ताः, प्राकृतत्वादवगाढा इति, इह च देवत्वयोग्यजीवाभिधाने तदयोग्यः सामर्थ्यादवसीयते, 'अत्थेगइए नो देवे सिय'त्ति 'सेवं भंते'त्ति यत् मया पृष्टं तद् भगवद्भिः प्रतिपादितं तदेवं–इत्थमेव भदन्त!, नान्यथा, अनेन भगवद्वचसि बहुमानं दर्शयति, एवं कृत्वा श्रमणं० गौतमो वंदते नमस्यति चेति॥

१ शतके
१ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२१-२२] + गाथा

दीप अनुक्रम [२८-३०]

श्रीभगवतीसूत्रम्

इति प्रथमशते प्रथमोद्देशकदुर्गपदविवरणं समाप्तम् ॥ अथ द्वितीय आरभ्यते—

'जीवे णं भंते ! सयंकडं दुक्खं'ति (सू० २१)

स्वयंकृतं दुःखं, न परकृतं, वेदयतीति प्रश्नः, उत्तरं तु यदुदीर्णं तद्वेदयति, अनुदीर्णस्य कर्मणो वेदनमेव नास्ति, तत उदीर्णं वेदयति, नानुदीर्णं च, 'एवं जाव वेमाणिए'त्यनेन चतुर्विंशतिदंडकः सूचितः, 'नेरइया णं भंते ! सयंकडं दुक्ख'मित्यादि। अथायुःप्रधानत्वान्नारकादिव्यपदेशस्यायुराश्रित्य दंडकद्वयं, तत्र 'एगत्तपोहत्तिय'त्ति क्वचिद्वस्तुनि एकत्वबहुत्वार्थयोर्विशेषो दृष्टो, यथा सम्यक्त्वादेरेकं जीवमाश्रित्य षट्षष्टिः सागराणि साधिकानि स्थितिकालः प्रोक्तः, नानाजीवानाश्रित्य पुनः सर्वाद्धा, 'नेरइए०' इति व्यक्तं, 'महासरीरा य अप्पसरीर'त्ति तत्र जघन्यमल्पत्वमंगुलासंख्येयभागमात्रत्वं, उत्कृष्टं तु महत्त्वं पञ्चधनुःशतमानत्वं, एतच्च भवधारणीयवपुरपेक्षया, उत्तरवैक्रियापेक्षया वा जघन्यमंगुलसंख्यातभागमात्रत्वं इतरत्तु धनुःसहस्रमानत्वं, वपुर्वैषम्याभिधाने सति आहारोच्छ्वासयोर्वैषम्यं सुखप्रतिपाद्यं स्यात् तेन आहारोच्छ्वासप्रश्नयोरुत्तरमाह—'तत्थ ण'मिति, तत्र ये महाशरीरास्ते बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, दृश्यते हि लोके बृहच्छरीरो बह्वाशी लघुशरीरश्चाल्पभोजी हस्तिशशकवत्, इदं व्यवहारत उक्तं, कोऽपि स्थूलवपुरल्पमश्नाति कोऽपि लघुवपुर्भूरि भुङ्क्ते (तथाविध)मनुष्यवत्, उस्ससंति उच्छ्वासतया गृह्णन्ति निस्ससंति निःश्वासतया मुञ्चन्ति, 'अभिक्खं'ति अभीक्ष्णं—पौनःपुन्येनेति, 'आहच्च'त्ति कदाचिदाहारयन्ति कदाचिन्न, 'नेरइया णं भंते ! सव्वे समकम्म'त्ति समकर्मसूत्रे 'पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णग'त्ति तत्र पूर्वोत्पन्नानामायुष्कर्मणां च बहुतरवेदनादल्पकर्मत्वं, पश्चादुत्पन्नानां च नारकाणामायुष्कादीनामल्पतराणां वेदितत्वात् महाकर्मत्वं, एतच्च

१ शतके २ उद्देशः

॥१३॥

अत्र **शतक**-१, उद्देषक: १ समाप्त:, अथ **शतक**-१ उद्देषक: २ आरब्ध:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२१-२२] + गाथा

दीप अनुक्रम [२८-३०]

श्रीभगवतीसूत्रम्

१ शतके २ उद्देशः

सूत्रं समानस्थितिनारकानाश्रित्योक्तं, एवं वर्णसूत्रे पूर्वोत्पन्नस्याल्पकर्मतया विशुद्धो वर्णः, पश्चादुत्पन्नस्य च बहुकर्मत्वादविशुद्धतरो वर्ण इति, एवं लेश्यासूत्रेऽपि, इह च लेश्याशब्देन भावलेश्या ग्राह्या, बाह्यद्रव्यलेश्या वर्णद्वारेणैवोक्तेति, **'समवेयण'त्ति** समवेदनाः, **'सण्णिभूय'त्ति** संज्ञा–सम्यग्दर्शनं तद्वन्तः संज्ञिनः संज्ञिनो भूताः संज्ञिभूताः, तद्विपरीता असंज्ञिभूता–मिथ्यादृष्टयः, **'तत्थ णं'ति** तत्र मिथ्यादर्शनमपहाय सम्यग्दर्शनजन्मना समुत्पन्ना इति अहो महदुःखसंकटमिदमकस्मादस्माकमापतितं न कृतो जैनधर्मः सर्वकर्मक्षयकृत् अतो महावेदनास्ते, अन्ये त्वसंज्ञिभूता–मिथ्यादृष्टयः ते कृतकर्मफलमिदमित्येवमविजानन्तोऽनुपतप्तचित्ता अल्पवेदनाः स्युरिति, **'समकिरिय'त्ति** समाः–तुल्याः क्रियाः–कर्मबन्धनिबन्धनभूता आरंभमिक्यादिका येषां ते समक्रियाः, **'आरंभिय'त्ति** आरंभः–पृथिव्याद्युपमर्दः स कारणं यस्याः सा आरंभिकी **'पारिग्गहिय'त्ति** परिग्रहो–धर्मोपकरणवर्जवस्तुस्वीकारो धर्मोपकरणमूर्च्छा वा स हेतुर्यस्याः सा पारिग्रहिकी, **'मायावत्तिय'त्ति** माया–अनार्जवं क्रोधादिरपि च स प्रत्ययो–निमित्तं यस्याः सा मायाप्रत्यया, **'अप्पच्च'त्ति** अप्रत्याख्यानेन–निवृत्त्यभावेन क्रिया–कर्मबंधादिकरणमप्रत्याख्यानक्रिया, **'मिच्छादंसण'त्ति** मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो–हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया, ननु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः कर्मबंधहेतव इति प्रसिद्धिः, इह तु आरंभादयस्तेऽभिहिता इति कथं न विरोधः ?, उच्यते, आरंभपरिग्रहशब्दाभ्यां योगपरिग्रहो, योगानां तद्रूपत्वात्, शेषपदैस्तु शेषबंधहेतुपरिग्रहः प्रतीयते एवेति, तत्र सम्यग्दृष्टीनां चतस्र एव, मिथ्यात्वाभावात्, शेषाणां तु पञ्चापि, सम्यग्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेनैवेह विवक्षितत्वादिति। **'सव्वे समाउय'त्ति** प्रश्नोत्तरं चतुर्भङ्ग्या स्यात्, निबद्धदशवर्षसहस्रप्रमाणायुषो युगपद्योत्पन्नाः १ भङ्गः, तेष्वेव दशवर्षसहस्रस्थितिषु नरकेषु प्रथममुत्पन्नाः अपरे तु पश्चादिति २ भङ्गः, अन्यैर्निबद्धं कैश्चिद्दशवर्षस-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२१-२२] + गाथा

दीप अनुक्रम [२८-३०]

श्रीभगवतीसूत्रम्

हस्तस्थितिकेषु कैश्चित् पञ्चदशवर्षसहस्रस्थितिषु च उत्पत्तिः पुनर्युगपदिति ३ भङ्गः, केचित् सागरोपमस्थितयः केचिद्दशवर्षसहस्रस्थितयः एवं विषमायुषो विषममेव चोत्पन्ना इति ४ भङ्गः, इह संग्रहगाथा–आहाराईसु समा कम्मे वन्ने तहेव लेसाए। वियणाए किरियाए आउयउववत्तिचउभंगी॥१॥ 'असुरकुमाराणं'ति असुरकुमारप्रकरणमिदमाहारादिपदनवकोपेतं सूचितं 'जहा नेरइय'त्ति, तत्राहारसूत्रे नारकसमानेऽपि विशेष उच्यते, असुराणामल्पशरीरत्वं भवधारणीयापेक्षया जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानत्वं महाशरीरत्वमुत्कर्षतः सप्तहस्तमानत्वं, उत्तरवैक्रियापेक्षयाऽल्पशरीरत्वं जघन्यमङ्गुलसंख्येयभागं, महाशरीरत्वं उत्कर्षतो योजनलक्षमानं, तत्रैते महाशरीरा बहुतरपुद्गलान् आहारयन्ति, मनोभक्षणलक्षणाहारापेक्षया, देवानां ह्यसौ स्यात्, एवं सौधर्मदेवानां सप्तहस्तमानतया महाशरीराणामनुत्तरसुराणां च हस्तमानतयाऽल्पशरीराणां क्रमेण वर्षसहस्रद्वयेनाहारः पक्षद्वयेनोच्छ्वासः त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्राण्याहारः त्रयस्त्रिंशत्पक्षैरुच्छ्वासः'कम्मवण्णलेसाओ परि(वण्णे)(छिल्ले)यव्वाओ'त्ति पर्यस्तयितव्याः,कर्मादीनि नारकापेक्षया विपर्ययेण वाच्यानि इत्यर्थः, तत्र ये नारकाः पूर्वोत्पन्नास्तेऽल्पकर्मकशुद्धतरवर्णशुद्धतरलेश्या उक्ताः, असुरास्तु ये पूर्वोत्पन्नास्ते महाकर्माणोऽशुद्धवर्णलेश्याश्चेति, कथम्?, ये हि पूर्वोत्पन्ना असुरास्ते कंदर्पाध्मातचित्तत्वात् प्रभूतमशुभं कर्म संचिन्वन्ति अतोऽभिधीयन्ते ते महाकर्माणः, अथवा बद्धायुषो ये ते तिर्यगादिप्रायोग्यकर्मबन्धनात् महाकर्माणः, तथा अशुद्धवर्णलेश्यास्ते, तेषां पूर्वोत्पन्नानां हि क्षीणत्वाच्छुभकर्मणः, पश्चादुत्पन्नास्त्वबद्धायुषोऽल्पकर्माणो बहुतरकर्मणामबन्धनात् शुभकर्मणामक्षीणत्वाच्च शुभवर्णादयः स्युरिति, वेदनाविशेषश्चायम्–ये संज्ञिभूतास्ते महावेदनाः इतरे त्वल्पवेदनाः, एवं नागकुमारादयोऽपि वाच्याः, 'पुढविकाइयाण'मिति 'आहारकम्मवण्णलेस्सा जहा णेरइयाणं'ति चतुःसूत्राणि नारकसूत्राणीव पृथ्वीकायिकाभिलापेनाधीयन्ते, आहार-

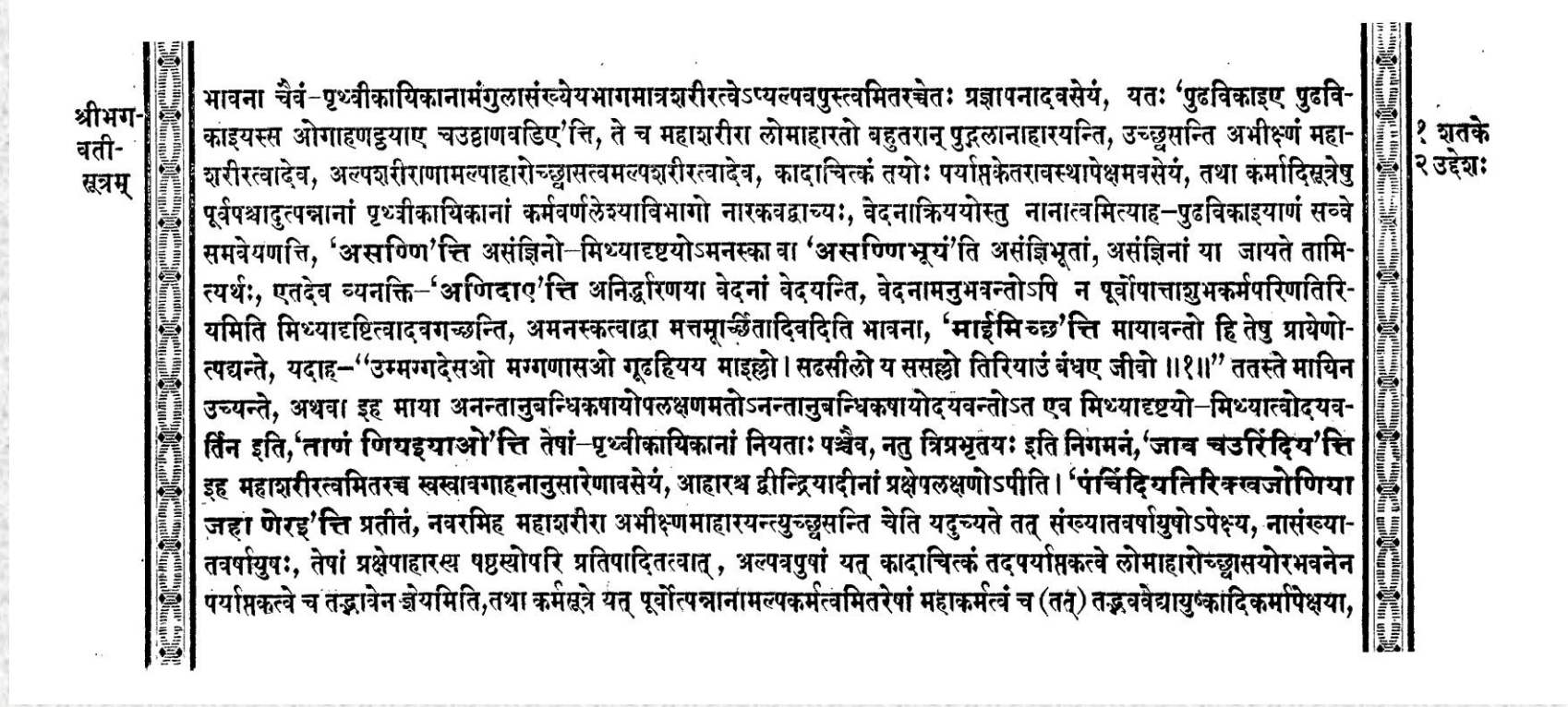
१ शतके २ उद्देशः

॥१४॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२१-२२] + गाथा

दीप अनुक्रम [२८-३०]



श्रीभगवतीसूत्रम्

भावना चैवं–पृथ्वीकायिकानामंगुलासंख्येयभागमात्रशरीरत्वेऽप्यल्पवपुस्त्वमितरच्चेतः प्रज्ञापनादवसेयं, यतः 'पुढविकाइए पुढविकाइयस्स ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए'त्ति, ते च महाशरीरा लोमाहारतो बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, उच्छ्वसन्ति अभीक्ष्णं महाशरीरत्वादेव, अल्पशरीराणामल्पाहारोच्छ्वासत्वमल्पशरीरत्वादेव, कादाचित्कं तयोः पर्याप्तकेतरावस्थापेक्षमवसेयं, तथा कर्मादिसूत्रेषु पूर्वपश्चादुत्पन्नानां पृथ्वीकायिकानां कर्मवर्णलेश्याविभागो नारकवद्वाच्यः, वेदनाक्रिययोस्तु नानात्वमित्याह–पुढविकाइयाणं सव्वे समवेयणत्ति, 'असण्णि'त्ति असंज्ञिनो–मिथ्यादृष्टयोऽमनस्का वा 'असण्णिभूयं'ति असंज्ञिभूतां, असंज्ञिनां या जायते तामित्यर्थः, एतदेव व्यनक्ति–'अणिदाए'त्ति अनिर्द्धारणया वेदनां वेदयन्ति, वेदनामनुभवन्तोऽपि न पूर्वोपात्ताशुभकर्मपरिणतिरियमिति मिथ्यादृष्टित्वादवगच्छन्ति, अमनस्कत्वाद्वा मत्तमूर्च्छितादिवदिति भावना, 'माईमिच्छ'त्ति मायावन्तो हि तेषु प्रायेणोत्पद्यन्ते, यदाह–"उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ गूढहियय माइल्लो। सढसीलो य ससल्लो तिरियाउं बंधए जीवो ॥१॥" ततस्ते मायिन उच्यन्ते, अथवा इह माया अनन्तानुबन्धिकषायोपलक्षणमतोऽनन्तानुबन्धिकषायोदयवन्तोऽत एव मिथ्यादृष्टयो–मिथ्यात्वोदयवर्तिन इति,'ताणं णियइयाओ'त्ति तेषां–पृथ्वीकायिकानां नियताः पञ्चैव, नतु त्रिप्रभृतयः इति निगमनं,'जाव चउरिंदिय'त्ति इह महाशरीरत्वमितरच्च स्वस्वावगाहनानुसारेणावसेयं, आहारश्च द्वीन्द्रियादीनां प्रक्षेपलक्षणोऽपीति। 'पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइ'त्ति प्रतीतं, नवरमिह महाशरीरा अभीक्ष्णमाहारयन्त्युच्छ्वसन्ति चेति यदुच्यते तत् संख्यातवर्षायुषोऽपेक्ष्य, नासंख्यातवर्षायुषः, तेषां प्रक्षेपाहारस्य षष्ठस्योपरि प्रतिपादितत्वात्, अल्पवपुषां यत् कादाचित्कं तदपर्याप्तकत्वे लोमाहारोच्छ्वासयोरभवनेन पर्याप्तकत्वे च तद्भावेन ज्ञेयमिति,तथा कर्मसूत्रे यत् पूर्वोत्पन्नानामल्पकर्मत्वमितरेषां महाकर्मत्वं च (तत्) तद्भववेद्यायुष्कादिकर्मापेक्षया,

१ शतके २ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२१-२२] + गाथा

दीप अनुक्रम [२८-३०]

श्रीभगवतीसूत्रम्

तथा वर्णलेश्यासूत्रयोर्यत् पूर्वोत्पन्नानां शुभवर्णाद्युक्तं तत्तारुण्यात्, पश्चादुत्पन्नानां चाशुभवर्णलेश्यादि बाल्यादवसेयं, लोके तथैव दर्शनादिति। तथा **'संजयासंजय'त्ति** संयतासंयता–देशविरताः,'मणुस्सा णं भंते ! ते सव्वे समाहारग'त्ति ?,'नो इणट्ठे'इत्युत्तरं, नानात्वं, ते 'आहच्च आहारेंति', आहत्य, कादाचित्कत्वं महाशरीरदेवकुर्वादिमिथुनकनरानाश्रित्य, अल्पशरीरा अभीक्ष्णम् अल्पं च, बालानां तथैव दर्शनात्, संमूर्च्छिममनुष्याणामल्पवपुषां नित्यमाहारसंभवात्, यच्चेह पूर्वोत्पन्नानां शुद्धवर्णादि तत्तारुण्यात् संमूर्च्छिमापेक्षया वेति, **'सरागसंजय'त्ति** अक्षीणानुपशान्तकषायाः, **'वीयरागसंजय'त्ति** उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्च, **'अकिरिय'त्ति** वीतरागत्वेनारंभादीनामभावादक्रियाः, **'एगा मायाव'त्ति** अप्रमत्तसंयतानामेकैव मायाप्रत्यया,**'कज्जइ'त्ति** क्रियते भवति, कदाचिदुड्डाहरक्षणप्रवृत्तानामक्षीणकषायत्वादिति, **'आरंभिय'त्ति** प्रमत्तसंयतानां सर्वः प्रमत्तयोग आरंभ इतिकृत्वा आरंभिकी स्याद् अक्षीणकषायत्वाच्च मायाप्रत्ययेति, **'वाणमंतर'त्ति** व्यन्तरा अल्पवेदनाः स्युरसंज्ञित्वात् तेषामसुरकुमारवत्, इतरे संज्ञिनो व्यन्तरा महावेदनाः संज्ञित्वादेव, यतोऽसुरादिषु व्यन्तरान्तेष्वसंज्ञिनः संज्ञिनश्च उत्पद्यन्ते तेनैवमुक्तं-'वाणमन्तरा सण्णिभूया असण्णिभूया ये'ति, नवरं ज्योतिष्कवैमानिकेषु त्वसंज्ञिनो नोत्पद्यन्ते अतो वेदनापदे तेषां ज्योतिष्कवैमानिकानामेवमधीयते, नवरं वेयणाए दुविहा जोईसिया माईमिच्छ० अमाईसम्मदिट्ठिउव०, तत्र मायिमिथ्यादृष्टयोऽल्पवेदनाः इतरे महावेदनाश्च शुभवेदनामाश्रित्येति। अथ(स)लेश्यलेश्याभेदविशेषणमाहारादिपदैर्निरूपयन् दंडसप्तकमाह–'सलेस्सा णं भंते ! नेरइया सव्वे समाहारग'त्ति अनेन पदेनाहार १ शरीरो २ च्छ्वास ३ कर्म ४ वर्ण ५ लेश्या ६ वेदना ७ क्रियो ८ पपाता ९ रूप्यपूर्वोक्तनवपदोपेतनारकादिचतुर्विंशतिदंडको लेश्यापदविशेषितः सूचितः, तदन्ये च कृष्णलेश्यादिविशेषिताः पूर्वोक्तनवपदोपेता एव यथासंभवं नार-

१ शतके २ उद्देशः

॥१५॥

कादिपदात्मकाः षट् दंडकाः सूचिताः, तदेवं च एतेषां ७ दंडकानां यो यथाऽध्येतव्यस्तं तं तथा दर्शयन्नाह—'ओहियाणं'ति तत्रौधिकानां—पूर्वोक्तानां सामान्यानां नारकादीनां तथा सलेश्यानामधिकृतानां २ शुक्कलेश्यानां तु ३ सप्तमदंडकवाच्यानामेषां त्रयाणामेको गमः—सदृशः पाठः, सलेश्यः शुक्कलेश्यश्चेत्येवंविधविशेषणकृत एव तत्र भेदः, औधिकदंडकवदनयोः सूत्रमितिहृदयं तत्थ जस्सत्थि' इति वक्ष्यमाणपदस्येह संबंधाद्यस्य शुक्कलेश्याऽस्ति स एव तद्दंडकोऽध्येतव्यः, तेनेह पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्या वैमानिकाश्च वाच्याः, नारकादीनां शुक्कलेश्याया अभावात् , ' किण्हलेसनीललेसाणंपि एको गमो ' औधिक एवेत्यर्थः, विशेषमाह—'नवरं वेयणाए मायिमिच्छ० अमायिसम्म०' कृष्णलेश्यनीललेश्यदंडके वेदनासूत्रे च 'दुविहा णेरइया पण्णत्ता—सण्णिभूया असण्णिभूया य'त्ति औधिकदंडकाधीतं नाध्येतव्यम्, असंज्ञिनां प्रथमपृथिव्यामेवोत्पादात् 'अस्सण्णी खलु पढमं' इतिवचनात्, प्रथमायां तु कृष्णनीललेश्ययोरभावात्, तर्हि किमध्येतव्यं?,'मायित्ति अमायित्ति' एते मायिनो मिथ्यादृष्टयश्च महावेदनाः स्युः, यतस्तेऽशुभामुत्कृष्टस्थितिं कुर्युः, प्रकृष्टायां तस्यां महती वेदना स्यात्, इतरेषां तु विपरीता। 'मणुस्सा किरियासु'त्ति मनुष्यपदे क्रियासूत्रे सरागवीतरागत्वे पठिते, ते तु कृष्णनीललेश्यदंडकयोर्नाध्येतव्ये, कृष्णनीलोदये संयमस्य निषिद्धत्वात्, तथा मनुष्याणां 'काउलेस्साए'त्ति कापोतलेश्याया दंडको नीलादिलेश्यादंडकवदध्येतव्यः, णवरं णेरइएत्ति नवरं नारका वेदनासूत्रे औधिकदंडकवद्वाच्याः, ते चैवं—नेरइया दुविहा पं०, तं०—संनिभू० असण्णिभूया यत्ति, असंज्ञिनां प्रथमपृथिव्युत्पादेन कापोतलेश्यासंभवात् इति, 'तेउलेस्सापम्हलेस्स'त्ति तेजःपद्मलेश्ये यस्य स्यातां तमाश्रित्य यथौधिकदंडकः तथैतौ दंडकौ भणितव्यौ, नारकविकलेन्द्रियाणां तेजोवायूनां चाद्यास्तिस्र एव, भवनपति(पृथ्व्यम्बु)वनस्पतिव्यन्तराणामाद्याश्चतस्रः, पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२१-२२] + गाथा

दीप अनुक्रम [२८-३०]

श्रीभगवतीसूत्रम्

षट् ज्योतिषां तेजोलेश्या वैमानिकानां तिस्रः प्रशस्ताः, आह च–"किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया। जोइससोहम्मीसाण तेउलेसा मुणेयव्वा ॥१॥ कप्पे सणंकुमारे माहिंदे चेव बंभलोगे य। एएसु पम्हलेसा तेण परं सुक्कलेस्सा उ ॥२॥ पुढवी आउ वणस्सइ बायर पत्तेय लेस चत्तारि–तेजोलेश्यान्ताः। गब्भयतिरियनरेसुं छल्लेस्सा तिन्नि सेसाणं ॥३॥" 'सरागवीयरागा न भाणियव्व'त्ति क्रियासूत्रे मनुष्याः सरागवीतरागाः अधीताः इह तु तथा न वाच्याः, तेजःपद्मलेश्ययोर्वीतरागत्वासंभवेन, शुक्ललेश्यायामेव वीतरागत्वसंभवात् 'सरागा वीतरागा य' इति न वाच्यं, प्रमत्ताप्रमत्तास्तूच्यन्ते, 'गाह'त्ति उद्देशकादितः सूत्रद्वारगाथा गतार्था ज्ञेया ॥

'लेस्साणं बीओ उद्देसो'त्ति (सू० २३)

प्रज्ञापनायाश्चतुरुद्देशकाल्लेश्यापदाद् द्वितीयोद्देशकः सुखावबोधाय भणितव्यः, 'जाव इड्ढि'त्ति ऋद्धिवक्तव्यतां यावत्, तच्चैवं-'कइ णं भंते ! लेस्सा पण्णत्ता ?, गोयमा ! छलेस्सा' एवं सर्वत्र प्रश्नोत्तरं वाच्यं, यथा नेरइयाणं तिण्णि लेस्सा ३ तेरिच्छिआणं ६ एगिंदियाणं ४ पुढविआउवणस्सईणं ४ तेउवाउबितिचउरिंदियाणं ३ पंचिंदियतिरियमणुयाणं ६ इत्यादि बहु वक्तव्यं यावत् 'एएसिं णं भंते ! जीवाणं कण्हलेस्साणं जाव सुक्कलेस्साणं कयरे२हिंतो अप्पड्ढिया वा महड्ढिया वा ?, गोयमा ! कण्हलेस्सेहिंतो नीललेसा महड्ढिया, नीललेसेहिंतो काउलेसा महि०२'इत्यादि ॥ अथ पशवः पशुत्वमश्नुवते इति यो मन्यते अनादावपि भवे एकधैव जीवावस्थानं(च) इति तद्बोधनार्थं प्रश्नयन्नाह—

जीवस्स णं भंते ! तीतद्धाएत्ति (सू० २४)

१ शतके २ उद्देशः

॥१६॥

*** अत्र 'लेश्या' संबंधे वर्णनं प्रस्तूयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

श्रीभगवतीसूत्रम्

अनादावतीतकाले 'अ।दिट्ठस्स'त्ति आदिष्टस्य–अमुष्य नारकादेरित्येवंविशेषितस्य कतिविधः संसारत्ति–संसारसंस्थानकालः, अमुष्य जीवस्य अतीतकाले कस्यां गतावस्थानमासीदिति प्रश्नः, गौतम ! चतुर्विधो, नारकादिगतिभेदात्, नारकानुगतसंसारावस्थानकालस्त्रिधा–शून्यकालः १ अशून्यकालः २ मिश्रकालश्च ३, तिरश्चां शून्यकालो नास्ति, तेषां द्वौ भेदौ स्तः, मनुष्यदेवानां तु त्रिविधोऽप्यस्ति, आह च–"सुन्नोऽसुन्नो मीसो तिविहो संसारचिट्ठणाकालो । तिरियाण सुन्नवज्जो सेसाणं होइ तिविहोऽवि ॥१॥" तत्राशून्यकालस्तावदुच्यते, अशून्यकालस्वरूपपरिज्ञाने सतीतरौ सुज्ञानौ स्यातां, तत्र वर्तमानकाले सप्तपृथिवीषु ये नारका वर्तन्ते तेषां मध्याद्यावन्न कश्चिदुद्वर्तते न वाऽन्य उत्पद्यते तावन्मात्रा एव ते आसते स कालस्तान्नारकानङ्गीकृत्याशून्य इति पठ्यते, आह च–"आइट्ठसमइयाणं नेरइयाणं न जाव एक्कोऽवि । उव्वट्टइ अन्नो वा उववज्जइ सो असुन्नो उ ॥२॥" मिश्रकालस्तु तेषामेव नारकाणां मध्यादेकादय उद्वृत्ताः यावदेकोऽपि शेषस्तावन्मिश्रकालः, शून्यकालस्तु यदा त एवादिष्टसमयिका नारकाः सामस्त्येनोद्वृत्ताः नैकोऽपि तेषां शेषोऽस्ति स शून्यकाल इति, आह च–"उव्वट्टे एक्कंमिवि ता मीसो धरइ जाव एक्कोऽवि। निल्लेविएहिं सव्वेहिं वट्टमाणेहिं सुन्नो उ ॥३॥" इदं मिश्रनारकसंसारावस्थानकालसूत्रं न तमेव नारकभवमङ्गीकृत्य प्रवृत्तं, अपि तु वार्त्तमानिकनारकजीवानां गत्यन्तरगमनेन तत्रैवोत्पत्तिमाश्रित्योक्तं, यदि पुनस्तमेव नारकभवमङ्गीकृत्येदं सूत्रं स्यात् तदाऽशून्यकालापेक्षया मिश्रकालानन्तगुणता सूत्रोक्ता न स्यात्, आह च–"एवं ते पुण जीवे पडुच्च सुत्तं न तब्भवं चेव। जइ होज्ज तब्भवं तो अणंतकालो न संभवइ ॥४॥" कस्मादिति चेत्, उच्यते, ये वार्त्तमानिका नारकाः ते स्वायुष्ककालस्यान्ते उद्वर्त्तन्ते, असङ्ख्यातमेव च तदायुः, अत उत्कर्षतो द्वादश मौहूर्त्तिकाशून्यकालापेक्षया मिश्रकालस्यानन्तगुणत्वाभावप्रसङ्गादिति,आह च–"किं कारणमादिट्ठा नेरइया ? जे

१ शतके २ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

इमंमि समयंमि ?। ते ठितिकालस्संतो जम्हा सव्वे खविज्जंति ॥५॥" 'सव्वत्थोवे असुण्ण'त्ति, नारकाणामुत्पादोद्वर्त्तनाविरहकालस्योत्कर्षतोऽपि १२ मुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, **'मिस्सकाले अणंतगुण'त्ति** मिश्राख्यो विवक्षितनारकजीवनिर्लेपनाकालोऽशून्यकालापेक्षया अनन्तगुणः स्यात्, यतोऽसौ नारकेतरभवेष्वागमनगमनकालः, स च त्रसवनस्पत्यादिस्थितिकालमिश्रितः सन्ननन्तगुणः स्यात्, वनस्पत्यादिगमनागमनानामनन्तत्वात्, स च नारकनिर्लेपकालो वनस्पतिस्थितेरनन्तभागे वर्त्तते, उक्तं च—'थोवो असुन्नकालो सो उक्कोसेण बारसमुहुत्तो। तत्तो य अणंतगुणो मीसो निल्लेवणाकालो ॥६॥ आगमणगमणकालो तसाइतरुमीसिओ अणंतगुणो। अह निल्लेवणकालो अणंतभागे वणद्धाए ॥७॥" **'सुण्णकाले अणंतगुणे'त्ति** सर्वेषां विवक्षितनारकजीवानां प्रायो वनस्पतिष्वनन्तानन्तकालावस्थानात्, एतदेव वनस्पतिष्वनन्तकालावस्थानं नारकभवान्तरकाल उत्कृष्टो देशितः समये, उक्तं च—"सुण्णो य अणंतगुणो सो पुण पायं वणस्सइगयाणं। एयं चेव य नारयभवंतरं देसियं जेट्ठं ॥८॥"ति, **'तिरिक्खजोणियाणं सव्वत्थोवे'त्ति**, स चान्तर्मुहूर्त्तः, अयं यद्यपि सामान्येन तिरश्चामुक्तस्तथापि विकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमानामवसेयः, तेषामेवान्तर्मुहूर्त्तविरहकालस्योक्तत्वात्, यदाह—'भिन्नमुहुत्तो विगलिंदिएसु संमुच्छिमेसुवि स एव" एकेन्द्रियाणां उद्वर्त्तनोपपातविरहाभावेन शून्यकालाभाव एव, आह—"एगो असंखभागो वट्टइ उव्वट्टणोववायम्मि। एगनिगोए निच्चं एवं सेसेसुवि स एव ॥९॥" पृथिव्यादिषु पुनः—"अणुसमयमसंखिज्जा एगिंदिय इंति य चयंति'त्तिवचनाद्विरहाभावः, मिस्सकालोऽणंतगुणो नारकवत्, शून्यकालस्तु तिरश्चां नास्त्येव, यतो वार्त्तमानिकसाधारणवनस्पतीनां तत उद्वृत्तानां स्थानमन्यन्नास्ति,'मणुस्सदेवा जहा णेरइया' तेषामशून्यकालस्य द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणत्वात्, आह च—"एवं नरामराणवि तिरियाणं णवरि णत्थि सुण्णद्धा। जं निग्गायाण तेसिं भायणमण्णं तओ नत्थि

१ शतके
२ उद्देशः

॥१७॥

प्रत सूत्रांक [२४-२७] + गाथा

दीप अनुक्रम [३१-३४]

॥१०॥" किं संसार एव जीवस्थानं उत मोक्षेऽपि इत्याशङ्कायां पृच्छामाह–'अंतकिरियं'ति (सू०२५) कर्मणामन्तो–विनाशस्तस्य क्रिया अन्तक्रिया तां, मोक्षप्राप्तिलक्षणामिति, 'अंतकिरियापयं'ति, तच्च प्रज्ञापनाविंशतितमं पदं नेतव्यं, तच्चेदम्—'जीवे णं भंते! अंतकिरियं करेज्जा?, गो०! अत्थेगइए करिज्जा, अत्थेगइए नो०, एवं णेरइए जाव वेमाणिए' भव्यः कुर्यात्, नेतर इति, 'नेरइए णं भंते! णेरइएसु वट्टमाणे अंतं करेज्जा?, गो०! नो इणमट्ठे समट्ठे' इत्यादि, नवरं 'मणुस्सेसु अंतं करेज्जा,' मनुष्येषु वर्त्तमानो, नारको मनुष्यीभूत इत्यर्थः। कर्मवशादन्तक्रियाया अभावे केचिज्जीवा देवेषूत्पद्यन्ते अतस्तद्विशेषमाह—'अह भंते!' इत्यादि (सू०२६) व्यक्तं, नवरमथेति परिप्रश्नार्थः,'असंजयभवियदव्वदेवाणं'ति, इह प्रज्ञापनाटीका लिख्यते–असंयताः—चारित्रशून्याः भव्या—देवत्वयोग्याः अत एव द्रव्यदेवाः, ते मिथ्यादृष्टयः अभव्या भव्या वा असंयतभव्यद्रव्यदेवाः श्रमणगुणसामाचार्यनुष्ठानयुक्ता द्रव्यलिङ्गधारिणो गृह्यन्ते, ते ह्यखिलक्रियाप्रभावादेवोपरिमग्रैवेयकेषु उत्पद्यन्ते इति, असंयताश्च ते सत्यप्यनुष्ठाने चारित्रपरिणामशून्यत्वात्, ननु ते कथमभव्या भव्या वा श्रमणगुणधारिणः स्युः?, अत्रोच्यते, तेषां महामिथ्यादर्शनमोहप्रादुर्भावे सत्यपि चक्रवर्त्तिप्रभृतिपूजासत्कारसन्मानदानान् साधूनवलोक्य तदर्थं प्रव्रज्याक्रियाकलापानुष्ठानं प्रति श्रद्धा स्यात्, ततश्च ते यथोक्तक्रियाकारिण इति, तथा 'अविराहियसंजमाणं'ति, अभग्नचारित्राणां, सञ्ज्वलनकषायचतुष्कसामर्थ्यात् प्रमत्तगुणस्थानकाद्वा स्वल्पमायादिदोषसम्भवेऽप्यनाचरितचारित्रघातानामित्यर्थः, तथा 'विराहियसंजमाणं'ति, तद्विपरीतानां, 'अविराहियसंजमासंजमाणं'ति, अभग्नदेशविरतिश्राद्धानां, 'विराहियसंजमासंजम'त्ति तद्विपरीतानां, 'असण्णीणं' असंज्ञिनां दर्दुरमत्स्योरगादीनां सम्मूर्च्छिमानां–मनोलब्धिरहितानामकामनिर्जरावतां, 'तावसाणं'ति तापसानां पतितपत्राद्युपभो-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२४-२७] + गाथा

दीप अनुक्रम [३१-३४]

श्रीभगवतीसूत्रम्

गवतां बालतपस्विनां, 'कंदप्पिय'त्ति, कन्दर्पः–परिहासः स येषामस्ति ते कान्दर्पिकाः तेषां कान्दर्पिकाणां, व्यवहारतश्चरणवतां कन्दर्पकोत्कुच्यादिकारकाणामित्यर्थः, आह च—"भुमनयणवयणदसणच्छदेहिं करपायकण्णमाईहिं । तं तं करेइ जह जह हसइ परो अप्पणा अहसं ॥१॥" 'चरग'त्ति चरकपरिव्राजका धाट्यादिभैक्ष्योपजीविनस्त्रिदण्डिन इत्यर्थः, अथवा चरकाः–कच्छोटादयः परिव्राजकाः—कपिलमुनिसूनवोऽतस्तेषां, 'किब्बिसयाणं'ति किल्बिषं–पापं तदस्ति येषां ते किल्बिषिकाः तेषां, व्यवहारतश्चरणवतां ज्ञानाद्यवर्णवादिनां चेत्यर्थः, 'तेरिच्छियाणं'ति तथा तिरश्चां–गवाश्वादीनां देशविरतिभाजां, 'अजीव'त्ति आजीविकानां–पाखण्डिनां,नाग्न्यधारिणां गोशालकशिष्याणामित्यन्ये,आजीवन्ति वा अविवेकिलोकतो लब्धिपूजारव्यात्यादिभिस्ते (ये ते) आजीविकास्तेषां,'आभिओगि'त्ति अभियोगः–परेषां वशीकरणादि रूपविद्यामन्त्रादिभिः, स च द्विधा, यदाह–"दुविहो खलु अभिओगो, दव्वे भावे य होइ नायव्वो । दव्वम्मि होइ जोगो, विज्जा मंता य भावम्मि ॥१॥" ते व्यवहारतश्चरणवन्त एव मन्त्रादिप्रयोक्तारः, यदाह–"कोऊय भूइकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी । इड्ढिरससायगुरुओ अभिओगं भावणं कुणइ ॥१॥" कौतुकं–सौभाग्याद्यर्थं स्नपनकं, भूतिकर्म्म ज्वरितादिभूतिदानं, प्रश्नाप्रश्नं स्वप्नविद्यादि, 'सलिंगाणं'ति रजोहरणादिसाधुलिङ्गवतां, किंविधानामित्याह–'दंसणवावण्णाणं'ति दर्शनं–सम्यक्त्वं व्यापन्नं–प्रभ्रष्टं येषां ते दर्शनव्यापन्नास्तेषां, निह्नवानामित्यर्थः, 'देवलोएसु उववज्जमाणाणं'ति, अनेन देवत्वादन्यत्रापि केचिदुत्पद्यन्ते इति प्रतिपादितं,'विराहियसंजमाणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं सोहम्मकप्पे'त्ति इह कश्चिदाह–विराधितसंयमानामुत्कर्षेण सौधर्म्मे कल्पे इति यदुक्तं तत्कथं घटते ?; द्रौपद्याःसुकुमारिकाभवे विराधितसंयमाया ईशानोत्पादश्रवणात् इति, अत्रोच्यते, तस्याः संयमविराधना उत्तरगुणविषया बकुशत्वमात्रकारिणी, न स्थूल-

१ शतके २ उद्देशः

॥१८॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२४-२७] + गाथा

दीप अनुक्रम [३१-३४]

श्रीभगवतीसूत्रम्

गुणविराधनेति, सौधर्म्मोत्पादश्च मूलगुणविराधनायां स्यात्, यदि पुनर्विराधनामात्रमपि सौधर्म्मोत्पत्तिकारणं स्यात् तदा बकुशादीनामपि उत्तरगुणादिप्रतिसेवावतां कथमच्युतादिषूत्पत्तिः स्यात् ?, कथञ्चिद्विराधकत्वात् तेषां, तेनोत्तरगुणविराधनाया ईशानोत्पादो युक्त एव,'असन्नीणं जहन्नेणं भवणवासिसु, उक्कोसेणं वाणमंतरेसु'त्ति, इह यद्यपि 'चमरबलि सारमहिय'मित्यादिवचनादसुरादयो महर्द्धिकाः,'पलिओवममुक्कोसं वंतरियाणं'ति वचनाच्च व्यन्तरा अल्पर्द्धिकाः, तथाऽप्यत एव वचनादवसीयते—सन्ति व्यन्तरेभ्यः सकाशादल्पर्द्धयो भवनपतिदेवाः। असंज्ञी देवेषूत्पद्यत इत्युक्तं, स चायुषा इति तदायुर्निरूपयन्नाह—'कइविहे णं'ति,'असण्णि'त्ति (सू०२७) असंज्ञी सन् यत् परभवप्रायोग्यं कर्म बध्नाति तदसंज्ञ्यायुः,'नेरइयअसण्णियाउए'त्ति नैरयिकप्रायोग्यमसंज्ञ्यायुर्नैरयिकासंज्ञ्यायुः, एवमन्यान्यपि। एतच्चासंज्ञ्यायुः सम्बन्धमात्रेणापि स्यात्, यथा भिक्षोः पात्रमिति, 'दसवास'त्ति १० वर्षसहस्राणि, रत्नप्रभाप्रथमप्रतरमाश्रित्य, **'उक्कोसेणं पालिओवमस्स असंखिज्जइभागं'**ति, रत्नप्रभा ४ प्रस्तटे मध्यस्थितिकं नारकमाश्रित्य, कथं ?, यतः—प्रथमप्रस्तटे १० वर्षसहस्रा जघन्या, उत्कृष्टा तु नवतिसहस्राणि, २ प्र० १० लक्षाणि जघन्या उ० ९० लक्षाणि स्थितिः, एषैव ३ प्र० जघन्या उ० पूर्वकोटी, एषैव ४ प्र० जघ० इतरा तु सागरोपमस्य १० भागः, एवं पल्योपमासङ्ख्येयभागो मध्यमा स्थितिरत्र स्यात्, **'तिरिक्खजोणि'**त्ति तिर्यक्सूत्रे यदुक्तं **'पलिओवमस्स'**त्ति तन्मिथुनकतिरश्चोऽधिकृत्येति, **'मणुस्साउए'**त्ति जघन्या अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतः पल्योपमासङ्ख्येयभागो मिथुनकनरानाश्रित्य,**'देवा जहा णेरइ०'** यथा असंज्ञिविषयं नारकायुः तच्च प्रतीतमेवं देवविषयं, तदपि भवनपतिव्यन्तरानाश्रित्यावसेयं, **'एयस्स णं भंते !'** इत्यादिना यदसंज्ञ्यायुषोऽल्पबहुत्वमुक्तं तदस्य असङ्ख्यातायुषः असङ्ख्यातभेदत्वात् ह्रस्वदीर्घत्वमाश्रित्य ज्ञेयमिति ॥

१ शतके २ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

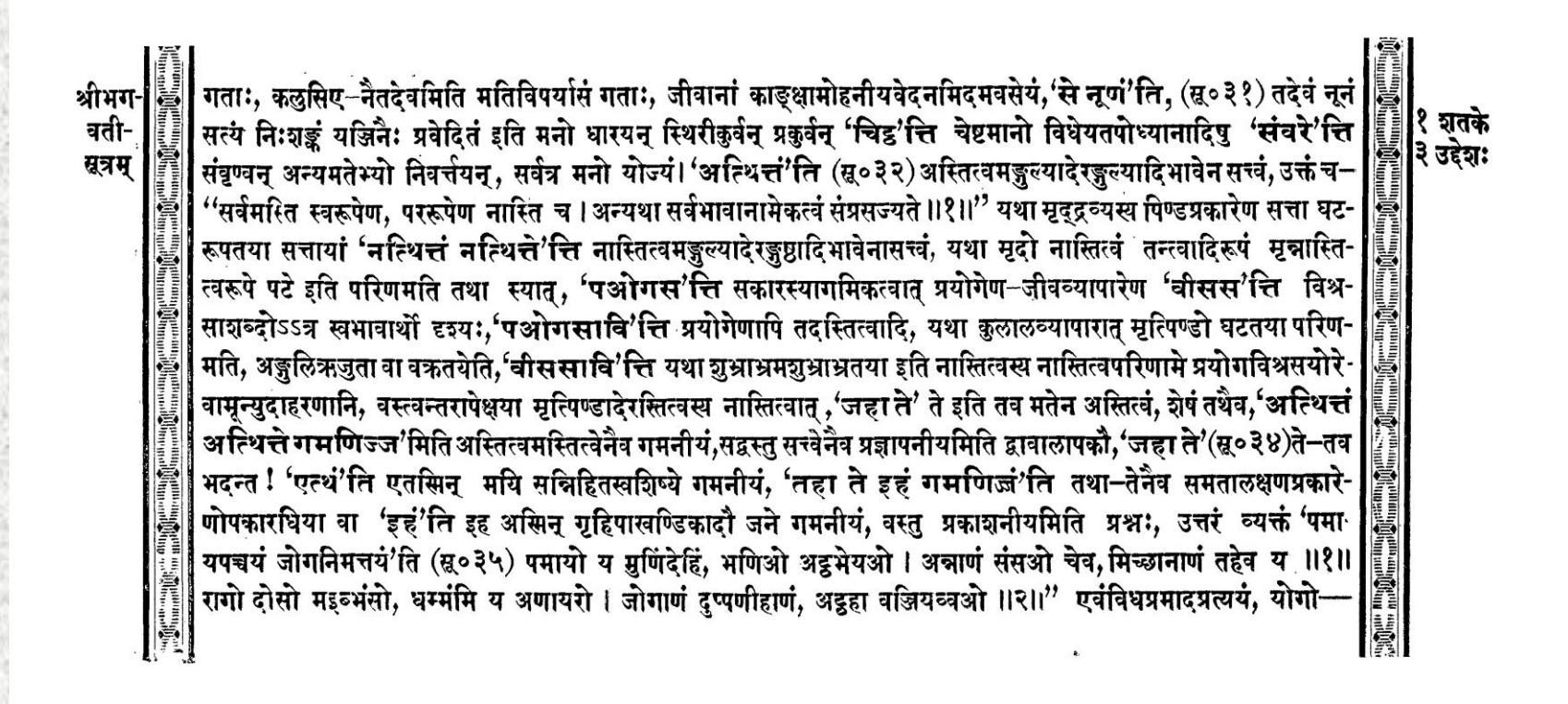
॥ प्रथमशते द्वितीयोद्देशकविवरणम् ॥ १-२ ॥

१ शतके ३ उद्देशः

यदुक्तं 'कंखपओसे'त्ति एतद्दर्शयन्नाह-कंखामोहणि०' (सू०२८) काङ्क्षामोहनीयं-मिथ्यात्वमोहनीयं कृतं-क्रियानिष्पाद्यमिति प्रश्नः, इह चतुर्भङ्गी दृष्टा,'से भंते'त्ति तस्य कर्मणो हे भदन्त ! किमिति प्रश्ने,'देसेणं'ति देशेन-जीवस्यांशेन देशः-काङ्क्षामोहनीयकर्मणोऽंशः कृतः १ भङ्गः, देशेन-जीवांशेन सर्वं काङ्क्षामोहनीयं कृतं २ भङ्गः, सर्वेण-सर्वात्मना देशः काङ्क्षामोहनीयस्य कृतः ३ भङ्गः, सर्वेण सर्वं कर्म्म कृतं ४ भङ्गः, अत्रोत्तरम्—"सव्वेणं सव्वे कडे'त्ति, यत्किञ्चित्काङ्क्षामोहनीयं तत् सर्वात्मना सर्वजीवप्रदेशांशैः कृतं, न देशेनेति। तत्क्रिया च त्रिकालविषया, तां दर्शयन्नाह-"करिंसु' (सू०२९) अतीतकाले कृतवन्तः ?, हंता ! अकार्षुः, 'करेंति' सम्प्रति कुर्वन्ति,'करिस्संति' करिष्यन्ति च॥ कृतस्य कर्मणश्चयादयः स्युस्तान् दर्शयन्नाह-'कडचिय'त्ति गाठा, 'आदितिए'त्ति आदित्रिके कृतचितोपचितलक्षणे च, 'उभय'त्ति सामान्यक्रियया कालत्रिकक्रियाभेदाच्च चतुर्भेदाः,'तिभेया पच्छिम'त्ति पश्चिमा उदीरितवेदितनिर्जीर्णा मोहपुद्गलास्त्रिभेदाः, सामान्यक्रियाविरहात्,'तिन्नि'त्ति त्रयस्त्रिविधा इति, नन्वाद्ये सूत्रत्रये कृतचितोपचितान्युक्तानि उत्तरे तु कस्मान्नोदीरितवेदितनिर्जीर्णानीति, उच्यते, कृतं चितमुपचितं च कर्म्म चिरमप्यवतिष्ठते इति करणादीनां त्रिकालक्रियामात्रातिरिक्तं चिरावस्थानलक्षणं कृतत्वाद्याश्रित्य कृतादीन्युक्तानि, उदीरणादीनां तु न चिरावस्थानमस्तीति त्रिकालवर्त्तिना क्रियामात्रेणैव तान्यभिहितानि इति उदीरितादीनां तात्कालत्वात् त्रिकालविषयतैवास्ति, 'तेहिं'ति (सू०३०) तैस्तैः शङ्कादिहेतुभिः, किमित्याह-शङ्किता जिनोक्तपदार्थान् प्रति सर्वतो देशतो वा सञ्जातसंशयाः, काङ्क्षिताः-सञ्जातान्यान्यदर्शनग्रहाः, विचिकित्सिताः-सञ्जातफलशङ्काः, भेदसमापन्नाः शैवं जैनं वा शासनं प्रशस्तं इति च मतेर्द्वैधीभावं

॥१९॥

अत्र शतक-१, उद्देषक: २ समाप्तः, अथ शतक-१ उद्देषक: ३ आरब्धः



श्रीभगवतीसूत्रम्

गताः, कलुसिए–नैतदेवमिति मतिविपर्यासं गताः, जीवानां काङ्क्षामोहनीयवेदनमिदमवसेयं,'से नूणं'ति, (सू०३१) तदेवं नूनं सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितं इति मनो धारयन् स्थिरीकुर्वन् प्रकुर्वन् 'चिट्ठ'त्ति चेष्टमानो विधेयतपोध्यानादिषु 'संवरे'त्ति संवृण्वन् अन्यमतेभ्यो निवर्त्तयन्, सर्वत्र मनो योज्यं। 'अत्थित्तं'ति (सू०३२) अस्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वं, उक्तं च– "सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च। अन्यथा सर्वभावानामेकत्वं संप्रसज्यते ॥१॥" यथा मृद्द्रव्यस्य पिण्डप्रकारेण सत्ता घटरूपतया सत्तायां 'नत्थित्तं नत्थित्ते'त्ति नास्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुष्ठादिभावेनासत्त्वं, यथा मृदो नास्तित्वं तन्त्वादिरूपं मृन्नास्तित्वरूपे पटे इति परिणमति तथा स्यात्, 'पओगस'त्ति सकारस्यागमिकत्वात् प्रयोगेण–जीवव्यापारेण 'वीससा'त्ति विश्रसाशब्दोऽऽत्र स्वभावार्थो दृश्यः,'पओगसावि'त्ति प्रयोगेणापि तदस्तित्वादि, यथा कुलालव्यापारात् मृत्पिण्डो घटतया परिणमति, अङ्गुलिऋजुता वा वक्रतयेति,'वीससावि'त्ति यथा शुभ्राभ्रमशुभ्राभ्रतया इति नास्तित्वस्य नास्तित्वपरिणामे प्रयोगविश्रसयोरेवामून्युदाहरणानि, वस्त्वन्तरापेक्षया मृत्पिण्डादेरस्तित्वस्य नास्तित्वात्,'जहा ते' ते इति तव मतेन अस्तित्वं, शेषं तथैव,'अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्ज'मिति अस्तित्वमस्तित्वेनैव गमनीयं,सद्वस्तु सत्त्वेनैव प्रज्ञापनीयमिति द्वावालापकौ,'जहा ते'(सू०३४)ते–तव भदन्त! 'एत्थं'ति एतस्मिन् मयि सन्निहितस्वशिष्ये गमनीयं, 'तहा ते इहं गमणिज्जं'ति तथा–तेनैव समतालक्षणप्रकारेणोपकारधिया वा 'इहं'ति इह अस्मिन् गृहिपाखण्डिकादौ जने गमनीयं, वस्तु प्रकाशनीयमिति प्रश्नः, उत्तरं व्यक्तं 'पमायपच्चयं जोगनिमत्तयं'ति (सू०३५) पमायो य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ। अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य ॥१॥ रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मंमि य अणायरो। जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥२॥" एवंविधप्रमादप्रत्ययं, योगो—

१ शतके ३ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

मनःप्रभृतिव्यापारस्ते निमित्तं–हेतुर्यत्र तत्तथा बध्नाति, 'पमाए'त्ति प्रमादः कस्मात् प्रवहति–प्रवर्त्तते इति किंप्रवहः, पाठान्तरेण किंप्रभवः, योगप्रभवः मनोवचःकाययोगप्रभवः, स किंप्रभवो ?, वीर्यप्रभवः, वीर्यं द्विधा–सकरणमकरणं वा, तत्र अलेश्यकेवलिनो यत्केवलज्ञानं तदकरणं, तदिह नाधिक्रियते, यस्तु मनःप्रभृतिसाध्यः सलेश्यो जीवप्रदेशपरिस्पंदात्मको व्यापारः स सकरणं वीर्यं, किंप्रभवं ?, शरीरप्रभवं, शरीरं किंप्रभवं ? 'एवं सति'त्ति एवं जीवस्य काङ्क्षामोहनीयकर्मबन्धत्वे सति, 'अत्थि'त्ति अस्ति–विद्यते, न तु नास्ति, यथा गोशालकमते नास्ति जीवानां उत्थानादि, पुरुषार्थासाधकत्वात्, नियतित एव पुरुषार्थसिद्धेः, यदाह–"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति नो भाविनोऽस्ति नाशः॥१॥" एवमप्रामाणिकाया नियतेरभ्युपगमः कृतः स्यात्, तेन 'उट्ठाणे'त्ति उत्थानं–ऊर्ध्वीभवनं 'कम्मे'त्ति कर्म्म–उत्क्षेपणावक्षेपणादि,'बले'त्ति बलं–शारीरः प्राणः 'वीरिए'त्ति वीर्यं उत्साहः 'पुरिस'त्ति पुरुषकारपराक्रमः पौरुषाभिमानः ॥ 'अप्पणा चेव'त्ति (सू० ३६) आत्मनैव—स्वयमेव जीवः, उदीरयति, करणविशेषेणाकृष्य भविष्यत्काले वेद्यं क्षपणायोदयावलिकायां प्रवेशयति, तथैव गर्हते अतीतकर्म्म, संवृणोति वार्त्तमानिकं कर्म्म, 'तं तं भंते !' अत्र प्रश्नाः ४, तत्रोत्तरम्–नोदीर्णं, तदुदीरणाऽभवनात्, नानुदीर्णं, कथं ?, चिरेण भविष्यदुदीरणं अभविष्यदुदीरणं च कर्म नोदीरयति, उदीरणाभविकं उदीरणायोग्यतां प्राप्तत्वात् अनुदीर्णं क्षीघ्रभविष्यदुदीरणं कर्मोदीरयति, उदयेनानन्तरसमये पश्चात्कृतं–अतीततां नीतं यत्तदपि नोदीरयति। इत्थं काङ्क्षामोहनीयस्योदीरणोक्ता, तस्यैवोपशमनमाह–'अप्पणा चेव उवसामेइ'त्ति, उपशमनं मोहनीयस्यैव, यदाह–"मोहस्सेवोवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं। उदयक्खयपरिणामा, अट्ठण्हवि होंति कम्माणं ॥१॥" उपशमः

१. शतके ३ उद्देशः

॥२०॥

श्रीभगवतीसूत्रम्

को नाम ?, उदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकतः प्रदेशतश्चाननुभवनं, सर्वथैव विष्कम्भितोदयत्वमित्यर्थः, अयं चानादिमिथ्यादृष्टेरौपशमिकसम्यक्त्वलाभे उपशमश्रेणिगतस्य वा, 'अणुदिण्णं'ति, उदीर्णस्य त्ववश्यंवेदनादुपशमनाभावः, उदीर्णं सद्वेद्यत इति वेदनासूत्रं 'उदिण्णं वेएइ' अनुदीर्णस्य वेदनाभावात्, वेदितं सन्निर्जीर्यते इति निर्जरासूत्रं, तत्र 'उदयाणंतर'त्ति उदयेनानंतरसमये यत्पश्चात्कृतं–अतीतताङ्गमितं तन्निर्जरयति–प्रदेशतः शातयति, अत्र सङ्ग्रहगाथा–"तइएण उदीरेंति, उवसामिंति य पुणोवि बीएणं । वेदेंति निज्जरेंति य पढमचउत्थेहिं सव्वेहिं ॥१॥" अथ काङ्क्षामोहनीयवेदनादिनिर्जरांतसूत्रं२४ दण्डकेषु योज्यं, तच्चैवम्–'कहण्णं भंते! णेरइया णं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?, गो०! तेहिं तेहिं कारणेहिं० हंता! वेएंति', यावत्स्तनितकुमाराः, तेषु च यत्र २ जीवपदं आगतं तत्र २ नारकादिपदमध्येयमिति, पञ्चेन्द्रियाणामेव शङ्कितत्वादयः नैकेन्द्रियादीनामतस्तेषां तद्विशेषमाह–'णो तक्काइ व'त्ति, तर्को–विमर्शः, स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्, 'सन्ना इ'त्ति संज्ञा–अर्थावग्रहरूपं ज्ञानं, 'पन्ना इ'त्ति प्रज्ञा–अशेषविषयं ज्ञानं, 'मणे'त्ति मनः स्मृत्यादि विशेषमतिभेदरूपं, 'वायाइ'त्ति वाक्–वचनं, पृथ्वीकायवदप्कायादिचतुरिन्द्रियान्तसूत्राण्यध्येयानि, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादीनि वैमानिकान्तसूत्राणि औधिकजीवाभिलापेनैवाध्येयानि। अथ श्रमणानाश्रित्य काङ्क्षामोहनीयवेदनं प्रश्नयन्नाह–'अत्थि णं भंते!'त्ति(सू०३८)निर्ग्रन्थाः–साधवः,'नाणंतरेहिं'न्ति एकस्मात् ज्ञानादन्यानि ज्ञानान्तराणि तैस्तैर्ज्ञानान्तरैः शङ्किताः, कथं ज्ञानविषयाशङ्का स्यात् ?, मनःपर्यायज्ञानविषयभूतानां मनोद्रव्याणामवधिनैव दृष्टत्वात् मनःपर्यायज्ञानं पृथग् किमुक्तं ? इति ज्ञानतः शङ्का, अत्रोत्तरम्–मनःपर्यायज्ञानं मनोमात्रग्राहकमदर्शनपूर्वकञ्च, अवधिज्ञानं तु किञ्चिद् मनोव्यतिरिक्तद्रव्यग्राहकं किञ्चिच्चोभयग्राहकं दर्शनपूर्वकं च। 'दंसणं'ति सामान्यार्थावबोधो दर्शनं, तत्र यदि नामेन्द्रियानि-

१ शतके ३ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

न्द्रियनिमित्तसामान्यार्थावबोधो दर्शनं, तदा किमेकश्चक्षुर्दर्शनं, अन्यस्त्वचक्षुर्दर्शनम्, अथेन्द्रियानिन्द्रियभेदाद्भेदः तदा चक्षुष इव श्रोत्रादीनामपि दर्शनभावात् षडिन्द्रियनोइन्द्रियजानि दर्शनानि स्युः, न द्वे एवेति, अत्र समाधिः–सामान्यविशेषात्मकत्वात् वस्तुनः क्वचिद्विशेषतः क्वचिच्च सामान्यतः, तत्र चक्षुर्दर्शनमिति विशेषतः, अचक्षुदर्शनमिति सामान्यतः, यच्च प्रकारान्तरतोऽपि निर्देशस्य सम्भवे चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं चेत्युक्तं तदिन्द्रियाणामप्राप्तकारित्वप्राप्तकारित्वविभागात्, मनसस्त्वप्राप्तकारित्वेऽपि प्राप्तकारीन्द्रियवर्गस्य तदनुसरणीयस्य बहुत्वात् तद्दर्शनस्याचक्षुर्दर्शनस्याचक्षुर्दर्शनशब्देन ग्रहणं, अथवा दर्शनं–सम्यक्त्वं, तत्र शङ्का–'मिच्छत्तं जमुदिण्णं तं खीणं अणुदियं च उवसंत'मिति क्षायोपशमिकलक्षणं, औपशमिकलक्षणमप्येवं, यदाह–"खीणंमि उइण्णंमी अणुदिज्जंते य सेसमिच्छत्ते । अंतोमुहुत्तमित्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥१॥" ततोऽनयोः को विशेष उक्तः ?, अत्र समाधिश्च–क्षयोपशमे हि उदीर्णस्य क्षयः अनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षया उपशमः, प्रदेशानुभवतस्तूदयोऽस्त्येव, उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति, उक्तं च–"वेएइ संतकम्मं खओवसमिएसु नाणुभावं से। उवसंतकसाओ उण वेदेइ न संतकम्मंति ॥१॥" 'चरित्ते'ति तत्र चारित्रं द्विधा–सामायिकं छेदोपस्थापनीयं च, तत्र प्रथमं सर्वसावद्यविरतिरूपं ततूदयोऽ(०पत्रतादिरूपम)न्यदपि तल्लक्षणमेव, तत्कोऽनयोर्भेदः इति शङ्का, अत्र समाधिः–ऋजुवक्रजडानां प्रथमचरमजिनसाधूनामाश्वासनाय छेदोपस्थापनीयमुक्तं, व्रतारोपणे हि मनाक् सामायिकाशुद्धावपि व्रताखण्डनाचारित्रिणो वयं, चारित्रस्य व्रतरूपत्वादिति बुद्धिः स्यात्, सामायिकमात्रे तु तदशुद्धौ भग्नं नश्चारित्रं, चारित्रस्य सामायिकमात्रत्वादित्यनाश्वासस्तेषां स्यादिति, आह–"रिउवंकजडा पुरिमेयराण सामाइए वयारुहणं । मणयमसुद्धेऽवि जओ सामइए हुंति हु वयाइं ॥१॥" लिङ्गं–साधुवेषः, तत्र मध्यमजिनैर्यथालब्धवस्त्ररूपं लिङ्गं साधूनामुक्तं, तदा किमिति प्रथम-

१ शतके ३ उद्देशः

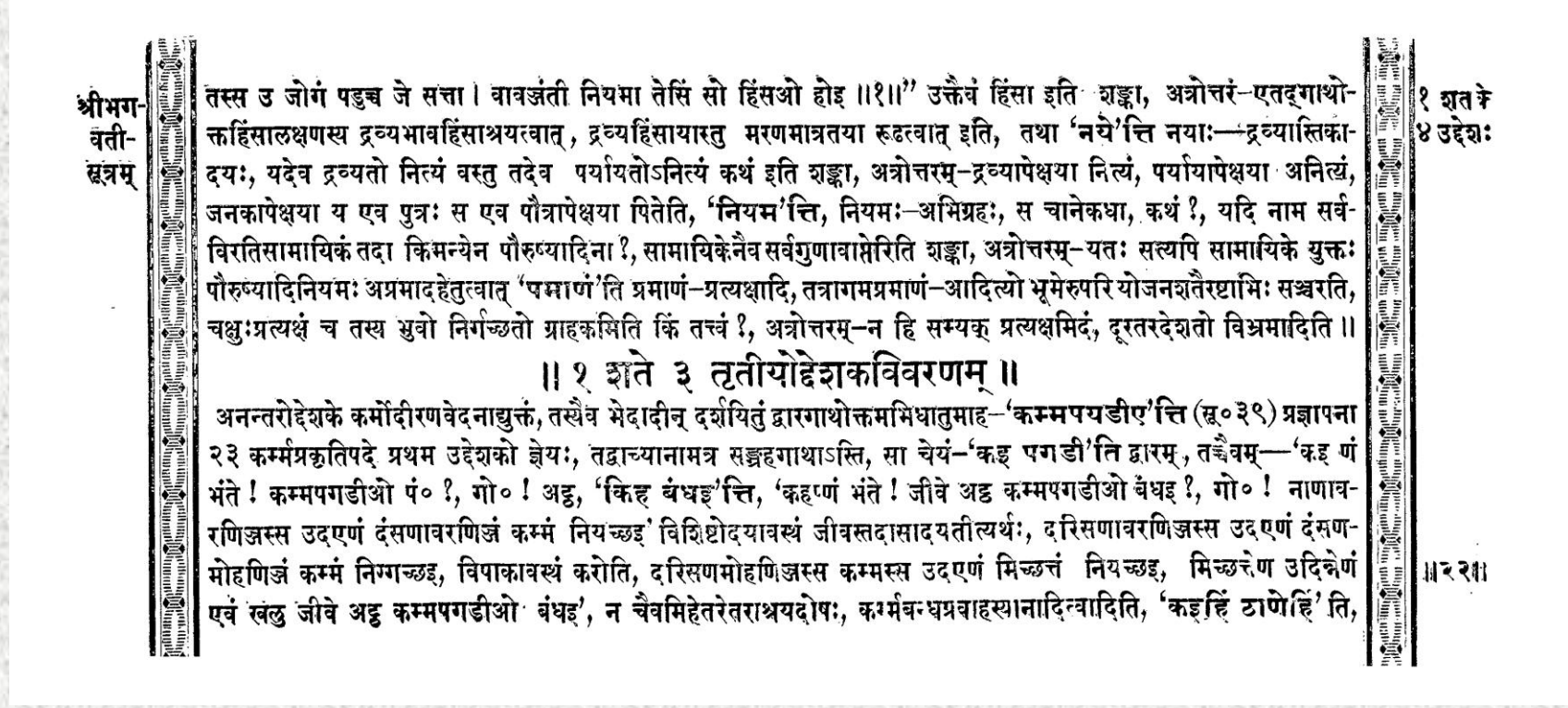
॥२१॥

श्रीभगवतीसूत्रम्

चरमजिनैरचेलत्वं शुभ्रवस्त्रत्वं चोक्तमिति शङ्का, अत्र समाधिः–ऋजुजडवक्रजडऋजुप्राज्ञशिष्यानाश्रित्य भगवदुपदेशः, प्रवचनं–आगमस्तत्र शङ्का–मध्यमजिनैश्चतुर्यामो धर्मः प्रथमान्तिमजिनैश्च पंचयामः प्रोक्त इति, अत्र समाधिः सुगमः, 'पावयणं'ति प्रवचनमधीते वेत्ति वेति प्रावचनिकः, तत्रैक एवं कुर्यादन्यस्त्वेवमिति किमत्र तत्त्वमिति शङ्का, समाधिश्चात्र–मोहनीयक्षयोपशमविशेषेणोत्सर्गापवादव्यवहारनिश्चयादिविविधत्वेन प्रावचनिकानां विचित्रा प्रवृत्तिरिति, 'कप्पं'ति, कल्पो द्विधा–जिनकल्पः स्थविरकल्पश्च, तत्र प्रथमो नाग्न्यादिमहाकष्टरूपः, इतरो वस्त्रपात्रादिपरिभोगरूपः, ततो द्वावेतौ कथं कर्म्मक्षयाय?, अत्रोत्तरम्–अवस्थाभेदेन जिनोक्तत्वात् द्वावपि कर्म्मक्षयकरौ, 'मग्ग'ति मार्गः–पूर्वपुरुषसामाचारीरूपः, स च केषांचिदनेकविधकायोत्सर्गकरणाद्यावश्यकसामाचारीरूपः, तदन्येषां तु न तथेति शङ्का, अत्रोत्तरम्–गीतार्थाशठप्ररूपितोऽसौ सर्वोऽपि न विरुद्धा, आचरितलक्षणोपेतत्वात्, उक्तं च—"असढाइण्णत्तऽणवज्ज, गीयत्थअवारियंति मज्झत्था। आयरणाऽवि हु आणत्ति वयणओ सुबहु मन्नंति ॥१॥" इति, 'मतं'ति आचार्याणामागमेऽसमानोऽभिप्रायः, कथं?, सिद्धसेनः केवलिनो युगपज्ज्ञानं दर्शनं च, जिनभद्रगणिस्तु भिन्नसमये तौ द्वावपि केवलिनो मन्यते, जीवस्वरूपत्वात्, यथा तदावरणक्षयोपशमे समानेऽपि क्रमेणैव मतिश्रुतोपयोगौ, न च एकतरोपयोग इतरक्षयोपशमाभाव इति वाच्यं, तत्क्षयोपशम उत्कृष्टतः षट्षष्टिसागराणि, कथं?,"दोवारे विजयाइसु गयस्स"त्ति वचनात् इति शङ्का, इहैवं समाधिः–"जुगवं दो नत्थि उवओगा,' तच्चं जिनप्रणीतमेव, आह च–'अणुवकयपराणुग्गह०'त्ति, 'भंगं'ति भङ्गाध्यादिसंयोगभङ्गकाः, तत्र द्रव्यतो नामैका हिंसा न भावत इत्यादि चतुर्भङ्गी उक्ता, तत्र प्रथमोऽत्र भङ्गो न युज्यते, यतः किल द्रव्यतो हिंसा ईर्यासमित्या गच्छतः साधोः पिपीलिकादिव्यापादनं, नेयं हिंसा, तल्लक्षणायोगात्, तथोक्तं च–"जो उ पमत्तो पुरिसो

१ शतके
३ उद्देशः

*** अत्र ज्ञान-दर्शन उपयोग संबंधे भिन्न-भिन्न द्वे मत-विषयक चर्चा



श्रीभगवतीसूत्रम्

तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता। वावज्जंती नियमा तेसिं सो हिंसओ होइ ॥१॥" उक्तैवं हिंसा इति शङ्का, अत्रोत्तरं–एतद्गाथोक्तहिंसालक्षणस्य द्रव्यभावहिंसाश्रयत्वात्, द्रव्यहिंसायास्तु मरणमात्रतया रूढत्वात् इति, तथा 'नये'त्ति नयाः—द्रव्यास्तिकादयः, यदेव द्रव्यतो नित्यं वस्तु तदेव पर्यायतोऽनित्यं कथं इति शङ्का, अत्रोत्तरम्–द्रव्यापेक्षया नित्यं, पर्यायापेक्षया अनित्यं, जनकापेक्षया य एव पुत्रः स एव पौत्रापेक्षया पितेति, 'नियम'त्ति, नियमः–अभिग्रहः, स चानेकधा, कथं ?, यदि नाम सर्वविरतिसामायिकं तदा किमन्येन पौरुष्यादिना ?, सामायिकेनैव सर्वगुणावाप्तेरिति शङ्का, अत्रोत्तरम्–यतः सत्यपि सामायिके युक्तः पौरुष्यादिनियमः अप्रमादहेतुत्वात् 'पमाणं'ति प्रमाणं–प्रत्यक्षादि, तत्रागमप्रमाणं–आदित्यो भूमेरुपरि योजनशतैरष्टाभिः सञ्चरति, चक्षुःप्रत्यक्षं च तस्य भुवो निर्गच्छतो ग्राहकमिति किं तत्त्वं ?, अत्रोत्तरम्–न हि सम्यक् प्रत्यक्षमिदं, दूरतरदेशतो विभ्रमादिति ॥

॥ १ शते ३ तृतीयोद्देशकविवरणम् ॥

अनन्तरोद्देशके कर्मोदीरणवेदनाद्युक्तं, तस्यैव भेदादीन् दर्शयितुं द्वारगाथोक्तमभिधातुमाह–'कम्मपयडीए'त्ति (सू०३९) प्रज्ञापना २३ कर्म्मप्रकृतिपदे प्रथम उद्देशको ज्ञेयः, तद्व्याख्यानामत्र सङ्ग्रहगाथाऽस्ति, सा चेयं–'कइ पगडी'ति द्वारम्, तच्चैवम्—'कइ णं भंते ! कम्मपगडीओ पं० ?, गो० ! अट्ठ, 'किह बंधइ'त्ति, 'कहण्णं भंते ! जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ ?, गो० ! नाणावरणिज्जस्स उदएणं दंसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ' विशिष्टोदयावस्थं जीवस्तदासादयतीत्यर्थः, दरिसणावरणिज्जस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं निग्गच्छइ, विपाकावस्थं करोति, दरिसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ, मिच्छत्तेण उदिन्नेणं एवं खलु जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ', न चैवमिहेतरेतराश्रयदोषः, कर्म्मबन्धप्रवाहस्यानादित्वादिति, 'कइहिं ठाणेहिं'ति,

१ शतके ४ उद्देशः

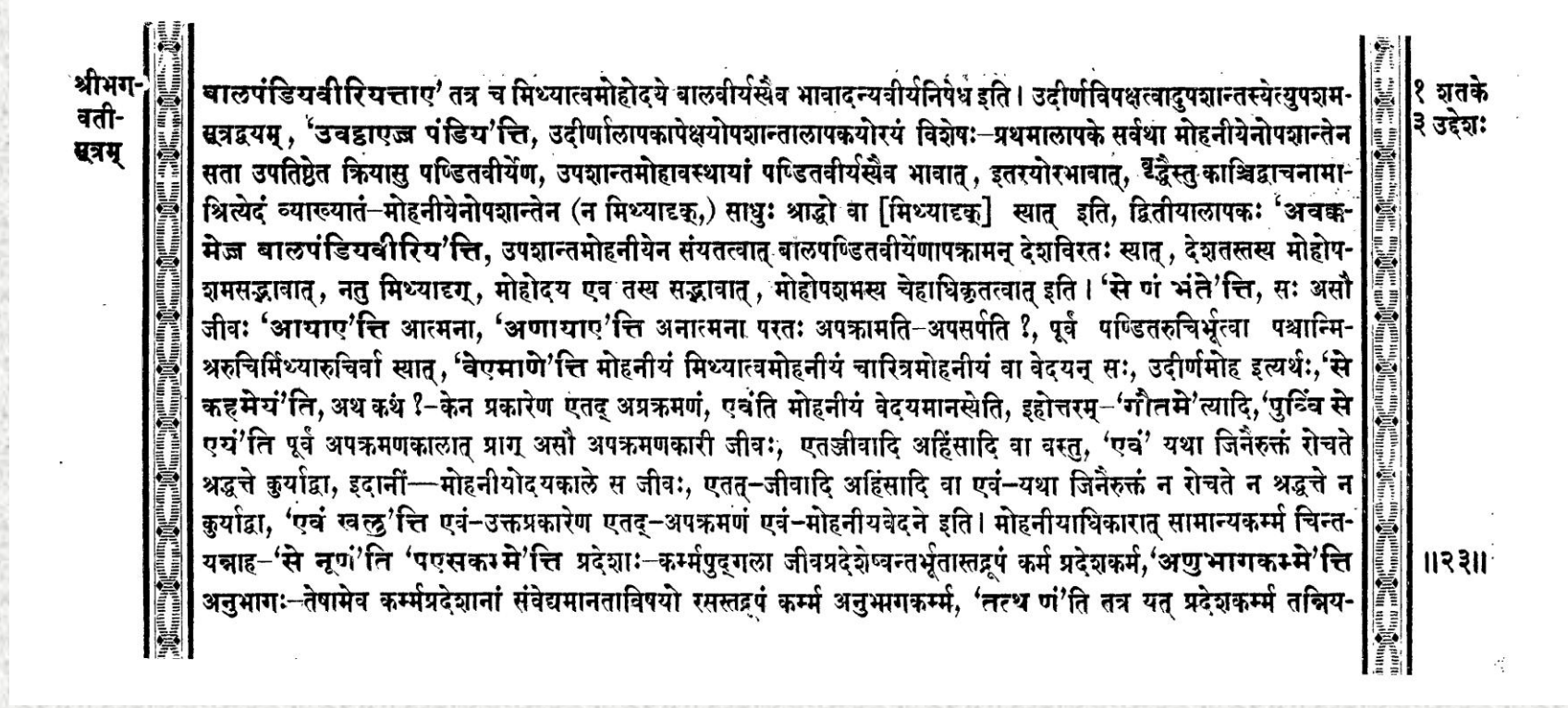
॥२२॥

	अत्र शतक-१, उद्देषक: ३ समाप्त:, अथ शतक-१ उद्देषक: ४ आरब्ध:

श्रीभगवतीसूत्रम्

'जीवे णं भंते ! णाणा० कम्मं कइहिं ठाणेहिं बंधइ ?, गो० ! दोहिं, तं०--रागेण य दोसेण य'। 'कइ वेएइ व'त्ति, 'जीवे णं भंते ! कइ क० वेएइ ?, गो०! अत्थेगइए वेएइ, अत्थेगइए नो वेएइ, जो वेएइ से अट्ठ, जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेएइ ?, गो० ! अत्थेगइए वेएइ, अत्थेगइए नो वेएइ, केवलिनोऽवेदनात्, 'णेरइए णं भंते ! णाणावरणिज्जं वेएइ ?, गो ! णियमा वेएइ', 'अणुभागो कइविहो'त्ति, कस्य कर्मणः कतिविधो रस इति, तच्चैवम्--'णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स कइविहे अणुभागे पण्णत्ते ?, गो०! दसविहे पण्णत्ते, तं०--सोयावरणे सोयविन्नाणावरणे' इत्यादि, द्रव्येन्द्रियावरणो भावेन्द्रियावरणश्चेति। अथ कर्म्मचिन्ताधिकारात् मोहनीयमाश्रित्याह--"जीवे णं'ति (सू०४०)'मोहणिज्जेणं'ति मिथ्यात्वमोहनीयेन 'उइण्णं'ति उदितेन 'उवट्ठाएज्जा' उपतिष्ठेत्, उपस्थानं परलोकक्रियां कुर्यात्, म्रियत इत्यर्थः, 'वीरियत्ताए'त्ति वीर्याणां भावो वीर्यता तया, 'अवीरिय'त्ति वीर्याभावेन अविद्यमानवीर्यतया, इति प्रश्नः ?, 'नो अवीरि'त्ति, वीर्यहेतुकत्वादुपस्थानस्येति, 'बालवीरिय'त्ति बालः--सम्यगर्थानवबोधाद्विरत्यभावाच्च मिथ्यादृष्टिः तस्य या वीर्यता--परिणतिविशेषस्तया, 'पंडियवीरि'त्ति पण्डितः--सर्वविरतः, 'बालपंडियवीरिय'त्ति बालपण्डितो--देशविरतो विरत्यविरतिसद्भावात्, अत्र मिथ्यात्वे वेदिते मिथ्यादृष्टित्वाज्जीवस्य बालवीर्येणैवोपस्थानं स्यात्, नेतराभ्यां, उपस्थानविपक्षोऽपक्रमणमतस्तदाह--'अवक्कमेज्ज' अपक्रमेद्--अवसर्पेत्, उत्तमगुणस्थानकात् हीनतरं गच्छेत्, 'बालवीरिय'त्ति मिथ्यात्वमोहोदये सम्यक्त्वात् संयमात् देशसंयमाद्वा अपक्रामेत्, मिथ्यादृग् स्यादिति, 'नो पंडिय'त्ति न पण्डितवीर्यतया, यतः--पण्डितवीर्येण प्रधानतरं गुणस्थानकं व्रजेत्, नापक्रामेत्,'सिय बालवीरिय'त्ति स्यात्--कदाचिच्चारित्रमोहनीयोदयेन संयमादपगत्य बालपण्डितवीर्येण देशविरतः स्यात्, वाचनान्तरं त्वेवम्--'बालवीरियत्ताए, नो पंडियवीरियत्ताए नो

१ शतके
३ उद्देशः

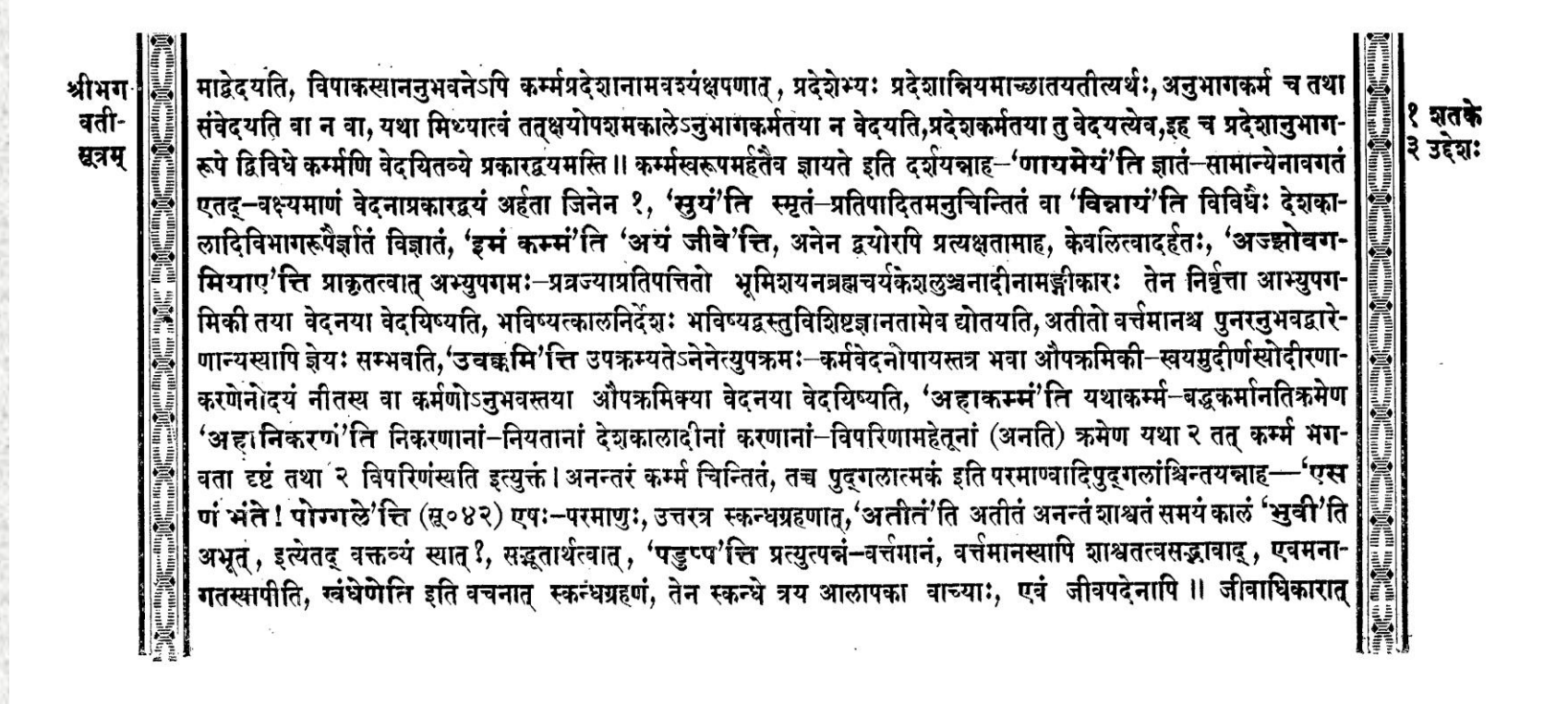


श्रीभगवतीसूत्रम्

बालपंडियवीरियत्ताए' तत्र च मिथ्यात्वमोहोदये बालवीर्यस्यैव भावादन्यवीर्यनिषेध इति। उदीर्णविपक्षत्वादुपशान्तस्येत्युपशमसूत्रद्वयम्, 'उवट्ठाएज्ज पंडिय'त्ति, उदीर्णालापकापेक्षयोपशान्तालापकयोरयं विशेषः—प्रथमालापके सर्वथा मोहनीयेनोपशान्तेन सता उपतिष्ठेत क्रियासु पण्डितवीर्येण, उपशान्तमोहावस्थायां पण्डितवीर्यस्यैव भावात्, इतरयोरभावात्, द्वद्वैस्तु काश्चिद्वाचनामाश्रित्येदं व्याख्यातं—मोहनीयेनोपशान्तेन (न मिथ्यादृक्,) साधुः श्राद्धो वा [मिथ्यादृक्] स्यात् इति, द्वितीयालापकः 'अवक्कमेज्ज बालपंडियवीरिय'त्ति, उपशान्तमोहनीयेन संयतत्वात् बालपण्डितवीर्येणापक्रामन् देशविरतः स्यात्, देशतस्तस्य मोहोपशमसद्भावात्, नतु मिथ्यादृग्, मोहोदय एव तस्य सद्भावात्, मोहोपशमस्य चेहाधिकृतत्वात् इति। 'से णं भंते'त्ति, सः असौ जीवः 'आयाए'त्ति आत्मना, 'अणायाए'त्ति अनात्मना परतः अपक्रामति—अपसर्पति ?, पूर्वं पण्डितरुचिर्भूत्वा पश्चान्मिथ्यारुचिर्वा स्यात्, 'वेएमाणे'त्ति मोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयं चारित्रमोहनीयं वा वेदयन् सः, उदीर्णमोह इत्यर्थः,'से कहमेयं'ति, अथ कथं ?—केन प्रकारेण एतद् अपक्रमणं, एवंति मोहनीयं वेदयमानस्येति, इहोत्तरम्—'गोतमे'त्यादि,'पुव्विं से एयं'ति पूर्वं अपक्रमणकालात् प्राग् असौ अपक्रमणकारी जीवः, एतज्जीवादि अहिंसादि वा वस्तु, 'एवं' यथा जिनैरुक्तं रोचते श्रद्धत्ते कुर्याद्वा, इदानीं—मोहनीयोदयकाले स जीवः, एतत्—जीवादि अहिंसादि वा एवं—यथा जिनैरुक्तं न रोचते न श्रद्धत्ते न कुर्याद्वा, 'एवं खलु'त्ति एवं—उक्तप्रकारेण एतद्—अपक्रमणं एवं—मोहनीयवेदने इति। मोहनीयाधिकारात् सामान्यकर्म्म चिन्तयन्नाह—'से नूणं'ति 'पएसकम्मे'त्ति प्रदेशाः—कर्म्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वन्तर्भूतास्तद्रूपं कर्म प्रदेशकर्म,'अणुभागकम्मे'त्ति अनुभागः—तेषामेव कर्म्मप्रदेशानां संवेद्यमानताविषयो रसस्तद्रूपं कर्म्म अनुभागकर्म्म, 'तत्थ णं'ति तत्र यत् प्रदेशकर्म्म तन्निय-

१ शतके ३ उद्देशः

॥२३॥



श्रीभगवतीसूत्रम्

माद्वेदयति, विपाकस्याननुभवनेऽपि कर्म्मप्रदेशानामवश्यंक्षपणात्, प्रदेशेभ्यः प्रदेशान्नियमाच्छातयतीत्यर्थः, अनुभागकर्म च तथा संवेदयति वा न वा, यथा मिथ्यात्वं तत्क्षयोपशमकालेऽनुभागकर्मतया न वेदयति, प्रदेशकर्मतया तु वेदयत्येव, इह च प्रदेशानुभागरूपे द्विविधे कर्म्मणि वेदयितव्ये प्रकारद्वयमस्ति॥ कर्म्मस्वरूपमर्हतैव ज्ञायते इति दर्शयन्नाह–**'णायमेयं'त्ति** ज्ञातं–सामान्येनावगतं एतद्–वक्ष्यमाणं वेदनाप्रकारद्वयं अर्हता जिनेन १, **'सुयं'त्ति** स्मृतं–प्रतिपादितमनुचिन्तितं वा **'विन्नायं'त्ति** विविधैः देशकालादिविभागरूपैर्ज्ञातं विज्ञातं, **'इमं कम्मं'ति 'अयं जीवे'त्ति**, अनेन द्वयोरपि प्रत्यक्षतामाह, केवलित्वादर्हतः, **'अज्झोवगमियाए'त्ति** प्राकृतत्वात् अभ्युपगमः–प्रव्रज्याप्रतिपत्तितो भूमिशयनब्रह्मचर्यकेशलुञ्चनादीनामङ्गीकारः तेन निर्वृत्ता आभ्युपगमिकी तया वेदनया वेदयिष्यति, भविष्यत्कालनिर्देशः भविष्यद्वस्तुविशिष्टज्ञानतामेव द्योतयति, अतीतो वर्त्तमानश्च पुनरनुभवद्वारेणान्यस्यापि ज्ञेयः सम्भवति, **'उवक्कमि'त्ति** उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः–कर्मवेदनोपायस्तत्र भवा औपक्रमिकी–स्वयमुदीर्णस्योदीरणाकरणेनोदयं नीतस्य वा कर्मणोऽनुभवस्तया औपक्रमिक्या वेदनया वेदयिष्यति, **'अहाकम्मं'ति** यथाकर्म्म–बद्धकर्मानतिक्रमेण **'अहानिकरणं'ति** निकरणानां–नियतानां देशकालादीनां करणानां–विपरिणामहेतूनां (अनति) क्रमेण यथा २ तत् कर्म्म भगवता दृष्टं तथा २ विपरिणंस्यति इत्युक्तं। अनन्तरं कर्म्म चिन्तितं, तच्च पुद्गलात्मकं इति परमाण्वादिपुद्गलांश्चिन्तयन्नाह—**'एस णं भंते! पोग्गले'त्ति** (सू०४२) एषः–परमाणुः, उत्तरत्र स्कन्धग्रहणात्, **'अतीतं'ति** अतीतं अनन्तं शाश्वतं समयं कालं **'भुवी'ति** अभूत्, इत्येतद् वक्तव्यं स्यात्?, सद्भूतार्थत्वात्, **'पडुप्प'त्ति** प्रत्युत्पन्नं–वर्त्तमानं, वर्त्तमानस्यापि शाश्वतत्वसद्भावाद्, एवमनागतस्यापीति, **खंधेणेति** इति वचनात् स्कन्धग्रहणं, तेन स्कन्धे त्रय आलापका वाच्याः, एवं जीवपदेनापि॥ जीवाधिकारात्

१ शतके
२ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [४३]

दीप अनुक्रम [५१]

श्रीभगवतीसूत्रम्

छद्मस्थवक्तव्यतामुद्देशकान्तं यावदाह–'संजमेणं'ति (सू०४३) संयमेन–पृथिव्यादिरक्षणरूपेण संवरेण–इन्द्रियकषायनिरोधेन,एतच्च गौतमेनानेनाभिप्रायेण पृष्टं, यदुत उपशान्तमोहावस्थायां सर्वविशुद्धाः संयमादयः स्युः, विशुद्धसंयमसाध्या च सिद्धिरिति, सा न छद्मस्थस्य स्यादिति, 'अंतं करें'ति भवान्तकारिणः, 'अंतिमसरीरि'त्ति अन्तिमवपुषः—चरमदेहाः,'आहोहिय'त्ति 'आहोहिए णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासय'मिति दण्डकत्रयं, तत्र अधः–परमावधेरधस्ताद्योऽवधिः सः अधोऽवधिस्तेन यो व्यवहरत्यसावधोऽवधिकः, परिमितक्षेत्राधिक इति,'परमोहिय'त्ति परमाधोऽवधिकः, स द्रव्यतः सर्वरूपिद्रव्याणि क्षेत्रतोऽलोकेऽसङ्ख्यातलोकमात्रालोकखण्डानि कालतोऽसङ्ख्यातावसर्पिणीः पश्येद्, असौ परमावधिकज्ञानविषयः, तस्यान्तर्मुहूर्त्तात्परतः केवलोत्पत्तिः 'अलमत्थु'त्ति अलमस्तु–पर्याप्तं भवतु॥

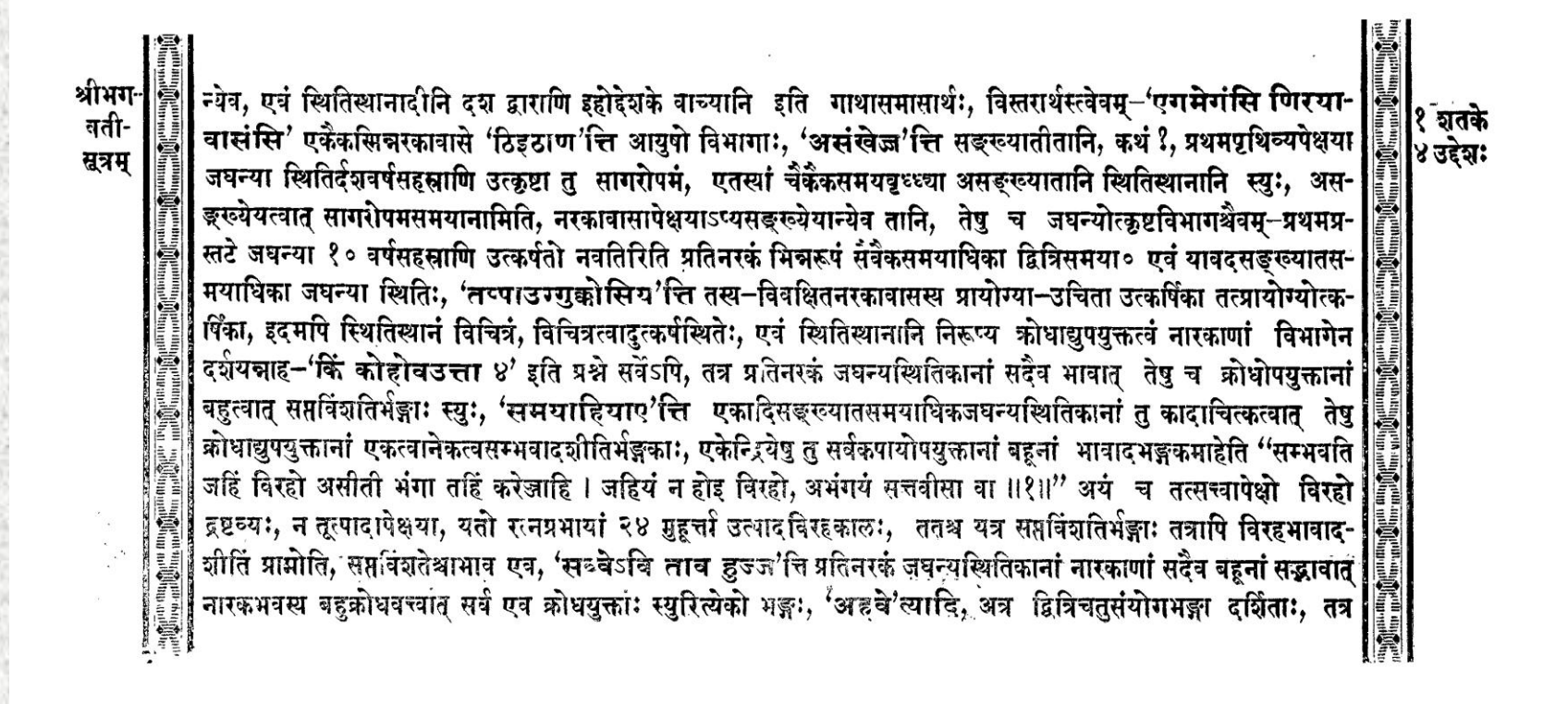
इति प्रथमशते चतुर्थोद्देशकविवरणम्

अनन्तरोद्देशकान्ते अर्हदादय उक्ताः, ते पृथिव्यां स्युः अथवा पृथिवीत उद्वृत्ता मनुजत्वमवाप्ताः सन्तस्ते स्युरिति पृथिवीस्वरूपमाह–'छण्हंपि जुयलाणं' (११०गाथा),तत्र दक्षिणोत्तरदिग्भेदतोऽसुरादिनिकाये षट्सु युगलेषु षट्सप्ततिर्भवनलक्षमिति,षड्युगलानामयं विभागः–'चउतीसा चउचत्ता अट्ठत्तीसं च सयसहस्साओ। पण्णा चत्तालीसा दाहिणओ हुंति भवणाइं ॥१॥ चउचउलक्खविहूणा तावइया चेव उत्तरदिसाए।' 'पुढवि'त्ति 'जीवावाससयसहस्स'त्ति पृथिव्यादिषु जीवावासानां–जीवावस्थानस्थानानां शतसहस्राः–असङ्ख्याताः स्युः,'पुढविठिई ओगाहण'त्ति, गाहा (१५) 'पुढवि'त्ति पृथिव्यादिषु जीवावासेषु इति द्रष्टव्यं, 'ठिइ'त्ति 'सूचनात् सूत्र'मिति न्यायात् स्थितिस्थानानि वाच्यानि,'ओगाहण'त्ति अवगाहनास्थानानि,शरीरादिपदानि व्यक्ता-

१ शतके ४ उद्देशः

॥२४॥

अत्र शतक-१, उद्देषक: ४ समाप्त:, अथ शतक-१ उद्देषक: ५ आरब्ध:



श्रीभगवती-सूत्रम्

न्येव, एवं स्थितिस्थानादीनि दश द्वाराणि इहोद्देशके वाच्यानि इति गाथासमासार्थः, विस्तरार्थस्त्वेवम्–'एगमेगंसि णिरयावासंसि' एकैकस्मिन्नरकावासे 'ठिइठाण'त्ति आयुषो विभागाः, 'असंखेज्ज'त्ति असङ्ख्यातीतानि, कथं ?, प्रथमपृथिव्यपेक्षया जघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि उत्कृष्टा तु सागरोपमं, एतस्यां चैकैकसमयवृध्द्या असङ्ख्यातानि स्थितिस्थानानि स्युः, असङ्ख्येयत्वात् सागरोपमसमयानामिति, नरकावासापेक्षयाऽप्यसङ्ख्येयान्येव तानि, तेषु च जघन्योत्कृष्टविभागश्चैवम्–प्रथमप्रस्टे जघन्या १० वर्षसहस्राणि उत्कर्षतो नवतिरिति प्रतिनरकं भिन्नरूपं सैवैकसमयाधिका द्वित्रिसमया० एवं यावदसङ्ख्यातसमयाधिका जघन्या स्थितिः, 'तप्पाउग्गुक्कोसिय'त्ति तस्य–विवक्षितनरकावासस्य प्रायोग्या–उचिता उत्कर्षिका तत्प्रायोग्योत्कर्षिका, इदमपि स्थितिस्थानं विचित्रं, विचित्रत्वादुत्कर्षस्थितेः, एवं स्थितिस्थानानि निरूप्य क्रोधाद्युपयुक्तत्वं नारकाणां विभागेन दर्शयन्नाह–'किं कोहोवउत्ता ४' इति प्रश्ने सर्वेऽपि, तत्र प्रतिनरकं जघन्यस्थितिकानां सदैव भावात् तेषु च क्रोधोपयुक्तानां बहुत्वात् सप्तविंशतिर्भङ्गाः स्युः, 'समयाहियाए'त्ति एकादिसङ्ख्यातसमयाधिकजघन्यस्थितिकानां तु कादाचित्कत्वात् तेषु क्रोधाद्युपयुक्तानां एकत्वानेकत्वसम्भवादशीतिर्भङ्गकाः, एकेन्द्रियेषु तु सर्वकषायोपयुक्तानां बहूनां भावादभङ्गकमाहेति "सम्भवति जहिं विरहो असीती भंगा तहिं करेज्जाहि । जहियं न होइ विरहो, अभंगयं सत्तवीसा वा ॥१॥" अयं च तत्सत्त्वापेक्षो विरहो द्रष्टव्यः, न तूत्पादापेक्षया, यतो रत्नप्रभायां २४ मुहूर्त्ता उत्पादविरहकालः, ततश्च यत्र सप्तविंशतिर्भङ्गाः तत्रापि विरहभावादशीतिं प्राप्नोति, सप्तविंशतेश्चाभाव एव, 'सव्वेऽवि ताव हुज्ज'त्ति प्रतिनरकं जघन्यस्थितिकानां नारकाणां सदैव बहूनां सद्भावात् नारकभवस्य बहुक्रोधवत्त्वात् सर्व एव क्रोधयुक्ताः स्युरित्येको भङ्गः, 'अहवे'त्यादि, अत्र द्वित्रिचतुसंयोगभङ्गा दर्शिताः, तत्र

१ शतके ४ उद्देशः

अत्र **शतक**-१, उद्देषक: ५ एव वर्तते, यत् **प्रत**-संपादने **'उद्देशक** : ४' इति मुद्रितं तत् मुद्रण स्खलना दृश्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [४४-४६] + गाथा: दीप अनुक्रम [५२-६३]

प्रत

श्रीभग-वती-सूत्रम्

द्विकसंयोगे बहुवचनं अभुंचता षड् भङ्गाः, त्रिकसंयोगे १२ भङ्गाः, क्रोधे नित्यं बहुवचनं, माननायययोरेकवचनामेति प्रथमः, मानैकत्वे मायाबहुत्वे द्वितीयः, माने बहुत्वे मायैकत्वे ३ माननाययोर्बहुत्वे ४, क्रोधमानलोभैरित्थमेव चत्वारः, क्रोधमायालोभैरित्थमेव चत्वारः, एवं जाताः १२, चतुष्कसंयोगे त्वष्टौ, कथं ?, क्रोधे बहुत्वेन माननायालोभैकत्वेनैकः, एवं लोभे बहुत्वेन २ एवमेतावेकवचनान्तमायया जातौ, एवं बहुवचनान्तमायया द्वौ, एवं जाताश्चत्वारः एकवचनान्तमानेन, एवं बहुवचनान्तमानेन, जाता एवमष्टौ, जघन्यस्थितिनारकेष्वेव सप्तविंशतिर्भङ्गा उक्ताः, जघन्यस्थितिनारका बहवः स्युस्तेन क्रोधे बहुवचनमेव, अथाशीतिर्भङ्गा उच्यन्ते–क्रोधाद्येकत्वेन ४ बहुत्वेनापि ४, द्विकसंयोगे २४, तथाहि–क्रोधमानयोरेकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारः, क्रोधमाययोः ४ क्रोधलोभयोः ४ माननाययोः ४ मानलोभयोः ४ मायालोभयोः ४ इति द्विकयोगे २४, त्रिकसंयोगे ३२, तथाहि–क्रोधमानमायास्वेकत्वेन १ एष्वेव मायाबहुत्वेन द्वितीयः, एवमेतौ मानैकत्वेन द्वावेव, अन्यौ तद्बहुत्वेन ४, क्रोधैकत्वेन ४ क्रोधबहुत्वेन ४, एवमष्टौ क्रोधमानमायात्रिके जाताः, तथैवाष्टौ क्रोधमायालोभेषु, तथैवाष्टौ मायामानलोभेषु, एवं जाताः ३२, चतुष्कसंयोगे १६, क्रोधादिष्वेकत्वेनैकः, लोभस्य बहुत्वेन द्वितीयः, एवमेतौ मायैकत्वेन, तथाऽन्यौ मायाबहुत्वेन, एवमेते चत्वारो मानैकत्वेन, चत्वारो मानबहुत्वेन च, एवमष्टौ क्रोधैकत्वेन, अन्ये अष्टौ क्रोधबहुत्वेन चेति जाताः षोडश, सर्वे मिलिता एवमशीतिभङ्गाः, एते च जघन्यस्थितावेकादिसङ्ख्यातान्तसमयाधिकायां भवन्ति, अत्र सप्तविंशत्यशीतिभङ्गकव्यक्तिर्ज्ञेया, यथा–इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णेरइयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि णिरयावासंसि जहन्नियाए ठिइए वट्टमाणा णेरइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?, गोयमा ! सव्वेऽवि ताव होज्ज कोहोवउत्ता, अहवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य,

१ शतके ४ उद्देशः

॥२५॥

अत्र शतक-१, उद्देषक: ५ एव वर्तते, यत् प्रत-संपादने 'उद्देशक : ४' इति मुद्रितं तत् मुद्रण स्खलना दृश्यते

श्रीभगवतीसूत्रम्

१ अहवा कोहावउत्ता य माणोवउत्ता य २ अहवा कोहोवउत्ते य मायोवउत्ता य ३ अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ता य, एवं सत्तावीसं भंगा णेयव्वा, भावना चैवं, यथा—सर्वेऽपि क्रोधोपयुक्ताः इत्येकः प्रथमो भङ्ग १, अथ द्विकयोगाः—क्रोधोपयुक्ताः मानोपयुक्तः १ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ताः २ क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्तः३ क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्ताः४ क्रोधोपयुक्ता लोभोपयुक्तः ५ क्रोधोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः ६ द्विकयोगे जाताः षट्, अथ त्रिकयोगाः–क्रोधोपयुक्तः मानोपयुक्तो मायोपयुक्तः १ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्ताः २, क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्तः ३ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्ताः४ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो लोभोपयुक्तः ५ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः ६ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता लोभोपयुक्तः ७ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः ८, क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः ९ क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः १०,क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः ११ क्रोधोपयुक्ताः मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः १२, एवं त्रिकयोगे जाता द्वादश, अथ चतुष्कयोगाः–क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः १, क्रोधोपयुक्ताः मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः २, क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः ३ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः ४ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः५ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः ६, क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः ७ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः ८, एवं चतुष्कयोगा जाता अष्टौ इत्येकषड्द्वादशअष्टयोगमीलने सर्वे जातास्सप्तविंशतिमिताः। 'इमीसे' णं भंते ! इयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि णिरयावासंसि समयाहियाए जहण्णट्ठितीए वट्टमाणा णेरइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?, गो०! कोहोवउत्ते य १ माणो

१ शतके ४ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [४४-४६] + गाथा: दीप अनुक्रम [५२-६३]

श्रीभगवतीसूत्रम्

वउत्ते य २ मायोवउत्ते य ३ लोभोवउत्ते य ४ कोहोवउत्ता य ५ माणोवउत्ता य ६ मायोवउत्ता य ७ लोभोवउत्ता य ८, अहवा कोहावउत्ता य माणोवउत्ते य, एवं असीति भंगा भणियव्वा, अथाशीतिर्भङ्गा उच्यन्ते–यथा क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः, एकत्वेन चत्वारो जाताः, क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः, बहुत्वेनापि चत्वारः, सर्वे एककयोगा अष्टौ, अथ द्विकयोगे चतुर्विंशतिभङ्गा यथा–क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तः १ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तः २ क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ताः ३ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ताः४ एवं क्रोधोपयुक्तो मायोयुक्तः५ क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्तः,६ क्रोधोपयुक्तो मायोपयुक्ताः ७ क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्ताः ८ क्रोधोपयुक्तो लोभोपयुक्तः९ क्रोधोपयुक्ता लोभोपयुक्तः१० क्रोधोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः११ क्रोधोपयुक्ताः लोभोपयुक्ताः १२ एवं मानोपयुक्तो मायोपयुक्तः१३ मानोपयुक्ता मायोपयुक्तः१४ मानोपयुक्तो मायोपयुक्ताः १५ मानोपयुक्ता मायोपयुक्ताः १६ एवं मानोपयुक्तो लोभोपयुक्तः१७ मानोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः१८ मानोपयुक्ता लोभोपयुक्तः१९ मानोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः २०,एवं मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः२१ मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः२२ मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः २३ मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः२४, एवं क्रोधमानाभ्यां ४ क्रोधमायाभ्यां ४ क्रोधलोभाभ्यां ४ मानमायाभ्यां ४ मानलोभाभ्यां ४ मायालोभाभ्यां ४ द्विकसंयोगा एकत्वबहुत्वाभ्यां ४ चत्वारो भवन्ति, सर्वे मीलिता जाताश्चतुर्विंशतिमिताः, त्रिकसंयोगे द्वात्रिंशद् भवन्ति, यथा क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तो मायोपयुक्तः१, क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तो मायोपयुक्ताः२ क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ता मायोपयुक्ताः३ क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ता मायोपयुक्तः ४, क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्तः ५, क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्ताः६ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्तः७ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्ताः८ क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तो लोभोपयुक्तः९ क्रोधोपयुक्तो

१ शतके ४ उद्देशः

॥२६॥

अत्र शतक-१, उद्देषक: ५ एव वर्तते, यत् प्रत-संपादने 'उद्देशक : ४' इति मुद्रितं तत् मुद्रण स्खलना दृश्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [४४-४६] + गाथा: दीप अनुक्रम [५२-६३]

श्रीभगवतीसूत्रम्

मानोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः १० क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ताः लोभोपयुक्तः ११ क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः १२ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो लोभोपयुक्तः १३ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः १४ क्रोधोपयुक्ताः मानोपयुक्ता लोभोपयुक्तः १५ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः १६ क्रोधोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः १७ क्रोधोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः १८ क्रोधोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः १९ क्रोधोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः २० क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः २१ क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः २२ क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः २३ क्रोधोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः २४ मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः २५ मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः २६ मानोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः २७ मानोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः २८ मानोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः २९, मानोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः ३०, मानोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः ३१, मानोपयुक्ताः मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः ३२, क्रोधमानमायात्रिकेऽष्टौ क्रोधमानलोभेष्वष्टौ क्रोधमायालोभेष्वष्टौ मानमायालोभेष्वष्टौ, एवं त्रिकसंयोगैर्जाता ३२ भेदाः, चतुष्कसंयोगे षोडश भवन्ति, यथा क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः १, क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः २ क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः ३, क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्तो मायोपयुक्ताः लोभोपयुक्ताः ४, क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ता मायोपयुक्तः लोभोपयुक्तः ५ क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ताः मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः ६, क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ता मायोपयुक्ताःलोभोपयुक्तः ७,क्रोधोपयुक्तो मानोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः ८,क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः ९, क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः १० क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः ११

१ शतके १ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [४४-४६] + गाथा: दीप अनुक्रम [५२-६३]

श्रीभगवतीसूत्रम्

क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्तो मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः १२, क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्तः १३ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्तो लोभोपयुक्ताः१४ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्तः१५ क्रोधोपयुक्ता मानोपयुक्ता मायोपयुक्ता लोभोपयुक्ताः१६, एवं सर्वे जाताः अशीतिर्भङ्गाः, भगवतीप्रथमशते पञ्चमोद्देशके भङ्गकसङ्ख्या ॥

॥अथ अवगाहनाद्वारम्॥ तत्र 'ओगाहणठिति'त्ति अवगाहन्ते-आसते यस्यां सा अवगाहना-तनुः,तदाधारभूतं च क्षेत्रं, तस्याः स्थानानि-प्रदेशवृद्धा विभागा अवगाहनास्थानानि,तत्र 'जहण्णि'त्ति जघन्या अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रा सर्वनरकेषु 'तप्पाउग्गु'त्ति तत्प्रायोग्योत्कर्षिका, यथा त्रयोदशप्रस्तटे धनुस्सप्तकं हस्तत्रयमङ्गुलषट्कं च,'जहण्णियाए'त्ति एकादिसङ्ख्यातान्तप्रदेशाधिकजघन्यावगाहनायां वर्त्तमानानां नारकाणां स्तोकत्वात् क्रोधाद्युपयुक्त एकोऽपि लभ्यते अतोऽशीतिर्भङ्गाः, 'असंखेज्जपएस'त्ति असङ्ख्यातप्रदेशाधिकायां तत्प्रायोग्योत्कृष्टायां च नारकाणां बहुत्वात् क्रोधे बहुत्वसद्भावान्मानादिष्वेकत्वबहुत्वसम्भवात् २७ भङ्गाः, शरीरद्वारे सत्तावीसं भङ्गाः, वैक्रियतैजसकार्मणवपुःषु सप्तविंशतिर्वाच्येति, ननु विग्रहगतौ केवले तैजसकार्मणशरीरे स्याताम्, तयोरल्पत्वेनाशीतिर्भङ्गानां सम्भवति, कथमुच्यते तयोः सप्तविंशतिरेवेति, अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, केवलं वैक्रियवपुरनुगतयोस्तयोरिहाश्रयणं, केवलयोस्तयोश्चानाश्रयणमिति सप्तविंशतिरेव, 'छण्हं संघयणाणं असंघयणी'ति षण्णां संहननानां मध्यादेकतरेणापि संहनेनासंहननी, कस्मादित्याह–'नेवट्ठी'ति, नैवास्थ्यादीनि तेषां सन्ति, अस्थिसञ्चयरूपं च संहननमुच्यते अतोऽसंहननी,'अणिट्ठ'त्ति इष्यन्ते स्मेतीष्टाः तन्निषेधादनिष्टाः अकान्ताः 'अमणुण्ण'त्ति न मानसिकसंवेदनेन शुभतया ज्ञायन्ते इत्यमनोज्ञाः,'अमणाम'त्ति न मनसा अम्यन्ते–गम्यन्ते पुनः २ स्मरणतो ये ते अमनोऽमाः 'संघायत्ताए'त्ति सङ्घाततया शरीर-

१ शतके ५ उद्देशः

॥२७॥

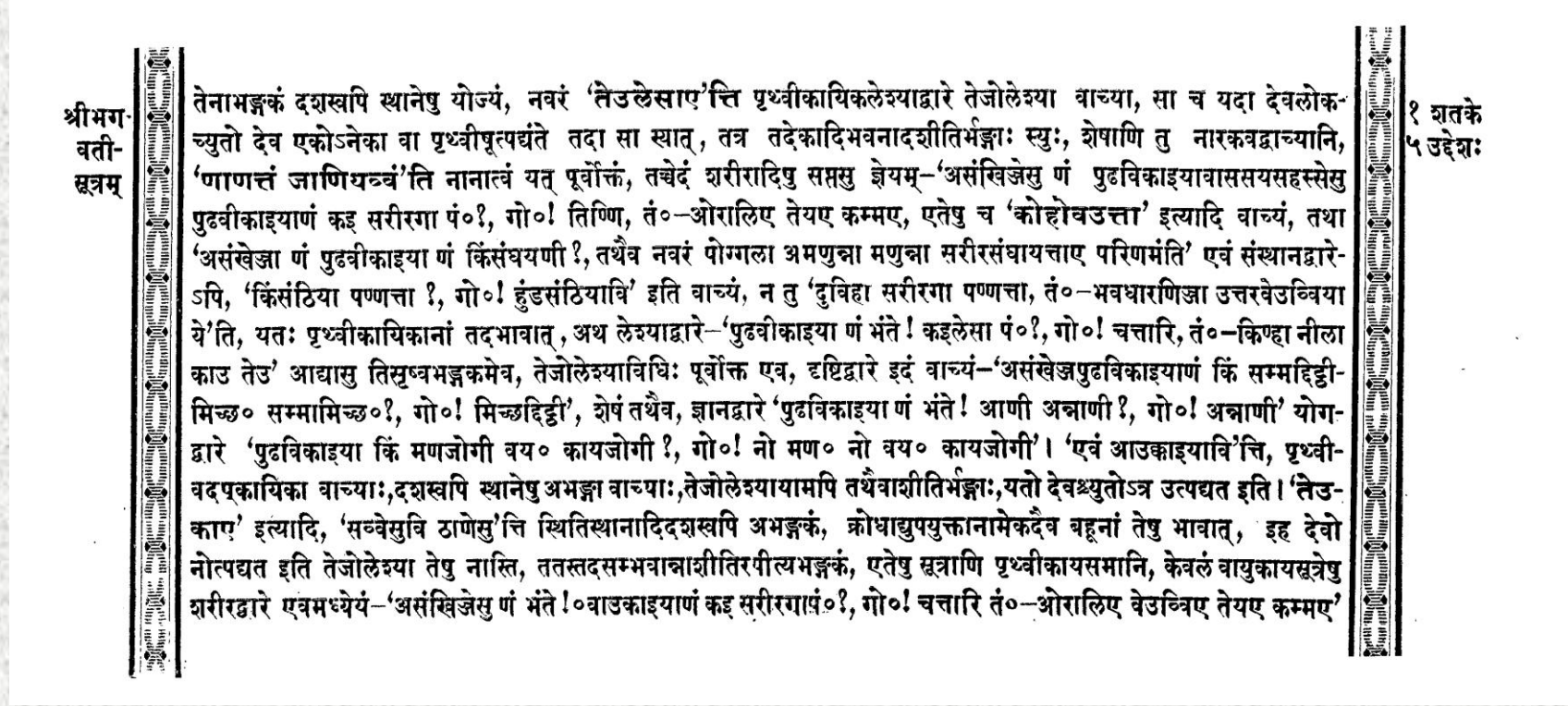
रूपसञ्चयतयेत्यर्थः, संस्थानद्वारे 'किंसंठिय'त्ति किं संस्थितं–संस्थानं येषां तानि किंसंस्थितानि, 'भवधारणि'त्ति भवधारणं–निजजन्मातिवाहनं प्रयोजनं येषां तानि भवधारणीयानीति,'उत्तरवेउव्व'त्ति पूर्ववैक्रियापेक्षया उत्तरकालभावीनि वैक्रियाणि, 'हुंडसंठिय'त्ति सर्वत्रासंस्थितानि, दृष्टिद्वारे 'सम्मामिच्छादंसणे असीइ'त्ति(सू०४७)मिश्रदृष्टीनामल्पत्वात्,तद्भावस्थापि च कालतोऽल्पत्वादेकोऽपि लभ्यते इत्यशीतिर्भङ्गाः। ज्ञानद्वारे 'तिन्नि नाणाइं नियम'त्ति ये ससम्यक्त्वा नरक उत्पद्यन्ते तेषां प्रथमसमयादारभ्य भवप्रत्ययस्यावधिज्ञानस्य भावात् त्रिज्ञानिन एव ते, ये तु मिथ्यादृष्टयस्ते संज्ञिभ्योऽसंज्ञिभ्यश्चोत्पद्यन्ते, तत्र ये संज्ञिभ्यस्ते भवप्रत्ययादेव विभङ्गस्य भावात्त्र्यज्ञानिनो, ये त्वसंज्ञिभ्यस्तेषामाद्यादन्तर्मूहूर्त्तात् परतो विभङ्गोत्पत्तिरिति तेषां पूर्वमज्ञानद्वयं, पश्चाद् विभङ्गोत्पत्तावज्ञानत्रिकमित्युच्यते—'तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए'त्ति, भजनया—विकल्पनया, कदाचित् द्वे कदाचित्त्रीणि इत्यर्थः, अत्रार्थे गाथे स्याताम्–"अस्सन्नी नरएसुं पज्जत्तो जेण लहइ विब्भंगं। नाणा तिन्नेव तओ अन्नाणा दोण्णि तिण्णेव ॥१॥ सन्नी नेरइएसुं उरलपरिच्चायणंतरे समए। विब्भंगं ओहिं वा अविग्गहे विग्गहे लहइ ॥२॥" आभिनिबोधिकज्ञानवत् सप्तविंशतिभङ्गोपेतानि आद्यानि त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानानि वा, इह च त्रीणि ज्ञानानि इति यदुक्तं तदाभिनिबोधिकस्य पुनर्गणनेन, अन्यथा द्वे एव ते वाच्ये स्यातां, 'तिण्णि अण्णाणाइं' इत्यत्र यदि मतिश्रुताज्ञाने विभङ्गात् पूर्वकालभाविनी विवक्ष्येते तदाऽशीतिर्भङ्गा लभ्यन्ते, अल्पत्वात्तेषां, किन्तु जघन्यावगाहनास्ते, ततो जघन्यावगाहनाश्रयेणैवाशीतिर्भङ्गास्तेषां ज्ञेयाः, योगद्वारे 'एवं कायजोए'त्ति इह यद्यपि केवलकार्मणकाययोगेऽशीतिर्भङ्गाः सम्भवन्ति तथापि तस्याविवक्षणात् सामान्यकाययोगाश्रयणाच्च सप्तविंशतिरुक्ताः। उपयोगद्वारे 'सागरोवउत्त'त्ति आकारो–विशेषांशग्रहणशक्तिस्तेन सहेति साकारः, तद्विपक्षो निराकारः,

श्रीभगवतीसूत्रम्

सामान्यग्राहीत्यर्थः, 'णाणत्तं लेसासु'त्ति रत्नप्रभावच्छेषपृथिवीप्रकरणान्यध्येयानि, केवलं लेश्यासु विशेषः, तासां भिन्नत्वात्, तद्दर्शनायाह–'तइयाए मीसिय'त्ति वालुकप्रभायां उपरितननरकेषु कापोता, अधस्तनेषु नीललेश्या स्यादिति यथासम्भवं प्रश्नसूत्रे उत्तरसूत्रे चाध्येतव्ये, गाथानुसारतः सूत्राभिलाप एवं कार्यः 'सक्करप्पभाए णं भंते! पणवीसाए नरयावाससयसहस्सेसु एक्कमेक्कंसि णिरयावासंसि कइ लेसाओ पं०?, गो०!, एगा काउलेस्सा पण्णत्ता, सक्करप्पभाए णं भंते! जाव काउलेसाए वट्टमाणा णेरइया किं कोहोवउत्ता इत्यादि जाव सत्तावीसं भङ्गाः, असुरकुमारप्रकरणे 'पडिलोमा भंग'त्ति(सू०४८)नारकप्रकरणे हि क्रोधमानादिना क्रमेण भङ्गकनिर्देशः कृतः, असुरकुमारप्रकरणेषु तु लोभमायामानक्रोधादयः प्रतिलोमतो वाच्याः, अत एवाह—"सव्वेऽवि ताव होज्जा लोभोवउत्ता, देवा हि प्रायो लोभबन्तः स्युः तेनासुरकुमाराः सर्वेऽपि लोभोपयुक्ताः १, द्विकसंयोगे तु लोभोपयुक्तत्वे बहुत्वं मायोपयुक्तत्वे एकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भङ्गौ, एवं सप्तविंशतिर्भङ्गाः 'णाणत्तं जाणियव्वं'ति, नारकाणामसुरादीनां संहनन-संस्थानलेश्यासु नानात्वं ज्ञातव्यमिति, 'चउसट्ठीएणं भंते! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं सरीरा किंसंघयणी?, गो०! असंघयणी, जे पोग्गला इट्ठा कंता ६ ते तेसिं संघायत्ताए परिणमंति, एवं संठाणेवि, नवरं भवधारणिज्जा समचउरंससंठिया, उत्तरवेउव्विया अन्नयरसंठाणसंठिया, एवं लेसासुवि, कति लेस्साओ पं०?, गो०! चत्तारि तं० किण्हा नीला काउ तेउलेसा, चउसट्ठीए णं जाव किण्हलेस्साए वट्टमाणा किं कोहावउत्ता ४?, गो०! सव्वेऽवि ताव होज्जा लोहोवउत्ता, एवं नीला काउ तेउएवि, नागकुमारादिषु चुलसीए नागकुमारावाससयसहस्सेसु इत्येवं प्रश्नसूत्रेषु नानात्वमवगम्य सूत्राभिलापः कार्य इति। एवं पुढविकाइयाणं सव्वेसुवि ठाणेसु अभंगयं(४९)एकैकस्मिन् पृथिवीकायिके कषायोपयुक्ता बहवो लभ्यन्ते

१ शतके ५ उद्देशः

॥२८॥



श्रीभगवतीसूत्रम्

तेनाभङ्गकं दशस्वपि स्थानेषु योज्यं, नवरं 'तेउलेसाए'त्ति पृथ्वीकायिकलेश्याद्वारे तेजोलेश्या वाच्या, सा च यदा देवलोकच्युतो देव एकोऽनेका वा पृथ्वीषूत्पद्यंते तदा सा स्यात्, तत्र तदेकादिभवनादशीतिर्भङ्गाः स्युः, शेषाणि तु नारकवद्वाच्यानि, 'णाणत्तं जाणियव्वं'ति नानात्वं यत् पूर्वोक्तं, तच्चेदं शरीरादिषु सप्तसु ज्ञेयम्–'असंखिज्जेसु णं पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु पुढवीकाइयाणं कइ सरीरगा पं०?, गो०! तिण्णि, तं०–ओरालिए तेयए कम्मए, एतेषु च 'कोहोवउत्ता' इत्यादि वाच्यं, तथा 'असंखेज्जा णं पुढवीकाइया णं किंसंघयणी?, तथैव नवरं पोग्गला अमणुन्ना मणुन्ना सरीरसंघायत्ताए परिणमंति' एवं संस्थानद्वारेऽपि, 'किंसंठिया पण्णत्ता?, गो०! हुंडसंठियावि' इति वाच्यं, न तु 'दुविहा सरीरगा पण्णत्ता, तं०–भवधारणिज्जा उत्तरवेउव्विया ये'ति, यतः पृथ्वीकायिकानां तदभावात्, अथ लेश्याद्वारे–'पुढवीकाइया णं भंते! कइलेसा पं०?, गो०! चत्तारि, तं०–किण्हा नीला काउ तेउ' आद्यासु तिसृष्वभङ्गकमेव, तेजोलेश्याविधिः पूर्वोक्त एव, दृष्टिद्वारे इदं वाच्यं–'असंखेज्जपुढविकाइयाणं किं सम्मद्दिट्ठी-मिच्छ० सम्मामिच्छ०?, गो०! मिच्छद्दिट्ठी', शेषं तथैव, ज्ञानद्वारे 'पुढविकाइया णं भंते! आणी अन्नाणी?, गो०! अन्नाणी' योगद्वारे 'पुढविकाइया किं मणजोगी वय० कायजोगी?, गो०! नो मण० नो वय० कायजोगी'। 'एवं आउकाइयावि'त्ति, पृथ्वीवदप्कायिका वाच्याः,दशस्वपि स्थानेषु अभङ्गा वाच्याः,तेजोलेश्यायामपि तथैवाशीतिर्भङ्गाः,यतो देवश्च्युतोऽत्र उत्पद्यत इति। 'तेउकाए' इत्यादि, 'सव्वेसुवि ठाणेसु'त्ति स्थितिस्थानादिदशस्वपि अभङ्गकं, क्रोधाद्युपयुक्तानामेकदैव बहूनां तेषु भावात्, इह देवो नोत्पद्यत इति तेजोलेश्या तेषु नास्ति, ततस्तदसम्भवान्नाशीतिरपीत्यभङ्गकं, एतेषु सूत्राणि पृथ्वीकायसमानि, केवलं वायुकायसूत्रेषु शरीरद्वारे एवमध्येयं–'असंखिज्जेसु णं भंते!०वाउकाइयाणं कइ सरीरगापं०?, गो०! चत्तारि तं०–ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए'

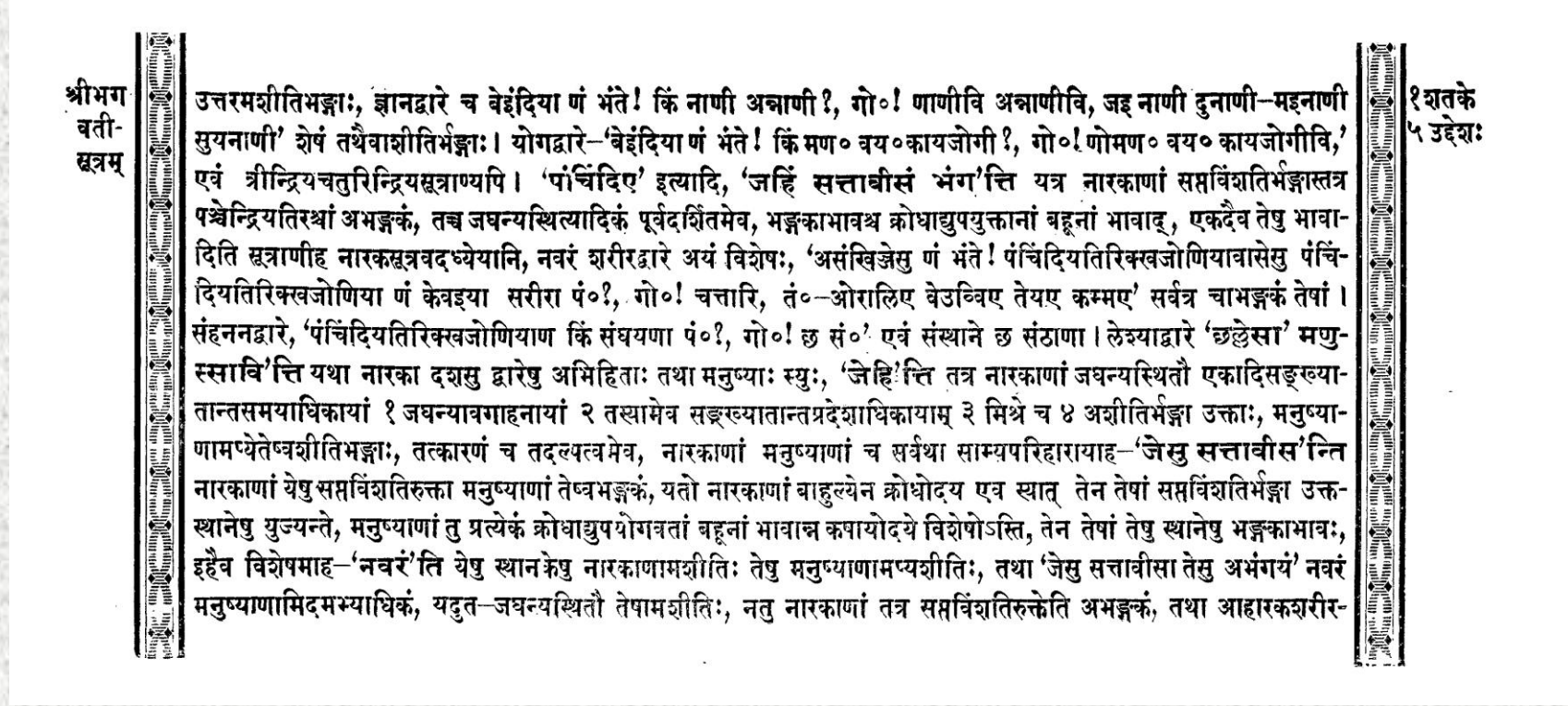
१ शतके ५ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

'वणप्फइए'त्ति वनस्पतयः पृथ्वीवद्वाच्याः, दशस्वयि स्थानकेषु भङ्गकाभावात् तेजोलेश्यायां च तथैवाशीतिभङ्गसद्भावादिति। ननु पृथिव्यब्वनस्पतीनां दृष्टिद्वारे सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं कर्मग्रन्थेष्वभ्युपगम्यते, तत एव च ज्ञानद्वारे मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च, अल्पाश्चैत एव ततोऽशीतिर्भङ्गाः सम्यग्दर्शनाभिनिबोधिकश्रुतज्ञानेषु भवन्तु, नैवं, पृथिव्यादिषु सास्वादनभावस्यात्यन्तविरलत्वेन अविवक्षितत्वात्, तत एवोच्यते–'उभयाभावो पुढवाइएसु विगलेसु होइ उववन्नो'त्ति, उभयं–प्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नरूपं इति। 'बेंदिय'त्ति(सू०५०)जेहिं ठाणेहिं णेरइयाणं असीतिभंगा तेहिं ठाणेहिं बेंदियतेंदियचउरिंदियाणं असीइं चेव, तत्र एकादिसङ्ख्यातान्तसमयाधिकायां जघन्यस्थितौ १ जघन्यावगाहनायां च २, तत्रैव च सङ्ख्येयान्तप्रदेशवृद्धायां ३ मिश्रदृष्टौ ४ च, नारकाणामशीतिभङ्गाः उक्ताः, विकलेन्द्रियाणामप्येतेषु स्थानेषु मिश्रदृष्टिवर्जेष्वशीतिरेव, अल्पत्वात् तेषां क्रोधाद्युपयुक्तस्यैकैकस्य सम्भवात्, मिश्रदृष्टिस्तु विकलेन्द्रियेषु न स्यात् इति न विकलेन्द्रियाणां तत्राशीतिभङ्गसम्भव इति, इहैव विशेषाभिधानायाह–'णवर'मिति, दृष्टिद्वारे ज्ञानद्वारे च नारकाणां सप्तविंशतिरुक्ता विकलेन्द्रियाणां तु अब्भहियंति, अभ्यधिकानि अशीतिभङ्गकानां च भवति, क्वेत्याह–सम्यक्त्वे, अल्पीयसां हि विकलेन्द्रियाणां सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं, अल्पत्वाच्च तेषामेकत्वस्यापि सम्भवादशीतिभङ्गाः, एवं मतिज्ञाने श्रुतज्ञाने च, तथा 'जेही'त्यादि, येषु स्थानेषु नारकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गाः तेषु स्थानेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां भङ्गकाभावः, तानि च प्रागुक्ताशीतिभङ्गकस्थानावशेषाणि मन्तव्यानि, भङ्गकाभावश्च क्रोधाद्युपयुक्तानामेकदैव बहूनां भावादिति, विकलेन्द्रियसूत्राणि पृथ्वीकायसूत्राणीवाध्येयानि, नवरमिह लेश्याद्वारे तेजोलेश्या नाध्येतव्या, दृष्टिद्वारे 'बेइंदिया णं भंते ! किं सम्मद्दिट्ठी मिच्छ०सम्मामिच्छ०?, गो०! सम्मदिट्ठी मिच्छ०(णो)सम्मामिच्छदिट्ठी''सम्मद्दंसणे वट्टमाणा बेइंदिया किं कोहोवउत्ता'इति प्रश्ने

१ शतके ५ उद्देशः

॥२९॥



श्रीभगवती-सूत्रम्

उत्तरमशीतिभङ्गाः, ज्ञानद्वारे च बेइंदिया णं भंते! किं नाणी अन्नाणी?, गो०! णाणीवि अन्नाणीवि, जइ नाणी दुनाणी–महनाणी सुयनाणी' शेषं तथैवाशीतिर्भङ्गाः। योगद्वारे–'बेइंदिया णं भंते! किं मण० वय०कायजोगी?, गो०! णोमण० वय० कायजोगीवि,' एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसूत्राण्यपि। 'पंचिंदिए' इत्यादि, 'जहिं सत्तावीसं भंग'त्ति यत्र नारकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गास्तत्र पञ्चेन्द्रियतिरश्चां अभङ्गकं, तच्च जघन्यस्थित्यादिकं पूर्वदर्शितमेव, भङ्गकाभावश्च क्रोधाद्युपयुक्तानां बहूनां भावाद्, एकदैव तेषु भावादिति सूत्राणीह नारकसूत्रवदध्येयानि, नवरं शरीरद्वारे अयं विशेषः, 'असंखिज्जेसु णं भंते! पंचिंदियतिरिक्खजोणियावासेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं केवइया सरीरा पं०?, गो०! चत्तारि, तं०–ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए' सर्वत्र चाभङ्गकं तेषां। संहननद्वारे, 'पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण किं संघयणा पं०?, गो०! छ सं०' एवं संस्थाने छ संठाणा। लेश्याद्वारे 'छल्लेसा' मणुस्सावि'त्ति यथा नारका दशसु द्वारेषु अभिहिताः तथा मनुष्याः स्युः, 'जेहिं'त्ति तत्र नारकाणां जघन्यस्थितौ एकादिसङ्ख्यातान्तसमयाधिकायां १ जघन्यावगाहनायां २ तस्यामेव सङ्ख्यातान्तप्रदेशाधिकायाम् ३ मिश्रे च ४ अशीतिर्भङ्गा उक्ताः, मनुष्याणामप्येतेष्वशीतिभङ्गाः, तत्कारणं च तदल्पत्वमेव, नारकाणां मनुष्याणां च सर्वथा साम्यपरिहारायाह–'जेसु सत्तावीस'न्ति नारकाणां येषु सप्तविंशतिरुक्ता मनुष्याणां तेष्वभङ्गकं, यतो नारकाणां बाहुल्येन क्रोधोदय एव स्यात् तेन तेषां सप्तविंशतिर्भङ्गा उक्तस्थानेषु युज्यन्ते, मनुष्याणां तु प्रत्येकं क्रोधाद्युपयोगवतां बहूनां भावान्न कषायोदये विशेषोऽस्ति, तेन तेषां तेषु स्थानेषु भङ्गकाभावः, इहैव विशेषमाह–'नवरं'ति येषु स्थानकेषु नारकाणामशीतिः तेषु मनुष्याणामप्यशीतिः, तथा 'जेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं' नवरं मनुष्याणामिदमभ्याधिकं, यदुत–जघन्यस्थितौ तेषामशीतिः, नतु नारकाणां तत्र सप्तविंशतिरुक्तेति अभङ्गकं, तथा आहारकशरीर-

१शतके ५ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

वतां अशीतिः, आहारकवतां मनुष्याणामल्पत्वात्, नारकाणां तु तन्नास्त्येव, इत्येतदभ्यधिकं मनुष्याणामिति, इह च नारकसूत्राणां मनुष्यसूत्राणां च शरीरादिषु चतुर्षु ज्ञानद्वारे विशेषमाह—'असंखिज्जेसु णं भंते! मणुस्सावासेसु कइसरीरा पन्नत्ता?, गो०! पंच, तं०—उरा० वेउ० आहारए तेयए कम्मए, असंखिज्जेसु णं जाव ओरालियसरीरे वट्टमाणा भंते! मणूसा किं कोहोवउत्ता? ४, गो०! कोहावउत्ता ४' एवं सर्वशरीरेषु, नवरमाहारकेष्वशीतिभङ्गानां वाच्या, एवं संहननद्वारेऽपि 'मणुस्सा णं भंते! किंसंघयणा पं०?, गो०! छ,' संस्थानद्वारे 'छसंठाणा' लेश्याद्वारे 'छल्लेसा' ज्ञानद्वारे 'नाणाणि पंच जाव केवलनाणं' एषु च केवलवर्जेषु अभङ्गकं, केवले तु कषायोदय एव नास्ति इति। **'वाणमंतरे'** त्यादि व्यन्तरादयो दशस्वपि स्थानेषु भवनपतिवद्वाच्याः, यत्र असुरादीनामशीतिर्भङ्गा यत्र च सप्तविंशतिस्तत्र व्यन्तरादीनामपि ते तथैव वाच्याः, भङ्गकास्तु लोभमादौ कृत्वा **'लोहोवउत्ता'** इत्यध्येयाः, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कादीनां विशेषमाह—'णवरं णाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स'त्ति, यत् लेश्यादिगतं यस्य ज्योतिष्कादेस्तत् नानात्वं ज्ञातव्यं तस्येति, तत्र लेश्यायां ज्योतिष्काणामेका तेजोलेश्या, ज्ञाने च त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानानि च त्रीणि, असंज्ञिनां तत्रोपपाताभावेन, असंज्ञ्युत्पादेन चापर्याप्तावस्थायामपि विभङ्गस्य सद्भावात् त्रीण्यज्ञानानि, तथा वैमानिकानां लेश्याद्वारे तेजोलेश्यादयस्तिस्रो लेश्या वाच्याः, ज्ञानद्वारे ज्ञानानि अज्ञानानि च त्रीणि, **'संखेज्जेसु णं भंते! वेमाणियावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि वेमाणियावासंसि केवइया ठिइठाणा पण्णत्ता?'** इत्यादि॥ **इति प्रथमशते पञ्चमोद्देशकविवरणम्॥**

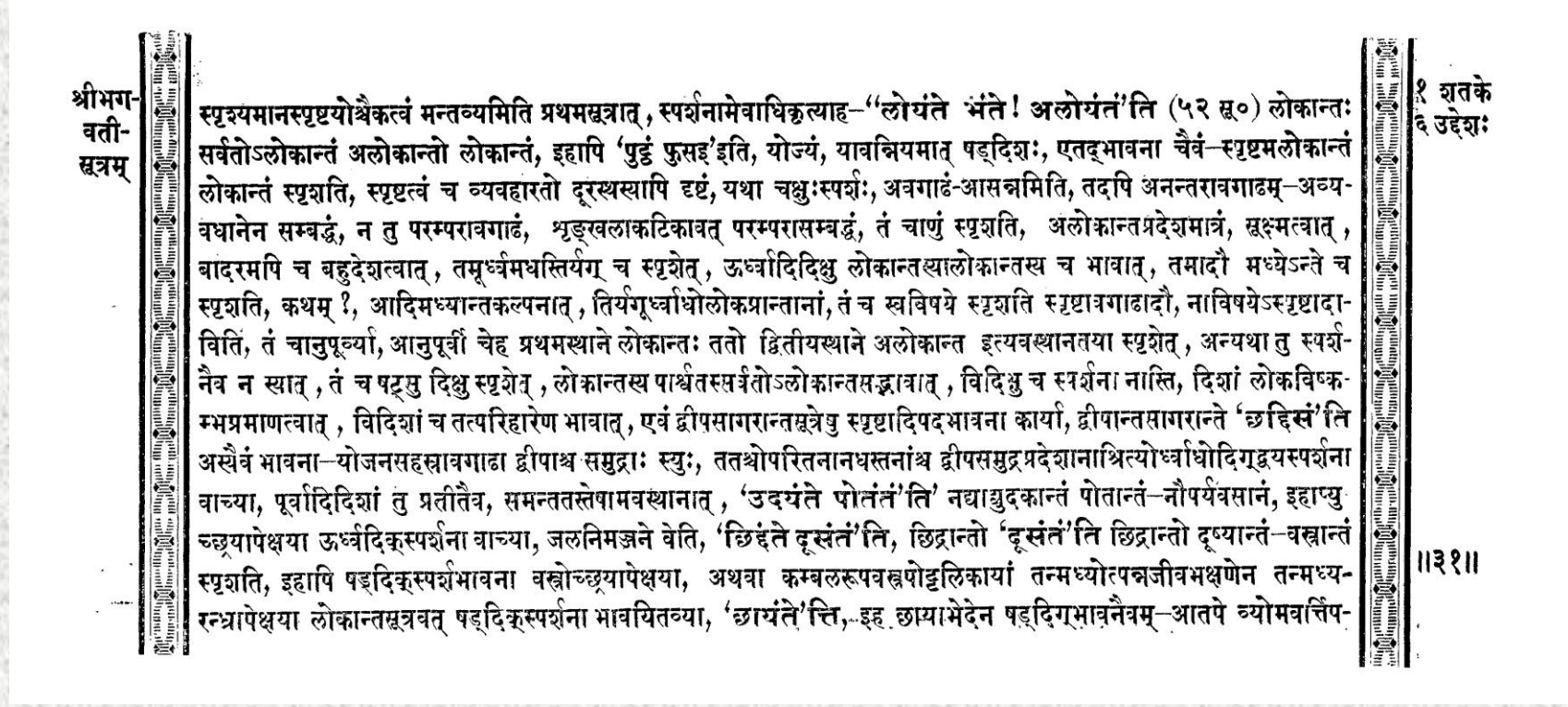
अथ षष्ठो व्याख्यायते, 'जावंते' इत्यादिदर्शनायाह—**'जावइयाओ'त्ति** (५१ सू०) यत्परिमाणात् **'उवासंतराओ'त्ति** अवकाशान्तरात् आकाशविशेषात् अवकाशरूपान्तरालाद्वा, यावत्याकाशे स्थित इति, **'उदयंते'त्ति** उदयन्—उद्गच्छन् **'चक्खु-**

१ शतके ६ उद्देशः

॥३०॥

अत्र **शतक**-१, उद्देषक: ५ समाप्तः, अथ **शतक**-१ **उद्देशक** : ६ आरब्धः

फरिसं'ति चक्षुषो–दृष्टेः स्पर्श इव स्पर्शो, न तु स्पर्श एव, चक्षुषोऽप्राप्तकारित्वात्, 'हव्वं'ति शीघ्रं, स सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डले सप्तचत्वारिंशति योजनानां सहस्रेषु द्वयोः शतयोः त्रिषष्टौ च साधिकायां वर्त्तमान उदये दृश्यते, तदस्तमयेऽप्येवं इति, मण्डलविचारः स्थानान्तरादवसेयः। 'सव्वओ समंत'त्ति सर्वतो दिक्षु, समन्तात् विदिक्षु च, 'ओभासइ'त्ति अवभासयति ईषत् स्थूलमेव प्रकाशयति, 'उज्जोवेइ' भृशं उद्योतयति,'तवेइ'त्ति तपति–शीतनाशं कुर्यात् इति,(प्रभासयति) यथा सूक्ष्मं वस्तु दृश्यते तथा कुर्यात् इति, अथ क्षेत्रमाश्रित्याह–'तं भंते'त्ति यत् क्षेत्रमवभासयति उद्योतयति तपति प्रभासयति तत् क्षेत्रं किं भदन्त ! स्पृष्टं अस्पृष्टं वाऽवभासयति ?, इह यावत्करणादिदं दृश्यं, गो०! पुट्ठं, नो अपुट्ठं ओभासेइ, तओ ओगाढं अणोगाढं ?, गो०! ओगाढं, नो अणोगाढं, एवं अणंतरोगाढं, नो परंपरोगाढं, तं भंते ! किं अणुयं बायरमोभासइ ?, गो०! अणुंपि ओभासेइ बायरंपि ओभासेइ, तं किं उड्ढं तिरियं अहे ओभा०?, गो०! उड्ढंपि ३, तं भंते ! किं आइं मज्झे अंते ओभासेइ ?, गो०! आइंपि ३, तं भंते ! सविसए अविसए ?, गो०! सवि० नो अविसए, तं भंते ! आणुपुव्विं अणाणुपुव्विं ओभा०?, गो०! आणुपु० नो अणाणुपु०, तं भंते! कइदिसिं ओभासइ ?, गो!०णियमा छद्दिसिं'ति, एतेषां पदानां 'उज्जोएइ०'इति पदत्रयेण योजना वाच्या,'पुट्ठं'ति स्पृष्टं क्षेत्रं प्रभासयति, अथ स्पर्शनामाह–'से नूणं'ति, 'सव्वंति'त्ति प्राकृतत्वात् सर्वतः सर्वासु दिक्षु 'सव्वावंति'त्ति सर्वेण वा आतपेन आप्तिः–प्राप्तिर्यस्य क्षेत्रस्य तत्सर्वाप्ति, सर्वेण वा आतपेन आपो–व्याप्तिर्यस्य तत्सर्वापं, सह व्यापेन आतपव्याख्या यत् तत्सव्यापं, इतिशब्दः सामान्यार्थः, 'फुसमाणकालसमयंमि'त्ति स्पृश्यमानक्षणे,अथवा स्पृशतः सूर्यस्य स्पर्शनायाः कालसमयः स्पृशत्कालसमयः, आतपेनेति गम्यते, यावत् क्षेत्रं स्पृशति सूर्यः, 'तावइयं'ति तावत् क्षेत्रं स्पृश्यमानं स्पृष्टमिति, 'हन्ते'त्युत्तरं



श्रीभगवतीसूत्रम्

स्पृश्यमानस्पृष्टयोश्चैकत्वं मन्तव्यमिति प्रथमसूत्रात्, स्पर्शनामेवाधिकृत्याह–"लोयंते भंते! अलोयंतं'ति (५२ सू०) लोकान्तः सर्वतोऽलोकान्तं अलोकान्तो लोकान्तं, इहापि 'पुट्ठं फुसइ'इति, योज्यं, यावन्नियमात् षड्दिशः, एतद्भावना चैवं–स्पृष्टमलोकान्तं लोकान्तं स्पृशति, स्पृष्टत्वं च व्यवहारतो दूरस्थस्यापि दृष्टं, यथा चक्षुःस्पर्शः, अवगाढं-आसन्नमिति, तदपि अनन्तरावगाढम्–अव्यवधानेन सम्बद्धं, न तु परम्परावगाढं, शृङ्खलाकटिकावत् परम्परासम्बद्धं, तं चाणुं स्पृशति, अलोकान्तप्रदेशमात्रं, सूक्ष्मत्वात्, बादरमपि च बहुदेशत्वात्, तमूर्ध्वमधस्तिर्यग् च स्पृशेत्, ऊर्ध्वादिदिक्षु लोकान्तस्यालोकान्तस्य च भावात्, तमादौ मध्येऽन्ते च स्पृशति, कथम्?, आदिमध्यान्तकल्पनात्, तिर्यगूर्ध्वाधोलोकप्रान्तानां, तं च स्वविषये स्पृशति स्पृष्टावगाढादौ, नाविषयेऽस्पृष्टादाविति, तं चानुपूर्व्या, आनुपूर्वी चेह प्रथमस्थाने लोकान्तः ततो द्वितीयस्थाने अलोकान्त इत्यवस्थानतया स्पृशेत्, अन्यथा तु स्पर्शनैव न स्यात्, तं च षट्सु दिक्षु स्पृशेत्, लोकान्तस्य पार्श्वतस्सर्वतोऽलोकान्तसद्भावात्, विदिक्षु च स्पर्शना नास्ति, दिशां लोकविष्कम्भप्रमाणत्वात्, विदिशां च तत्परिहारेण भावात्, एवं द्वीपसागरान्तसूत्रेषु स्पृष्टादिपदभावना कार्या, द्वीपान्तसागरान्ते 'छद्दिसं'ति अस्यैवं भावना–योजनसहस्रावगाढा द्वीपाश्च समुद्राः स्युः, ततश्चोपरितनानधस्तनांश्च द्वीपसमुद्रप्रदेशानाश्रित्योर्ध्वाधोदिग्द्वयस्पर्शना वाच्या, पूर्वादिदिशां तु प्रतीतैव, समन्ततस्तेषामवस्थानात्, 'उदयंते पोतंतं'ति' नद्याद्युदकान्तं पोतान्तं–नौपर्यवसानं, इहाप्युच्छ्रयापेक्षया ऊर्ध्वदिक्स्पर्शना वाच्या, जलनिमज्जने वेति, 'छिद्दंते दूसंतं'ति, छिद्रान्तो 'दूसंतं'ति छिद्रान्तो दूष्यान्तं–वस्त्रान्तं स्पृशति, इहापि षड्दिक्स्पर्शभावना वस्त्रोच्छ्रयापेक्षया, अथवा कम्बलरूपवस्त्रपोट्टलिकायां तन्मध्योत्पन्नजीवभक्षणेन तन्मध्यरन्ध्रापेक्षया लोकान्तसूत्रवत् षड्दिक्स्पर्शना भावयितव्या, 'छायंते'त्ति,–इह छायाभेदेन षड्दिग्भावनैवम्–आतपे व्योमवर्त्तिप-

१ शतके ६ उद्देशः

॥३१॥

श्रीभगवतीसूत्रम्

क्षिप्रभृतिद्रव्यस्य या छाया तदन्त आतपान्तं चतुर्दिक्षु स्पृशति सः, तथा तस्या एव छायाया भूमेः सकाशात् तत् द्रव्यं यावदुच्छ्रयोऽस्ति, ततश्च छायान्त आतपान्तं ऊर्ध्वमधश्च स्पृशति, अथवा प्रासादवरण्डिकादेर्या छाया तस्या भित्तेरवतरन्त्या आरोहन्त्या वा अन्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशतीति, अथवा छायातपयोरेव पुद्गलानां असङ्ख्येयप्रदेशावगाहित्वादुच्छ्रयसद्भावात्तोर्ध्वाधोविभागः, ततः छायान्त आतपान्तमूर्ध्वमधश्च स्पृशेत् इति भावनीयं। स्पर्शनाधिकारात् प्राणातिपातादिपापस्थानकर्मस्पर्शनामाह–'अत्थि'त्ति, (५३ सू०) अस्ति अयं पक्षः, 'किरिया कज्जइ' इति क्रियत इति, क्रिया–कर्म सा क्रियते–भवति, 'पुट्ठे'त्यादि, व्याख्या पूर्ववत्, 'कडा कज्जइ'त्ति कृता भवति, अकृतस्य कर्मणोऽभावात्, आत्मकृतमेव कर्म स्यात्, नान्यथा, 'अणाणुपुव्वि'त्ति, पूर्वपश्चाद्विभागो यत्र नास्ति सा अनानुपूर्वी उच्यते, 'जहा नेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा' नारकवदसुरादयो वाच्याः एकेन्द्रियवर्जाः, तेषां हि दिक्पदे 'निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिंति'इत्यादि विशेषाभिलापस्य जीवपदोक्तस्य भावाद्, अत एवाह–'एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा, 'पेज्ज'त्ति, अनभिव्यक्तमायालोभस्वभावमभिष्वङ्गमात्रं प्रेम, 'दोसे'त्ति अनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपमप्रीतिमात्रं द्वेषः, 'अब्भक्खाणे'त्ति असद्दोषाविष्करणम्, पेसुन्न'त्ति प्रच्छन्नमसद्दोषाविष्करणं, 'परपरिवाए'त्ति प्रकीर्णं परेषां गुणदोषवचनं, 'अरइरइ'त्ति अरतिः–मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः रतिः–विषयेषु मोहनीयोदयाच्चित्ताभिरतिः, अरतिरतिरिति,'मायामोसे' तृतीयकषायद्वितीयाश्रवयोः संयोगाः, अनेन च सर्वसंयोगा उपलक्षिताः, अथवा वेषान्तरकरणेन यत्परवञ्चनं तन्मायामृषा, 'मिच्छादंसणसल्ले'त्ति, मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविधव्यथानिबन्धनत्वात्, मिथ्यादर्शनशल्यमिति ॥ एवं गौतमद्वारेण कर्म प्रज्ञप्तम्, तच्च शाश्वतं, अतः शाश्वतानेव

१ शतके ६ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

लोकादिभावान् रोहकाख्यमुनिद्वारेण दर्शयितुमाह–'आलीणे'त्ति (सू. ५४) गुरुसमाश्रितः संलीनो वा 'भद्दए'त्ति अनुपतापको गुरुशिक्षागुणात् 'सत्तमे उवासन्तरे'त्ति सप्तमपृथिव्या अधोवर्त्याकाशमिति, अत्र सङ्ग्रहगाथा वाच्या, तत्र 'उवासं'ति, सप्त अवकाशान्तराणि 'वाय'त्ति तनुवाता ७ घनवाताः ७ 'घणउदहि'त्ति घनोदधयः सप्त, 'पुढवि'त्ति सप्त पृथ्व्यः,'द्वीव'त्ति जम्बूद्वीपादयोऽसङ्ख्याताः सागरा–लवणादयोऽपि असङ्ख्याताः,'वास'त्ति वर्षाणि भरतादीनि ७,'नेरइयाइं'ति २४ दण्डकाः, 'अत्थि'त्ति अस्तिकायाः पञ्च, 'समय'त्ति कालविभागाः, कर्माण्यष्टौ लेश्याः ६, दृष्टयो मिथ्यादृष्ट्यादयः ३, दर्शनानि ४ ज्ञानानि ५ संज्ञाः ४ शरीराणि पञ्च योगाः ३ उपयोगौ द्वौ द्रव्याणि ६ प्रदेशा अनन्ताः पर्यवा अप्यनन्ताः 'अद्ध'त्ति अतीताद्धा अनागताद्धा सर्वाद्धा वा, अत्रैवं सूत्राभिलापः 'पुव्विं भंते! लोए पच्छा सव्वद्धा'इति, एतानि सूत्राणि शून्यज्ञानादिवादनिरासेन विचित्रबाह्याध्यात्मिकवस्तुसत्ताभिधानार्थानि, शम्भुकृतत्वनिरासेन वाऽनादित्वाभिधानार्थानि । अथ गौतममुखेनाह—'कइविहा णं'ति (सू. ५५) आकाशप्रतिष्ठितो वातः–तनुवातघनवातरूपः, तस्य चाकाशान्तरोपरिस्थितत्वात् , आकाशं तु स्वप्रतिष्ठितमेव, न तत्प्रतिष्ठाचिंत्ता कार्या, तथा वातप्रतिष्ठित उदधिः, घनोदधेस्तनुघनवातोपरिस्थितत्वात् २, उदधिप्रतिष्ठिता पृथिवी, घनोदधीनामुपरिस्थितत्वात् रत्नप्रभादीनां, बाहुल्यापेक्षया चेदं उक्तं, अन्यथा ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी आकाशप्रतिष्ठितैव ३ सुगमं, पृथ्वीप्रतिष्ठितास्त्रसस्थावराः प्राणाः, इदमपि प्रायिकमेव, यतः आशाशविमानगिरिस्थिता अपि ते सन्ति इति ४, अजीवाः–शरीरादिपुद्गलाः, ते जीवप्रतिष्ठिताः, जीवेषु तेषां स्थितत्वात् ५, जीवाः कर्मप्रतिष्ठिताः, कर्मसु अनुदयावस्थकर्मपुद्गलसमुदयरूपेषु संसारिजीवानामाश्रितत्वात् , अथवा जीवाः कर्मभिः प्रतिष्ठिताः–नारकादिभावेनावस्थिताः ६, तथा अजीवा जीवासङ्गृहीता ?, मनोभावादेः पुद्गलानां

१ शतके ६ उद्देशः

॥३२॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [५५] + गाथा: दीप अनुक्रम [७३-७६]

श्रीभगवती-सूत्रम्

१ शतके ६उद्देशः

जीवैः सङ्गृहीतत्वात्, अथ जीवप्रतिष्ठितास्तथा अजीवा जीवसङ्गृहीता इत्येतयोः को भेदः ?, उच्यते, पूर्वस्मिन् वाक्ये आधाराधेयभाव उक्तः, उत्तरे तु सङ्ग्राह्यसङ्ग्राहकभाव इति भेदः, यच्च यस्य सङ्ग्राह्यं तत्तस्याधेयमिति अर्थापत्तितः स्यात्, यथा अपूपस्य तैलमित्याधाराधेयभावोऽप्युत्तरवाक्ये दृश्य इति ७, **'जीवा कम्म'त्ति** जीवाः कर्मसङ्गृहीताः, संसारिजीवानामुदयप्राप्तकर्मवशवर्त्तित्वात्, ये च यद्वशास्ते तत्र प्रतिष्ठिताः, यथा घटे रूपादय इत्येवमत्राप्याधाराधेयता दृश्या **'से जहानामए'त्ति**, (सू० ५६) स यथानामकः कश्चित्पुरुषो वस्ति-दृतिं, **'आडोवे'त्ति** आटोपयेत्—वायुना पूरयेत्, **'उप्पिं सियं'ति** उपरिसितं 'षिङ् बन्धने' इति धातोः क्ते प्रत्यये चार्षत्वात्, सितं-बन्धं ग्रन्थिं बध्नाति-करोतीति **'से आउयाए'त्ति** सः अप्कायः, **'तस्स वाउकायस्स'त्ति** तस्य वायुकायस्य च **'उप्पिं'ति** उपरितले सर्वोपरि तिष्ठति, **'हन्ते'त्युत्तरं**, यथा वायुराधारो जलस्य एवमाधाराधेयभाव आकाशघनवातादीनामिति भावः, **'अथाहं'ति** अस्तार्घं-अगाधमिति, अस्ताघो वा निरस्ताधस्तलमिवेति, **'अतरं'ति** तरीतुमशक्यं **'अपोरिसं'ति** न विद्यते पुरुषः प्रमाणमस्येति अपौरुषेयं **'पोग्गले'त्ति** कर्मशरीरादिपुद्गलाः **'अण्णमण्णबद्ध'त्ति** अन्योऽन्यं जीवाः पुद्गलानां पुद्गला जीवानां च सम्बद्धा इति, **'अण्णमण्णपुट्ठ'त्ति** पूर्वं स्पर्शनामात्रेण अन्योऽन्यं स्पृष्टास्ततोऽन्योऽन्यं गाढतरसम्बद्धा इति **'अण्णमण्णमोगाढ'त्ति** परस्परेण लोलीभावं गताः, स्नेहप्रतिबद्धा इति, अत्र रागादिरूपः स्नेहः, **'अण्णमण्णघड'त्ति** अन्योऽन्यं घटा-समुदायो येषां ते अन्योऽन्यघटाः तद्भावस्तत्ता तया अन्योऽन्यघटतया **'हरए'त्ति** ह्रदो-नदः स्याद्-भवेत्, **'पुण्णे'त्ति** पूर्णो—भृतः, **'पुण्णप्पमाणे'त्ति** पूर्णप्रमाणः, तथा(यद्वा)पूर्णं जलेनात्मनो मानं यस्येति पूर्णात्ममानः **'वोलट्टमाणे'त्ति** व्यपलोठ्यन् अतिजलभरणात् छर्द्यमानजल इति, **'वोसट्ट'त्ति** जलप्राचुर्यादेव कसन्-स्फारीभवन्

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [५६-५७]

दीप अनुक्रम [७७-७८]

श्रीभगवतीसूत्रम्

वर्द्धमान इति, **'समभरघड'त्ति** समभरश्चासौ घटश्चेति समासः, समभरघटः तद्भावस्तत्ता तया समभरघटतया समरभरघट इव सर्वथा भृतघटाकारतयेति, **'अहेणं'ति** अथार्थः, महंती **'सयासवं'** सदा आश्रवति–ईषत् क्षरति जलं यैस्ते आश्रवाः–सूक्ष्मरन्ध्राणि, सन्तो-विद्यमानाः सदा वा शतसङ्ख्या वा आश्रवा यस्यां सा सदाश्रवा वा शताश्रवा वा, एवं शतच्छिद्रां, छिद्रं–महत्तरं रन्ध्रं, **'ओगाहि'त्ति** अवगाहयेत्, **'आसव'त्ति** आश्रवद्वारैः छिद्रैरिति, **'आपूर'त्ति** आपूर्यमाणा जलेनेति शेषः, **'वोसट्टमाणा'** भृता सती निमज्जति, **'समभरघड'त्ति** हृदक्षिप्तसमभरघटवत्, हृदस्याधस्त्योदकेन सह तिष्ठति, यथा नौश्च हृदोदकं अन्योऽन्यमवगाहते, एवं जीवपुद्गलयोर्भावना। **'सया समियं'ति** (सू. ५७) सदा—सर्वदा **'समियं'ति** सपरिमाणं, अथवा सदा–सर्वर्तुषु समितमिति—रात्रौ दिवसस्य च पूर्वापरयोः प्रहरयोः, तत्रापि कालस्य स्निग्धेतरभावमपेक्ष्य बहुत्वमल्पत्वं वाऽवसेयमिति, यदाह–'पढमचरिमाउ सिसिरे०'इत्यादि, लेपितपात्रं बहिर्न स्थापयेत्, स्नेहरक्षणार्थायेति, सूक्ष्मः स्नेहकायः प्रपतति, ऊर्ध्वं अधश्च तिर्यक् च, वैताढ्यादावधोलोकग्रामेषु तिर्यग्लोके, **'दीहकालं चिट्ठइ'त्ति** तडागादिपूरणात्, विध्वंसमागच्छति अल्पत्वात् तस्येति,

॥ **प्रथमशते षष्ठोद्देशकविवरणम्** १–६ ॥

अथ सप्तम आरभ्यते–**'उववज्जमाणे'त्ति** (सू. ५८) ननु उत्पद्यमान एव उत्पन्नः कथं नारक उच्यते?, अनुत्पन्नत्वात् तिर्यगादिवदिति, अत्रोच्यते, उत्पद्यमान उत्पन्न एव, तदायुष्कोदयाद्, अन्यथा तिर्यगाद्यायुष्काभावान्नारकायुष्कोदयेऽपि यदि नारको नासौ तदन्यः कोऽसाविति?, **'किं देसेणं'ति** देशेन देशेन च यदुत्पदनं प्रवृत्तं तद् देशेन देशं, तत्र जीवः किं देशेन-स्वकीयावयवेन देशेन-नारकावयविनोऽंशतयोत्पद्यते, अथवा देशेन देशमाश्रित्योत्पादयन् वे(०यित्वे)ति, एवमन्यत्रापि, **'देसेणं सव्वं'ति** तत्र देशेन–

१ शतके ६ उद्देशः

॥३३॥

अत्र **शतक**-१, उद्देषक: ६ समाप्त:, अथ **शतक**-१ उद्देषक: ७ आरब्ध:

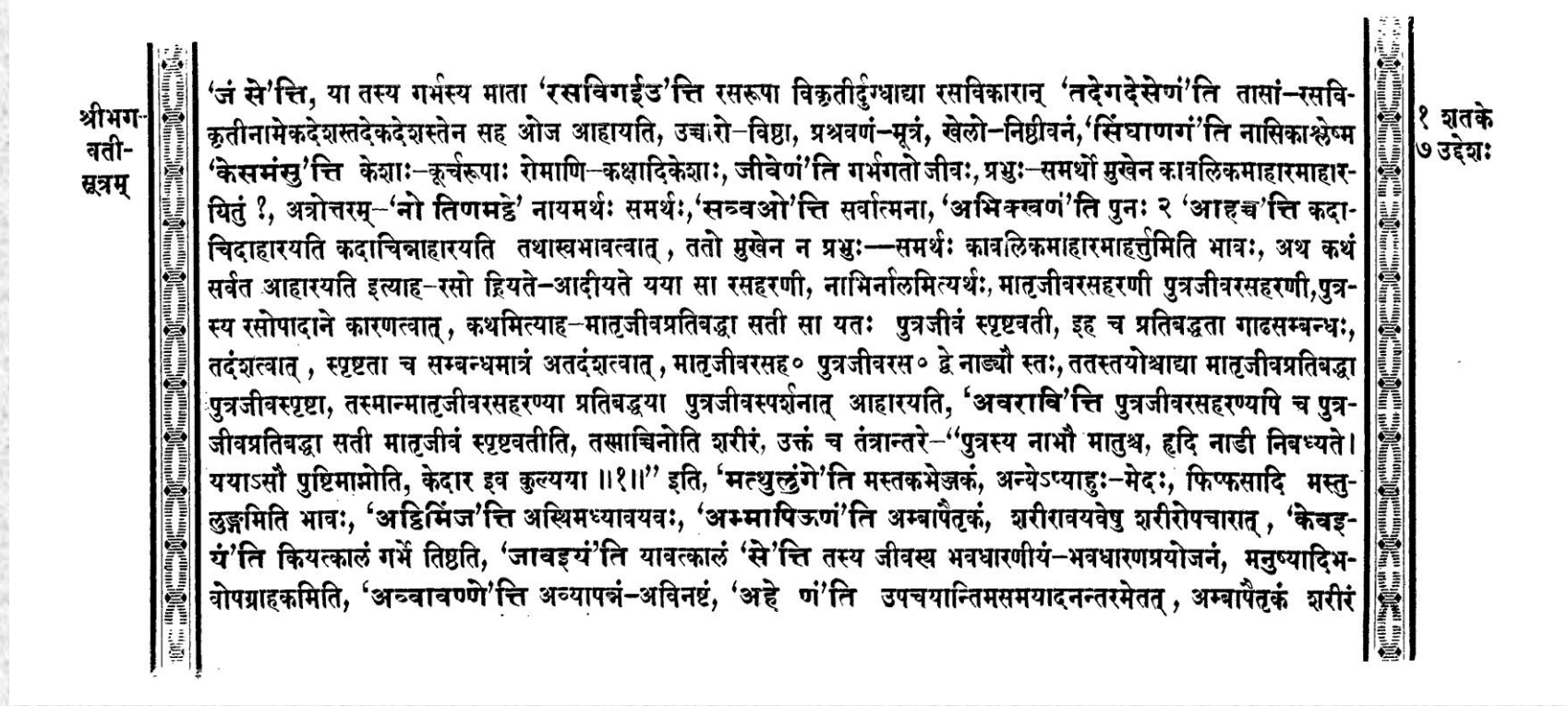
स्वावयवेन सर्वतः—सर्वात्मना नारकावयवितयोत्पद्यत इति, **'सव्वेणं देसं'ति** सर्वेण—सर्वात्मना सर्वतो देशतो—नारकांशतया वा, **'सव्वेणं सव्वं'ति** सर्वेण सर्वात्मना सर्वतो नारकतयेति प्रश्नः, अत्रोत्तरं—न देशतयोत्पद्यते, यतो न परिणामिकारणावयवेन कार्यावयवो निर्वर्त्यते, तन्तुना पटाप्रतिबद्धपटप्रदेशवत्, यथा हि पटदेशभूतेन तन्तुना पटाप्रतिबद्धः पटदेशो न क्रियते तथा पूर्वावयविप्रतिबद्धेन तद्देशेन उत्तरावयविदेशो न निर्वर्त्यत इति १, तथा न देशेन सर्वतया, अपरिपूर्णकारणत्वात् तन्तुना पट इवेति २, न सर्वेण देशतया, सम्पूर्णपरिणामिकारणत्वात् समग्रघटकारणैर्घटैकदेशवत् ३, सर्वेण सर्वतयोत्पद्यते, पूर्णकारणसमवायात् घटवदिति ४, आहारसूत्रेऽप्येवं चतुर्भङ्गी, **'सव्वेणं देसं'ति** ३, उत्पत्त्यनन्तरसमयेषु सर्वात्मप्रदेशैराहारपुद्गलान् कांश्चिदादत्ते कांश्चिद्विमुञ्चति, तप्ततापिकाघृततैलग्राहकविमोचकापूपवदिति देशमाहारयति, सर्वेण सर्वमिति ४, सर्वात्मप्रदेशैरुत्पत्तिसमये आहारपुद्गलानादत्त एव, प्रथमतस्तैलभृततप्ततापिकाप्रथमसमयपतितापूपवदिति, सर्वमाहारयति, यथा उत्पादस्तदाहारेण सह प्राग्दण्डकाभ्यां उक्तः, अ(त)थोत्पादप्रतिपक्षत्वादुद्वर्त्तनादण्डकस्तदाहारदण्डकेन सह वाच्यः, नोद्वर्त्तना अनुत्पन्नस्य स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकौ च त(तत उ)द्वर्त्तनाऽऽहारदण्डकौ वाच्याविति, एवं तावदष्टाभिर्दण्डकैर्देशसर्वाभ्यां उत्पादादि चिन्तितम्, अथाष्टाभिरेवार्द्धसर्वाभ्यामुत्पादादि चिन्त्यते, **'णेरइएत्ति जहा पढमिल्लेणं'ति**, यथा देशेन तथाऽर्द्धेनापि, ननु देशस्यार्द्धस्य च को विशेषः ?, उच्यते, देशस्त्रिभागादिरनेकधा अर्द्धं त्वेकधा एवेति॥ उत्पत्तिरुद्वर्त्तना च प्रायो गतिपूर्विका स्यात् इति गतिसूत्राणि **'विग्गहगइ'त्ति**(सू० ६०) विग्रहो ! वक्रं तत्प्रधाना गतिर्विग्रहगतिः तद्विपक्ष ऋजुगतिकः, तत्र जीवानां आनन्त्यात् प्रतिसमयं विग्रहगतिमतां तद्विपक्षणाणां च बहूनां भावाद् द्वयोरपि बहुत्वं, नारकाणामल्पत्वेन विग्रहगतिमतां कदाचिदसम्भवात् सम्भवेऽपि च एकादीनामपि तेषां भावात् तद्विप-

श्रीभगवतीसूत्रम्

क्षाणां च बहूनां भावादाह–'सव्वेऽवि ताव होज्ज अविग्गहे'त्यादि विकल्पत्रयम्,'जावेगिंदियवज्जे'त्ति जीवानां निर्विशेषाणां एकेन्द्रियाणां चोक्तयुक्त्या विग्रहगतित्वे तत्प्रतिषेधे च बहुत्वमेवेति न भङ्गत्रयं, तदन्येषु तु त्रयमेव, 'तियभंगो'त्ति त्रिकरूपो भङ्गस्त्रिकभङ्गो, भङ्गत्रयमित्यर्थः ॥ गत्यधिकाराच्च्यवनसूत्रम् 'महड्ढि'त्ति (सू. ६१) महर्द्धिको विमानपरिवाराद्यपेक्षया 'महज्जुइ'त्ति महाद्युतिकः शरीराभरणाद्यपेक्षया 'महाणुभावे'त्ति महानुभावो विशिष्टवैक्रियादिकरणाचिन्त्यसामर्थ्यः, 'अविउक्कं'ति व्युत्क्रान्तिः–उत्पत्तिस्तन्निषेधादव्युत्क्रान्तिकं, अथवा व्यवक्रान्तिः–मरणं तन्निषेधादव्यवक्रान्तिकम्, तद् यथा स्यादेवं च चयमानो जीवन्नेव मृतिकाले इति, चयं–वपुः 'चयमाणेत्ति त्यजन् किञ्चित्कालं 'हिरि'त्ति ह्रीप्रत्ययं–लज्जानिमित्तं, स हि च्यवनसमयेन प्रक्रान्त एव नरपरिभुज्यमानस्त्रीगर्भाशयरूपं उत्पत्तिस्थानं दृष्ट्वा जिह्रेति, ह्रिया च नाहारयति, 'दुगुंछावत्तियं'ति जुगुप्साप्रत्ययं–कुत्सानिमित्तं शुक्रादेरुत्पत्तिकारणस्य कुत्साहेतुत्वात्, 'परीसह'त्ति परीषहशब्देन अरतिपरीषहो ग्राह्यः, तन्निमित्तं, दृश्यतेऽरतिप्रत्ययाल्लोकेऽप्याहारे वैमुख्यं स्यादिति, 'अहेणं'त्ति अथ लज्जादिक्षणानन्तरं आहारयति, बुभुक्षावेदनीयस्य चिरं सोढुमशक्यत्वात्, 'आहारिज्ज'त्ति क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदाभिधानेन तदीयाहारस्याल्पतोक्ता, 'पहीणे'त्ति प्रक्षीणमायुः स्यात्, 'जत्थ'त्ति यत्र मनुजत्वादौ 'तमाउ'ति तन्मनुजत्वाद्यायुः प्रतिसंवेदयति–अनुभवतीति, देवनारकायुर्निषेधात्तिर्यग्मनुजायुर्युग्मं गृह्यते 'गब्भं वक्कमि'त्ति(सू. ६२)गर्भं व्युत्क्रामन्–गर्भे उत्पद्यमानः 'दव्विंदिय'त्ति निर्वृत्त्युपकरणलक्षणानि, तानि हि इन्द्रियपर्याप्तौ स्युरित्यनिन्द्रिय उच्यते, 'भाविंदिय'त्ति लब्ध्युपयोगलक्षणानि, तानि संसारिणां सर्वावस्थाभावीनीति, 'तप्पढम'त्ति तस्य–गर्भव्युत्क्रमणस्य प्रथमता तत्प्रथमता तया, मातुरोजो–जनन्या आर्त्तवं शोणितमिति, पितुः शुक्रं,तदुभयं संश्लिष्टं

१ शतके ७उद्देशः

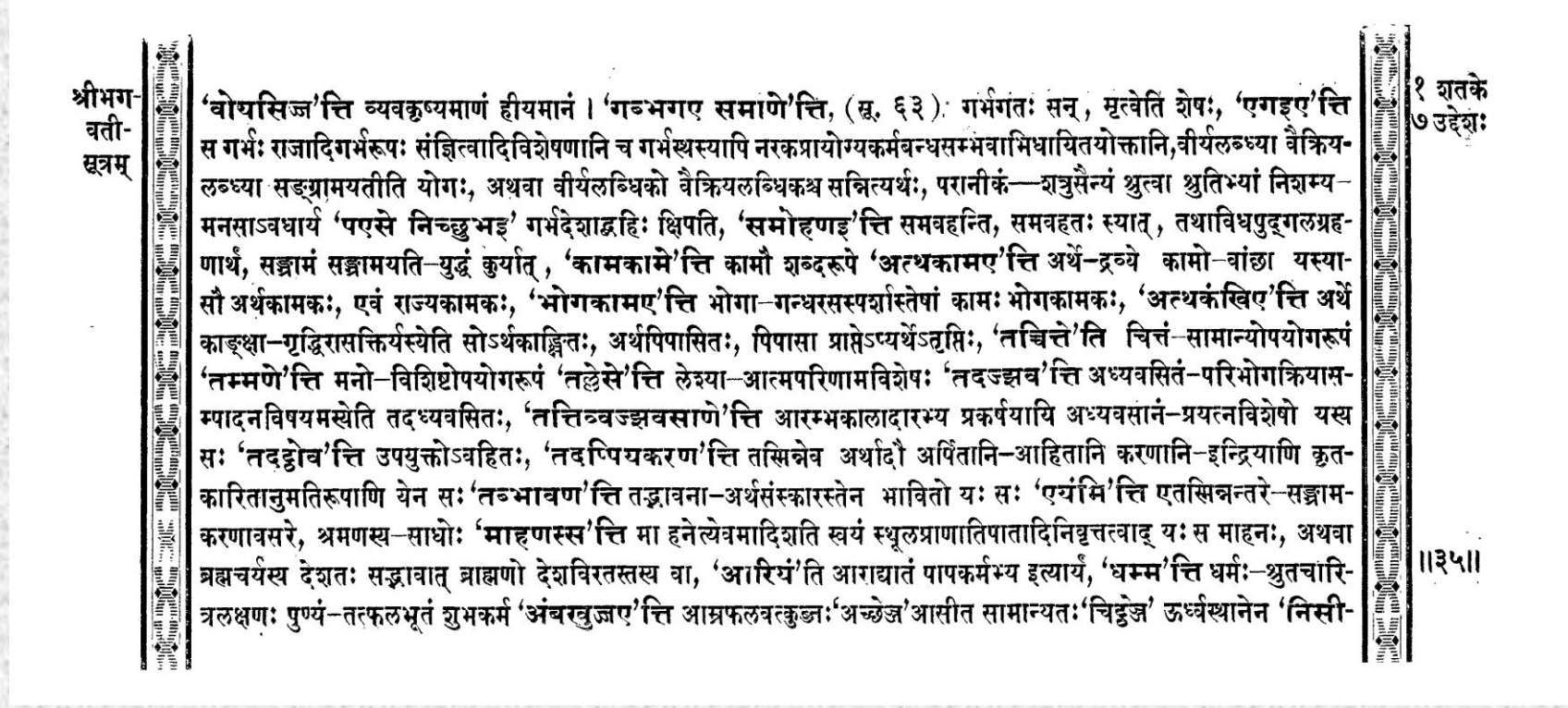
॥३४॥



श्रीभगवती-सूत्रम्

'जं से'त्ति, या तस्य गर्भस्य माता 'रसविगईउ'त्ति रसरूपा विकृतीर्दुग्धाद्या रसविकारान् 'तदेगदेसेणं'ति तासां–रसविकृतीनामेकदेशस्तदेकदेशस्तेन सह ओज आहारयति, उच्चारो–विष्ठा, प्रश्रवणं–मूत्रं, खेलो–निष्ठीवनं,'सिंघाणगं'ति नासिकाश्लेष्म 'केसमंसु'त्ति केशाः–कूर्चरूपाः रोमाणि–कक्षादिकेशाः, जीवेणं'ति गर्भगतो जीवः, प्रभुः–समर्थो मुखेन कावलिकमाहारमाहारयितुं ?, अत्रोत्तरम्–'नो तिणमट्ठे' नायमर्थः समर्थः,'सव्वओ'त्ति सर्वात्मना, 'अभिक्खणं'ति पुनः २ 'आहच्च'त्ति कदाचिदाहारयति कदाचिन्नाहारयति तथास्वभावत्वात्, ततो मुखेन न प्रभुः—समर्थः कावलिकमाहारमाहर्त्तुमिति भावः, अथ कथं सर्वत आहारयति इत्याह–रसो ह्रियते–आदीयते यया सा रसहरणी, नाभिर्नालमित्यर्थः, मातृजीवरसहरणी पुत्रजीवरसहरणी,पुत्रस्य रसोपादाने कारणत्वात्, कथमित्याह–मातृजीवप्रतिबद्धा सती सा यतः पुत्रजीवं स्पृष्टवती, इह च प्रतिबद्धता गाढसम्बन्धः, तदंशत्वात्, स्पृष्टता च सम्बन्धमात्रं अतदंशत्वात्, मातृजीवरसह० पुत्रजीवरस० द्वे नाड्यौ स्तः, ततस्तयोश्चाद्या मातृजीवप्रतिबद्धा पुत्रजीवस्पृष्टा, तस्मान्मातृजीवरसहरण्या प्रतिबद्धया पुत्रजीवस्पर्शनात् आहारयति, 'अवरावि'त्ति पुत्रजीवरसहरण्यपि च पुत्रजीवप्रतिबद्धा सती मातृजीवं स्पृष्टवतीति, तस्माच्चिनोति शरीरं, उक्तं च तंत्रान्तरे–"पुत्रस्य नाभौ मातुश्च, हृदि नाडी निबध्यते। ययाऽसौ पुष्टिमाप्नोति, केदार इव कुल्यया ॥१॥" इति, 'मत्थुलुंगे'ति मस्तकभेजकं, अन्येऽप्याहुः–मेदः, फिप्फसादि मस्तुलुङ्गमिति भावः, 'अट्ठिमिंज'त्ति अस्थिमध्यावयवः, 'अम्मापिऊणं'ति अम्बापैतृकं, शरीरावयवेषु शरीरोपचारात्, 'केवइयं'ति कियत्कालं गर्भे तिष्ठति, 'जावइयं'ति यावत्कालं 'से'त्ति तस्य जीवस्य भवधारणीयं–भवधारणप्रयोजनं, मनुष्यादिभवोपग्राहकमिति, 'अव्वावण्णे'त्ति अव्यापन्नं–अविनष्टं, 'अहे णं'ति उपचयान्तिमसमयादनन्तरमेतत्, अम्बापैतृकं शरीरं

१ शतके ७ उद्देशः



श्रीभगवती-सूत्रम्

'वोयसिज्ज'त्ति व्यवकृष्यमाणं हीयमानं । 'गब्भगए समाणे'त्ति, (सू. ६३) गर्भगतः सन्, मृत्वेति शेषः, 'एगइए'त्ति स गर्भः राजादिगर्भरूपः संज्ञित्वादिविशेषणानि च गर्भस्थस्यापि नरकप्रायोग्यकर्मबन्धसम्भवाभिधायितयोक्तानि,वीर्यलब्ध्या वैक्रियलब्ध्या सङ्ग्रामयतीति योगः, अथवा वीर्यलब्धिको वैक्रियलब्धिकश्च सन्नित्यर्थः, परानीकं—शत्रुसैन्यं श्रुत्वा श्रुतिभ्यां निशम्य-मनसाऽवधार्य 'पएसे निच्छुभइ' गर्भदेशाद्बहिः क्षिपति, 'समोहणइ'त्ति समवहन्ति, समवहतः स्यात्, तथाविधपुद्गलग्रहणार्थं, सङ्गामं सङ्गामयति—युद्धं कुर्यात्, 'कामकामे'त्ति कामौ शब्दरूपे 'अत्थकामए'त्ति अर्थे—द्रव्ये कामो—वांछा यस्यासौ अर्थकामकः, एवं राज्यकामकः, 'भोगकामए'त्ति भोगा—गन्धरसस्पर्शास्तेषां कामः भोगकामकः, 'अत्थकंखिए'त्ति अर्थे काङ्क्षा—गृद्धिरासक्तिर्यस्येति सोऽर्थकाङ्क्षितः, अर्थपिपासितः, पिपासा प्राप्तेऽप्यर्थेऽतृप्तिः, 'तच्चित्ते'ति चित्तं—सामान्योपयोगरूपं 'तम्मणे'त्ति मनो—विशिष्टोपयोगरूपं 'तल्लेसे'त्ति लेश्या—आत्मपरिणामविशेषः 'तदज्झव'त्ति अध्यवसितं—परिभोगक्रियासम्पादनविषयमस्येति तदध्यवसितः, 'तत्तिव्वज्झवसाणे'त्ति आरम्भकालादारभ्य प्रकर्षयायि अध्यवसानं—प्रयत्नविशेषो यस्य सः 'तदट्ठोव'त्ति उपयुक्तोऽवहितः, 'तदप्पियकरण'त्ति तस्मिन्नेव अर्थादौ अर्पितानि—आहितानि करणानि—इन्द्रियाणि कृतकारितानुमतिरूपाणि येन सः 'तब्भावण'त्ति तद्भावना—अर्थसंस्कारस्तेन भावितो यः सः 'एयंमि'त्ति एतस्मिन्नन्तरे—सङ्ग्रामकरणावसरे, श्रमणस्य—साधोः 'माहणस्स'त्ति मा हनेत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वाद् यः स माहनः, अथवा ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावात् ब्राह्मणो देशविरतस्तस्य वा, 'आरियं'ति आराद्यातं पापकर्मभ्य इत्यार्यं, 'धम्म'त्ति धर्मः—श्रुतचारित्रलक्षणः पुण्यं—तत्फलभूतं शुभकर्म 'अंबखुज्जए'त्ति आम्रफलवत्कुब्जः'अच्छेज्ज'आसीत सामान्यतः'चिट्ठेज्ज' ऊर्ध्वस्थानेन 'निसी-

१ शतके ७ उद्देशः

॥३५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [६३]

दीप अनुक्रम [८४]

श्रीभगवतीसूत्रम्

एज्जा' निषदनस्थानेन 'तुयट्टेज्ज' शयीत **'सममागच्छइ'** समम्-अविषमं, **'सम्मं'**ति पाठे सम्यक् अनुपघातहेतुत्वात्, आगच्छति, मातुरुदराद्योन्या निष्क्रामति, **'तिरियमागच्छइ'**त्ति तिरश्चीनो भूत्वा जठरान्निर्गन्तुं प्रवर्त्तते, विनिघातं-मरणमापद्यते, निर्गमाभावादिति, गर्भनिर्गतस्य यत् स्यात्तदाह-**'वण्णवज्झाणि य'**त्ति वर्णः-श्लाघा वध्यो-हन्तव्यो येषां तानि, अथवा वर्णाद् बाह्यानि, अशुभानि, **'से'** तस्य गर्भनिर्गतस्य बद्धानि सामान्यतः पुष्टानि-पोषितानि, गाढतरबन्धतो, **'निहत्ता'** इति निधत्तानि, उद्वर्त्तनापवर्त्तनाकरणवर्जशेषकरणयोग्यत्वेन स्थापितानीत्यर्थः, अथवा बद्धानि, यतः कथं ?, पूर्वं स्पृष्टानि,**'कडाइं'**ति कृतानि-निकाचितानि **'पट्ठवियाइं'**ति प्रस्थापितानि मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसादिनामकर्मसहोदयत्वेन **'अभिनिविट्ठाइं'**ति अभिनिविष्टानि तीव्रानुभावतया,**'अभिसमण्णागया'**ति अभिसमन्वागतानि उदयाभिमुखीभूतानि **'उदिण्णाइं'**ति ततश्चोदीर्णानि, स्वत उदीरणाकरणेनोदीरितानि, **'नो उवसंताइं'**ति नोपशान्तानि, अतो **'दुरूवे'**त्ति दूरूपादि तत्फलभूतानि ज्ञेयानि पदानि, **'अणादेय'**त्ति इहैवमक्षरघटना-प्रत्याजातो समुत्पन्नो वा स्यादनादेयवचन इति ॥ **प्रथमशते सप्तमोद्देशकविवरणम्** ॥

'एगंतबाले'त्ति (सू. ६४) एकान्तबालो मिथ्यादृग् अविरतो वा, एकान्तग्रहणेन मिश्रतां व्यवच्छिनत्ति, यच्चैकान्तबालत्वे समानेऽपि नानाविधायुर्बन्धनं तत् महारम्भाद्युन्मार्गदेशनादितनुकषायत्वाद्यकामनिर्जरादितत्तद्धेतुवशादिति, अत एव बालत्वे समानेऽपि अविरतिसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो देवायुरेव प्रकरोति-बध्नाति, न शेषाणि, **'णेरइयाउयं किच्च'**त्ति नैरयिकायुर्बद्ध्वा नैरयिके उत्पद्यते, एवं देवायुरपि, **'एगंतपंडिए'**त्ति (सू. ६५) एकान्तपण्डितः-साधुः **'आउयं सिय'**त्ति सम्यक्त्वसप्तके क्षपिते न बध्नाति आयुस्साधुः, अर्वाक्-पुनर्बध्नाति, अत इत्युच्यते-स्यात् प्रकरोति-बध्नाति, न वा, **'केवलमेव'**त्ति केवलः-सामस्त्येन **'दो गइ-**

१ शतके ७-८ उद्देशः

अत्र **शतक**-१, उद्देषक: ७ समाप्तः, अथ **शतक**-१ उद्देषक: ८ आरब्धः

श्रीभगवतीसूत्रम्

१ शतके ८ उद्देशः

उ'त्ति द्वे गती प्रज्ञायेते–अवबुध्येते केवलिना, तयोरेव सत्त्वादिति,'अंतकिरिय'त्ति निर्वाणं 'कप्पोव'ति कल्पेषु–अनुत्तरविमानांतदेवलोकेषु उत्पत्तिः सैव कल्पोपपत्तिका, 'बालपंडिएणं'ति श्रावकः 'देसं उवरमइ'त्ति देशतः स्थूलप्राणातिपातादिना उपरमते–विरतः स्यात्। 'कच्छंसि व'त्ति (सू. ६६) कच्छे–नदीजलपरिवेष्टिते वल्लयादिमति प्रदेशे 'दवियंसि'त्ति द्रविके—तृणादिद्रव्यसमुदाये 'वलयंसि व'त्ति वलये वृत्ताकारनद्याद्युदककुटिलगतियुक्तप्रदेशे नूमे–अवतमसे,गहने वृक्षादिसमुदाये, 'गहणविदुग्गं'ति गहनविदुर्गे पर्वतैकदेशस्थितवृक्षवल्लीरूपे पर्वतविदुर्गे–गिरिवृन्दे वने–एकजातीयवृक्षरूपे वनविदुर्गे–नानाजातीयतरुरूपे, 'मियवित्तिए'त्ति मृगैर्वृत्तिः—जीविका यस्य स मृगवृत्तिकः, 'संकप्पे'त्ति मृगसङ्कल्पो वधाध्यवसायो यस्य स मृगसङ्कल्पः, 'पणिहाणे'त्ति मृगप्रणिधानो–मृगवधैकाग्रचित्तः, 'मियवहाए' मृगवधाय 'गंत'त्ति गत्वा, कच्छादाविति योगः, 'एए मिय'त्ति एते मृगा इति कृत्वा, कूटं च–मृगग्रहणहेतुर्गर्त्तादिपाशस्तद्बन्धमिति—कूटपाशं 'उद्दाइ'त्ति उद्ददाति—रचयति, 'तओ णं'ति ततः–कूटपाशकरणात्,'कइकिरिए'त्ति कतिक्रियः,'जे भविए'यो भव्यो–योग्यो मृगवधकर्त्ता 'जावं च णं'ति यावन्तं कालमित्यर्थः, तस्याः कर्त्तेत्याह, उद्दवणयाए–कूटपाशधारणया,'तावं च णं' तावन्तं कालं 'काइयाए' गमनादिकायचेष्टारूपया 'अहिगरण'त्ति अधिकरणेन–कूटपाशकरणरूपेण 'पाउसि'त्ति प्रद्वेषो–मृगेषु दुष्टभावः तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी तया,'तीहिं किरियाहिं'ति ताभिस्तिसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः, 'पारितावि'त्ति मृगे बद्धे सति परितापनहेतुः पारितापनिकी तया, प्राणातिपातक्रियया च मृगघातिन इति,'ऊसवित्त'ति उत्सर्प्य 'ओसक्किऊण' ऊर्ध्वीकृत्य 'निसरइत्त'त्ति निसृजति, निक्षिपति,'उसुं'ति बाणं,'आययकण्णं'ति आयतकर्णं–कर्णं यावदायतः–आकृष्टः कर्णायतः, तं इषुं 'आयामेत्ता' आयम्य–आकृष्य चिट्ठेज्ज'त्ति

॥३६॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

तिष्ठेत्, मृगवधेच्छुः, अन्यश्च कोऽपि पुरुषस्तस्य मृगघातेच्छोः, 'मग्गउ'त्ति पृष्ठतः आगम्य 'सयपाणिण'त्ति स्वकपाणिना तस्य शीर्षं छिन्द्यात्, 'से य'त्ति स च 'उसु'त्ति इषुः, 'पुव्वायामेण'त्ति पूर्वाकर्षणेन तं 'मियं'ति मृगं 'वधिज्जा' हन्यात्, 'से णं भंते! पुरिसे'त्ति स मृगवधेच्छुशिरश्छेत्ता पुरुषः किं मृगवैरेण स्पृष्ट इति, अथ शिरश्छेत्तृनरहेतुकत्वादिषुनिपातस्य कथं धनुर्द्धरपुरुषो मृगवधेन स्पृष्ट इत्याकूतवतो गौतमस्य तदभ्युपगतमेवार्थमुत्तरतया प्राह वीरः–गौतम! क्रियमाणं धनुःकाण्डादि कृतं इति व्यपदिश्यते, 'संधिज्जमाणे'त्ति सन्धीयमानं–प्रत्यञ्चायामारोप्यमाणं काण्डे धनुर्वाऽऽरोप्यमाणप्रत्यञ्चं सन्धितं–कृतसन्धानं स्यात्, 'निव्वित्तिज्जमाणे'त्ति निर्वर्त्त्यमानं–नितरां वर्तुलीक्रियमाणं प्रत्यञ्चाकर्षणेन निर्वर्त्तितं–वृत्तीकृतं स्यात् 'णिसरिज्जमाणो'त्ति निसृज्यमाणं–क्षिप्यमाणं काण्डं निसृष्टं, यदा च निसृज्यमानं स्यात् तदा निसृज्यमानतायां धनुर्द्धरेण कृतत्वात् तेन काण्डं निसृष्टं स्यात्, काण्डनिसर्गाच्च मृगस्तेनैव मारितः हे गौतम! 'जे मियं'ति यो मृगं मारयति स मृगवैरेण स्पृष्टः, 'जे पुरिसं'ति यः पुरुषं मारयति स पुरुषवैरेण स्पृष्टः इत्युत्तरं, 'अंतो छण्हं'ति षण्मासमध्ये यदि मृगो म्रियते तदा स मृगवधेच्छुः कायिकादिपञ्चक्रियाभिः स्पृष्टः(घातक)त्वात्, 'बाहिं छण्हं'ति षण्मासात् बहिः–परतो यदि मृगमृतिः स्यात् तदा कायिकादिचतसृभिः स्पृष्टः, षण्मासादूर्ध्वं तस्य प्राणातिपातक्रिया पञ्चमी न लगति इत्युक्तं व्यवहारनयापेक्षया, अन्यथा यदा कदाऽप्यधिकृतप्रहारहेतुकं मरणं स्यात् मृगादेः तदैव तस्य प्राणातिपातक्रिया लगति, 'सत्तीए'त्ति शक्त्या–प्रहरणविशेषेण 'समभिधंसेज्ज'त्ति हन्यात्, 'काइयाए'त्ति कायिक्या–वपुःस्पन्दरूपया अधिकरणिक्या–शक्तिखड्गव्यापाररूपया प्राद्वेषिक्या–मनोदुष्प्रणिधानेन परितापनिक्या–परितापनरूपया प्राणातिपातक्रियया मारणरूपया शक्त्याऽभिध्वंसकः असिना वा शिरश्छेत्ता पञ्चक्रिया-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [७१]

दीप अनुक्रम [९२]

श्रीभग-वती-सूत्रम्

स्पृष्टः, पुरुषवैरेण वा–मारितपुरुषवैरभावेन, किंभूतेन ? 'आसन्न'त्ति आसन्नो वधो यस्माद् वैरात्तेनासन्नवधकेन, पुनः किम्भूतेन 'अणव'त्ति अनवकाङ्क्षणा–परप्राणनिरपेक्षा वृत्तिः–वर्त्तनं यत्र वैरे तेनानवकाङ्क्षणवृत्तिकेनेति ॥ क्रियाधिकार एवेदमाह–द्वौ पुरुषौ **'सरिसय'**त्ति (सू० ७१) सदृशकौ कौशल्यादिना **'सरित्तय'**त्ति सदृक्त्वचौ **'सरिव्वय'**त्ति सदृग्वयसौ **'सरिसभंड'**त्ति सदृशानि भाण्डानि–कांस्यपात्रादीनि मात्रा–गणिमादिद्रव्यपरिच्छेदः उपकरणानि–अनेकधाऽऽवरणप्रहरणादीनि ययोस्तौ, **'वीरिय-वज्झाइं'**ति वीर्यं वध्यं येषां तानि, **'सिद्धा णं अवीरिय'**त्ति सकरणवीर्याभावादवीर्याः सिद्धाः, **'सेलेसियपडिवण्णय'**त्ति शैलेशो–मेरुस्तस्य च याऽवस्था स्थिरतासाधर्म्यात् सा शैलेशी सा च योगनिरोधेन पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारकालमाना तां प्रतिपन्नका ये ते शैलेशीप्रतिपन्नकाः, **'लद्धिवीरिएणं'**ति वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमतो या वीर्यलब्धिः सैव तद्धेतुत्वाद्वीर्यलब्धिः वीर्यं, तेन सवीर्याः, एषां शैलेश्यवस्थानां च क्षायिकमेव लब्धिवीर्यं, **'करणवीरिएणं'**ति लब्धिवीर्यकार्यभूता क्रिया करणं तद्रूपं वीर्यं करणवीर्यं, **'करणवीरिएणं सवीरियावि अवीरिया'**वि, तत्र सवीर्या उत्थानादिक्रियावन्तः, अवीर्यास्तद्विपक्षाः, ते च अपर्याप्तकाले अवगन्तव्याः ॥ इति प्रथमशते अष्टमोद्देशकविवरणम् १–८ ॥

अथ नवमोद्देशे गुरुकादिपदसूत्रम्, **'आउलीकरें'**ति(सू० ७२) प्रचुरीकुर्वन्ति कर्मभिः **'परित्तीकरिं'**ति स्तोकं कुर्युः कर्म्मभिः **'दीहीकरंति'** दीर्घं प्रचुरकालमिति, ह्रस्वीकरेंति–अल्पकालमिति **'अणुपरियट्टंति'** पौनःपुन्येन भ्रमन्ति, **'वीईवयंति'** व्यतिव्रजन्ति, **पसत्था चत्तारि**, लघुत्वपरीतत्वह्रस्वत्वव्यतिव्रजनदण्डकाः प्रशस्ताः, मोक्षाङ्गत्वात्, **अपसत्था चत्तारि**, गुरुत्वाकुलत्वदीर्घानुपरिवर्तनदण्डकाः अप्रशस्ताः, संसारहेतुत्वात्, **'सत्तमे णं'**ति (सू. ७४) इह चेयं गुरुलघुत्वव्यवस्था, "निच्छयओ सव्वगुरुं

१ शतके ८ उद्देशः

॥३७॥

अत्र **शतक**-१, उद्देषक: ८ समाप्त:, अथ **शतक**-१ उद्देषक: ९ आरब्ध:

श्रीभगवतीसूत्रम्

सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं। ववहारओ य जुज्जइ बायरखंधेसु णऽण्णेसु॥१॥ अगुरुलहू चउफासा अरूविदव्वा य होंति नायव्वा। सेसा उ अट्ठफासा गुरुलहुया णिच्छयणयस्स॥२॥" 'चउफास'त्ति सूक्ष्मपरिणामानि,'अट्ठफास'त्ति बादराणि,गुरुलघु द्रव्यं रूपि, अगुरुलघुद्रव्यमरूपि रूपि वेति, व्यवहारतस्तु गुर्वादीनि चत्वार्यपि सन्ति, तत्र निदर्शनानि-गुरुर्लोष्टः अधोगमनात्, लघुर्धूमः ऊर्ध्वगमनात्, गुरुलघु आकाशं तत्स्वभावत्वात्, अवकाशान्तरादिसूत्राण्येतानि एतद्गाथानुसारेणावगन्तव्यानि,तद्यथा-'ओवास वाय घणउदहि'त्ति(सूत्रे ५४ गा.१७-१८)गाथाद्वयं सुगमं पूर्वोक्तव्याख्यानात्,'वेउव्वियतेयाइं पडुच्च'त्ति वैक्रियतैजसशरीरे प्रतीत्य गुरुकलघुका एव, यतो वैक्रियतैजसवर्गणात्मके ते, यदाह-"ओरालिय वेउव्विय आहारग तेय गुरुलघू दव्व"त्ति। जीवं कार्मणशरीरं प्रतीत्य नारका अगुरुलघुका एव, जीवस्यारूपित्वेनागुरुलघुत्वात् कार्मणशरीरस्य कार्मणवर्गणात्मकत्वात् अगुरुलघुत्वं, आह च-'कम्मगमणभासाई एयाइं अगुरुलहुयाइं'ति, 'नाणत्तं'ति यस्य यानि शरीराणि तस्य तानि ज्ञात्वा असुरादिसूत्राणि वाच्यानि, असुरादिदेवा नारकवद्वाच्याः, पृथिव्यादयस्तु औदारिकतैजसे प्रतीत्य गुरुलघवः, जीवं कार्मणं च प्रतीत्यागुरुलघवः, वायवस्तु औदारिकवैक्रियतैजसानि प्रतीत्य गुरुलघवः, एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चोऽपि, मनुष्याश्चौदारिकवैक्रियाहारकतैजसानि प्रतीत्येति, 'धम्मत्थिकाए' इह यावत्करणाद् अहम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पदं यावत् चउत्थपएणं अगुरुलघवः, शेषाणां निषेधः कार्यः, धर्मास्तिकायादीनामरूपितया अगुरुलघुत्वादिति, समया अमूर्त्ताः, कर्माणि च कार्मणवर्गणात्मकानि अगुरुलघूनि, 'दव्वलेसं'ति द्रव्यतः कृष्णलेश्या औदारिकादिशरीरवर्णा ओदारीकादिकं च गुरुलघु इतिकृत्वा एषापि गुरुलघ्वी, भावलेश्या तु जीवपरिणतिस्तस्या अमूर्त्तत्वादगुरुलघ्वीति। 'दिट्ठी दंसणणाण'त्ति 'दृष्ट्यादी'ति दृष्ट्यादीनि जीवपर्यायत्वेनागुरुलघुत्वात् चतुर्थपदेन

१ शतके ९ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

वाच्यानि, अज्ञानपदं त्विह ज्ञानविपक्षत्वादधीतं, अन्यथा प्रथमशतरोहाकृताण्डककुर्कुटीप्रश्नषष्ठोद्देशके 'दिट्ठीदंसणनाणे'ति द्वितीयगाथायां ज्ञानपदमेव दृश्यते, 'हेट्ठिल्ले'ति औदारिकादीनि गुरुलघुपदेन, गुरुलघुवर्गणात्मकत्वात्, 'कम्मयं'ति कार्मणं चतुर्थपदेन, अगुरुलघुद्रव्यात्मकत्वात्, मनोवागूयोगौ चतुर्थपदेन वाच्यौ, काययोगः कार्मणवर्जस्तृतीयेन, गुरुलघुद्रव्यात्मकत्वात्, 'सव्वे दव्व'त्ति सर्वद्रव्याणि धर्म्मास्तिकायादीनि, सर्वप्रदेशास्तेषामेव निर्विभागा अंशाः, सर्वपर्यवा वर्णोपयोगादयो द्रव्यधर्माः, एते पुद्गलास्तिकायवद्वाच्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन चेत्यर्थः, यतः सूक्ष्माण्यमूर्त्तानि च द्रव्याणि अगुरुलघूनि, इतराणि तु गुरुलघूनि, प्रदेशपर्यवास्तु तत्तद्द्रव्यसम्बन्धित्वेन तत्तत्स्वभावा इति, गुरुलघुत्वाधिकारादिदमाह–'लाघवि'(सू०७५) अल्पोपधित्वं 'अप्पिच्छ'त्ति आहारादिषु अल्पाभिध्यः 'असुच्छ'त्ति उपधावसंरक्षणानुबन्धः 'अगेहि'त्ति भोजनकरणादिषु नासक्तिः अप्रतिबद्धता स्वजनादिषु इति पदपञ्चकं, 'पसत्थं'ति प्रशस्तं साधूनां ज्ञेयं, 'कंखापओसे'त्ति काङ्क्षा–दर्शनान्तरग्रहः सैव प्रकृष्टो दोषः कांक्षाप्रदोषः काङ्क्षाप्रद्वेषौ वा रागद्वेषावित्यर्थः, 'अण्णउत्थियाणं'ति (सू० ७६) अन्ययूथं–विवक्षितसङ्घादपरः सङ्घः, तदस्ति येषां ते अन्ययूथिकाः–तीर्थान्तरीयाः एवमारव्यान्ति सामान्यतः, भाषन्ते विशेषतः, पन्नविंति–उपपत्तिभिः 'परूविं'त्ति भेदकथनतः, द्वयोर्जीवयोरेकस्य वा समयभेदेन आयुर्द्वयकरणे नास्ति विरोध इत्युक्तम्–'एगे जीवे'इत्यादि, 'आहंसु'त्ति उक्तवन्तः, मिथ्यात्वं चास्यैवं–एकेनाध्यवसायेन विरुद्धयोरायुषोर्बन्धायोगात्, यतो जातमात्रो जीव इहभवायुर्वेदयते, तदैव तेन यदि परभवायुर्बद्धं तदा दानाध्ययनादीनां वैयर्थ्यं स्यादिति, 'तेणं'ति(सू० ७७)पासावच्चिज्जा' पार्श्वापत्यानां–पार्श्वशिष्याणां अयं पार्श्वापत्यीयः 'थेरे'त्ति श्रीमहावीरशिष्याः, 'सामाइयं'ति समभावरूपं न जानन्ति, सूक्ष्मत्वात्, 'के मे'त्ति किं भवतामिति, 'आयाणे'त्ति आत्मा नः

१ शतके ९ उद्देशः

॥३८॥

अस्माकं मते सामायिकं, यदाह–'जीवो गुणपडिवण्णो नयस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं'ति, सामायिकार्थोऽपि जीव एव, कर्म्मानुपादानादीनां जीवगुणत्वात्, जीवाव्यतिरिक्तत्वात् तद्गुणानां,एवं प्रत्याख्यानाद्यवगन्तव्यं।'जइ भे'त्ति यदि भवतां हे आर्याः! सामायिकमात्मा तदा 'अवहट्टु'त्ति अपहृत्य–त्यक्त्वा क्रोधादीन् किमर्थं गर्हध्वं 'निंदामि गरिहामी'ति वचनात्, अत्रोत्तरं—संयमार्थं 'गरहा संजमे'त्ति अवद्ये गर्हिते संयमः स्यात्, अवद्यानुमतिव्यवच्छेदनात्,'गरहाविय'त्ति गर्हैव, 'सव्वं दोसं'ति रागादिकं दोषं पूर्वकृतं पापं द्वेषं वा प्रविनयति–क्षपयति, 'सव्ववालियं'ति बाल्यं बालतां मिथ्यात्वं वा अविरतिं च 'परिण्णाय'त्ति परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यायेति, 'एवं खु'त्ति एवमेव 'णे'त्यस्माकं 'आया संजमे'त्ति आत्मा संयमे 'उवहिए'त्ति उपहितो–न्यस्तः स्यात्, 'उवचिए'त्ति उपचितः पुष्टः, 'उवट्ठिए'त्ति उपस्थितो भवति, अत्यन्तावस्थायी स्यात्, 'पुव्विं'ति पूर्वं 'अदिट्ठाणं'ति कथं अदृष्टानामित्यादिना सर्वत्र सम्बन्धः, 'अणभिगमेणं' विस्तरबोधाभावेन 'असुयाणं'ति अश्रुतानां अन्यतः, 'अमुयाणं'ति अस्मृतानां, दर्शनाकर्णनाभावेन, 'अव्वोकडाणं'ति अव्याकृतानां, गुरुभिरनाख्यातानां, 'अव्वोच्छिन्नाणं'ति विपक्षादव्यवच्छेदितानां, 'अणिज्जूढाणं'ति महाग्रन्थात् सङ्क्षेपनिमित्तं गुरुभिरनुद्धृतानां 'अणुवधारियाणं'ति अनुपधारितानां अनवधारितानां वा 'नो सद्दहिए'त्ति न श्रद्धितः 'नो पत्तिए'त्ति न प्रीतः—प्रीतिविषयीकृतः, न रोचितः, अप्रत्ययतो वा न चिकीर्षितः, 'लद्धावलद्धि'त्ति लब्धं–लाभो अलब्धं–अलाभो लब्धावलब्धिः 'गामकंटय'त्ति ग्रामो–इन्द्रियसमूहस्तस्य कण्टका इव कण्टका–बाधकाः शत्रवो वा ग्रामकण्टकाः॥ कालास्यवैशिकपुत्रः प्रत्याख्यानक्रियया सिद्ध इति 'सेट्ठिस्स'त्ति (सू. ७८) श्रीदेवताश्रितसौवर्णपट्टविभूषितशिरोवेष्टनयुक्तपौरलोकनायकस्य, तनुकस्य—

१ शतके ९ उद्देशः

श्रीभगवतीसूत्रम्

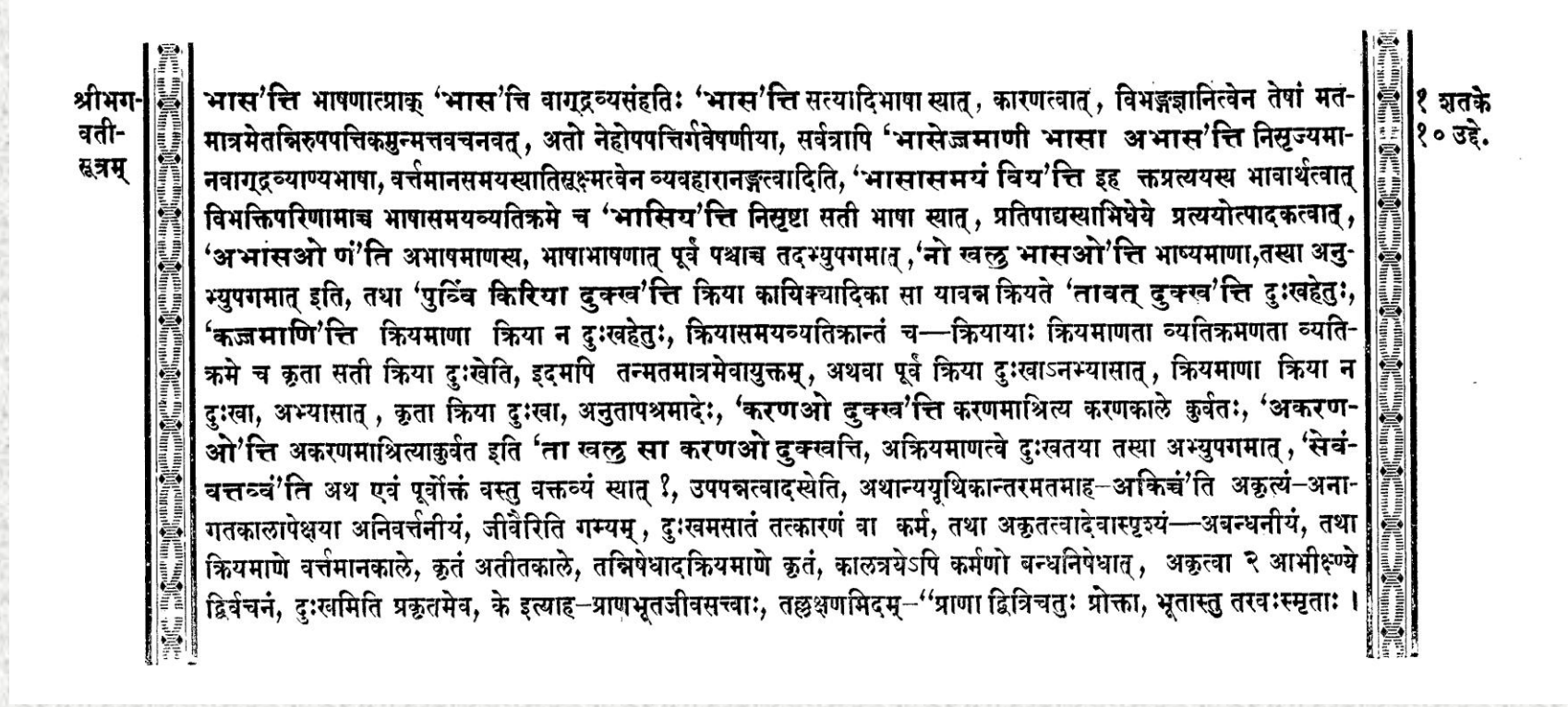
दरिद्रस्य 'किविण'त्ति रङ्कस्य कृपणस्य वा, 'अपच्चक्खाण'त्ति अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते, अविरतिं प्रतीत्य सर्वेषां समैव—सदृशीत्युत्तरं। 'आहाकम्मे'त्यादि (सू. ७९) आधया—साधुविकल्पेन यत् सचेतनमचेतनं क्रियते चीयते गृहादिकं व्यूयते वस्त्रादिकं। 'अथिरे पलोट्टइ'त्ति (सू. ८०) अस्थिरं द्रव्यं लोष्टादि प्रलोटति—परावर्त्तते, अध्यात्मचिन्तायां तु जीवप्रदेशेभ्योऽस्थिरं कर्म, तस्य प्रतिसमयं चलनेनास्थिरत्वात्, प्रलोटति—बन्धोदयनिर्जरणादिपरिणामैः परिवर्त्तते, 'थिरे ण पलोट्टइ' स्थिरं शिलादि न प्रलोटति, अवस्थितत्वात्, तथा अस्थिरं—भङ्गुरस्वभावं तृणादि भज्यते, एवं कर्मक्षयेऽपि अस्थिरं कर्म तद्भज्यते—व्यपैति, तथा स्थिरम्—अभङ्गुरं अयःशलाकादि न भज्यते, एवमध्यात्मचिन्तायां स्थिरो—जीवः स च न भज्यते, शाश्वतत्वादिति, जीवप्रस्तावादिदमाह—'सासए बालए'त्ति बालको व्यवहारतः शिशुः, निश्चयतोऽसंयतो जीवः, स च शाश्वतो द्रव्यत्वात्, 'बालियत्तं'ति इह इकप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वात् बालत्वं व्यवहारतः शिशुत्वं निश्चयतोऽसंयतत्वं तदशाश्वतं, पर्यायत्वादिति, एवं पण्डितसूत्रमपि, नवरं पण्डितो व्यवहारेण शास्त्रज्ञो जीवः, निश्चयतस्तु संयत इति ॥ प्रथमशते नवमोद्देशकविवरणम् १—९॥

'अन्नउत्थिया णं'ति (सू. ८१) 'चलमाणे अचलिए'त्ति चलत्कर्म अचलितं, तेन चलितकार्याकरणात्, वर्त्तमानस्यातीततया व्यपदेष्टुमशक्यत्वात्, एवमग्रेऽपि वाच्यं, 'एगयओ न साहण्णंति'त्ति एकतः—एकत्वेन एकस्कन्धतया वा न संहन्यंति—न संहतौ स्याताम्, 'नत्थि सिणेहकाए'त्ति नास्ति स्नेहपर्यवराशिः, सूक्ष्मत्वात्, त्र्यादियोगे तु स्थूलत्वात् सोऽस्ति, 'दुक्खत्ताए कज्जंति'त्ति पञ्च पुद्गलाः संहत्य दुःखतया—कर्मतया क्रियन्ते, भवन्ति इत्यर्थः, 'दुक्खेऽवि य णं'ति कर्म्मापि च 'से'त्ति तत् शाश्वतमनादित्वात्, 'सय'त्ति सदा 'समियं'ति सम्यक् समितं वा चीयते—चयं याति, अपचीयते—अपचयं याति, 'पुढिंव

१ शतके ९ उद्देशः

॥३९॥

अत्र शतक-१, उद्देषक: ९ समाप्त:, अथ शतक-१ उद्देषक: १० आरब्ध:



श्रीभगवतीसूत्रम्

भास'त्ति भाषणात्प्राक् 'भास'त्ति वाग्द्रव्यसंहतिः 'भास'त्ति सत्यादिभाषा स्यात्, कारणत्वात्, विभङ्गज्ञानित्वेन तेषां मतमात्रमेतन्निरुपपत्तिकमुन्मत्तवचनवत्, अतो नेहोपपत्तिर्गवेषणीया, सर्वत्रापि 'भासेज्जमाणी भासा अभास'त्ति निसृज्यमानवाग्द्रव्याण्यभाषा, वर्त्तमानसमयस्यातिसूक्ष्मत्वेन व्यवहारानङ्गत्वादिति, 'भासासमयं विय'त्ति इह क्तप्रत्ययस्य भावार्थत्वात् विभक्तिपरिणामाच्च भाषासमयव्यतिक्रमे च 'भासिय'त्ति निसृष्टा सती भाषा स्यात्, प्रतिपाद्यस्याभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वात्, 'अभासओ णं'ति अभाषमाणस्य, भाषाभाषणात् पूर्वं पश्चाच्च तदभ्युपगमात्,'नो खलु भासओ'त्ति भाष्यमाणा,तस्या अनभ्युपगमात् इति, तथा 'पुव्विं किरिया दुक्ख'त्ति क्रिया कायिक्यादिका सा यावन्न क्रियते 'तावत् दुक्ख'त्ति दुःखहेतुः, 'कज्जमाणि'त्ति क्रियमाणा क्रिया न दुःखहेतुः, क्रियासमयव्यतिक्रान्तं च—क्रियायाः क्रियमाणता व्यतिक्रमणता व्यतिक्रमे च कृता सती क्रिया दुःखेति, इदमपि तन्मतमात्रमेवायुक्तम्, अथवा पूर्वं क्रिया दुःखाऽनभ्यासात्, क्रियमाणा क्रिया न दुःखा, अभ्यासात्, कृता क्रिया दुःखा, अनुतापश्रमादेः, 'करणओ दुक्ख'त्ति करणमाश्रित्य करणकाले कुर्वतः, 'अकरणओ'त्ति अकरणमाश्रित्याकुर्वत इति 'ता खलु सा करणओ दुक्खत्ति, अक्रियमाणत्वे दुःखतया तस्या अभ्युपगमात्, 'सेवं वत्तव्वं'ति अथ एवं पूर्वोक्तं वस्तु वक्तव्यं स्यात् ?, उपपन्नत्वादस्येति, अथान्ययूथिकान्तरमतमाह–अकिच्चं'ति अकृत्यं–अनागतकालापेक्षया अनिवर्त्तनीयं, जीवैरिति गम्यम्, दुःखमसातं तत्कारणं वा कर्म, तथा अकृतत्वादेवास्पृश्यं—अबन्धनीयं, तथा क्रियमाणे वर्त्तमानकाले, कृतं अतीतकाले, तन्निषेधादक्रियमाणे कृतं, कालत्रयेऽपि कर्मणो बन्धनिषेधात्, अकृत्वा २ आभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनं, दुःखमिति प्रकृतमेव, के इत्याह–प्राणभूतजीवसत्त्वाः, तल्लक्षणमिदम्–"प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवःस्मृताः ।

१ शतके १० उद्दे.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [८१]

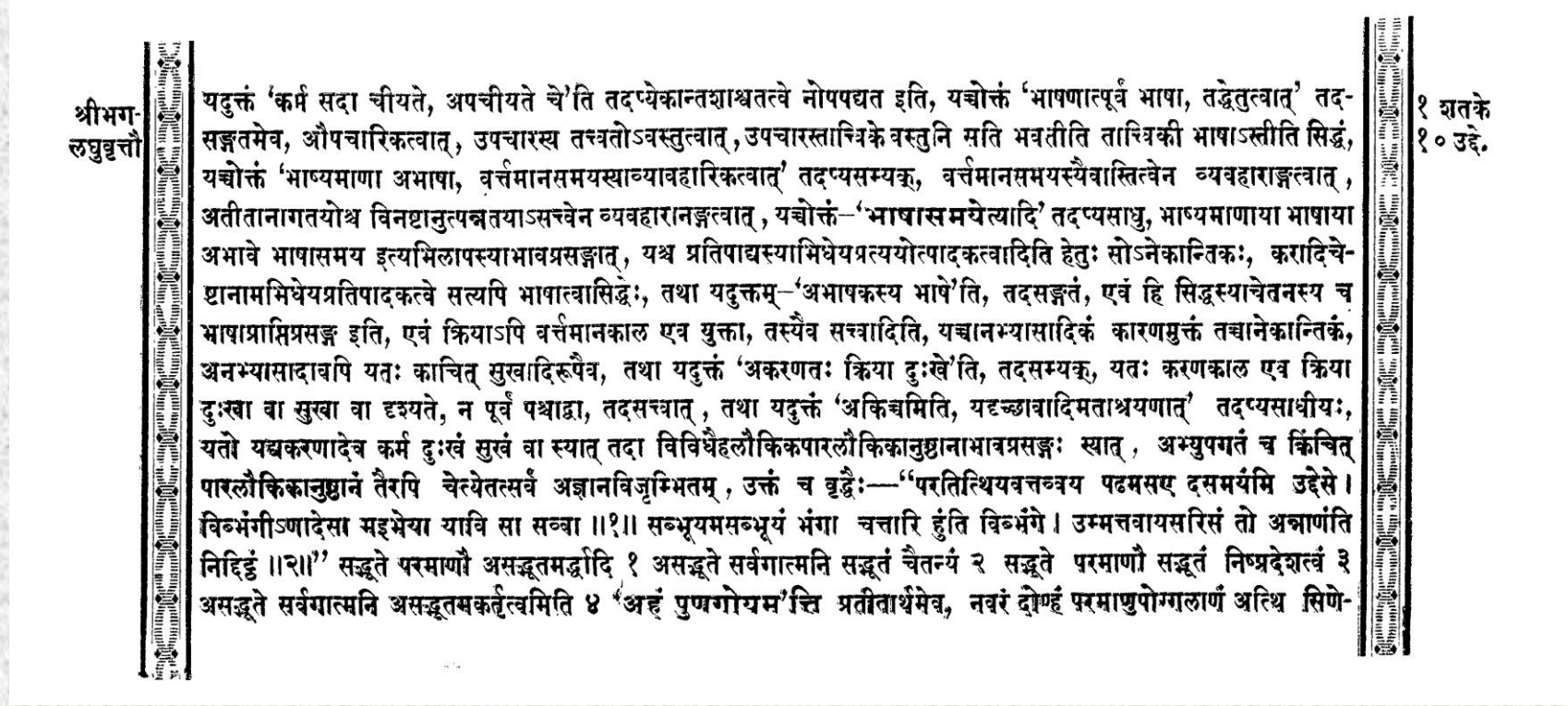
दीप अनुक्रम [१०२]

श्रीभगवतीसूत्रम्

जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ॥१॥" 'वेयणं'ति शुभाशुभकर्मवेदनां पीडां वा वेदयन्ति–अनुभवन्ति, इत्येतद् वक्तव्यं स्यात्?, एतस्यैवोपपद्यमानत्वात्, यादृच्छिकं लोके सर्वं सुखदुःखमिति, यतः–"अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम्। काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः॥१॥" 'से कहमेयं'ति अथ कथमेतत्? भदन्त!, एवमन्ययूथिकन्यायेनेति प्रश्नः, 'जण्णं ते अण्णउत्थिए' इत्याद्युक्तं, मिथ्या चैतदेवं–यदि चलदेव प्रथमसमये चलितं न स्यात् तदा द्वितीयादिष्वपि तदचलितमेवेति न कदापि चलेद्, अत एव वर्त्तमानस्यापि विवक्षया अतीतत्वं न विरुद्धं, यच्चोच्यते–'चलितकार्याकरणादचलितमेवे'ति तदयुक्तं, यतः प्रतिक्षणमुत्पद्यमानस्थासकोशादिवस्तुष्वंत्यक्षणभावि वस्तु आद्यक्षणे स्वकार्यं न कुर्यात्, असत्त्वात्, अतो यदन्त्यसमये चलितं कार्यं विवक्षितं परेण तदाद्यसमये चलितं यदि न कुर्यात् तदा कइव दोषोऽत्र?, कारणानां स्वस्वकार्यकरणस्वभावत्वादिति, यच्चोक्तम् 'द्वौ परमाणू न संहन्येते, सूक्ष्मतया, स्नेहाभावात्', तदयुक्तं, एकस्यापि परमाणोः स्नेहसम्भवात्, सार्द्धपुद्गलस्य संहतत्वेन तैरेवाभ्युपगमात्, यत उक्तम्–"तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, ते भिज्जमाणा दुहावि तिहावि कज्जंति, दुहो कज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे'त्ति अनेन हि सार्द्धपुद्गलस्य संहतत्वाभ्युपगमेन तस्य स्नेहोऽभ्युपगत एव, अतः कथं परमाण्वोः स्नेहाभावेन सङ्घातीभावः, यच्चोक्तम्–'एकतःसार्द्धं' एतदप्यचारु, परमाणोरर्धीकरणे परमाणुत्वाभावप्रसङ्गात्, तथा यदुक्तं 'पञ्च पुद्गलाः संहताः कर्मतया स्युः', तदप्यसङ्गतं, कर्मणोऽनन्तपरमाणुमयानन्तस्कन्धरूपत्वात्, तथा कर्म जीवावरणस्वभावमिष्यते, तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्कन्धमात्ररूपं सदसङ्ख्यातप्रदेशात्मकं जीवमावृणुयादिति, तथा यदुक्तं 'कर्म शाश्वतं' तदप्यसङ्गतं, कर्मणः शाश्वतत्वे तत्क्षयोपशमाद्यभावेन ज्ञानादीनां हानेरुत्कर्षस्य चाभावप्रसङ्गात्, दृश्येते ज्ञानादिहानिवृद्धी, तथा

१ शतके १० उद्दे.

॥४०॥



श्रीभग-लघुवृत्तौ

यदुक्तं 'कर्म सदा चीयते, अपचीयते चे'ति तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यत इति, यच्चोक्तं 'भाषणात्पूर्वं भाषा, तद्धेतुत्वात्' तदसङ्गतमेव, औपचारिकत्वात्, उपचारस्य तत्त्वतोऽवस्तुत्वात्, उपचारस्ताात्त्विके वस्तुनि सति भवतीति तात्त्विकी भाषाऽस्तीति सिद्धं, यच्चोक्तं 'भाष्यमाणा अभाषा, वर्त्तमानसमयस्याव्यावहारिकत्वात्' तदप्यसम्यक्, वर्त्तमानसमयस्यैवास्तित्वेन व्यवहाराङ्गत्वात्, अतीतानागतयोश्च विनष्टानुत्पन्नतयाऽसत्त्वेन व्यवहारानङ्गत्वात्, यच्चोक्तं–'भाषासमयेत्यादि' तदप्यसाधु, भाष्यमाणाया भाषाया अभावे भाषासमय इत्यभिलापस्याभावप्रसङ्गात्, यश्च प्रतिपाद्यस्याभिधेयप्रत्ययोत्पादकत्वादिति हेतुः सोऽनेकान्तिकः, करादिचेष्टानामभिधेयप्रतिपादकत्वे सत्यपि भाषात्वासिद्धेः, तथा यदुक्तम्–'अभाषकस्य भाषे'ति, तदसङ्गतं, एवं हि सिद्धस्याचेतनस्य च भाषाप्राप्तिप्रसङ्ग इति, एवं क्रियाऽपि वर्त्तमानकाल एव युक्ता, तस्यैव सत्त्वादिति, यच्चानभ्यासादिकं कारणमुक्तं तच्चानेकान्तिकं, अनभ्यासादावपि यतः काचित् सुखादिरूपैव, तथा यदुक्तं 'अकरणतः क्रिया दुःखे'ति, तदसम्यक्, यतः करणकाल एव क्रिया दुःखा वा सुखा वा दृश्यते, न पूर्वं पश्चाद्वा, तदसत्त्वात्, तथा यदुक्तं 'अकिंचमिति, यदृच्छावादिमताश्रयणात्' तदप्यसाधीयः, यतो यद्यकरणादेव कर्म दुःखं सुखं वा स्यात् तदा विविधैहलौकिकपारलौकिकानुष्ठानाभावप्रसङ्गः स्यात्, अभ्युपगतं च किंचित् पारलौकिकानुष्ठानं तैरपि चेत्येतत्सर्वं अज्ञानविजृम्भितम्, उक्तं च वृद्धैः—"परतित्थियवत्तव्वय पढमसए दसमयंमि उद्देसे। विब्भंगीऽणादेसा मइभेया यावि सा सव्वा ॥१॥ सब्भूयमसब्भूयं भंगा चत्तारि हुंति विब्भंगे। उम्मत्तवायसरिसं तो अन्नाणंति निद्दिट्ठं ॥२॥" सद्भूते परमाणौ असद्भूतमर्द्धादि १ असद्भूते सर्वगात्मनि सद्भूतं चैतन्यं २ सद्भूते परमाणौ सद्भूतं निष्प्रदेशत्वं ३ असद्भूते सर्वगात्मनि असद्भूतमकर्तृत्वमिति ४ 'अहं पुण्णगोयम'त्ति प्रतीतार्थमेव, नवरं दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणे-

१ शतके १० उद्दे.

श्रीभग-लघुवृत्तौ

हकाएत्ति एकस्यापि परमाणोः शीतोष्णस्निग्धरूक्षस्य स्पर्शानामन्यतरदविरुद्धं स्पर्शद्वयमेकदैवास्ति, ततश्च द्वयोरपि तयोः स्निग्धत्वभावात् स्नेहकायोऽस्त्येव, ततस्तौ विषमस्नेहात् संहन्येते, इदं च परमतानुवृत्त्योक्तं, अन्यथा रूक्षावपि रूक्षत्ववैषम्ये संहन्येते एव, यदाह–"समनिद्धयाइ बन्धो, न होइ समलुक्खयाइवि न होइ। वेमायनिद्धलुक्खत्तणेण बंधो उ खंधाणं ॥१॥"ति,'खंधेऽवि य णं से असासए'त्ति उपचयापचयिकत्वाद्, अत एवाह–'सया समिय'मिति,'पुव्विं भासा अभास'त्ति भाष्यत इति भाषा, भाषणाच्च पूर्वं न भाष्यत इति न भाषा, 'भासिज्जमाणी'ति शब्दार्थोपपत्तेः, 'भासिया अभास'त्ति शब्दार्थवियोगात्, 'पुव्विं किरिय'त्ति करणात्पूर्वं क्रियैव नास्तीति, असत्त्वादेव न दुःखा, सुखापि नासावसत्त्वादेव, केवलं परमतानुवृत्त्या अदुःखेति उक्तं, 'जहा भास'त्ति वचनात्, 'कज्जमाणी किरिया दुःखा सत्त्वात्, इहापि यत् क्रिया दुःखेत्युक्तं तत्परमतानुवृत्त्यैव, अन्यथा सुखापि क्रियमाणैव क्रिया, तथा 'किरियासमयविइक्कंतं च ण'मिति दृश्यं च। 'किच्चं दुक्ख'मित्यनेन कर्मसत्ताऽऽवेदिता, प्रमाणसिद्धत्वादस्य, तथाहि—यद् द्वयोरिष्टशब्दादिविषयसुखसाधनसमेतयोरेकस्य दुःखलक्षणं फलमन्यस्येतरत् तत् न विशिष्टहेतुमन्तरेण सम्भाव्यते, कार्यत्वात्, घटवद्, यश्चासौ विशिष्टो हेतुः स कर्मेति, आह च–"जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं। कज्जत्तणओ गोयम! घडुव्व हेऊ य से कम्मं ॥१॥"ति, पुनरप्यन्ययूथिकमतान्तरमुपदिशन्नाह–'इरियावहि'त्ति (सू. ८२) ईर्या गमनं तद्विषयः पन्था ईर्यापथः तत्र भवा ऐर्यापथिकी–केवलयोगप्रत्ययः कर्मबन्ध इति, 'संपराइय'त्ति संपरैति–परिभ्रमति प्राणी भवे एभिरिति सम्परायः(या)-कषायाः तत्प्रत्यया या सा साम्परायिकी–कषायहेतुः कर्मबन्ध इति, 'परउत्थियवत्तव्वं णेयव्वं'ति इह सूत्रे अन्यतीर्थिकवक्तव्यं स्वयं वाच्यं,तच्चेदम्–"जंसमयं संपराइयं पकरेइ तंस-

२ शतके १ उद्देशः

॥४१॥

मयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहियाए पकरणयाए संपराइयं पक०, संपराइयपकरणयाए इरिया० प०, एवं खलु एगेणं सम-एणं दो किरियाओ पकरेइ, तंजहा–इरियावहियं संपराइयं चे'ति, **'सस्समयवत्तव्वयाए णेयव्वं'** सूत्रमिति गम्यम् , सा चैवम्– 'से कहमेयं भंते! एवं?, गौतमा! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति ४ जाव संपराइयं चे'ति, जे ते एवमाहंसु मिच्छं त ए०, अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि ४–एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ' इत्यादि, पूर्वोक्तानुसारेणाध्येयमिति, मिथ्यात्वं चास्यैवं–ऐर्यापथिकी क्रिया अकषायोदयप्रभवा इतरा तु कषायप्रभवा इति कथमेकस्यैकदा तयोः सम्भवो, विरोधा-दिति, अथ क्रियावतां जीवानामुत्पादविरहप्ररूपणायाह—**'निरयगई'** (सू. ८३) इत्यादि **'वक्कंतीपय'**न्ति व्युत्क्रान्तिः–जीवा-नामुत्पादस्तदर्थं पदं व्युत्क्रान्तिपदं, तच्च प्रज्ञापनायां षष्ठम्, तच्चार्थलेशत एवं द्रष्टव्यम् , पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवगतौ उत्कर्षतो १२ मुहूर्त्ताः, जघन्यत एकसमय उत्पादविरहकालः, 'चउवीसइ मुहुत्ता १ सत्त अहोरत्त २ तह य पन्नरस ३ मासो य ४ दो य ५ चउरो ६ छम्मासा विरहकालो य॥१॥उक्कोसो रयणाइसु सव्वासु जहन्नओ भवे समओ। एमेव य ओवट्टण संख पुण सुरवरुत्तुल्ला (०रेहिं समा) ॥ २ ॥" सा चेयम्—एगो य दो य तिण्णि य संख असंखा व एगसमएणं । उववज्जंतेवइया उव्वट्टंतावि एमेव ॥३॥ तिर्यग्गतौ न विरहकालो, यद्वा भिन्नमुहुत्तो विगलिंदियाण संमुच्छिमाण य तहेव। बारस मुहुत्त गब्भे उक्कोस जहन्नओ समओ ॥४॥" एकेन्द्रियाणां तु विरह एव नास्ति, मनुष्येषु–'बारस मुहुत्त गब्भे मुहुत्त संमुच्छिमे चउव्वीसं । उक्कोस विरहकालो दोसु-वि य जहन्नओ समओ ॥५॥ देवेषु—"भवणवणजोइसोहम्मीसाणे चउवीसइ मुहुत्ता । उक्कोस विरहकालो पंचसुवि जहण्णओ समओ ॥६॥ नव दिण वीसमुहुत्ता ३ बारस दस चेव दिण मुहुत्ताओ ४। बावीसा अद्धंचिय ५ पणयाल ६ असीइ ७ दिवससयं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [८३]

दीप अनुक्रम [१०४]

॥७॥ संखेज्ज मास आणय ९ पाणएसु १० तह आरण ११ चुए १२ वासा। संखिज्जा विण्णेया, गेविज्जेसुं अओ वुच्छं ॥८॥ हेट्ठिमे वाससयाइं मज्झे सहस्साइं उवरिमे लक्खा। संखिज्जा विण्णेया जया जहा(ते जह)संखेण तीसुंपि ॥९॥ पलिया असंखभागो, उक्कोसो होइ विरहकालो य। विजयाइसु निद्दिट्ठो सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥ १० ॥ उववायविरहकालो इय एसो वण्णिओ य देवाणं। उव्वट्टणावि एवं सव्वेसुवि होइ विण्णेया ॥११॥ जहण्णेणेगसमओ, उक्कोसेणं तु होइ छम्मासा। विरहो सिद्धिगईए उव्वट्टणवज्जिया नियम ॥१२॥" त्ति ॥ इति प्रथमशते दशमोद्देशकविवरणम् ॥

॥ विवाहप्रज्ञप्त्यङ्गवृत्तौ प्रथमशतविवरणं सम्पूर्णम् ॥

व्याख्यातं प्रथमशतम्, अथ द्वितीयं व्याख्यायते–'जे इमे' (सू. ८४) इत्यादि, यद्यप्येकेन्द्रियाणां आगमादिप्रमाणाज्जीवत्वं प्रतीयते, तथापि तदुच्छ्वासादीनां साक्षादनुपलम्भात् जीव(च्छ)शरीरस्य च निरुच्छ्वासादेरपि कदाचिद्दर्शनात् पृथिव्यादिषूच्छ्वासादिशङ्का स्यादिति तन्निरासाय सूत्रमिदं ज्ञातव्यं, उच्छ्वासादिद्रव्याणां स्वरूपनिर्णयाय प्रश्नयन्नाह–'किण्णं भंते' त्ति (सू. ८५) किमिति सामान्यनिर्देशात् कानि–किंविधानि द्रव्याणि इति 'आहारगमो नेयव्वो', प्रज्ञापनाष्टाविंशतितमाहारपादोक्तो ज्ञेयः, 'जीवेगिंदिय' त्ति जीवा एकेन्द्रियाः, 'वाघायनिव्वाघाय' त्ति व्याघातनिर्व्याघातवन्तो भणितव्याः, तद्यथा–पुढविकाइया णं भंते ! कइदिसं आणमंति पाणमंति ४ ?, गो० निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं' ति, इत्यादि, एवमप्कायादिष्वपि, तत्र निर्व्याघातेन षड्दिशि—षड् दिशो यत्रानमनादौ तत्तथा, व्याघातं प्रतीत्य स्यात्त्रिदिशं चतुर्दिशं पञ्चदिशं वा आनमंति, यतस्तेषां लोकान्तवृत्तावलोकेन व्यादिदिक्षूच्छ्वासादिपुद्गलानां व्याघातः संभवति, 'सेसा णियमा छद्दिसंति' शेषाः–नारकादित्रसाः

अत्र शतक-१, उद्देषकः १० समाप्तः, तत् समाप्ते शतक-१ अपि परिसमाप्तं

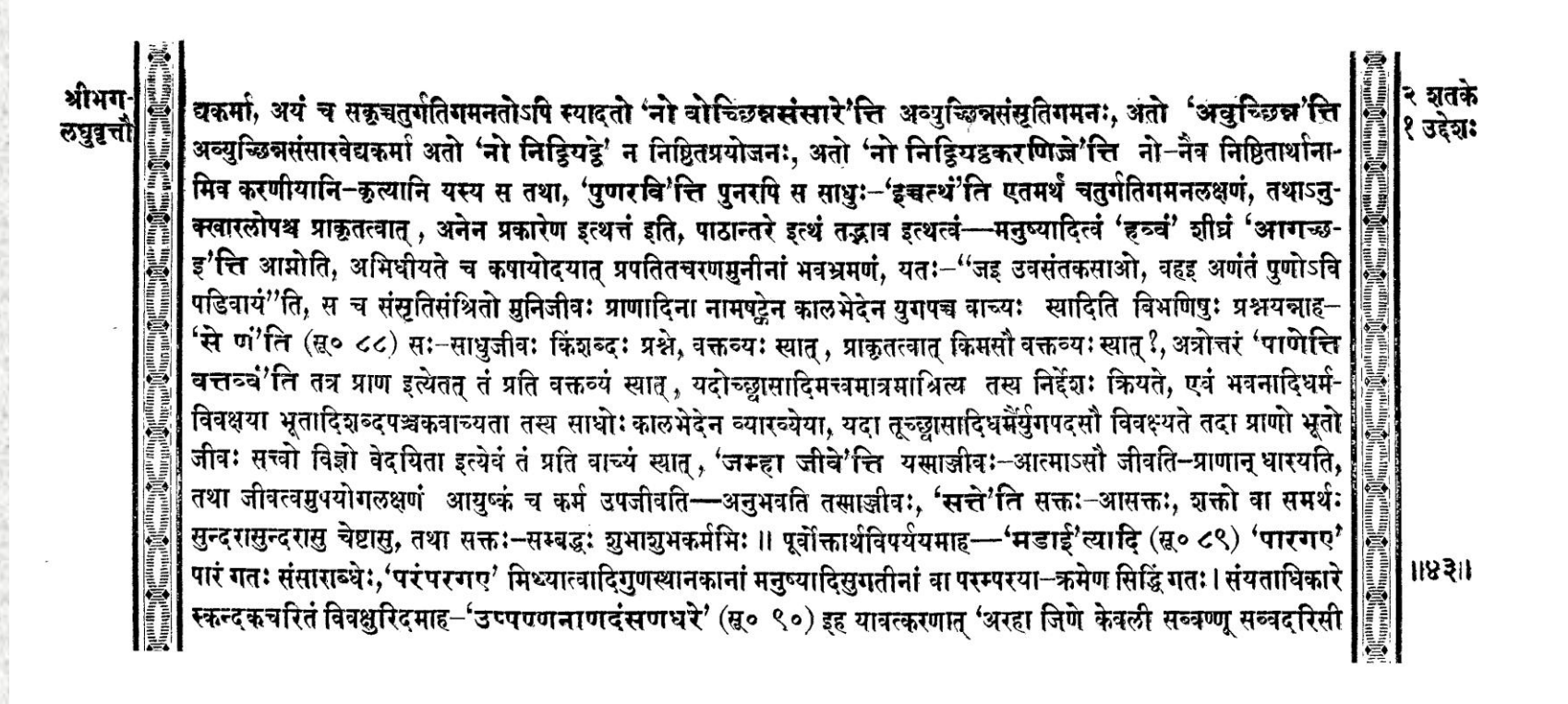
अथ शतक-२ आरभ्यते

शतक-२- उद्देशक : १ आरभ्यते

श्रीभग-लघुवृत्तौ

२ शतके १ उद्देशः

षड्दिशमानमन्ति, तेषां हि त्रसनाड्यन्तर्भूतत्वात्, अथैकेन्द्रियाणामुच्छ्वासादिभावादुच्छ्वासादेश्च वायुरूपत्वात् किं वायुकायानामपि उच्छ्वासादिना वायुना भवितव्यं उतान्येन केनापि पृथिव्यादीनामिव तद्विलक्षणेनेत्याशङ्कायां प्रश्नयन्नाह–'वाउयाए णं'ति(सू.८६) अथोच्छ्वासस्यापि वायुत्वादन्येनोच्छ्वासवायुना भाव्यं, तस्याप्यन्येन, एवमनवस्था, नैवं, अचेतनत्वात्तस्य, किञ्च–योऽयमुच्छ्वास-वायुः स वायुत्वेऽपि न वायुसम्भव्यौदारिकवैक्रियशरीररूपः, तदीयपुद्गलानामानप्राणसंज्ञितानामौदारिकवैक्रियशरीरपुद्गले-भ्योऽनन्तगुणप्रदेशत्वेन सूक्ष्मतया एतच्छरीराव्यपदेश्यत्वात्, तथा च सत्युच्छ्वासादीनामभाव इति नानवस्था, **'वाउकाए णं भंते'त्ति** अयं च प्रश्नो वायुकायप्रस्तावाद्विहितः, अन्यथा पृथिवीकायिकादीनामपि मृत्वा स्वकाये उत्पादोऽस्त्येव, सर्वेषामेषां कायस्थितेरसङ्ख्यातताऽनन्ततया चोक्तत्वात्, यदाह–"असंखोसप्पिणिसप्पिणीउ एगिंदियाण य चउण्हं। ता चेव ऊ अणंता वणस्सईए उ बोद्धव्वा ॥१॥" तत्र वायुकायो वायुकाये एव अनेकशतसहस्रकृत्वः 'उद्दाइत्त'ति अपहृत्य—मृत्वा **'तत्थेव'त्ति** तत्रैव वायौ **'पच्चायाइ'** प्रत्याजायते उत्पद्यते,**'पुढे उद्दाइ'** स्पृष्टः स्वकायपरकायशस्त्रेण अपद्रवति–म्रियते, **'नो अपुट्ठे'त्ति**, सोप-क्रमापेक्षमिदं, **'निक्खमइ'त्ति** निष्क्रामति स्वकलेवरात्, **'सिय ससरीरि'त्ति** स्यात्–कथञ्चिच्छरीरी,**'ओरालिय'त्ति** औदा-रिकवैक्रियापेक्षयाऽशरीरी तैजसकार्मणापेक्षया तु सशरीरी निष्क्रामति ॥ यथा वायोस्तथा कस्यापि मुनेरपि तत्रैवोत्पत्तिः स्यादिति दर्शयन्नाह–**'मडाई णं'ति** (सू. ८७) मृतादिः–प्रासुकभोजी निर्ग्रन्थः–साधुः **'नो निरुद्ध'त्ति** अनिरुद्धाग्रेतनजन्मा, चरमभवाप्राप्त इति, अयं च भवद्वयप्राप्तव्यमोक्षोऽपि स्यादित्याह–**'नो निरुद्धभवपवंचे'त्ति** प्राप्तव्यभवविस्तार इति, अयं च देवमनुष्यभवप्र-पञ्चापेक्षयाऽपि स्यादत आह– **'नो पहीण'त्ति** अप्रहीणचतुर्गतिगमनः, यत एवमतो **'नो पहीणसंसार'त्ति** अप्रक्षीणसंसारवे-

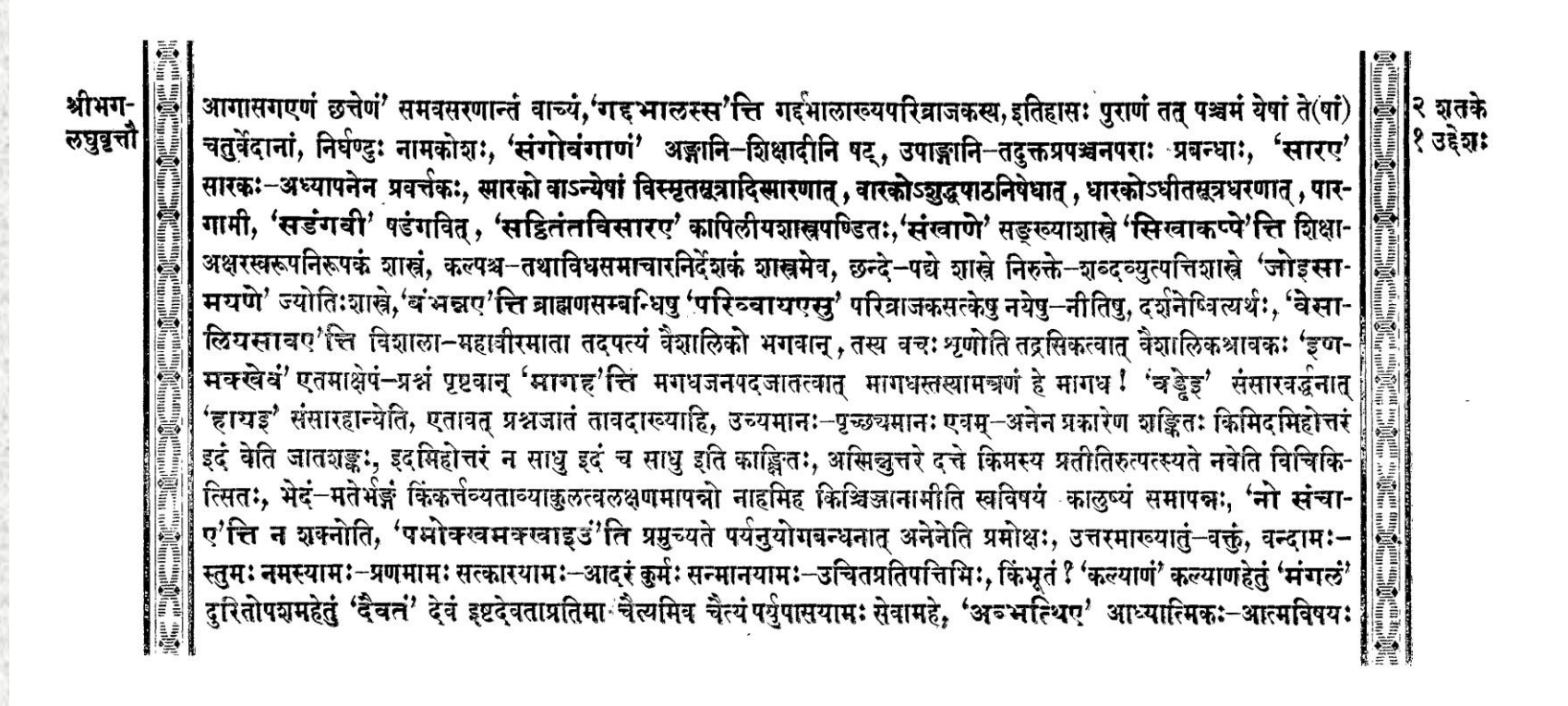


श्रीभग-लघुवृत्तौ

यकर्मा, अयं च सकृच्चतुर्गतिगमनतोऽपि स्यादतो 'नो वोच्छिन्नसंसारे'त्ति अव्युच्छिन्नसंसृतिगमनः, अतो 'अवुच्छिन्न'त्ति अव्युच्छिन्नसंसारवेद्यकर्मा अतो 'नो निट्ठियट्ठे' न निष्ठितप्रयोजनः, अतो 'नो निट्ठियट्ठकरणिज्जे'त्ति नो–नैव निष्ठितार्थानामिव करणीयानि–कृत्यानि यस्य स तथा, 'पुणरवि'त्ति पुनरपि स साधुः–'इच्चत्थं'ति एतमर्थं चतुर्गतिगमनलक्षणं, तथाऽनुक्वारलोपश्च प्राकृतत्वात्, अनेन प्रकारेण इत्थत्तं इति, पाठान्तरे इत्थं तद्भाव इत्थत्वं—मनुष्यादित्वं 'हव्वं' शीघ्रं 'आगच्छइ'त्ति आप्नोति, अभिधीयते च कषायोदयात् प्रपतितचरणमुनीनां भवभ्रमणं, यतः–"जइ उवसंतकसाओ, वहइ अणंतं पुणोऽवि पडिवायं"ति, स च संसृतिसंश्रितो मुनिजीवः प्राणादिना नामषट्केन कालभेदेन युगपच्च वाच्यः स्यादिति विभणिषुः प्रश्नयन्नाह–'से णं'ति (सू० ८८) सः–साधुजीवः किंशब्दः प्रश्ने, वक्तव्यः स्यात्, प्राकृतत्वात् किमसौ वक्तव्यः स्यात्?, अत्रोत्तरं 'पाणेत्ति वत्तव्वं'ति तत्र प्राण इत्येतत् तं प्रति वक्तव्यं स्यात्, यदोच्छ्वासादिमत्त्वमात्रमाश्रित्य तस्य निर्देशः क्रियते, एवं भवनादिधर्मविवक्षया भूतादिशब्दपञ्चकवाच्यता तस्य साधोः कालभेदेन व्याख्येया, यदा तूच्छ्वासादिधर्मैर्युगपदसौ विवक्ष्यते तदा प्राणो भूतो जीवः सत्त्वो विज्ञो वेदयिता इत्येवं तं प्रति वाच्यं स्यात्, 'जम्हा जीवे'त्ति यस्माज्जीवः–आत्माऽसौ जीवति–प्राणान् धारयति, तथा जीवत्वमुपयोगलक्षणं आयुष्कं च कर्म उपजीवति—अनुभवति तस्माज्जीवः, 'सत्ते'ति सक्तः–आसक्तः, शक्तो वा समर्थः सुन्दरासुन्दरासु चेष्टासु, तथा सक्तः–सम्बद्धः शुभाशुभकर्मभिः ॥ पूर्वोक्तार्थविपर्ययमाह—'सडाई'त्यादि (सू० ८९) 'पारगए' पारं गतः संसाराब्धेः,'परंपरगए' मिथ्यात्वादिगुणस्थानकानां मनुष्यादिसुगतीनां वा परम्परया–क्रमेण सिद्धिं गतः। संयताधिकारे स्कन्दकचरितं विवक्षुरिदमाह–'उप्पण्णनाणदंसणधरे' (सू० ९०) इह यावत्करणात् 'अरहा जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी

२ शतके १ उद्देशः

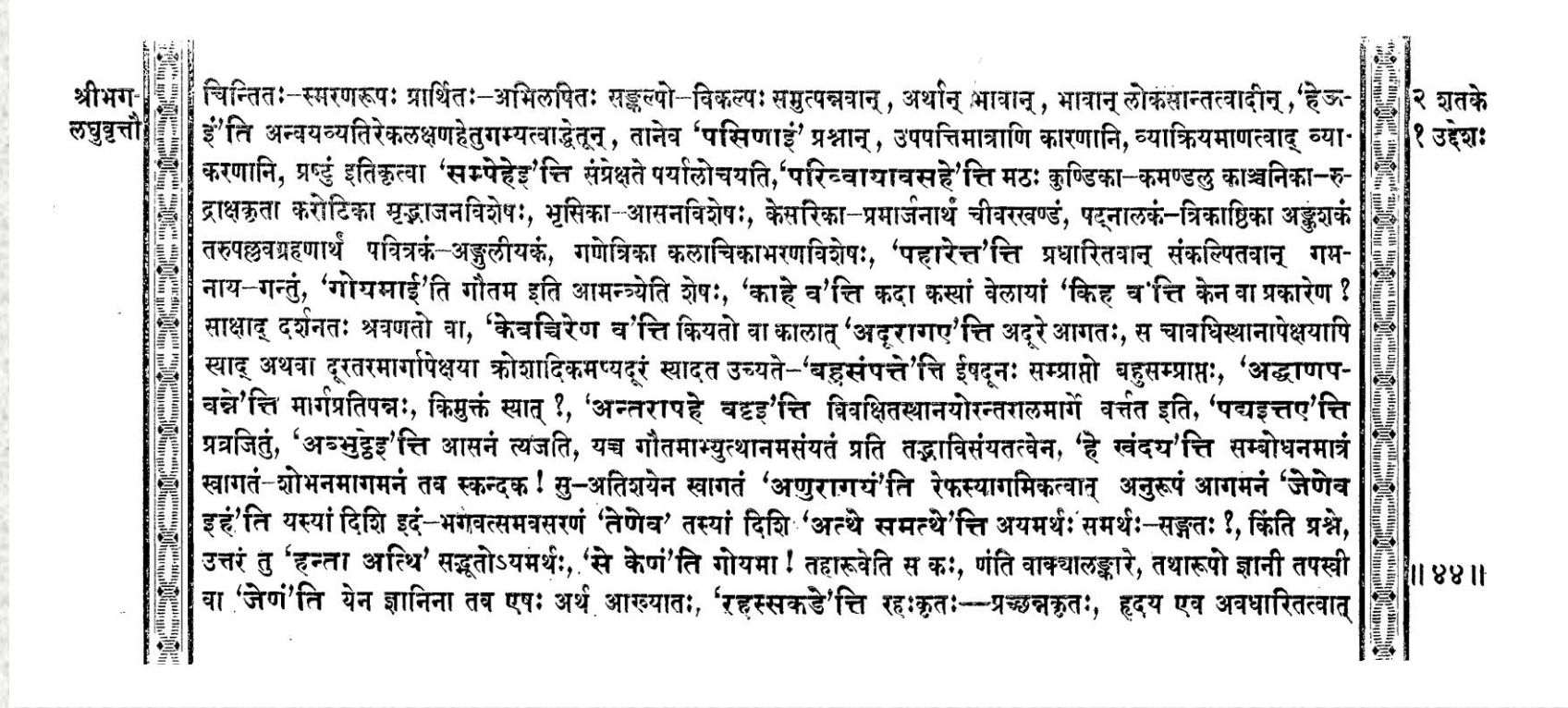
॥४३॥



श्रीभग-लघुवृत्तौ

आगासगएणं छत्तेणं' समवसरणान्तं वाच्यं,'गद्दभालस्स'त्ति गर्दभालाख्यपरिव्राजकस्य, इतिहासः पुराणं तत् पञ्चमं येषां ते(षां) चतुर्वेदानां, निर्घण्टुः नामकोशः, 'संगोवंगाणं' अङ्गानि–शिक्षादीनि षट्, उपाङ्गानि–तदुक्तप्रपञ्चनपराः प्रबन्धाः, 'सारए' सारकः–अध्यापनेन प्रवर्त्तकः, सारको वाऽन्येषां विस्मृतसूत्रादिस्मारणात्, वारकोऽशुद्धपाठनिषेधात्, धारकोऽधीतसूत्रधरणात्, पारगामी, 'सडंगवी' षडंगवित्, 'सट्ठितंतविसारए' कापिलीयशास्त्रपण्डितः,'संखाणे' सङ्ख्याशास्त्रे 'सिक्खाकप्पे'त्ति शिक्षाअक्षरस्वरूपनिरूपकं शास्त्रं, कल्पश्च–तथाविधसमाचारनिर्देशकं शास्त्रमेव, छन्दे–पद्ये शास्त्रे निरुक्ते–शब्दव्युत्पत्तिशास्त्रे 'जोइसामयणे' ज्योतिःशास्त्रे,'बंभन्नए'त्ति ब्राह्मणसम्बन्धिषु 'परिव्वायएसु' परिव्राजकसत्केषु नयेषु–नीतिषु, दर्शनेष्वित्यर्थः, 'वेसालियसावए'त्ति विशाला–महावीरमाता तदपत्यं वैशालिको भगवान्, तस्य वचः शृणोति तद्रसिकत्वात् वैशालिकश्रावकः 'इणमक्खेवं' एतमाक्षेपं–प्रश्नं पृष्टवान् 'मागह'त्ति मगधजनपदजातत्वात् मागधस्तस्यामन्त्रणं हे मागध! 'चलेइ' संसारवर्द्धनात् 'हायइ' संसारहान्येति, एतावत् प्रश्नजातं तावदाख्याहि, उच्यमानः–पृच्छ्यमानः एवम्–अनेन प्रकारेण शङ्कितः किमिदमिहोत्तरं इदं वेति जातशङ्कः, इदमिहोत्तरं न साधु इदं च साधु इति काङ्क्षितः, अस्मिन्नुत्तरे दत्ते किमस्य प्रतीतिरुत्पत्स्यते नवेति विचिकित्सितः, भेदं–मतेर्भङ्गं किंकर्त्तव्यताव्याकुलत्वलक्षणमापन्नो नाहमिह किञ्चिज्जानामीति स्वविषयं कालुष्यं समापन्नः, 'नो संचाएत्ति न शक्नोति, 'पमोक्खमक्खाइउं'ति प्रमुच्यते पर्यनुयोगबन्धनात् अनेनेति प्रमोक्षः, उत्तरमाख्यातुं–वक्तुं, वन्दामः–स्तुमः नमस्यामः–प्रणमामः सत्कारयामः–आदरं कुर्मः सन्मानयामः–उचितप्रतिपत्तिभिः, किंभूतं? 'कल्लाणं' कल्याणहेतुं 'मंगलं' दुरितोपशमहेतुं 'दैवतं' देवं इष्टदेवताप्रतिमा चैत्यमिव चैत्यं पर्युपासयामः सेवामहे, 'अब्भत्थिए' आध्यात्मिकः–आत्मविषयः

२ शतके १ उद्देशः

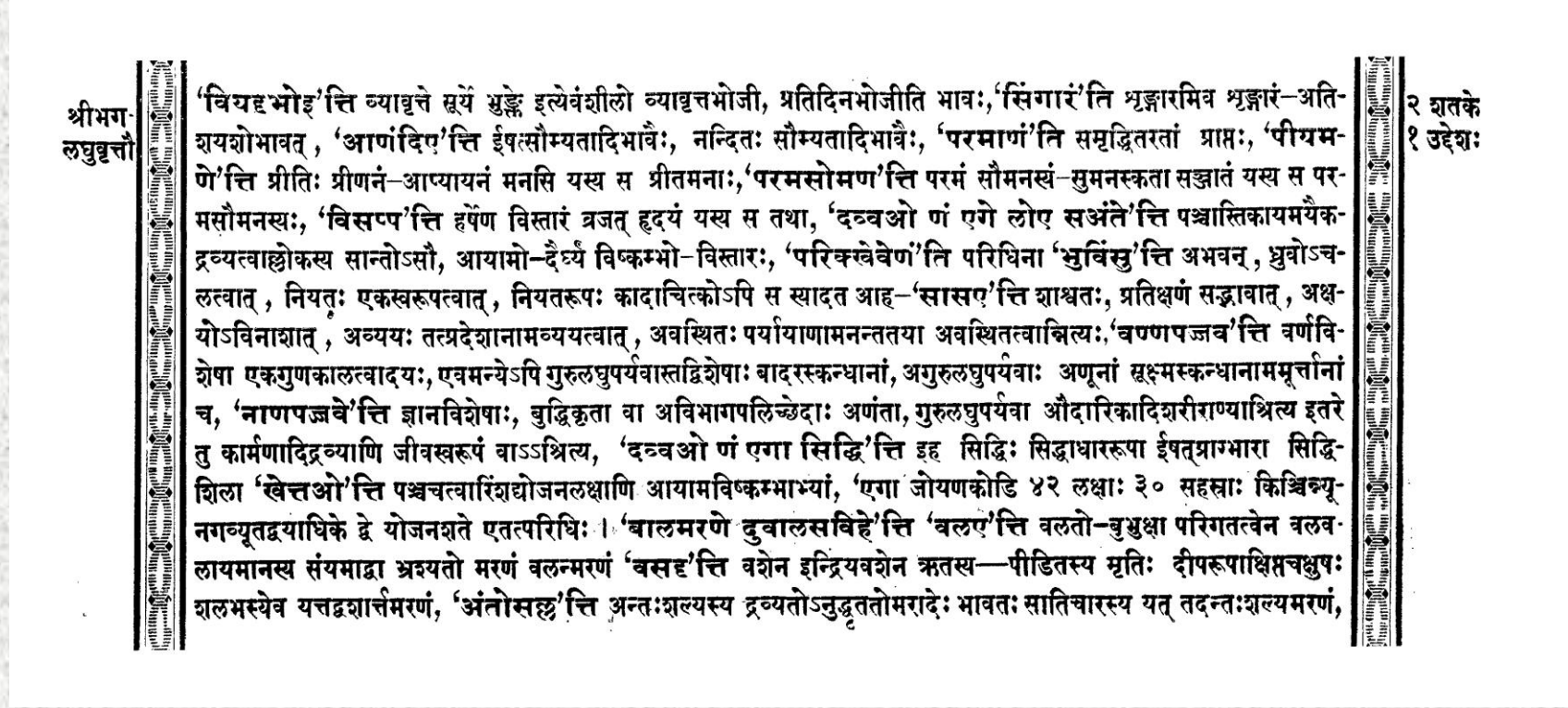


श्रीभग-लघुवृत्तौ

चिन्तितः–स्मरणरूपः प्रार्थितः–अभिलषितः सङ्कल्पो–विकल्पः समुत्पन्नवान्, अर्थान् भावान्, भावान् लोकसान्तत्वादीन्, 'हेऊ-इं'ति अन्वयव्यतिरेकलक्षणहेतुगम्यत्वाद्धेतून्, तानेव 'पसिणाइं' प्रश्नान्, उपपत्तिमात्राणि कारणानि, व्याक्रियमाणत्वाद् व्याकरणानि, प्रष्टुं इतिकृत्वा 'सम्पेहेइ'त्ति संप्रेक्षते पर्यालोचयति,'परिव्वायावसहे'त्ति मठः कुण्डिका–कमण्डलु काश्चनिका–रुद्राक्षकृता करोटिका मृद्भाजनविशेषः, भृसिका–आसनविशेषः, केसरिका–प्रमार्जनार्थं चीवरखण्डं, पट्टनालकं–त्रिकाष्ठिका अङ्कुशकं तरुपल्लवग्रहणार्थं पवित्रकं–अङ्गुलीयकं, गणेत्रिका कलाचिकाभरणविशेषः, 'पहारेत्त'त्ति प्रधारितवान् संकल्पितवान् गमनाय–गन्तुं, 'गोयमाई'ति गौतम इति आमन्त्र्येति शेषः, 'काहे व'त्ति कदा कस्यां वेलायां 'किह व'त्ति केन वा प्रकारेण ? साक्षाद् दर्शनतः श्रवणतो वा, 'केवच्चिरेण व'त्ति कियतो वा कालात् 'अदूरागए'त्ति अदूरे आगतः, स चावधिस्थानापेक्षयापि स्याद् अथवा दूरतरमार्गापेक्षया क्रोशादिकमप्यदूरं स्यादत उच्यते–'बहुसंपत्ते'त्ति ईषदूनः सम्प्राप्तो बहुसम्प्राप्तः, 'अद्धाणपवन्ने'त्ति मार्गप्रतिपन्नः, किमुक्तं स्यात् ?, 'अन्तरापहे वट्टइ'त्ति विवक्षितस्थानयोरन्तरालमार्गे वर्त्तत इति, 'पव्वइत्तए'त्ति प्रव्रजितुं, 'अब्भुट्ठेइ'त्ति आसनं त्यजति, यच्च गौतमाभ्युत्थानमसंयतं प्रति तद्भाविसंयतत्वेन, 'हे खंदय'त्ति सम्बोधनमात्रं स्वागतं–शोभनमागमनं तव स्कन्दक ! सु–अतिशयेन स्वागतं 'अणुरागयं'ति रेफस्यागमिकत्वात् अनुरूपं आगमनं 'जेणेव इहं'ति यस्यां दिशि इदं–भगवत्समवसरणं 'तेणेव' तस्यां दिशि 'अत्थे समत्थे'त्ति अयमर्थः समर्थः–सङ्गतः ?, किंति प्रश्ने, उत्तरं तु 'हन्ता अत्थि' सद्भूतोऽयमर्थः, 'से केणं'ति गोयमा ! तहारूवेति स कः, णंति वाक्यालङ्कारे, तथारूपो ज्ञानी तपस्वी वा 'जेणं'ति येन ज्ञानिना तव एषः अर्थ आख्यातः, 'रहस्सकडे'त्ति रहःकृतः–प्रच्छन्नकृतः, हृदय एव अवधारितत्वात्

२ शतके १ उद्देशः

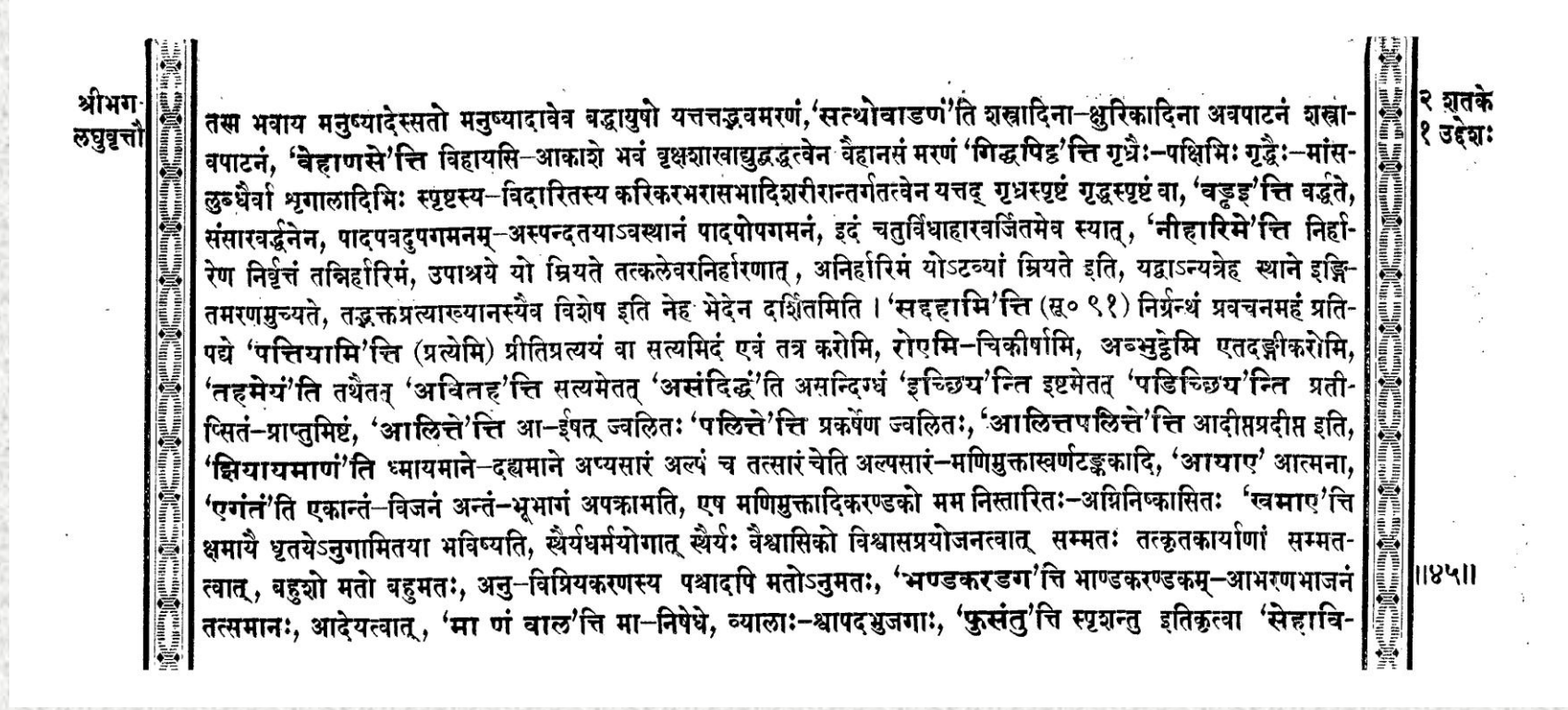
॥ ४४ ॥



श्रीभग-लघुवृत्तौ

'वियहभोइ'त्ति व्यावृत्ते सूर्ये भुङ्क्ते इत्येवंशीलो व्यावृत्तभोजी, प्रतिदिनभोजीति भावः,'सिंगारं'ति शृङ्गारमिव शृङ्गारं–अतिशयशोभावत्, 'आणंदिए'त्ति ईषत्सौम्यतादिभावैः, नन्दितः सौम्यतादिभावैः, 'परमाणं'ति समृद्धितरतां प्राप्तः, 'पीयमणे'त्ति प्रीतिः प्रीणनं–आप्यायनं मनसि यस्य स प्रीतमनाः,'परमसोमण'त्ति परमं सौमनस्यं–सुमनस्कता सञ्जातं यस्य स परमसौमनस्यः, 'विसप्प'त्ति हर्षेण विस्तारं व्रजत् हृदयं यस्य स तथा, 'दव्वओ णं एगे लोए सअंते'त्ति पञ्चास्तिकायमयैकद्रव्यत्वाल्लोकस्य सान्तोऽसौ, आयामो–दैर्घ्यं विष्कम्भो–विस्तारः, 'परिक्खेवेण'ति परिधिना 'भुविंसु'त्ति अभवन्, ध्रुवोऽचलत्वात्, नियतः एकस्वरूपत्वात्, नियतरूपः कादाचित्कोऽपि स स्यादत आह–'सासए'त्ति शाश्वतः, प्रतिक्षणं सद्भावात्, अक्षयोऽविनाशात्, अव्ययः तत्प्रदेशानामव्ययत्वात्, अवस्थितः पर्यायाणामनन्ततया अवस्थितत्वान्नित्यः,'वण्णपज्जव'त्ति वर्णविशेषा एकगुणकालत्वादयः, एवमन्येऽपि गुरुलघुपर्यवास्तद्विशेषाः बादरस्कन्धानां, अगुरुलघुपर्यवाः अणूनां सूक्ष्मस्कन्धानाममूर्त्तानां च, 'नाणपज्जवे'त्ति ज्ञानविशेषाः, बुद्धिकृता वा अविभागपलिच्छेदाः अणंता, गुरुलघुपर्यवा औदारिकादिशरीराण्याश्रित्य इतरे तु कार्मणादिद्रव्याणि जीवस्वरूपं वाऽऽश्रित्य, 'दव्वओ णं एगा सिद्धि'त्ति इह सिद्धिः सिद्धाधाररूपा ईषत्प्राग्भारा सिद्धिशिला 'खेत्तओ'त्ति पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षाणि आयामविष्कम्भाभ्यां, 'एगा जोयणकोडि ४२ लक्षाः ३० सहस्राः किञ्चिन्यूनगव्यूतद्वयाधिके द्वे योजनशते एतत्परिधिः। 'बालमरणे दुवालसविहे'त्ति 'वलए'त्ति वलतो–बुभुक्षा परिगतत्वेन वलवलायमानस्य संयमाद्वा भ्रश्यतो मरणं वलन्मरणं 'वसट्ट'त्ति वशेन इन्द्रियवशेन ऋतस्य—पीडितस्य मृतिः दीपरूपाक्षिप्तचक्षुषः शलभस्येव यत्तद्वशार्त्तमरणं, 'अंतोसल्ल'त्ति अन्तःशल्यस्य द्रव्यतोऽनुद्धृततोमरादेः भावतः सातिचारस्य यत् तदन्तःशल्यमरणं,

२ शतके १ उद्देशः



श्रीभग-लघुवृत्तौ

तस्स भवाय मनुष्यादेस्सतो मनुष्यादावेव बद्धायुषो यत्तत्च्यवमरणं,'सत्थोवाडणं'ति शस्त्रादिना–क्षुरिकादिना अवपाटनं शस्त्रावपाटनं, 'वेहाणसे'त्ति विहायसि–आकाशे भवं वृक्षशाखाद्युद्बद्धत्वेन वैहानसं मरणं 'गिद्धपिट्ठ'त्ति गृध्रैः–पक्षिभिः गृद्धैः–मांसलुब्धैर्वा शृगालादिभिः स्पृष्टस्य–विदारितस्य करिकरभरासभादिशरीरान्तर्गतत्वेन यत्तद् गृध्रस्पृष्टं गृद्धस्पृष्टं वा, 'वड्ढइ'त्ति वर्द्धते, संसारवर्द्धनेन, पादपवदुपगमनम्–अस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनं, इदं चतुर्विधाहारवर्जितमेव स्यात्, 'नीहारिमे'त्ति निर्हारेण निर्वृत्तं तन्निर्हारिमं, उपाश्रये यो म्रियते तत्कलेवरनिर्हारणात्, अनिर्हारिमं योऽटव्यां म्रियते इति, यद्वाऽन्यत्रेह स्थाने इङ्गितमरणमुच्यते, तद्भक्तप्रत्याख्यानस्यैव विशेष इति नेह भेदेन दर्शितमिति । 'सद्दहामि'त्ति (सू० ९१) निर्ग्रन्थं प्रवचनमहं प्रतिपद्ये 'पत्तियामि'त्ति (प्रत्येमि) प्रीतिप्रत्ययं वा सत्यमिदं एवं तत्र करोमि, रोएमि–चिकीर्षामि, अब्भुट्ठेमि एतदङ्गीकरोमि, 'तहमेयं'ति तथैतत् 'अवितह'त्ति सत्यमेतत् 'असंदिद्धं'ति असन्दिग्धं 'इच्छिय'न्ति इष्टमेतत् 'पडिच्छिय'न्ति प्रतीप्सितं–प्राप्तुमिष्टं, 'आलित्ते'त्ति आ–ईषत् ज्वलितः 'पलित्ते'त्ति प्रकर्षेण ज्वलितः, 'आलित्तपलित्ते'त्ति आदीप्तप्रदीप्त इति, 'झियायमाणं'ति ध्मायमाने–दह्यमाने अप्यसारं अल्पं च तत्सारं चेति अल्पसारं–मणिमुक्ताखर्णटङ्कादि, 'आयाए' आत्मना, 'एगंतं'ति एकान्तं–विजनं अन्तं–भूभागं अपक्रामति, एष मणिमुक्तादिकरण्डको मम निस्तारितः–अग्निनिष्कासितः 'खमाए'त्ति क्षमायै धृतयेऽनुगामितया भविष्यति, स्थैर्यधर्मयोगात् स्थैर्यः वैश्वासिको विश्वासप्रयोजनत्वात् सम्मतः तत्कृतकार्याणां सम्मतत्वात्, बहुशो मतो बहुमतः, अनु–विप्रियकरणस्य पश्चादपि मतोऽनुमतः, 'भण्डकरडग'त्ति भाण्डकरण्डकम्–आभरणभाजनं तत्समानः, आदेयत्वात्, 'मा णं वाल'त्ति मा–निषेधे, व्यालाः–श्वापदभुजगाः, 'फुसंतु'त्ति स्पृशन्तु इतिकृत्वा 'सेहावि-

२ शतके १ उद्देशः

॥४५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

यं'ति सेधितुं प्रत्युपेक्षणादिक्रियाकलापग्राहणतः शिक्षितुं सूत्रार्थग्राहणतः, 'सयमेव'त्ति स्वयमेव भगवतैव, प्रव्राजितुं रजोहरणादिवेषदानेन, आत्मानमिति गम्यते, आचारः—श्रुतानुष्ठानं कालाध्ययनादि गोचरं—भिक्षाटनं विनयः—प्रतीतः वैनयिकं तत्फलं कर्मक्षयादि चरणं—चारित्रं करणं—पिण्डविशुध्यादि यात्रा—संयमयात्रा तदर्थमेव मात्रा—आहारग्रहणं वृत्तिः—वर्त्तनं यत्र तं धर्ममाख्यातुं, इच्छामीति योगः, 'तुयट्टियव्वं'ति शयितव्यं, सामायिकोच्चारणादिपूर्वं, उत्थायोत्थाय—विबुध्य २ 'पाणेहिं'ति प्राणादिषु चतुर्षु यः संयमो—रक्षा तेन संयंतव्यम्—यतितव्यं, 'तमाणाए'त्ति तदनन्तरमाज्ञया—आदेशेन खेलः—कण्ठमुखश्लेष्मा सिंघानको—नाशामलः, समितः सङ्गतमनःप्रवृत्तिकः 'गुत्ते'त्ति मनोगुप्तत्वादीनां निगमनं, गुप्तं—ब्रह्मगुप्तियुक्तं ब्रह्म चरति यः 'चाइ'त्ति सङ्गत्यागवान् "लज्जू' संयमवान् रज्जुरिव वा रज्जुः अवक्रव्यवहार इति 'खंतिखमे'त्ति क्षान्त्या क्षमते न त्वसमर्थतया यः स क्षान्तिक्षमः, 'सोहिय'त्ति शोधितो वा निरतिचारचारित्रत्वात्, सौहृदं—मैत्री सर्वप्राणिषु तद्योगात् सौहृदो वा 'अप्पुस्सु'त्ति अल्पौत्सुक्यः त्वरारहित इति, 'अबहिल्लेसे'त्ति अविद्यमाना बहिः—संयमाद्बहिस्तात् लेश्या—मनोवृत्तिर्यस्य सः अबहिर्लेश्यः, 'दंते'त्ति दान्तः क्रोधादिदमनात्, षन्तो वा रागद्वेषयोरन्तार्थप्रवृत्तत्वात्, 'पुरओ'त्ति मार्गानभिज्ञो मार्गज्ञनरमिव पुरस्कृत्य, एकादशाङ्गीमधीते, इह कश्चिदाह—ननु अनेन स्कन्दकचरितात्प्रागेवैकादशाङ्गीनिष्पत्तिरवसीयते, पञ्चमाङ्गान्तर्भूतं चेदं चरितं इति कथं न विरोधः?, उच्यते, श्रीवीरतीर्थे किल नव वाचनाः, तत्र सर्ववाचनासु स्कन्दकचरितात् पूर्वकाले ये स्कन्दकचरिताभिधेया अर्थास्ते चरितान्तरद्वारेण प्रज्ञाप्यन्ते, स्कन्दकचरितोत्पत्तौ च सुधर्मणा जम्बुमधिकृत्यास्यां वाचनायां स्कन्दकचरितमेवाश्रित्य तदर्थप्ररूपणा कृतेति न विरोधः, अथवा सातिशयत्वाद् गणधराणां अनागतकालभाविचरितबन्धनमदुष्टमिति,

प्रत सूत्रांक [९१-९५]

दीप अनुक्रम [११३-११७]

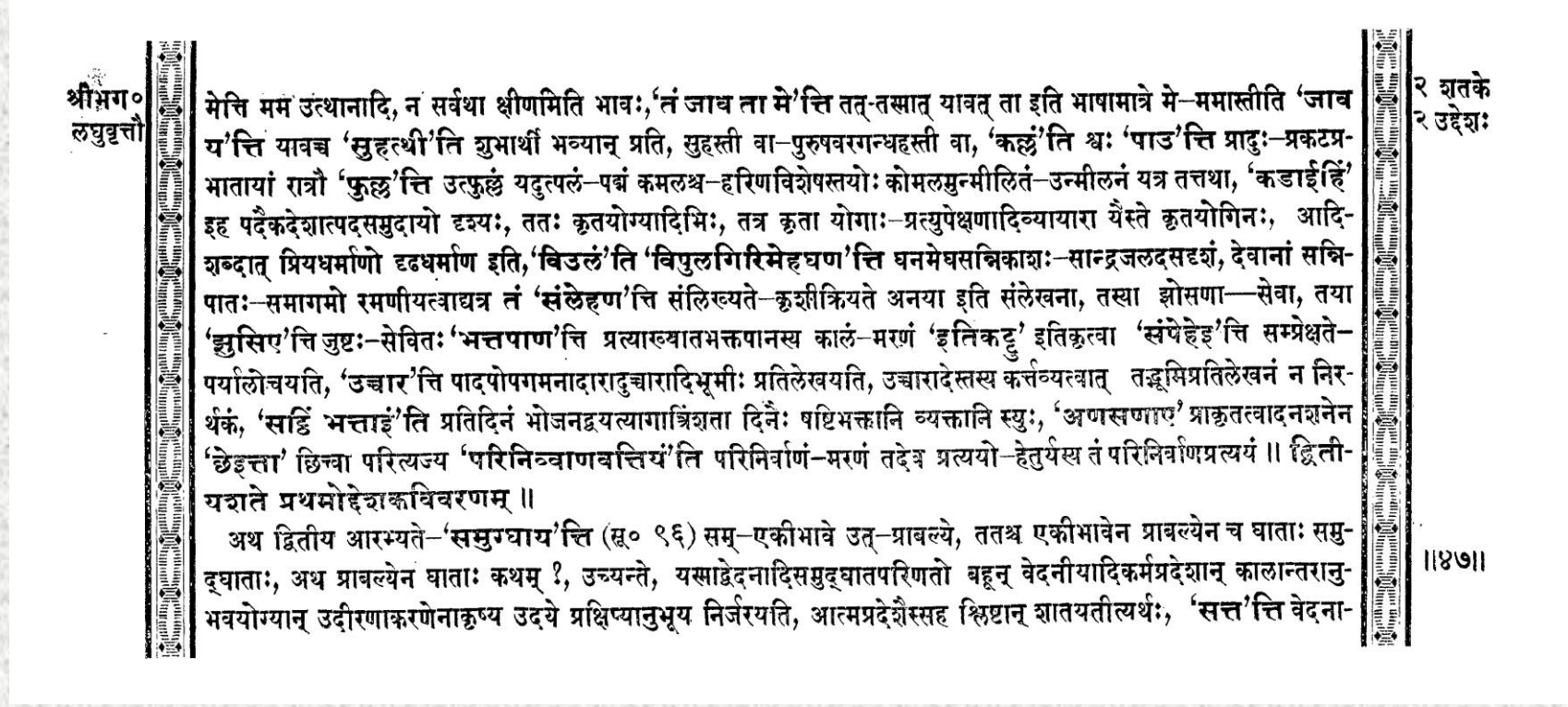
श्रीभग-लघुवृत्तौ

भावेशिष्यापेक्षयाऽतीतनिर्देशोऽपि न दुष्ट इति, 'भिक्खुपडिमं'ति भिक्षूचितमभिग्रहविशेषं, एतत्स्वरूपं चेदं–'गच्छा विणिक्खमित्ता पडिवज्जइ मासियं महापडिमं। दत्तेग भोयणस्सा पाणस्सवि एग जा मासं॥१॥" नन्वयमेकादशाङ्गधारी पठितः, प्रतिमाश्च विशिष्टश्रुतवानेव कुर्यात्, यदाह "गच्छेच्चिय निम्माओ, जा पुव्वा दस भवे असंसुन्ना। णवमस्स तइयवत्थू होइ जहण्णो सुयाहिगमो ॥ २ ॥" इति कथं न विरोधः ?, उच्यते, पुरुषान्तरविषयोऽयं श्रुतनियमः, तस्य तु सर्वविदुपदेशेन प्रवृत्तत्वान्न दोषः, 'अहाकप्पं'ति प्रतिमाकल्पानतिक्रमेण 'अहातच्चं'ति यथातत्त्वं तत्त्वानतिक्रमेण 'अहासम्मं'ति यथासाम्यं, समभावानतिक्रमेण 'सोहेइ' शोभयति पारणकदिने गुर्वादत्तशेषभोजनग्रहणात् 'तीरइ' पूर्णेऽप्यवधौ स्तोककालावस्थानात् 'पूरेइ' तत्कृत्यपूरणात्, कीर्त्तयति पारणकदिने इदं च इदं च तस्याः कृत्यं तच्च मया कृतमिति कीर्त्तनात्, 'अणुपालेइ' तदनुमोदनात, एवमेतत्क्रमेण सप्त सप्तमासान्ताः, ततोऽष्टमी प्रथमसप्तरात्रिंदिवा सप्ताहोरात्रमाना, एवं नवमी दशमी च, एतास्तिस्रोऽपि चतुर्थभक्तेनापानकेन, 'राइंदिय'त्ति रात्रिंदिवा एकादशी अहोरात्रप्रमाणा, इयं च षष्ठभक्तेन, 'एगराइ'त्ति एकरात्रिकी चेयमष्टमेन स्यात्, 'गुणरयणसंवच्छरं'ति गुणा एव रत्नानि यत्र स गुणरत्नः २ संवत्सरो यत्र तद् गुणरत्नसंवत्सरं तपः, इह च त्रयोदश मासाः सप्तदशदिनाधिकाः तपःकाल इति, त्रिसप्ततिर्दिनानि पारणकालः, स च एवं–"पण्णरस वीस चउवीस चेव चउवीस पण्णवीसा य। चउवीस एक्कवीसा चउवीसा सत्तवीसा य ॥१॥ तीसा तित्तीसावि य चउवीस छवीस अट्ठवीसा य। तीसा बत्तीसावि य सोलसमासेसु तवदिवसा ॥२॥ पन्नरस दसट्ठ छव्वंच चउर पंचसु य तिन्नि तिन्नित्ति। पंचसु दो दो य तहा, सोलसमासेसु पारणगा ॥३॥" इह च यत्र मासे अष्टमादितपसो यावन्ति दिनानि न पूर्यन्ते तावन्त्यग्रेतनमासादाकृष्य पूरणीयानि अधिकानि वा अग्रेत-

२ शतके १ उद्देशः

॥४६॥

नमासे क्षेप्तव्यानि, 'चउत्थं चउत्थेणे'ति चतुर्थं भक्तं यावद्भक्तं त्यज्यते यत्र तच्चतुर्थभक्तं, इयं चोपवासस्य संज्ञा, एवं षष्ठादिकमुपवासद्वयादेरिति, 'अणिक्खित्तेणं' अविश्रान्तेन 'दिय'त्ति दिवसे 'ठाणुक्कुडु'त्ति स्थानं–आसनमुत्कटुकं आधारे पुतालगनरूपं यस्यासौ स्थानोत्कटुकः, 'वीरासणेणं' वीरासनेन रात्रौ, निषीदनासनाकर्षणात् तथैव स्थित्येत्यर्थः,'अवाउडेण' प्रावरणरहितेन 'उरालेण' प्रधानेन विपुलेन बहुदिनत्वात् 'पयत्तेण' प्रदत्तेन गुरुभिरनुज्ञातेन 'पग्गहिएण' प्रकर्षादङ्गीकृतेन 'उदग्गेण' उत्तरोत्तरं वृद्धिमता 'उदात्तेन' उन्नतभाववता 'उत्तमेन' उत्तमपुरुषसेवितत्वेन 'उदारेणं' औदार्यवता निःस्पृहत्वात् 'महानुभागेण' महानुभावेन 'शुष्को' नीरसवपुष्ट्वात् , 'लुक्खे'त्ति बुभुक्षावशेन रूक्षीभूतत्वात् , अस्थिचर्मावनद्धः किटिकिटिका–निर्मांसास्थिसम्बन्धी उपवेशनादिक्रियासमुत्थः शब्दस्तां भूतः–प्राप्तो यः स किटिकिटिकाभूतः धमनीसंततो–नाडीव्याप्तो मांसक्षयेणादृश्यमाणनाडीकत्वात् 'जीवंजीवेणं'ति अनुस्वारस्यागमिकत्वात् जीवजीवेन, जीवबलेनेत्यर्थः, न वपुर्बलेनेति, 'भासं भासि'त्यादि, कालत्रयनिर्देशः ग्लायति ग्लानः स्यात् , 'से जहानामए'त्ति से इति अथार्थः, 'यथे'ति दृष्टान्तार्थः, नामेति सम्भावनायां, ए इति वाक्यालङ्कारे, 'कट्ठसगडिय'त्ति काष्ठभृता शकटिका काष्ठशकटिका 'पत्तसगडिय'त्ति पलाशादिपत्रभृता गन्त्री 'पत्ततिल'त्ति पत्रयुक्ततिलानां भाण्डकानां च मृन्मयभाजनानां भृता गन्त्री, अङ्गारभृतगन्त्रीत्यर्थः,'उण्हे दित्ता' उष्णस्तापस्तत्र दत्ता, शुष्का सतीति विशेषणद्वयमार्द्रकाष्ठादीनामेव सम्भवति,हुताशन इव भस्मराशिप्रतिच्छन्नः, 'तवेणं तेएणं'ति तपस्तेजसा एव,बहिर्निस्तेजाः,अतः शुभध्यानाग्निना ज्वलति,'पुव्वरत्तावर'त्ति पूर्वरात्रश्च-रात्रेः पूर्वभागः अपरात्रश्च-रात्रेः पश्चिमो भागस्तल्लक्षणो यः कालसमयः-कालात्मकः समयः स तथा तत्र धर्मजागरिकां जाग्रतः,कुर्वत इत्यर्थः,'तं अत्थि ता मे'त्ति तदेवमप्यस्ति तावत्



श्रीभग० लघुवृत्तौ

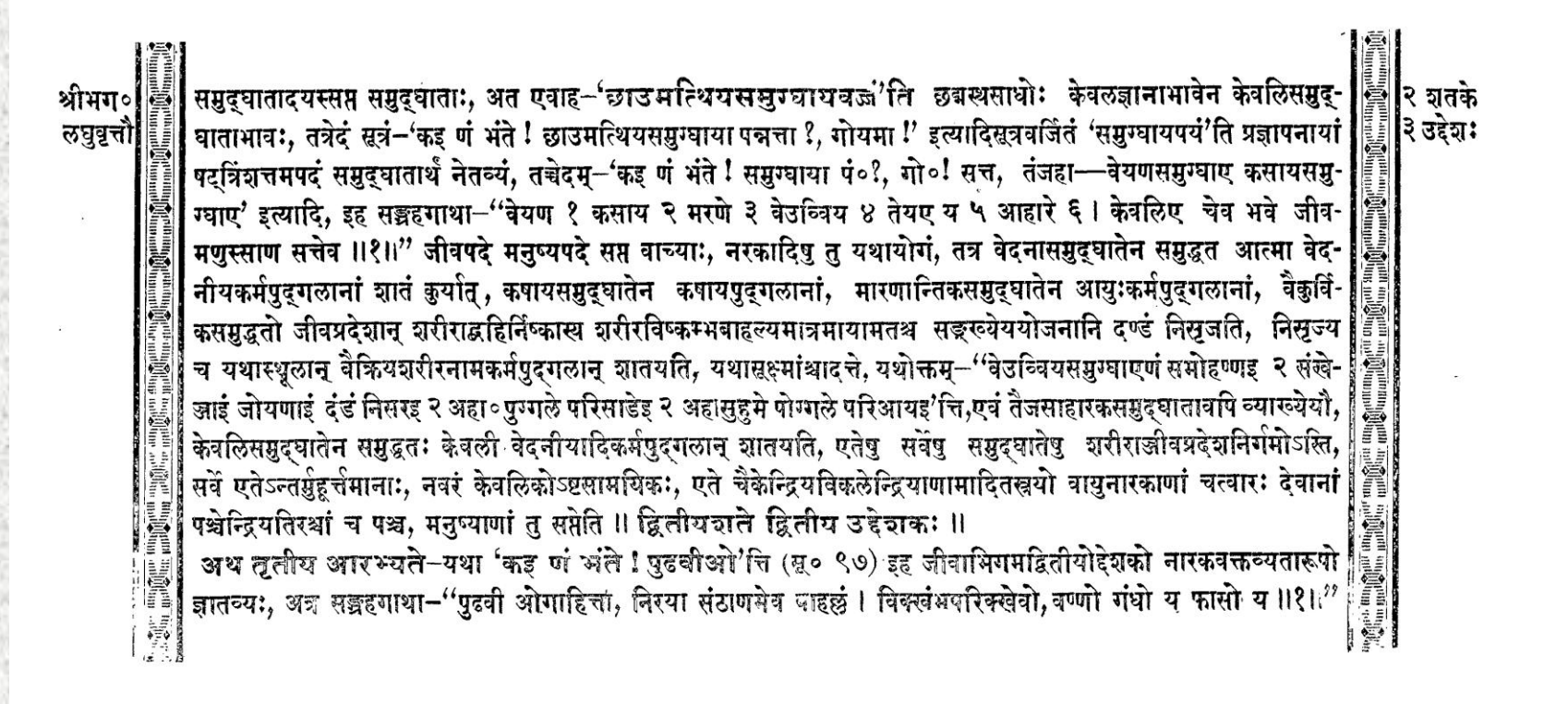
मेत्ति मम उत्थानादि, न सर्वथा क्षीणमिति भावः,'तं जाव ता मे'त्ति तत्-तस्मात् यावत् ता इति भाषामात्रे मे–ममास्तीति 'जाव य'त्ति यावच्च 'सुहत्थी'ति शुभार्थी भव्यान् प्रति, सुहस्ती वा–पुरुषवरगन्धहस्ती वा, 'कल्लं'ति श्वः 'पाउ'त्ति प्रादुः–प्रकटप्रभातायां रात्रौ 'फुल्ल'त्ति उत्फुल्लं यदुत्पलं–पद्मं कमलश्च–हरिणविशेषस्तयोः कोमलमुन्मीलितं–उन्मीलनं यत्र तत्तथा, 'कडाईहिं' इह पदैकदेशात्पदसमुदायो दृश्यः, ततः कृतयोग्यादिभिः, तत्र कृता योगाः–प्रत्युपेक्षणादिव्यायारा यैस्ते कृतयोगिनः, आदिशब्दात् प्रियधर्माणो दृढधर्माण इति,'विउलं'ति 'विपुलगिरिमेहघण'त्ति घनमेघसन्निकाशः–सान्द्रजलदसदृशं, देवानां सन्निपातः–समागमो रमणीयत्वाद्यत्र तं 'संलेहण'त्ति संलिख्यते–कृशीक्रियते अनया इति संलेखना, तस्या झोसणा—सेवा, तया 'झुसिए'त्ति जुष्टः–सेवितः 'भत्तपाण'त्ति प्रत्याख्यातभक्तपानस्य कालं–मरणं 'इतिकट्टु' इतिकृत्वा 'संपेहेइ'त्ति सम्प्रेक्षते–पर्यालोचयति, 'उच्चार'त्ति पादपोपगमनादारादुच्चारादिभूमीः प्रतिलेखयति, उच्चारादेस्तस्य कर्त्तव्यत्वात् तद्भूमिप्रतिलेखनं न निरर्थकं, 'सट्ठिं भत्ताइं'ति प्रतिदिनं भोजनद्वयत्यागाच्त्रिंशता दिनैः षष्टिभक्तानि व्यक्तानि स्युः, 'अणसणाए' प्राकृतत्वादनशनेन 'छेइत्ता' छित्त्वा परित्यज्य 'परिनिव्वाणवत्तियं'ति परिनिर्वाणं–मरणं तदेव प्रत्ययो–हेतुर्यस्य तं परिनिर्वाणप्रत्ययं ॥ द्वितीयशते प्रथमोद्देशकविवरणम् ॥

अथ द्वितीय आरभ्यते–'समुग्घाय'त्ति (सू० ९६) सम्–एकीभावे उत्–प्राबल्ये, ततश्च एकीभावेन प्राबल्येन च घाताः समुद्घाताः, अथ प्राबल्येन घाताः कथम् ?, उच्यन्ते, यस्माद्वेदनादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवयोग्यान् उदीरणाकरणेनाकृष्य उदये प्रक्षिप्यानुभूय निर्जरयति, आत्मप्रदेशैस्सह श्लिष्टान् शातयतीत्यर्थः, 'सत्त'त्ति वेदना-

२ शतके २ उद्देशः

॥४७॥

अत्र **शतक**-२, उद्देषक: १ समाप्तः, अथ **शतक**-२ **उद्देशक** : २ आरब्धः



श्रीभग० लघुवृत्तौ

समुद्घातादयस्सप्त समुद्घाताः, अत एवाह–'छाउमत्थियसमुग्घायवज्ज'न्ति छद्मस्थसाधोः केवलज्ञानाभावेन केवलिसमुद्-घाताभावः, तत्रेदं सूत्रं–'कइ णं भंते ! छाउमत्थियसमुग्घाया पन्नत्ता ?, गोयमा !' इत्यादिसूत्रवर्जितं 'समुग्घायपयं'ति प्रज्ञापनायां षट्त्रिंशत्तमपदं समुद्घातार्थं नेतव्यं, तच्चेदम्–'कइ णं भंते ! समुग्घाया पं०?, गो०! सत्त, तंजहा—वेयणसमुग्घाए कसायसमु-ग्घाए' इत्यादि, इह सङ्ग्रहगाथा–"वेयण १ कसाय २ मरणे ३ वेउव्विय ४ तेयए य ५ आहारे ६। केवलिए चेव भवे जीव-मणुस्साण सत्तेव ॥१॥" जीवपदे मनुष्यपदे सप्त वाच्याः, नरकादिषु तु यथायोगं, तत्र वेदनासमुद्घातेन समुद्धत आत्मा वेद-नीयकर्मपुद्गलानां शातं कुर्यात्, कषायसमुद्घातेन कषायपुद्गलानां, मारणान्तिकसमुद्घातेन आयुःकर्मपुद्गलानां, वैक्रुर्वि-कसमुद्धतो जीवप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निष्कास्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमात्रमायामतश्च सङ्ख्येययोजनानि दण्डं निसृजति, निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् शातयति, यथासूक्ष्मांश्चादत्ते, यथोक्तम्–"वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ २ संखे-ज्जाइं जोयणाइं दंडं निसरइ २ अहा० पुग्गले परिसाडेइ २ अहासुहुमे पोग्गले परिआयइ'त्ति,एवं तैजसाहारकसमुद्घातावपि व्याख्येयौ, केवलिसमुद्घातेन समुद्धतः केवली वेदनीयादिकर्मपुद्गलान् शातयति, एतेषु सर्वेषु समुद्घातेषु शरीराज्जीवप्रदेशनिर्गमोऽस्ति, सर्वे एतेऽन्तर्मुहूर्त्तमानाः, नवरं केवलिकोऽष्टसामयिकः, एते चैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामादितस्त्रयो वायुनारकाणां चत्वारः देवानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां च पञ्च, मनुष्याणां तु सप्तेति ॥ द्वितीयशते द्वितीय उद्देशकः ॥

अथ तृतीय आरभ्यते–यथा 'कइ णं भंते ! पुढवीओ'त्ति (सू० ९७) इह जीवाभिगमद्वितीयोद्देशको नारकवक्तव्यतारूपो ज्ञातव्यः, अत्र सङ्ग्रहगाथा–"पुढवी ओगाहित्ता, निरया संठाणमेव बाहल्लं। विक्खंभपरिक्खेवो, वण्णो गंधो य फासो य ॥१॥"

२ शतके ३ उद्देशः

	अत्र **शतक**-२, उद्देषक: २ समाप्तः, अथ **शतक**-२ **उद्देशक** : ३ आरब्धः

श्रीभग-लघुवृत्तौ

सूत्रे पूर्वार्द्धमेव लिखितं, शेषाणां विवक्षितार्थानां यावच्छब्देन सूचितत्वात्, 'पुढवि'त्ति पृथिव्यो वाच्याः–ताश्चैवम्–'कइ णं भंते! पुढवीओ पं०? गो०! सत्त, तं०–रयणप्पभे'त्यादि, 'ओगाहित्ता निरय'त्ति पृथ्वीमवगाह्य कियद्दूरे नरका इति वाच्यं, तत्रास्यां रत्नप्रभायां अशीतिसहस्रोत्तरयोजनलक्षबाहल्यायां उपर्येकं योजनसहस्रमवगाह्याधोऽप्येकं वर्जयित्वा त्रिंशन्नरकलक्षाणि स्युः, एवं शर्करप्रभादिषु यथायोगं वाच्यं, 'संठाणमेव'त्ति संस्थानं नरकेषु वाच्यं, तत्र ये आवलिकाप्रविष्टाः ते वृत्तादयश्च, इतरे तु नानासंस्थानाः, 'बाहल्लं'ति नरकबाहल्यं वाच्यं, तच्च त्रीणि योजनसहस्राणि, कथं?, अध एकं मध्ये शुषिरमेकमुपरि चैकं सङ्कोच इति, 'विक्खंभपरिक्खेवो'त्ति एतौ वाच्यौ, तत्र सङ्ख्यातविस्तृतानां सङ्ख्यातयोजन आयामो विष्कम्भः परिक्षेपश्च, इतरेषां त्वन्यथेति, तथा वर्णादयो वाच्याः, ते चात्यन्तमनिष्टा इत्यादि बहु वक्तव्यं,यावदयमुद्देशकान्तो यदुत किं 'सव्वपाण'त्ति अस्यां रत्नप्रभायां ३० नरकलक्षेषु किं सर्वे प्राणादय उत्पन्नपूर्वाः?, अत्रोत्तरं—'असइं'ति असकृद्–अनेकशः, 'अदुव'त्ति अथवा 'अनंतखुत्तो' अनन्तकृत्वः अनन्तवारानिति ॥ **द्वितीयशते तृतीय उद्देशकः** ॥

अथ चतुर्थ आरभ्यते, यथा 'पढमिल्लो इंदियउद्देसउ'त्ति (सू. ९८) प्रज्ञापनायामिन्द्रियपदाख्यपञ्चदशपदस्य प्रथम उद्देशकोऽत्र नेतव्यः, तत्र च द्वारगाथा–"संठाणं बाहल्लं पोहत्तं कइपएस ओगाढे। अप्पा बहु पुट्ठपविट्ठविसये अणगार आहारे ॥ १ ॥" इह सूत्रेऽयमेवः लिखितः शेषास्तु तदर्था यावच्छब्देन सूचिताः, तत्र संस्थानं श्रोत्रादीन्द्रियाणां वाच्यं, श्रोत्रेन्द्रियं कदम्ब-पुष्पसंस्थितं, चक्षुः मसूरकचन्द्राकारं, मसूरकमासनविशेषः, अथवा चन्द्रः—शशी, अथवा मसूरकचन्द्रो–धान्यविशेषदलं, घ्राणं अतिमुक्तकचन्द्रपुष्पविशेषाकारं, रसनेन्द्रियं क्षुरप्रसंस्थितं, स्पर्शनेन्द्रियं नानाकारं, बाहल्यतः सर्वाण्यङ्गुलासङ्ख्येयभागबाहल्यानि,

२ शतके ४ उद्देशः

॥४८॥

अत्र **शतक**-२, उद्देषक: ३ समाप्त:, अथ **शतक**-२ **उद्देशक** : ४ आरब्ध:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [९८]

दीप अनुक्रम [१२२]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'पोहत्तं'ति पृथुत्वं श्रोत्रचक्षुर्घ्राणानामङ्गुलासङ्ख्येयभागाः, जिह्वेन्द्रियस्याङ्गुलपृथक्त्वं, स्पर्शनेन्द्रियं शरीरमानं, 'कइपएस'त्ति अनन्तप्रदेशनिष्पन्नानि पञ्चापि, 'ओगाह'त्ति असङ्ख्यातप्रदेशावगाढानि, 'अप्पबहु'त्ति सर्वस्तोकं चक्षुरवगाहतः, ततः श्रोत्रघ्राणरसनेन्द्रियाणि क्रमेण सङ्ख्यातगुणानि, स्पर्शनं त्वसङ्ख्येयगुणं, 'पुट्ठपविट्ठ'त्ति श्रोत्रादीनि चक्षूरहितानि स्पृष्टमर्थं प्रविष्टं च गृह्णन्ति, 'विसय'त्ति सर्वेषां जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागो विषयः,श्रोत्रस्य उत्कर्षतो १२ योजनानि, चक्षुषः सातिरेकं लक्षं, शेषाणां नव योजनानि,'अणगारे'त्ति अनगारस्य समुद्घातगतस्य ये निर्जरापुद्गलास्तेऽ(तान)त्र छद्मस्थो मनुजः न पश्येत्, 'आहारे'त्ति निर्जरापुद्गलान्न नारकादयो जानन्ति न पश्यन्ति च आहारयन्ति चैवमादि बहु वाच्यं, अथ किमन्तोऽयमुद्देशक इत्याह–यावदलोकः–अलोकसूत्रान्तः, तच्चेदम्–अलोगे णं भंते ! किण्णा फुडे ?, धम्म० छहिं वा काएहिं अद्धा० फुडे ?,गो०! नो धम्मत्थिकाएणं फुडे जाव नो आगासत्थिकाएणं फुडे, आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे, आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे, नो पुढविकाएणं फुडे, जाव नो अद्धासमएण फुडे, एगे अजीवदव्वदेसे, अगुरुलहुए, अगुरुलहुयगुणेहिं अणंतेहिं संपुन्ने, सव्वागासे अणंतभागूणेत्ति, नालोको धर्म्मास्तिकायादिना पृथिव्यादिकायैः समयेन च स्पृष्टो–व्याप्तः, तेषां तत्रासत्त्वात्, आकाशास्तिकायदेशादिभिः स्पृष्टः, तेषां तत्र सत्त्वात्, एकश्चासावजीवद्रव्यदेशः, आकाशद्रव्यदेशत्वात् तस्येति ॥ द्वितीयशते चतुर्थः ॥

अथ पञ्चम आरभ्यते–यथा 'देवब्भूएणं'ति (सू० ९९) देवभूतेनात्मना नो परिचारयति 'से णं'ति स निर्ग्रन्थदेवः तत्र–देवलोके 'नो' नैव 'अण्णे'त्ति अन्यान् आत्मव्यतिरिक्तान् देवान्, तथा नोऽन्येषां देवानां सम्बन्धिनीं देवीं अभिजुंजिय–अभियुज्य–वशीकृत्य आश्लिष्य च परिचारयति–परिभुङ्क्ते, 'नो अप्पणिच्चि'ति न आत्मीया देवीः 'अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय'

२ शतके ५ उद्देशः

	अत्र शतक-२, उद्देषकः ४ समाप्तः, अथ शतक-२ उद्देशक : ५ आरब्धः

श्रीभग-लघुवृत्तौ

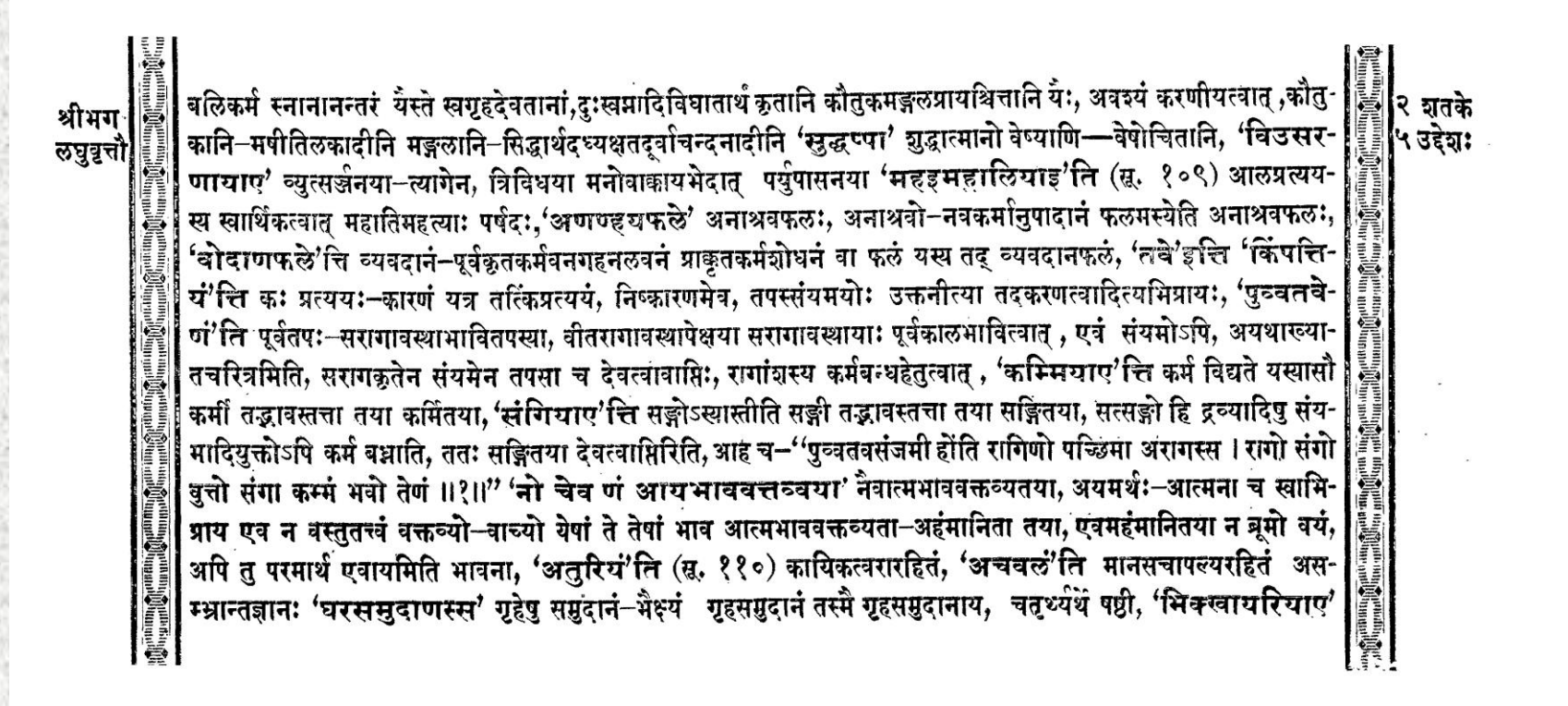
आत्मानं स्त्रीपुरुषरूपतया विकृत्य, 'परउत्थियवत्तव्वय'त्ति परतीर्थिकवक्तव्यता एवं नेतव्या, 'जंसमयमित्थिवेयं वेएइ, तंसमयं पुरिस० जंसमयं पुरिस० तं समयमित्थिवेयं वेएइ, इत्थिवेयस्स वेयणाए पुरिसवेयं वेएइ, पुरिसवेयस्स वेयणाए इत्थिवेयं वेएइ, एवं खलु एगेऽवि य णं'ति, मिथ्यात्वमेषामेवं ज्ञेयं-स्त्रीरूपकरणेऽपि तस्य देवस्य पुरुषत्वात् पुरुषवेदस्यैवैकसमये उदयो, न स्त्रीवेदस्य, वेदपरिवृत्त्या वा स्त्रीवेदस्यैव, न पुरुषवेदस्य, परस्परविरुद्धत्वादिति, 'उववत्तारो'त्ति प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवति इति दृश्यं, 'उज्जोवेमाणे'त्ति उद्योतयन् प्रकाशकरणेन 'पभासेमाणे'त्ति प्रभासयन् शोभयन् 'पडिरूवे'त्ति द्रष्टारं २ प्रति रूपं यस्य स प्रतिरूपः ॥ 'उदगगब्भे णं'ति (सू० १००) 'एक्कं समयं'ति समयानन्तरमेव प्रवर्षणात्, उत्कृष्टतस्तु षण्मासान्, षण्मासानामुपरि वर्षणात्, अयं च मार्गशीर्षपौषादिषु वैशाखान्तेषु सन्ध्यारागमेघोत्पादादिलिङ्गः स्यात्, यदाह-"पौषे च मार्गशीर्षे सन्ध्यारागाम्बुदाः सपरिवेषाः। नात्यर्थं मार्गशिरे शीतं पौषेऽतिहिमपातः ॥१॥ 'कायभवत्थेणं'ति (सू० १०१) काये जनन्युदरस्थितनिजदेह एव यो भवो-जन्म स कायभवः, तत्र तिष्ठतीति स कायभवस्थः, 'चउवीसं'ति स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनर्मृत्वा तस्मिन्नेव स्वशरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितितया इत्येवं चतुर्विंशतिवर्षाणि स्युः, केचिदाहुः-द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्यबीजेन तच्छरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिरिति, 'एगजीवेणं'ति (सू० १०२) मनुष्याणां तिरश्चां च बीजं द्वादश मुहुर्त्तान् यावद् योनिभूतं स्यात्, गवादीनां शतपृथक्त्वस्यापि बीजं गवादियोनिप्रविष्टं बीजमेव, तत्र च बीजसमुदाये एको जीव उत्पद्यते, स च तेषां बीजस्वामिनां सर्वेषां पुत्रः स्यात्, अत उक्तम्-'उक्कोसेणं सयपुहुत्तं'त्ति,'सयसहस्सपुहुत्तं'ति(सू.१०५) मत्स्यादीनामेकसंयोगेऽपि शतसहस्रपृथक्त्वं गर्भे उत्पद्यते निष्पद्यते चेत्येकस्यैकभवग्रहणे लक्षपृथक्त्वं पुत्राणां स्यात्, मनुष्य-

२शतकेः ५ उद्देशः

॥४९॥

योनौ पुनरुत्पन्ना अपि बहवो न निष्पद्यन्ते, कस्यामसावुत्पद्यते ?, 'कम्मकडाए'त्ति नामकर्मनिर्वर्त्तितायां योनौ, अथवा कर्म-मदनोद्दीपकव्यापारस्तत् कृतं यस्यां सा कर्मकृता तस्यां, मैथुनस्य वृत्तिः-प्रवर्त्तिर्यस्मिन्नसौ मैथुनं वा प्रत्ययो-हेतुर्यस्मिन् स मैथुनप्रत्ययिकः, 'ते दुहओ'त्ति ते इति स्त्रीपुरुषौ उभयतः स्नेहं-रेतःशोणितलक्षणं सञ्चिनुतः-सम्बन्धयतः ॥ अथ मैथुनस्यैवासंयमहेतुतामाह-'रूयनालियं व'त्ति (सू० १०५) रुतं-कर्पासविकारः, तद्भृता नालिका तां, बूरनालिकामपि, नवरं बूरं-वनस्पतिविशेषावयवविशेषः, 'समभिधंसेज्ज'त्ति समभिध्वंसयेत् ॥'तेण'मित्यादि(सू० १०६) 'अड्ढ'त्ति आढ्या धनादिभिः 'दित्त'त्ति दीप्ताः, 'वित्थिण्ण'त्ति विस्तीर्णानि-विपुलानि प्रचुराणि भवनानि-गृहाणि शयनासनवाहनैराकीर्णानि-व्याप्तानि येषां ते तथा, तत्र यानं-गन्त्र्यादि वाहनं त्वश्वादि,'बहुधण'त्ति बहुधनं-गणिमादि,तथा बह्वेव जातरूपं-सुवर्णं रजतं-रूप्यं येषां ते तथा,'आओग'त्ति आयोगो-द्विगुणादिवृद्ध्याऽर्थप्रदानं प्रयोगः-कलान्तरं तौ सम्प्रयुक्तौ-व्यापारितौ यैस्ते,'विच्छड्डिय'त्ति विच्छर्दितं-विविधमुज्झितं बहुलोकभोजनतः उच्छिष्टावशेषसम्भवात् , विपुलं भक्तं पानकं येषां ते, बहवो दासीदासा येषां ते, गोमहिषगवेलकाश्च प्रभूता येषां, गवेलका-उरभ्राः, 'आसवे'त्यादौ क्रिया-कायिक्यादयः, अधिकरणं-गन्त्रीमुशलोदूखलाः 'असहेज्ज'त्ति न विद्यते साहाय्यं-परसाहायिकमत्यन्तसमर्थत्वाद्येषां ते असहाय्याः ते च ते देवादयश्च, अथवा असाहाय्या इति व्यस्तमेव, असुरा नागा भवनपतयः, 'सुवण्ण'त्ति सद्वर्णा—ज्योतिष्काः, यक्षादयः सर्वे व्यन्तरविशेषाः, लब्धार्था अर्थश्रवणात् , गृहीतार्था अर्थावधारणात् , पृच्छितार्थाः प्रश्नकरणात् , अधिगतार्थाः प्रश्नार्थाभिगमात् , 'अट्ठिमिंज'त्ति अस्थीनि च-कीकसानि मिञ्जा च-तन्मध्यवर्त्ती धातुः, अस्थिमिञ्जाः, प्रेमानुरागेण-सर्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भादिरागेण रक्ता इव रक्ता येषां ते, अथवाऽस्थिमिञ्जासु जिन-

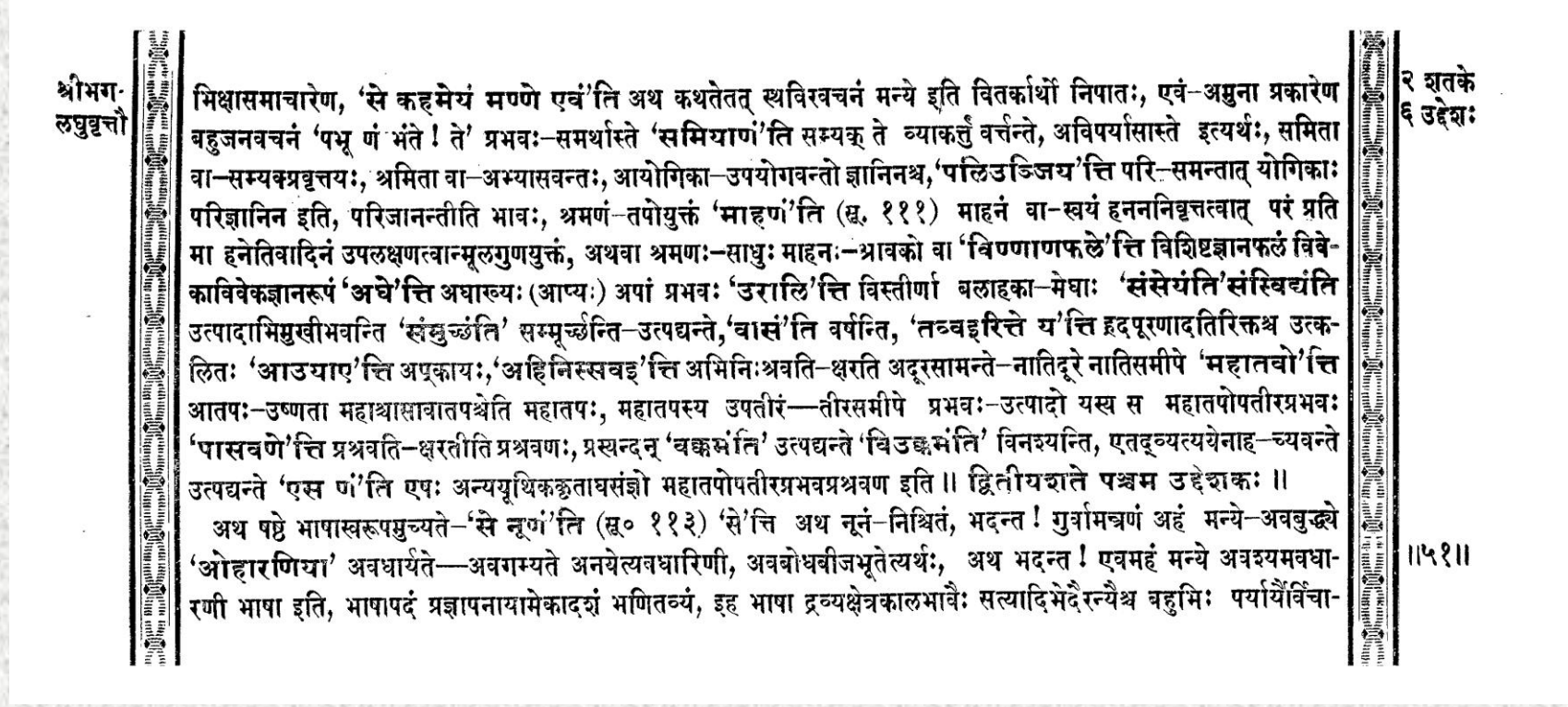
गतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते, उच्छ्रितो–गृहद्वाराद्पगतः परिघः–अर्गला येषां ते उच्छ्रितपरिघाः, औदार्यातिशयाद्भिक्षुकप्रवेशार्थ-मनर्गलितगृहद्वारा इत्यर्थः, अप्रावृतद्वाराः कपाटादिभिः, 'चियत्तं'ति प्रीतिकरोऽन्तःपुरे गृहेषु च प्रवेशः–शिष्टजनप्रवेशनं येषां ते, अथवा व्यक्तोऽन्तःपुरे परेषां गृहे वा प्रवेशो यैस्ते,'बहूहिं'ति शीलं–ब्रह्मचर्यं व्रतानि–अणुव्रतानि गुणा–गुणव्रतानि विरम-णानि–रागादिविरतयः प्रत्याख्यानानि–नमस्कारसहितादीनि पौषधः–पर्वदिनं तत्रैवोपवासः पौषधोपवास इत्येषां द्वन्द्वः,'चाउद्द-सि'त्ति उद्दिष्टा–अमावास्या 'पीढ'त्ति पीठं–आसनं फलकं–उपष्टम्भनफलकं शय्या–वसतिर्बृहत्संस्तारको वा, 'अहापरि'त्ति यथापरिगृहीतैः। 'थेर'त्ति (सू० १०७) स्थविराः–श्रुतवृद्धाः, 'ओयंसी'ति ओजस्विनो–मनोबलयुक्ताः 'वच्चंसी'ति वर्च-स्विनः–सप्रभावा वचस्विनो वा–पटुवक्तारः, 'जाव'त्ति यावत्करणादिदं दृश्यं—'तवप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्प-हाणा' करणं–पिण्डशुद्ध्यादि, चरणं–'वयसमणधम्मे'त्यादि,'निग्गहप्पहाण'त्ति निग्रहः–इन्द्रियनिग्रहः,'निच्छयप्प०' निश्चयः–अवश्यंकरणाभ्युपगमः,'मद्दवप्पहाणा अज्जवप्पहाणा लाघवप्पहाणा' लाघवं क्रियासु दक्षत्वं, 'खंतिप्पहाण'त्ति, एवं विज्जमंता वेय-बंभनयनियमसच्चसोयप्पहाणा चारुप्पन्ना–सत्प्रज्ञाः, सोही अणियाणा अप्पुस्सुया अबहिल्लेसा सुसामण्णरया अच्छिद्दपसिणवाग-रणा अच्छिद्राणि–अविरलानि निर्दूषणानि प्रश्नव्याकरणानि येषां ते, 'कुत्तियावण'त्ति कुत्रिकं–स्वर्भूर्भुवोलक्षणं भूमित्रयं तत्स-म्भवं वस्त्वपि कुत्रिकं तत्सम्पादक आपणो–हट्टः कुत्रिकापणस्तद्भूताः समीहितार्थसम्पादकत्वेन सकलगुणोपेतत्वेन वा तदुपमाः। 'सिंघाडग'त्ति (सू. १०८) शृङ्गाटकफलाकृतित्वात्, त्रिकं–रथ्यात्रयमीलनस्थानं चतुष्कं–रथ्याचतुष्कमीलनस्थानं चत्वरं–बहुर-थ्यामीलनस्थानं महापथो–राजमार्गः, पन्था—रथ्यामात्रं, यावत्करणात् 'बहुजणसद्देइ वा' इत्यादि दृश्यं, 'कयबलि'त्ति कृतं



श्रीभग लघुवृत्तौ

बलिकर्म स्नानानन्तरं यैस्ते स्वगृहदेवतानां,दुःस्वप्नादिविघातार्थं कृतानि कौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तानि यैः, अवश्यं करणीयत्वात् ,कौतुकानि–मषीतिलकादीनि मङ्गलानि–सिद्धार्थदध्यक्षतदूर्वाचन्दनादीनि **'सुद्धप्पा'** शुद्धात्मानो वेष्याणि—वेषोचितानि, **'विउसरणायाए'** व्युत्सर्जनया–त्यागेन, त्रिविधया मनोवाक्कायभेदात् पर्युपासनया **'महइमहालियाइ'त्ति** (सू. १०९) आलप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वात् महातिमहत्याः पर्षदः,**'अणण्हयफले'** अनाश्रवफलः, अनाश्रवो–नवकर्मानुपादानं फलमस्येति अनाश्रवफलः, **'वोदाणफले'त्ति** व्यवदानं–पूर्वकृतकर्मवनगहनलवनं प्राक्तनकर्मशोधनं वा फलं यस्य तद् व्यवदानफलं, **'लवे'इत्ति 'किंपत्तियं'त्ति** कः प्रत्ययः–कारणं यत्र तत्किंप्रत्ययं, निष्कारणमेव, तपस्संयमयोः उक्तनीत्या तदकरणत्वादित्यभिप्रायः, **'पुव्वतवेणं'ति** पूर्वतपः–सरागावस्थाभावितपस्या, वीतरागावस्थापेक्षया सरागावस्थायाः पूर्वकालभावित्वात् , एवं संयमोऽपि, अयथाख्यातचरित्रमिति, सरागकृतेन संयमेन तपसा च देवत्वावाप्तिः, रागांशस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् , **'कम्मियाए'त्ति** कर्म विद्यते यस्यासौ कर्मी तद्भावस्तत्ता तया कर्मितया, **'संगियाए'त्ति** सङ्गोऽस्यास्तीति सङ्गी तद्भावस्तत्ता तया सङ्गितया, सत्सङ्गो हि द्रव्यादिषु संयमादियुक्तोऽपि कर्म बध्नाति, ततः सङ्गितया देवत्वाप्तिरिति, आह च–"पुव्वतवसंजमी होंति रागिणो पच्छिमा अरागस्स । रागो संगो वुत्तो संगा कम्मं भवो तेणं ॥१॥" **'नो चेव णं आयभाववत्तव्वया'** नैवात्मभाववक्तव्यतया, अयमर्थः–आत्मना च स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्त्वं वक्तव्यो–वाच्यो येषां ते तेषां भाव आत्मभाववक्तव्यता–अहंमानिता तया, एवमहंमानितया न ब्रूमो वयं, अपि तु परमार्थ एवायमिति भावना, **'अतुरियं'ति** (सू. ११०) कायिकत्वरारहितं, **'अचवलं'ति** मानसचापल्यरहितं असम्भ्रान्तज्ञानः **'घरसमुदाणस्स'** गृहेषु समुदानं–भैक्ष्यं गृहसमुदानं तस्मै गृहसमुदानाय, चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, **'भिक्खायरियाए'**

२ शतके ५ उद्देशः



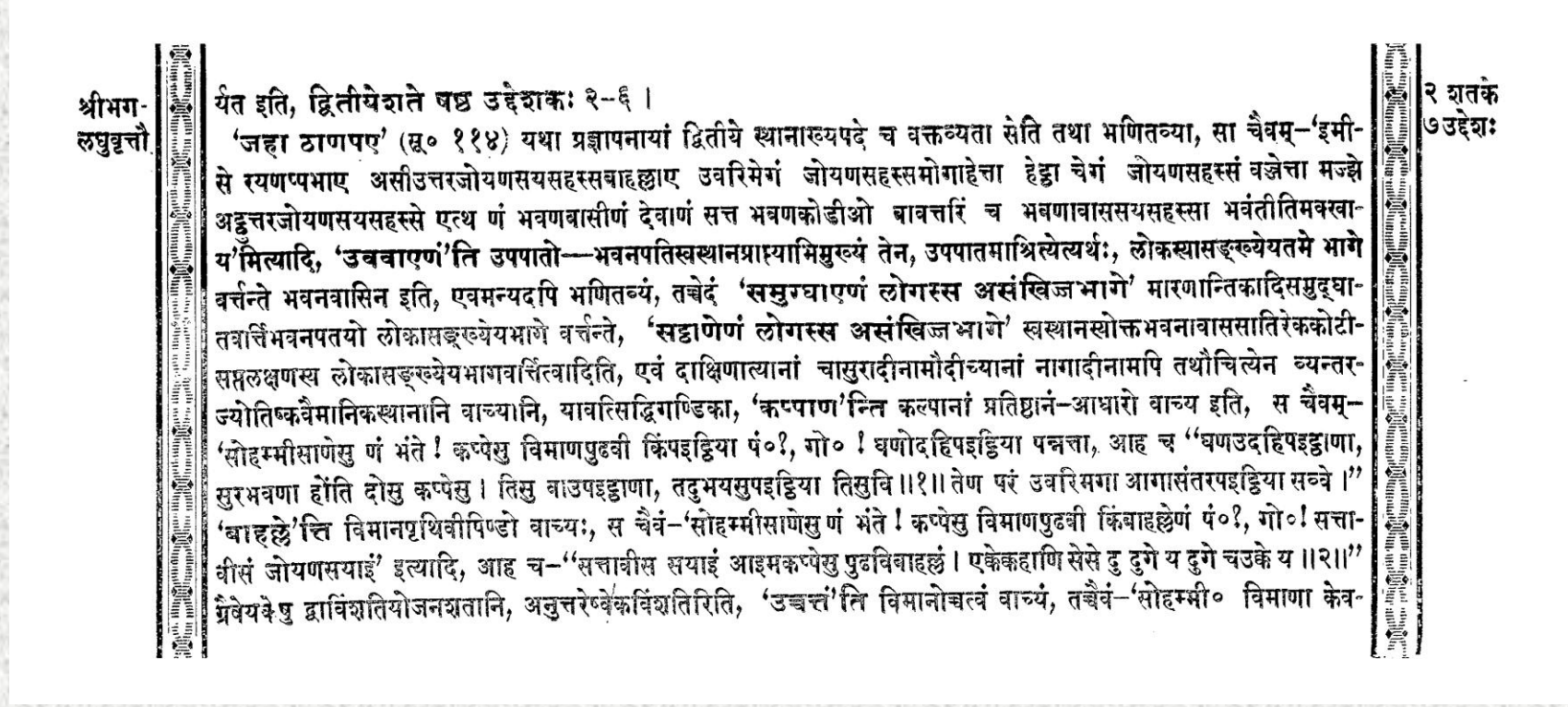
श्रीभग-लघुवृत्तौ

भिक्षासमाचारेण, 'से कहमेयं मण्णे एवं'ति अथ कथतेतत् स्थविरवचनं मन्ये इति वितर्कार्थो निपातः, एवं-अमुना प्रकारेण बहुजनवचनं 'पभू णं भंते ! ते' प्रभवः-समर्थास्ते 'समियाणं'ति सम्यक् ते व्याकर्तुं वर्त्तन्ते, अविपर्यासास्ते इत्यर्थः, समिता वा-सम्यक्प्रवृत्तयः, श्रमिता वा-अभ्यासवन्तः, आयोगिका-उपयोगवन्तो ज्ञानिनश्च, 'पलिउज्जिय'त्ति परि-समन्तात् योगिकाः परिज्ञानिन इति, परिजानन्तीति भावः, श्रमणं-तपोयुक्तं 'माहणं'ति (सू. १११) माहनं वा-स्वयं हननिवृत्तत्वात् परं प्रति मा हनेतिवादिनं उपलक्षणत्वान्मूलगुणयुक्तं, अथवा श्रमणः-साधुः माहनः-श्रावको वा 'विण्णाणफले'त्ति विशिष्टज्ञानफलं विवेकाविवेकज्ञानरूपं 'अघे'त्ति अघाख्यः (आप्यः) अपां प्रभवः 'उरालि'त्ति विस्तीर्णा बलाहका-मेघाः 'संसेयंति'संस्विद्यंति उत्पादाभिमुखीभवन्ति 'संमुच्छंति' सम्मूर्च्छन्ति-उत्पद्यन्ते,'वासं'ति वर्षन्ति, 'तब्वइरित्ते य'त्ति ह्रदपूरणादतिरिक्तश्च उत्कलितः 'आउयाए'त्ति अप्कायः,'अहिनिस्सवइ'त्ति अभिनिःश्रवति-क्षरति अदूरसामन्ते-नातिदूरे नातिसमीपे 'महातवो'त्ति आतपः-उष्णता महाश्चासावातपश्चेति महातपः, महातपस्य उपतीरं—तीरसमीपे प्रभवः-उत्पादो यस्य स महातपोपतीरप्रभवः 'पासवणे'त्ति प्रश्रवति-क्षरतीति प्रश्रवणः, प्रस्यन्दन् 'वक्कमंति' उत्पद्यन्ते 'विउक्कमंति' विनश्यन्ति, एतद्व्यत्ययेनाह-च्यवन्ते उत्पद्यन्ते 'एस णं'ति एषः अन्ययूथिककृताघसंज्ञो महातपोपतीरप्रभवप्रश्रवण इति ॥ द्वितीयशते पञ्चम उद्देशकः ॥

अथ षष्ठे भाषास्वरूपमुच्यते-'से नूणं'ति (सू० ११३) 'से'त्ति अथ नूनं-निश्चितं, भदन्त ! गुर्वाभिज्ञप्तं अहं मन्ये-अवबुद्धे 'ओहारणिया' अवधार्यते—अवगम्यते अनयेत्यवधारिणी, अवबोधबीजभूतेत्यर्थः, अथ भदन्त ! एवमहं मन्ये अवश्यमवधारणी भाषा इति, भाषापदं प्रज्ञापनायामेकादशं भणितव्यं, इह भाषा द्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्यादिभेदैरन्यैश्च बहुभिः पर्यायैर्विचा-

२ शतके ६ उद्देशः

॥५१॥



श्रीभग-लघुवृत्तौ

र्यत इति, द्वितीयेशते षष्ठ उद्देशकः २-६ ।

'जहा ठाणपए' (सू० ११४) यथा प्रज्ञापनायां द्वितीये स्थानाख्यपदे च वक्तव्यता सेति तथा भणितव्या, सा चैवम्–'इमीसे रयणप्पभाए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिमेगं जोयणसहस्समोगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठुत्तरजोयणसयसहस्से एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं सत्त भवणकोडीओ बावत्तरिं च भवणावाससयसहस्सा भवंतीतिमक्खाय'मित्यादि, 'उववाएणं'ति उपपातो—भवनपतिस्वस्थानप्राप्त्याभिमुख्यं तेन, उपपातमाश्रित्येत्यर्थः, लोकस्यासङ्ख्येयतमे भागे वर्त्तन्ते भवनवासिन इति, एवमन्यदपि भणितव्यं, तच्चेदं 'समुग्घाएणं लोगस्स असंखिज्जभागे' मारणान्तिकादिसमुद्घातवर्त्तिभवनपतयो लोकासङ्ख्येयभागे वर्त्तन्ते, 'सट्ठाणेणं लोगस्स असंखिज्जभागे' स्वस्थानस्थोक्तभवनावाससातिरेककोटीसप्तलक्षणस्य लोकासङ्ख्येयभागवर्त्तित्वादिति, एवं दाक्षिणात्यानां चासुरादीनामौदीच्यानां नागादीनामपि तथौचित्येन व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकस्थानानि वाच्यानि, यावत्सिद्धिगण्डिका, 'कप्पाण'न्ति कल्पानां प्रतिष्ठानं–आधारो वाच्य इति, स चैवम्–'सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणपुढवी किंपइट्ठिया पं०?, गो० ! घणोदहिपइट्ठिया पन्नत्ता, आह च "घणउदहिपइट्ठाणा, सुरभवणा होंति दोसु कप्पेसु। तिसु वाउपइट्ठाणा, तदुभयसुपइट्ठिया तिसुवि ॥१॥ तेण परं उवरिमगा आगासंतरपइट्ठिया सव्वे।" 'बाहल्ले'त्ति विमानपृथिवीपिण्डो वाच्यः, स चैवं–'सोहम्मीसाणेसु णं भंते! कप्पेसु विमाणपुढवी किंबाहल्लेणं पं०?, गो०! सत्तावीसं जोयणसयाइं' इत्यादि, आह च–"सत्तावीस सयाइं आइमकप्पेसु पुढविबाहल्लं। एक्केकहाणि सेसे दु दुगे य दुगे चउके य ॥२॥" ग्रैवेयकेषु द्वाविंशतियोजनशतानि, अनुत्तरेष्वेकविंशतिरिति, 'उच्चत्तं'ति विमानोच्चत्वं वाच्यं, तच्चैवं–'सोहम्मी० विमाणा केव-

२ शतके ७ उद्देशः

अत्र **शतक**-२, उद्देषक: ६ समाप्त:, अथ **शतक**-२ **उद्देशक** : ७ आरब्ध:

श्रीभग-लघुवृत्तौ

इयं उच्चत्तेणं पं०?, गो०! पंचजोयणसयाइं," आह च–"पंचसयुच्चत्तेणं आइमकप्पेसु होंति य विमाणा। एक्केकवुड्ढिसेसे दु दुगे य दुगे चउक्के य ॥१॥ ग्रैवेयकेषु १० योजनशतानि, अनुत्तरेषु ११ शतयोजनशतति। 'संठाणं'ति विमानसंस्थानं वाच्यं, सोहम्मी० विमाणा किंसंठिया पं०?, गो०! जे आवलियापविट्ठा ते वट्टा तंसा चउरंसा,जे आवलियाबाहिरा ते नाणासंठिया इत्यादि वक्तव्यता श्रीजीवाभिगमवैमानिकोद्देशके नेतव्येति ॥ द्वितीये सप्तम उद्देशकः २–७ ॥

'उप्पायपव्वए'त्ति (सू० ११५) तिर्यग्लोकगमनाय यत्रागत्योत्पतति स उत्पातपर्वतः गो०! 'थूभस्स'त्ति गोतमस्तुभो लवणाब्धिमध्ये पूर्वदिशि नागराजावासगिरिः, तस्यादिमध्यान्तेषु विष्कम्भप्रमाणमिदं–'कमसो विक्कखम्भो से दसबावीसाइं जोयणसयाइं १। सत्तसए तेवीसे २ चत्तारि सया चउव्वीसे ३ ॥१॥ 'नवरं'ति मूले दस बावीसे जोयणसए विक्खंभेणं,मज्झे चत्तारि चउव्वीसे, उवरि सत्त तेवीसे, मूले तिन्नि जोयणसहस्साइं, दोन्नि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं मज्झे, एगं जोयणसहस्सं तिन्नि इगुयाले जोयणसए किंचि० परिक्खेवेणं उवरिं, दोन्नि जोयणसहस्साइं दोन्नि बत्तीसाए जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं, पुस्तकान्तरे श्वेतत्सकलमस्त्येवेति, 'वरवइर'त्ति वरवज्रस्येव विग्रहः—आकृतिर्यस्य स वरवज्रविग्रहिको, मध्यक्षाम इति 'मउंदे'त्ति मुकुन्दो वाद्यविशेषः, आकाशस्फटिकवत् 'सण्हे' श्लक्ष्णः 'लण्हे' मसृणः, 'उल्लोयभूमिवण्णउ'त्ति उल्लोकः–प्रासादस्योपरिभागः तस्य वर्णकः, स चैवम्-'तस्स पासायवडिंसगस्स एरिसे उल्लोए पण्णत्ते, पउमलयभत्तिचित्ते, इत्यादि, भूमिवर्णकस्त्वेवम्–'तस्स पासायवडिंसयस्स बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते'इत्यादि 'सपरिवारं'ति चमरसम्बन्धिपरिवारसिंहासनोपेतं 'उवारियल्लेणं'ति गृहस्य पीठबन्धकल्पं 'सव्वप्पमाणं'ति अयमर्थो यत्तस्यां राजधान्यां प्राकारप्रासादसभादि वस्तु

२ शतके ८ उद्देशः

॥५२॥

अत्र **शतक**-२, उद्देषक: ७ समाप्तः, अथ **शतक**-२ **उद्देशक** : ८ आरब्धः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [११५]

दीप अनुक्रम [१४०]

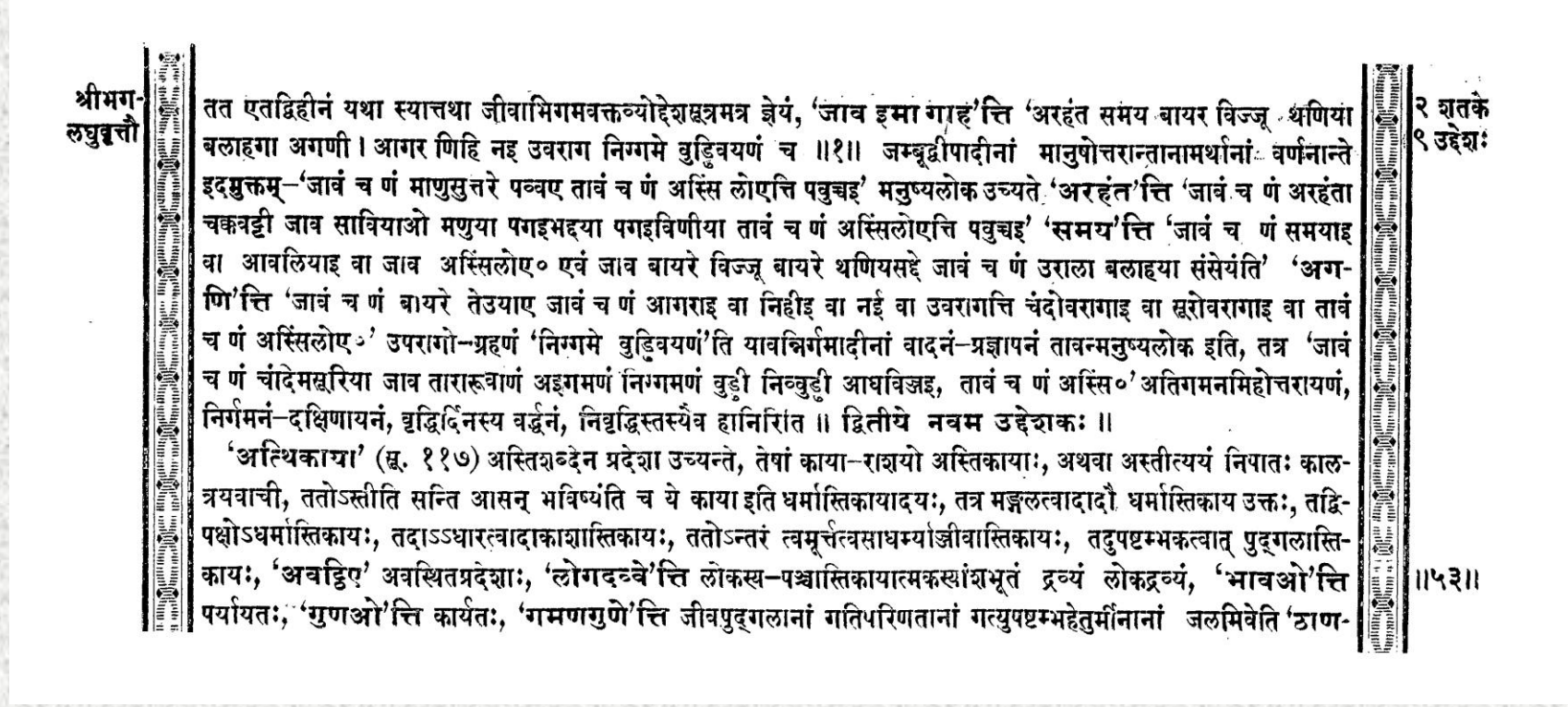
श्रीभग-लघुवृत्तौ

तस्य सर्वस्योच्छ्रयादिप्रमाणं सौधर्मवैमानिकविमानप्राकारप्रासादसभादिवस्तुगतस्य प्रमाणस्यार्द्धं नेतव्यं, तथाहि–सौधर्मदेवविमानप्राकारस्त्रीणि योजनशतान्युच्चत्वेन एतस्याः सार्द्धशतं, सोधर्मविमानमूलप्रासादः पञ्च योजनशतानि, तदन्ये चत्वारस्तत्परिवारभूताः सार्द्धे द्वे शते प्रत्येकं च तेषां चतुर्णामन्ये परिकरभूताश्चत्वारः सपादं शतं तदन्ये तत्परिकरभूताः ४ सार्द्धा द्विषष्टिः, एवमन्ये सपादमेकत्रिंशत्, इह तु मूलप्रासादः सार्द्धे द्वे योजनशते एवमर्द्धार्द्धहीनास्तदपरे यावदन्तिमाः १५ योजनानि पञ्च योजनस्याष्टांशाः, एतदेव वाचनान्तरे उक्तं–'चत्तारि परिवाडिओ पासायवडिंसगाणं अद्धद्धहीणाओ'त्ति, एतेषां प्रासादानां चतसृष्वपि परिपाटिषु त्रीणि योजनशतानि एकचत्वारिंशदधिकानि स्युः, एतेभ्यः प्रासादेभ्य उत्तरपूर्वस्यां–ईशानदिग्भागे सभा सुधर्मा सिद्धायतनमुपपातसभा ह्रदोऽभिषेकसभा व्यवसायसभा वा, एतानि सुधर्मसभादीनि सौधर्मवैमानिकसभादिभ्यः प्रमाणतोऽर्द्धप्रमाणानि, एषामुच्छ्रयः ३६ योजनानि, पञ्चाशदायामो विष्कम्भश्च पञ्चविंशतिरिति, सर्वं च जीवाभिगमोक्तं विजयदेवसम्बन्धि चमरस्य वाच्यं, यावदुपपातसभायां सङ्कल्पश्चाभिनवोत्पन्नस्य–किं मम पूर्वं पश्चाद्वा कर्तुं श्रेय इत्यादिरूपः, अभिषेकसभायामभिषेको महर्द्ध्या सामानिकादिदेवकृतः, अलङ्कारपर्षदि वस्त्रालङ्कारादि, व्यवसायसभायां पुस्तकवाचनं, **'अच्चणिय'त्ति** अर्चनिका सिद्धायतनसिद्धप्रतिमादीनां **'सहगमो'त्ति** सुधर्मसभागमनं च,चमरस्य परिवारश्च सामानिकादिः,**'इड्ढित्तं'** ऋद्धिमत्त्वं वाच्यमिति ॥ **द्वितीयेऽष्टम उद्देशकः॥**

'समयखेत्तत्ति' (सू० ११६) समयः–कालस्तेन युक्तं क्षेत्रं समयक्षेत्रं, कालो हि दिनमासादिरूपः सूर्यगतिसमभिव्यङ्ग्यो मनुष्यक्षेत्रे एव, न परतः,परतो हि न सूर्यास्संचरिष्णव इति जीवाभिगमवक्तव्यता नेतव्या,एषा चैवम्–'एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेण'मित्यादि, **'जोइसविसूणं'**ति जीवाभिगमोक्तजम्बूद्वीपादिमनुष्यक्षेत्रवक्तव्यतायां ज्योतिष्कवक्तव्यता उक्ताऽस्ति

२ शतके ८ उद्देशः

अत्र **शतक**-२, उद्देषक: ८ समाप्तः, अथ **शतक**-२ **उद्देशक** : ९ आरब्धः



श्रीभग-लघुवृत्तौ

तत एतद्विहीनं यथा स्यात्तथा जीवाभिगमवक्तव्योद्देशसूत्रमत्र ज्ञेयं, 'जाव इमा गाहा'त्ति 'अरहंत समय बायर विज्जू थणिया बलाहगा अगणी। आगर णिहि नइ उवराग निग्गमे वुड्ढिवयणं च ॥१॥ जम्बूद्वीपादीनां मानुषोत्तरान्तानामर्थानां वर्णनान्ते इदमुक्तम्–'जावं च णं माणुसुत्तरे पव्वए तावं च णं अस्सिं लोएत्ति पवुच्चइ' मनुष्यलोक उच्यते 'अरहंत'त्ति 'जावं च णं अरहंता चक्कवट्टी जाव सावियाओ मणुया पगइभद्दया पगइविणीया तावं च णं अस्सिलोएत्ति पवुच्चइ' 'समय'त्ति 'जावं च णं समयाइ वा आवलियाइ वा जाव अस्सिलोए० एवं जाव बायरे विज्जू बायरे थणियसद्दे जावं च णं उराला बलाहया संसेयंति' 'अगणि'त्ति 'जावं च णं बायरे तेउयाए जावं च णं आगराइ वा निहीइ वा नई वा उवरागत्ति चंदोवरागाइ वा सूरोवरागाइ वा तावं च णं अस्सिलोए०' उपरागो–ग्रहणं 'निग्गमे वुड्ढिवयणं'ति यावन्निर्गमादीनां वादनं–प्रज्ञापनं तावन्मनुष्यलोक इति, तत्र 'जावं च णं चंदेमसूरिया जाव तारारूवाणं अइगमणं निग्गमणं वुड्ढी निव्वुड्ढी आघविज्जइ, तावं च णं अस्सिं०' अतिगमनमिहोत्तरायणं, निर्गमनं–दक्षिणायनं, वृद्धिर्दिनस्य वर्द्धनं, निवृद्धिस्तस्यैव हानिरिति ॥ द्वितीये नवम उद्देशकः ॥

२ शतके ९ उद्देशः

'अत्थिकाया' (सू. ११७) अस्तिशब्देन प्रदेशा उच्यन्ते, तेषां काया–राशयो अस्तिकायाः, अथवा अस्तीत्ययं निपातः कालत्रयवाची, ततोऽस्तीति सन्ति आसन् भविष्यंति च ये काया इति धर्मास्तिकायादयः, तत्र मङ्गलत्वादादौ धर्मास्तिकाय उक्तः, तद्विपक्षोऽधर्मास्तिकायः, तदाऽऽधारत्वादाकाशास्तिकायः, ततोऽन्तरं त्वमूर्त्तत्वसाधर्म्याज्जीवास्तिकायः, तदुपष्टम्भकत्वात् पुद्गलास्तिकायः, 'अवट्ठिए' अवस्थितप्रदेशाः, 'लोगदव्वे'त्ति लोकस्य–पञ्चास्तिकायात्मकस्यांशभूतं द्रव्यं लोकद्रव्यं, 'भावओ'त्ति पर्यायतः, 'गुणओ'त्ति कार्यतः, 'गमणगुणे'त्ति जीवपुद्गलानां गतिपरिणतानां गत्युपष्टम्भहेतुर्मीनानां जलमिवेति 'ठाण-

॥५३॥

	अत्र शतक-२, उद्देषकः ९ समाप्तः, अथ शतक-२ उद्देशक : १० आरब्धः

गुणे'त्ति स्थितिपरिणतजीवपुद्गलानां स्थित्युपष्टम्भहेतुर्मीनानां स्थलमिव,'अवगाहणागुणे'त्ति जीवादीनामवकाशहेतुःबदराणां कुण्डमिव, 'उवओगगुणे'त्ति उपयोगः–चैतन्यं साकारमनाकारभेदं, 'गहणगुणे'त्ति ग्रहणं–मिथःसम्बन्धनं जीवेन औदारिकादिप्रकारैः ॥ 'खण्डे चक्के'त्ति (सू० ११८) खण्डं च–ऊनं न स्यात्, किन्तु सकलमेव चक्रं स्यात्, एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशेन न्यूनो न धर्मास्तिकाय इति वक्तव्यः स्यात् इति निश्चयनयमतं, व्यवहारनयमतं तु एकदेशेन न्यूनमपि वस्तु वस्त्वेव, यथा खण्डोऽपि घटो घट एव, छिन्नकर्णोऽपि श्वा श्वैव,भणितं च 'एकदेशविकृतमनन्यवदि'ति, एवं 'मोयए'त्ति मोदकोऽपि, 'से किं खाइं'ति अथ किंपुनरित्यर्थः, सर्वे–समस्ताः ते च देशापेक्षयापि स्युरतः 'कसिणे'त्ति कृत्स्नाः, 'पडिपुण्ण'त्ति प्रतिपूर्णाः–आत्मस्वरूपेणाविकलाः 'निरवसेस'त्ति प्रदेशान्तरतोऽपि स्वस्वभावेनान्यूनाः, 'एकग्गहणगहिय'त्ति एकशब्दग्रहणेन धर्मास्तिकाय इत्येवंलक्षणेन गृहीता ये ते, एकशब्दाभिधेया इत्यर्थः, नवरं 'तिण्हंपि पएसा अणंता भाणियव्व'त्ति, धर्माधर्मयोरसङ्ख्येयाः प्रदेशा उक्ताः, आकाशादीनामनन्ताः प्रदेशा वाच्याः, अनन्तप्रदेशिकत्वान्नयाणामपि,'सउड्ढाणे'त्ति (सू० ११९) इत्यादि विशेषणानि सिद्धजीवव्युदासार्थानि, 'आयभावेणं'ति उत्थानशयनगमनभोजनादिरूपेणात्मपरिणामविशेषेण, 'जीवभावं'ति जीवत्वंचैतन्यमुपदर्शयति–प्रकाशयति इति, 'वत्तव्वं'ति वक्तव्यं स्याद्, विशिष्टस्योत्थानादेर्विशिष्टचेतनापूर्वकत्वादिति, 'अणंताणाभिनिबोहियनाणपज्जव'त्ति पर्यवाः–प्रज्ञाकृता अविभागपलिच्छेदाः, ते चानन्ता आभिनिबोधिकज्ञानस्य, अतोऽनन्तानामाभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणां सम्बन्धिनामनन्ताभिनिबोधिकज्ञानपर्यवात्मकं उपयोगं–चेतनाविशेषं गच्छति इति हृदयस्थं, उत्थानादावात्मभावे वर्त्तमान इति योगः, अत 'उवओगलक्खणेणं'ति उपयोगलक्षणो जीवस्तेनार्थेन–तस्मात् कारणादुपयोगलक्षणं जीव-

श्रीभग-लघुवृत्तौ

भावमुत्थानाद्यात्मभावेनोपदर्शयतीति वक्तव्यं स्यादेव । **'लोगागासे अलोगागासे'त्ति** (सू० १२०) तत्र लोकालोकाकाशयोर्लक्षणमिदं—धर्मादीनां वृत्तिर्यत्र द्रव्याणां स्यात् तत्क्षेत्रं तैर्द्रव्यैः सह लोकः, तद्विपरीतोऽलोकः,' **'लोगागासे ण'मित्यादौ षट्** प्रश्नाः, लोकाकाशे अधिकरणे **'जीव'त्ति संपूर्णानि जीवद्रव्याणि,'जीवदेस'त्ति** जीवस्यैव बुद्धिपरिकल्पिता द्व्यादयो विभागाः, **'जीवपएस'त्ति** जीवस्यैव बुद्धिकृताः प्रदेशाः, प्रदेशा निर्विभागा विभागाः, एवं अजीवषट्प्रश्नचायामपि जे अजीवा ते रूवी यत्ति—मूर्त्ताः पुद्गलाः **'अरूवी य'त्ति** अमूर्त्ता धर्मास्तिकायादयः, **'खंध'त्ति** परमाणुसमूहात्मकः तदेशा द्व्यादयो विभागाः, प्रदेशाः तस्यैव निरंशाः, **'परमाणु'त्ति** स्कन्धभावमनापन्नाः परमाणव इति, **'जे अरूवी ते पंचविह'त्ति,** कथमित्याह—**'धम्मत्थिकाए'त्ति** इह जीवानां पुद्गलानां च बहुत्वाद् एकस्यापि जीवस्य पुद्गलस्य वा स्थाने संकोचादितथाविधपरिणामवशाद् बहवो जीवाः पुद्गलाश्चेति, तथा तद्देशास्तत्प्रदेशाश्च सम्भवन्ति, इतिकृत्वा जीवाश्च जीवप्रदेशाश्च, तथा रूपिद्रव्यापेक्षया अजीवा अजीवदेशा अजीवप्रदेशाश्चेति सङ्गतं, एकत्राप्याश्रये भेदवतो वस्तुत्रयस्य सद्भावात्, धर्मास्तिकायादौ तु द्वितयमेव युक्तं, यतो यदा सम्पूर्णं वस्तु विवक्ष्यते तदा धर्मास्तिकायादि उच्यते, तदंशविवक्षायां तु तत्प्रदेशा इति, तेषामवस्थितरूपत्वात्, तद्देशकल्पना त्वयुक्ता, तेषामनवस्थितरूपत्वादिति, अत आह—**'नो धम्मत्थिकायस्स देसेत्ति, नो अधम्मत्थिकायस्स देसे'त्ति, चूर्णिकारोऽप्याह**—"अरूविणो दव्वा समुदयसद्देण भणंति नीसेसा, पएसेहिं वा नीसेसा भणिआ, नो देसेण, तस्स अणवट्ठियपमाणत्तणओ, तेण न देसेण निद्देसो, जो पुण देससद्दो एएसु कओ सो सविसयववहारत्थं परदव्वफुसणादिगयववहारत्थं वे"ति, तत्र स्वविषये धर्म्मास्तिकायादिरूपे यो देशव्यवहारो यथा धर्मास्तिकायः स्वदेशेनोर्ध्वलोकाकाशं व्याप्नोति तदर्थं, तथा परद्रव्येण ऊर्ध्व-

२ शतके १० उद्दे.

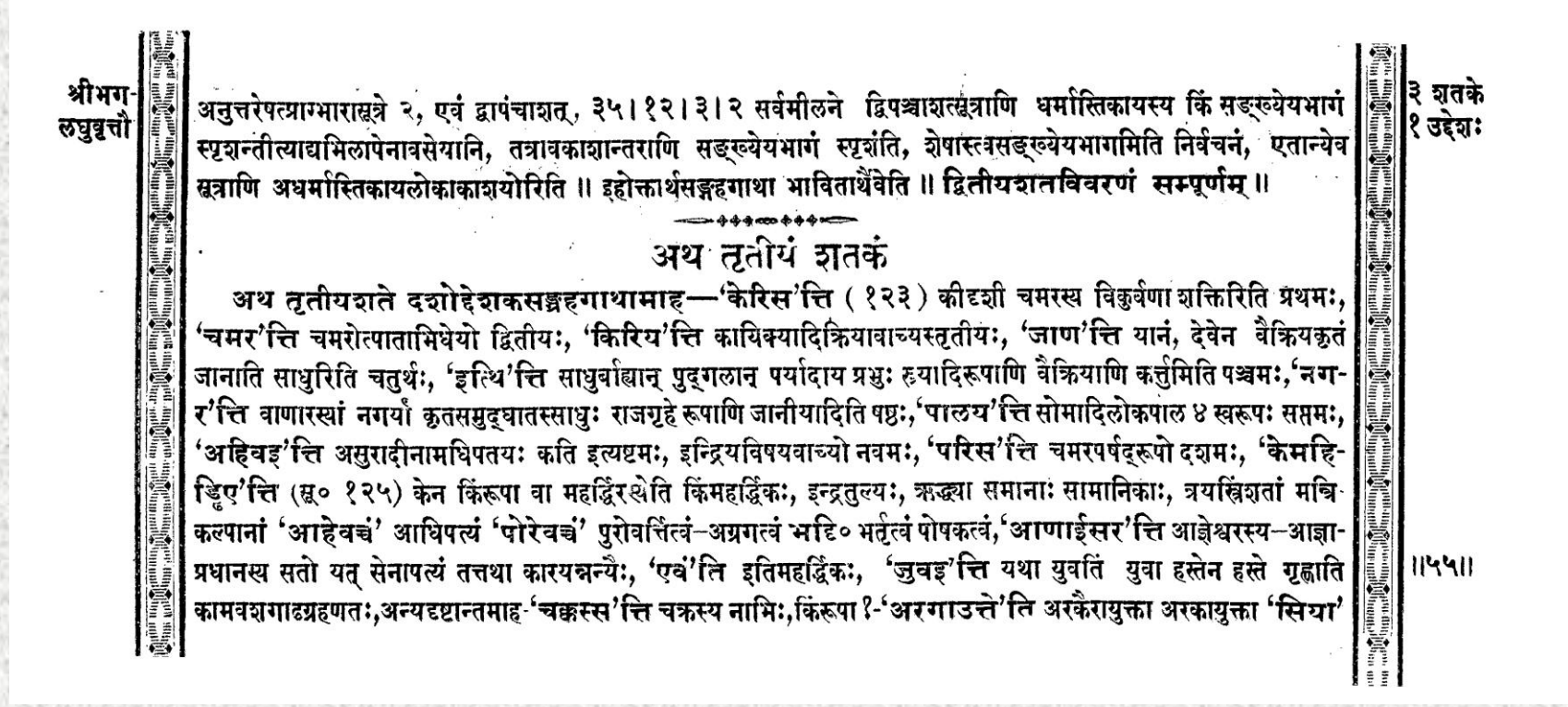
॥ ५४ ॥

लोकाकाशादिना यस्तस्य स्पर्शनादिगतो व्यवहारो यथोर्ध्वलोकाकाशेन धर्मास्तिकायस्य देशः स्पृश्यते इत्यादिस्तदर्थमिति, 'अद्धा-समए'त्ति अद्धा-कालस्तल्लक्षणः समयः-क्षणः अद्धासमयः, स चैक एव, वर्त्तमानलक्षणः, अतीतानागतयोरसत्त्वात् । अथालोकाकाशं प्रति प्रश्नयन्नाह-'पुच्छा तह चेव'(सू. १२१)यथा लोकप्रश्नः तथैव, निर्वचनं तेषां पण्णामपि निषेधः, 'एगे अजीवदव्वदेस'त्ति अलोकाकाशस्य देशत्वं लोकालोकाकाशद्रव्यस्य भागरूपत्वात् , 'अगुरुलहुए'त्ति गुरुलघुत्वाव्यपदेश्यत्वात् , 'अणंतेहिं' अनन्तैः स्वपर्यायपरपर्यायरूपैर्गुणैः, अगुरुलघुस्वभावैरित्यर्थः, 'सव्वागासे'त्ति अलोकाकाशस्य लोकाकाशसम्बद्धत्वेन अलोकाकाशं सर्वाकाशमित्युच्यते,'अणंतभागूणे'त्ति लोकाकाशस्यालोकाकाशापेक्षया अनन्तभागरूपत्वात तेनालोकाकाशमनन्तभागोनमित्यर्थः॥ अथ धर्म्मास्तिकायादिप्रमाणमाह-'केमहालए'त्ति (सू, १२२) लुप्तभावप्रत्ययत्वात् निर्देशस्य किं महत्त्वं यस्यासौ किंमहत्त्वः, 'लोए'त्ति लोको लोकप्रमितत्वात् , लोकमात्रो लोकप्रमाणः, 'लोयफुडे'त्ति लोकेन-लोकाकाशेन सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्टो लोकस्पृष्टः,'लोयं चेव'त्ति लोकमेव च स्पृष्ट्वा स्वप्रदेशैस्तिष्ठतीति । 'अहोलोएणं'ति (सू. १२३) 'सातिरेगमद्धं'ति लोकव्यापकत्वाद्धर्म्मास्तिकायस्य सातिरेकसप्तरज्जुप्रमाणत्वाच्चाधोलोकस्य 'असंखेज्जइभागं'ति असङ्ख्यातयोजनप्रमाणस्य धर्म्मास्तिकायस्य ऊर्ध्वाधो मेरुरुचकादि अष्टादशयोजनशतप्रमाणस्तिर्यग्लोकः, यतः-'सगरज्जू तिरियाऽट्ठारसजोयणसय'त्ति लोकनालिवचनात् इति, असङ्ख्यातभागवर्त्तीति तस्यासावसङ्ख्येयभागं स्पृशति,'देसूणमद्धं'ति देशोनसप्तरज्जुप्रमाणत्वादूर्ध्वलोकस्येति,'इमा णं भंते'त्ति इह रत्नप्रभायां प्रथमं रत्नप्रभासूत्रं घनोदधिसूत्रं घनवातसूत्रं तनुवातसूत्रं ४ अवकाशान्तरसूत्रं पञ्चमं, एवं प्रति पृथिवीं पञ्च सूत्राणि स्युः, ततः सप्तानां पञ्चभिर्गुणने जातानि पञ्चत्रिंशत्सूत्राणि, द्वादशदेवलोकसूत्राणि द्वादश, ग्रैवेयकसूत्राणि त्रीणि,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१२३-१२५] + गाथा

दीप अनुक्रम [१४८-१५२]



श्रीभग-लघुवृत्तौ

अनुत्तरेषत्प्राग्भारासूत्रे २, एवं द्वापंचाशत्, ३५।१२।३।२ सर्वमीलने द्विपञ्चाशत्सूत्राणि धर्मास्तिकायस्य किं सङ्ख्येयभागं स्पृशन्तीत्याद्यभिलापेनावसेयानि, तत्रावकाशान्तराणि सङ्ख्येयभागं स्पृशंति, शेषास्त्वसङ्ख्येयभागमिति निर्वचनं, एतान्येव सूत्राणि अधर्मास्तिकायलोकाकाशयोरिति ॥ इहोक्तार्थसङ्ग्रहगाथा भावितार्थैवेति ॥ द्वितीयशतविवरणं सम्पूर्णम् ॥

अथ तृतीयं शतकं

अथ तृतीयशते दशोद्देशकसङ्ग्रहगाथामाह—'केरिस'त्ति (१२३) कीदृशी चमरस्य विकुर्वणा शक्तिरिति प्रथमः, 'चमर'त्ति चमरोत्पाताभिधेयो द्वितीयः, 'किरिय'त्ति कायिक्यादिक्रियावाच्यस्तृतीयः, 'जाण'त्ति यानं, देवेन वैक्रियकृतं जानाति साधुरिति चतुर्थः, 'इत्थि'त्ति साधुर्वाह्यान् पुद्गलान् पर्यादाय प्रभुः स्त्र्यादिरूपाणि वैक्रियाणि कर्त्तुमिति पञ्चमः, 'नगर'त्ति वाणारस्यां नगर्यां कृतसमुद्घातस्साधुः राजगृहे रूपाणि जानीयादिति षष्ठः, 'पालय'त्ति सोमादिलोकपाल ४ स्वरूपः सप्तमः, 'अहिवइ'त्ति असुरादीनामधिपतयः कति इत्यष्टमः, इन्द्रियविषयवाच्यो नवमः, 'परिस'त्ति चमरपर्षद्रूपो दशमः, 'केमहिड्ढिए'त्ति (सू० १२५) केन किंरूपा वा महर्द्धिरस्येति किंमहर्द्धिकः, इन्द्रतुल्यः, ऋद्ध्या समानाः सामानिकाः, त्रयस्त्रिंशतां मन्त्रिकल्पानां 'आहेवच्चं' आधिपत्यं 'पोरेवच्चं' पुरोवर्त्तित्वं-अग्रगत्वं भट्टि० भर्तृत्वं पोषकत्वं, 'आणाईसर'त्ति आज्ञेश्वरस्य-आज्ञाप्रधानस्य सतो यत् सेनापत्यं तत्तथा कारयन्नन्यैः, 'एवं'ति इतिमहर्द्धिकः, 'जुवइ'त्ति यथा युवतिं युवा हस्तेन हस्ते गृह्णाति कामवशगाढग्रहणतः, अन्यदृष्टान्तमाह-'चक्कस्स'त्ति चक्रस्य नाभिः, किंरूपा?-'अरगाउत्ते'ति अरकैरायुक्ता अरकायुक्ता 'सिया'

३ शतके १ उद्देशः

॥५५॥

अत्र **शतक**-२, उद्देषक: १० समाप्तः, तत् समाप्ते **शतक**-२ अपि परिसमाप्तं

शतक-३ आरभ्यते

शतक-३, **उद्देशक** : १ आरब्धः

स्याद् भवेत् 'एवामेव'त्ति, निरन्तरतयेत्यर्थः, वृद्धैस्त्वेवं ख्यातं-यथा यात्रादिषु युवतिर्यूनो हस्ते लग्ना प्रतिबद्धा गच्छेत् बहुलोकप्रचितदेशे, एवं यानि रूपाणि विकुर्वितानि तान्येकस्मिन् कर्त्तरि प्रतिबद्धानि,यथा चक्रनाभिरेका बह्वारकप्रतिबद्धा घना निश्छिद्रा स्यात् एवं जम्बूद्वीपं स्वशरीरप्रतिबद्धासुरदेवदेवीभिः पूरयेदिति योगः, 'वेउव्विसमु'त्ति वैक्रियकरणाय प्रयत्नविशेषेण 'समोहण्णइ' समुपहतः स्यात्, समुपहन्ति वा स्वप्रदेशान् विक्षिपतीति 'संखेज्जाइं' इति, दंड इव दण्डः ऊर्ध्वमध आयतः शरीरबाहल्यो जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसमूहः, 'रयणाणं'ति रत्नानां कर्केतनादीनां, इह च यद्यपि रत्नादिपुद्गला औदारिका वैक्रियसमुद्घाते च वैक्रिया एव ग्राह्याः, तथापि तेषां रत्नादिपुद्गलानामिव सारतांप्रतिपादनाय रत्नानामित्याद्युक्तम्, तच्च रत्नानामिवेति व्याख्येयम्, अन्ये त्वाहुः-औदारिका अपि ते गृहीताः सन्तो वैक्रियतया परिणमन्ति, 'अहाबायरे'त्ति यथाबादरान्-असारान् पुद्गलान् परिशातयति दण्डनिसर्गगृहीतान् 'अहासुहुमे'त्ति यथासूक्ष्मान् सारान् पर्यादत्ते दण्डनिसर्गगृहीतान् सामस्त्येनादत्ते, ततश्च प्रभुः-समर्थः, 'केवलकप्पं'ति सम्पूर्णं जम्बूद्वीपं 'आइण्णं'ति व्याप्तं, आइन्नमित्यादयः शब्दाः एकार्था अत्यन्तव्याप्तिप्रदर्शनायोक्ताः, 'अदुत्तरं च णं'ति अथापरं चेदं सामर्थ्यातिशयवर्णनं, 'विसए'त्ति गोचरो वैक्रियकरणशक्तेः, विषयमात्रं क्रियाशून्यं 'वुइए'त्ति उक्तमेतदिति, 'संपत्तीए'त्ति यथोक्तार्थसम्पादनेन 'विकुव्विंसु व'त्ति विकुर्वितवान् विकुर्वति वा विकुर्विष्यति वा, विकुर्व इत्ययं धातुः सामयिकोऽस्ति, विकुर्वणेत्यादिप्रयोगदर्शनात्, 'संखेज्जे दीवसमुद्दे'त्ति (सू० १२६) लोकपालानां सामानिकेभ्योऽल्पतरर्द्धिकत्वेनाल्पतरत्वाद्वैक्रियकरणलब्धेः, 'अपुट्ठवागरणं'ति (सू० १२७) अपृष्टे सति प्रतिपादनं 'वइरोयणिंदे'त्ति दाक्षिणात्यासुरकुमारेभ्यो विशिष्टं रोचनं-दीपनं येषामस्ति वैरोचना-औदीच्यासुरास्तेषामिन्द्रो वैरोचनेन्द्रः,

श्रीभग-लघुवृत्तौ

'साइरेगं केवलकप्पं'ति उदीच्येन्द्रत्वेन बलेर्विशिष्टतरलब्धिकत्वादिति, 'तीसए'त्ति(सू० १२९) तिष्यकाख्य इति 'सयंसि' स्वके विमाने 'पंचविहाए'त्ति पर्याप्तिराहारशरीरादीनामभिनिर्वृत्तिः, साऽन्यत्र षोढा उक्ता, इह तु पञ्चधा, भाषामनःपर्याप्त्योर्बहुश्रुताभिमतेन केनापि कारणेनैकत्वविवक्षणात्, 'लद्धे'त्ति जन्मान्तरे तदुपार्जनेन 'पत्ते'ति प्राप्ता देवभवापेक्षया 'अभिसमण्णागए'त्ति तद्भोगापेक्षया। 'उद्धं बाहाओ'त्ति (सू०१३१) ऊर्ध्वं बाहू प्रगृह्य-विधायेति, 'कूडागारसालादिट्ठंतो'त्ति(सू. १३३)कूटाकारेण-शिखराकृत्या उपलक्षिता या शाला तया दृष्टान्तो यस्स तथा, कूटाकारशाला स्यात् तदासन्नो महाजनवृन्दस्तिष्ठेत्, स महामेघपटलमुन्नतं दृष्ट्वा कूटाकारशालां प्रविशति, एवमीशानेन्द्रदेवस्य सा दिव्या देवर्द्धिः शरीरकमनुप्रविष्टा, 'किणा'त्ति केन हेतुना, किं वा दत्त्वा दत्त्वा-भक्तादि भुक्त्वा-अन्तप्रान्तादि कृत्वा-तपःसामाचार्यादि, जण्णंति-यस्मात् पुण्यात् णमिति वाक्यालङ्कारे 'पुरा पोराणाणं'ति पुरा-पूर्वं कृतानां पौराणानां अत एव पुराणानां 'सुचिण्णाणं'ति सुचीर्णानां-दानादिसुचरितरूपाणां सुष्ठु पराक्रान्तानां, पराक्रमः-तपःप्रभृतिकं येषु तेषां, शुभानामर्थावहत्वेन कल्याणानामनर्थोपशमेन 'रयण'त्ति रत्नानि कर्केतनादीनि, मणयः-चन्द्रकान्ताद्याः शिला-राजपट्टादिरूपा प्रवालं-विद्रुमा रक्तरत्नानि-पद्मरागादीनि एतद्रूपं यत् 'संतसारसावइ'त्ति सद्-विद्यमानं सारं-प्रधानं स्वापतेयं तेन, 'एगंतसोक्खयं'ति एकान्तशः-एकान्तेन क्षयं नवानामशुभानां कर्मणामनुपार्जनेन 'आढाइ' आद्रियते 'परियाणाइ' परिजानाति स्वामितया, 'पणामाए' प्रणामोऽस्ति विधेयतया यस्यां सा प्राणामी तया, 'सुद्धोयणं'ति सूपशाकादिवर्जितं कूरं 'तिसत्त'त्ति त्रिसप्तकृत्वः-एकविंशतिवारानिति, 'आसाए'त्ति आ-ईषत् स्वादयन् 'वीसाए'त्ति विशेषेण स्वादयन् 'परिभाए'त्ति ददत् 'परिभुंजे'त्ति भोज्यं परिभुञ्जानः, 'जिमिय'त्ति प्रथमैकवचनलोपात् जेमितो-भुक्तवान्,

३ शतके १ उद्देशः

॥५६॥

भुक्तोत्तरं–भोजनोत्तरकालं 'आगए'त्ति आगत उपवेशनस्थाने भुक्तोत्तरागतः 'आयंते'त्ति आचान्तः शुद्धोदकयोगेन 'चोक्खे'त्ति चोक्षो–लेपसिक्थाद्यपनयनेन, अत एव परमशुचिरूप इति, 'खंदं वा' स्कन्दं कार्त्तिकेयं 'सिवं'ति व्यन्तरविषं 'वेसमणं'ति उत्तरदिक्पालं 'अज्जं'ति प्रशान्तरूपां चंडिकां 'कोट्टकिरिं'ति चण्डिकामेव रौद्ररूपां महिषकुट्टनक्रियावतीं 'पाणं व'त्ति श्वपाकं 'अणिच्चजागरिं'त्ति (सू. १३०) अनित्यचिन्तां 'दिट्ठाभट्ठे य'त्ति दृष्टाभाषितान् 'पुव्वसंग'त्ति पूर्वसङ्गतिकान् गृहस्थत्वे परिचितान् 'नियत्तणियमंडलं'ति निवर्त्तनं—क्षेत्रमानविशेषस्तत्परिमाणं निवर्त्तनिकं, निजतनुप्रमाणमित्यन्ये, 'अपुरोहिं'त्ति शान्तिकर्म्मकारिपुरोहितरहिता इन्द्राभावात्, 'निवण्णे' निषण्णः, सुप्त इत्यर्थः, 'ठितिपकप्पं'ति स्थितौ–स्थाने बलिचञ्चाविषये प्रकल्पः–सङ्कल्पश्चिन्तनं स्थितिप्रकल्पस्तं, त्वरितया–आकुलया, न स्वभावजयेति, चपलया वपुश्चापल्ययुक्तया, चण्डया रौद्रया, जयिन्या गत्यन्तरजेतृत्वात्, छेकया–निपुणया, सिंहया सिंहगतिसमानया श्रमाभावेन, शीघ्रया वेगवत्या, दिव्यया प्रधानया, उद्धतया वस्त्रादीनामुद्धतत्वेन सदर्पया वा, 'सपक्खिं'ति सर्वे पक्षाः–पार्श्वाश्चतुर्दिग्विभागा यत्र तत् सपक्षं, इकारः प्राकृतत्वात्, 'सपडिदिसं'ति सर्वाः प्रतिदिशो–विदिग्भागा यत्र तत् सप्रतिदिक्, 'अट्ठं बंधह' प्रयोजननिश्चयं कुरुत, 'अणाढाइज्जमाण'त्ति अनादृियमाणाः 'अपरियाइज्जमाण'त्ति अपर्यादीयमानाः–अनङ्गीक्रियमाणाः। 'आसुरुत्ता' (सू० १३५) आशुरुत्ताः–शीघ्रं कोपविमूढबुद्धयः, कुपिता जातकोपोदयाः, 'चंडक्किय'त्ति प्रकटितरौद्ररूपाः 'मिसिमिसेमाण'त्ति देदीप्यमानाः क्रोधज्वलनेन 'उच्छुहंति' मुखे निष्ठीवनं कुर्युः, 'आकड्ढ'त्ति आकर्षविकर्षिकां कुर्वन्ति, 'हीलंति'त्ति जात्याद्युद्घाटनतः कुत्संति, निन्दन्ति चेतसा, खिंसंति सस्समक्षं वचनैः, तर्जंति अंगुलीशिरश्चालनेन, ताडयन्ति हस्तचपेटया, 'परिवहंति'त्ति परिव्यथन्ते सर्वतो

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

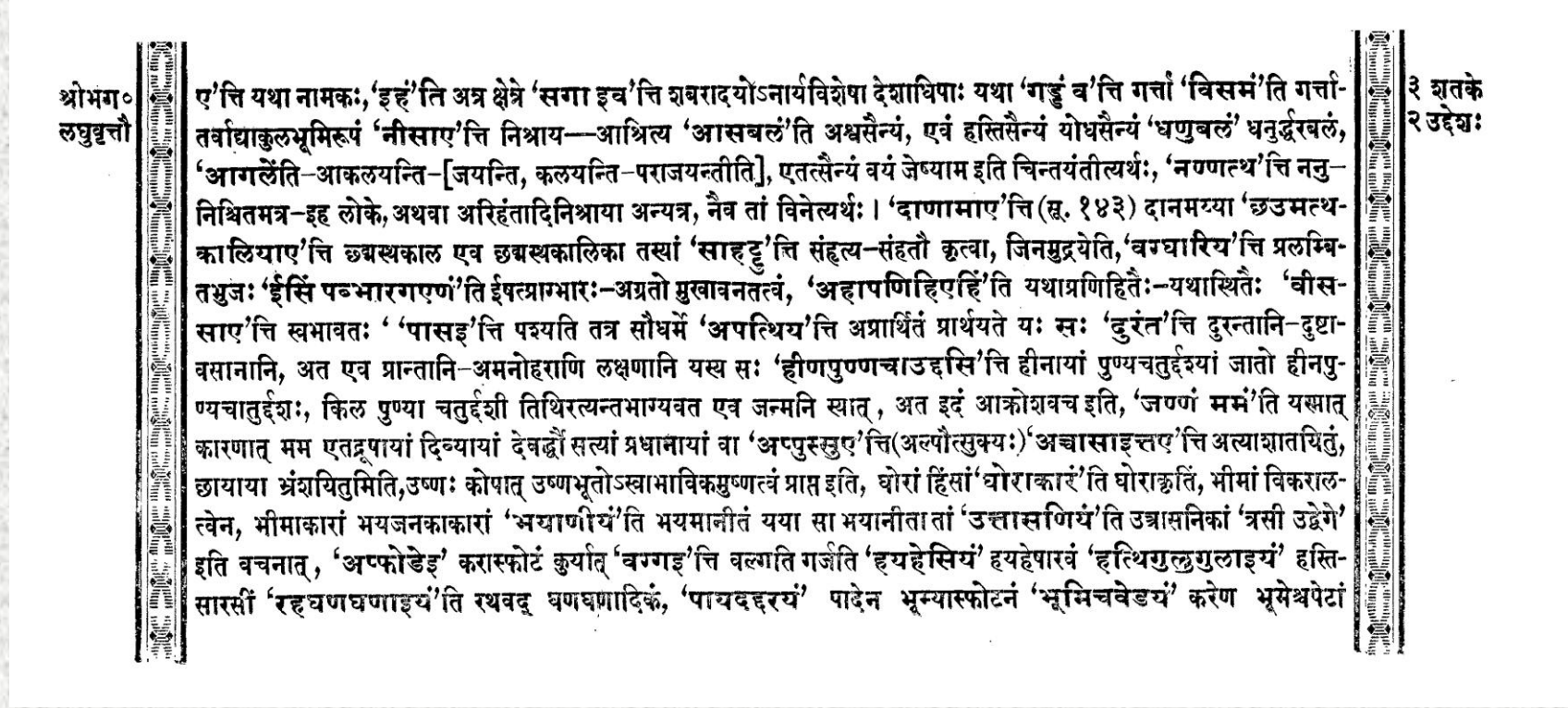
प्रत सूत्रांक [१३६]

दीप अनुक्रम [१६३]

व्यथन्ते 'पव्वथेंति' प्रव्यथंते–प्रकर्षेण कदर्थयन्ति। 'तत्थ'त्ति (सू. १३६) जातभयाः 'तिवलि'न्ति त्रिवलिकां–भ्रूकुटिं दृष्टिविकाररूपां 'भीय'त्ति त्रस्ता भयाज्जातोत्कम्पादिभयभावाः, तृषिताः शुषितानन्दरसाः, उद्विग्नाः त्यागमानसाः, 'समतुरंगे'त्ति समाश्लिष्यन्तः, अन्योऽन्यमनुप्रविशन्त इति वृद्धाः, 'नाइभुज्जो'नैव भूयः 'एवं करणयाए' एवंकरणाय सम्पत्स्यामहे, 'आणा-उववाय'त्ति आज्ञा इदं कर्त्तव्यमेवेति, उपपातः–सेवावचनं, भृत्ययोग्य आदेशः, निर्देशः प्रश्निते कार्ये नियतार्थमुत्तरम्, तत एषां द्वन्द्वस्तत्र, 'उच्चतराए'त्ति (सू. १३७) उच्चत्वं प्रमाणतः उन्नतत्वं गुणतः॥ 'से कहमियाणिं'ति (सू. १३८) अथ कथमिदानीं–अस्मिन् काले कार्यावसरलक्षणे प्रकुरुतः, कार्याणि इति गम्यं, 'इति भो'त्ति परस्परालापानुकरणम्। 'आणुकंपिए' (सू. १४०) कृपावान् 'निस्सेयसिए' निःश्रेयसो–मोक्षः तत्र नियुक्त इव नैःश्रेयसिकः। 'तीसगकुरुदत्ताणं'ति (*२४–२५) तिष्यककुरुदत्तसाध्वोः क्रमेण षष्ठमष्टमं च तपः, मासोऽर्द्धमासश्चानशनं, तथैकस्याष्ट वर्षाणि अन्यस्य च षण्मासा इति, द्वयोरपि भक्तपरिज्ञा अनशनं दीक्षापर्यायश्च। **तृतीयशते प्रथमोद्देशकविवरणम् ३–१ ॥**

'विउव्वेमाण'त्ति (सू० १४१) संरम्भेण महद्वैक्रियशरीरं कुर्वन्तः, 'परियारे'त्ति परिचारयन्तः–परकीयदेवीपरिभोगं कर्तुकामाः 'अहालहुस्सगाइं' यथोचितानि लघुस्वकानि–अमहास्वरूपाणि दिव्यस्त्रीरत्नानि 'आयाए'त्ति आत्मना स्वयं 'एगंतं'विजनं 'अंतं'ति देशं, 'से कहमियाणिं'ति अथ किमिदानीं रत्नग्रहणानन्तरमेकान्तापक्रमणकाले प्रकुर्वन्ति वैमानिका रत्नादातॄणां इति, 'तओ से'त्ति ततो रत्नादानात् 'पच्छ'त्ति अनन्तरं 'से'त्ति तेषां रत्नादातॄणां असुराणां कायं प्रव्यथन्ते–प्रहारैर्मश्नन्ति वैमानिका देवाः, तेषां प्रव्यथितानां वेदना जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टः षण्मासान् यावत्, 'से'त्ति अथ दृष्टान्तोपन्यासे, 'जहा नाम-

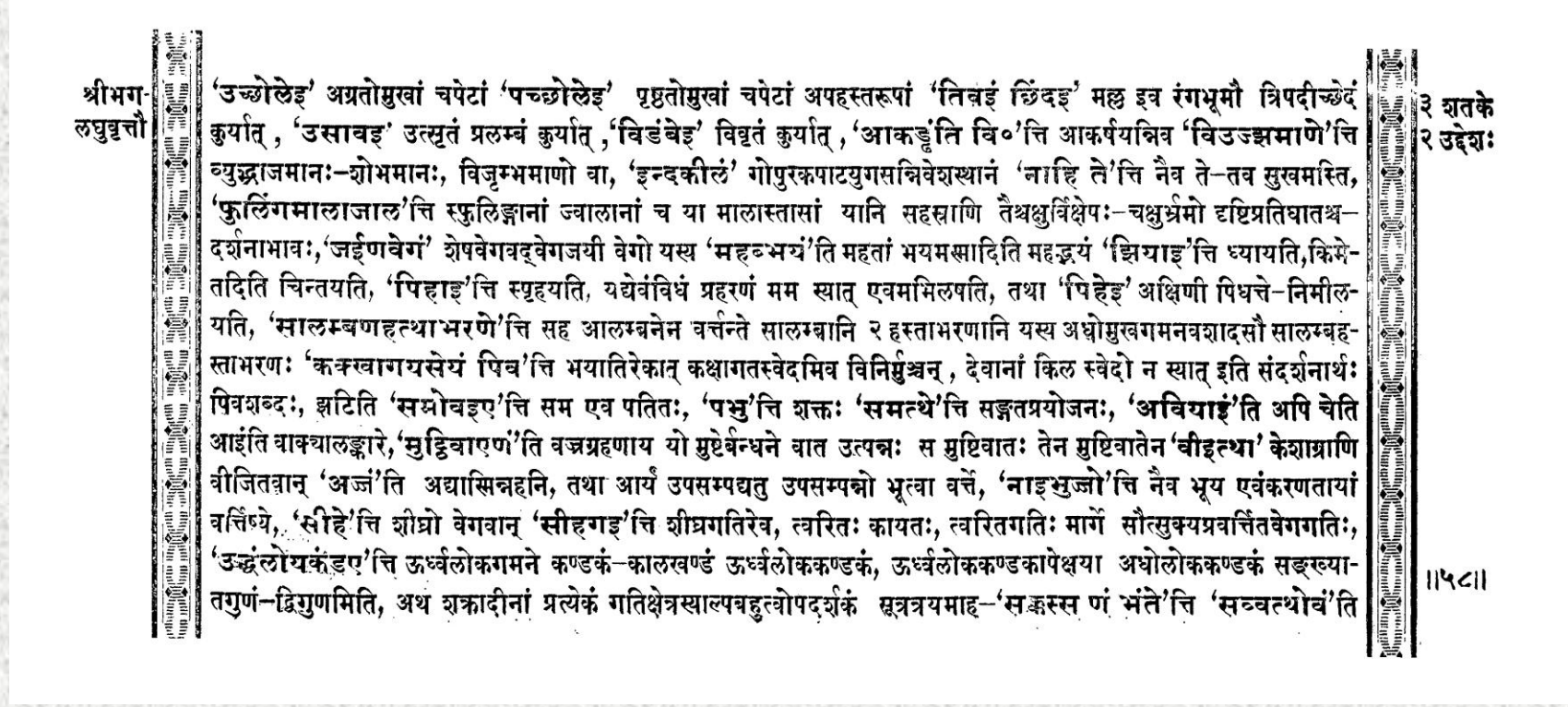
अत्र **शतक**-३, उद्देषकः १ समाप्तः, अथ **शतक**-३ **उद्देशक** : २ आरब्धः



श्रीभग० लघुवृत्तौ

ए'त्ति यथा नामकः, 'इहं'ति अत्र क्षेत्रे 'सगा इव'त्ति शबरादयोऽनार्यविशेषा देशाधिपाः यथा 'गड्डं व'त्ति गर्त्तां 'विसमं'ति गर्त्ता-तर्वाद्याकुलभूमिरूपं 'नीसाए'त्ति निश्राय—आश्रित्य 'आसबलं'ति अश्वसैन्यं, एवं हस्तिसैन्यं योधसैन्यं 'धणुबलं' धनुर्द्धरबलं, 'आगलेंति–आकलयन्ति–[जयन्ति, कलयन्ति–पराजयन्तीति], एतत्सैन्यं वयं जेष्याम इति चिन्तयंतीत्यर्थः, 'नण्णत्थ'त्ति ननु–निश्चितमत्र–इह लोके, अथवा अरिहंतादिनिश्राया अन्यत्र, नैव तां विनेत्यर्थः। 'दाणामाए'त्ति (सू. १४३) दानमय्या 'छउमत्थ-कालियाए'त्ति छद्मस्थकाल एव छद्मस्थकालिका तस्यां 'साहट्टु'त्ति संहृत्य–संहतौ कृत्वा, जिनमुद्रयेति, 'वग्घारिय'त्ति प्रलम्बि-तभुजः 'ईसिं पब्भारगएणं'ति ईषत्प्राग्भारः–अग्रतो मुखावनतत्वं, 'अहापणिहिएहिं'ति यथाप्रणिहितैः–यथास्थितैः 'वीस-साए'त्ति स्वभावतः ' 'पासइ'त्ति पश्यति तत्र सौधर्मे 'अपत्थिय'त्ति अप्रार्थितं प्रार्थयते यः सः 'दुरंत'त्ति दुरन्तानि–दुष्टा-वसानानि, अत एव प्रान्तानि–अमनोहराणि लक्षणानि यस्य सः 'हीणपुण्णचाउद्दसि'त्ति हीनायां पुण्यचतुर्दश्यां जातो हीनपु-ण्यचातुर्दशः, किल पुण्या चतुर्दशी तिथिरत्यन्तभाग्यवत एव जन्मनि स्यात्, अत इदं आक्रोशवच इति, 'जण्णं मम'ंति यस्मात् कारणात् मम एतद्रूपायां दिव्यायां देवर्द्धौ सत्यां प्रधानायां वा 'अप्पुस्सुए'त्ति(अल्पौत्सुक्यः)'अचासाइत्तए'त्ति अत्याशातयितुं, छायाया भ्रंशयितुमिति, उष्णः कोपात् उष्णभूतोऽस्वाभाविकमुष्णत्वं प्राप्त इति, घोरां हिंसां 'घोराकारं'ति घोराकृतिं, भीमां विकराल-त्वेन, भीमाकारां भयजनकाकारां 'भयाणीयं'ति भयमानीतं यया सा भयानीता तां 'उत्तासणियं'ति उत्त्रासनिकां 'त्रसी उद्वेगे' इति वचनात्, 'अप्फोडेइ' करास्फोटं कुर्यात् 'वग्गइ'त्ति वल्गति गर्जति 'हयहेसियं' हयहेषारवं 'हत्थिगुलुगुलाइयं' हस्ति-सारसीं 'रहघणघणाइयं'ति रथवद् घणघणादिकं, 'पायदद्दरयं' पादेन भूम्यास्फोटनं 'भूमिचवेडयं' करेण भूमेश्चपेटां

३ शतके २ उद्देशः



श्रीभग-लघुवृत्तौ

'उच्छोलेइ' अग्रतोमुखां चपेटां 'पच्छोलेइ' पृष्ठतोमुखां चपेटां अपहस्तरूपां 'तिवइं छिंदइ' मल्ल इव रंगभूमौ त्रिपदीच्छेदं कुर्यात्, 'उसावइ' उत्सृतं प्रलम्बं कुर्यात्, 'विडंबेइ' विवृतं कुर्यात्, 'आकड्ढंति वि०'त्ति आकर्षयन्निव 'विउज्झमाणे'त्ति व्युद्भ्राजमानः–शोभमानः, विजृम्भमाणो वा, 'इन्दकीलं' गोपुरकपाटयुगसन्निवेशस्थानं 'नाहि ते'त्ति नैव ते–तव सुखमस्ति, 'फुलिंगमालाजाल'त्ति स्फुलिङ्गानां ज्वालानां च या मालास्तासां यानि सहस्राणि तैश्चक्षुर्विक्षेपः–चक्षुर्भ्रमो दृष्टिप्रतिघातश्च–दर्शनाभावः,'जईणवेगं' शेषवेगवद्वेगजयी वेगो यस्य 'महब्भयं'ति महतां भयमस्मादिति महद्भयं 'झियाइ'त्ति ध्यायति,किमेतदिति चिन्तयति, 'पिहाइ'त्ति स्पृहयति, यद्येवंविधं प्रहरणं मम स्यात् एवमभिलषति, तथा 'पिहेइ' अक्षिणी पिधत्ते–निमीलयति, 'सालम्बणहत्थाभरणे'त्ति सह आलम्बनेन वर्त्तन्ते सालम्बानि २ हस्ताभरणानि यस्य अधोमुखगमनवशादसौ सालम्बहस्ताभरणः 'कक्खागयसेयं पिव'त्ति भयातिरेकात् कक्षागतस्वेदमिव विनिर्मुञ्चन्, देवानां किल स्वेदो न स्यात् इति संदर्शनार्थः पिवशब्दः, झटिति 'सम्भोवइए'त्ति सम एव पतितः, 'पभु'त्ति शक्तः 'समत्थे'त्ति सङ्गतप्रयोजनः, 'अवियाइं'ति अपि चेति आइंति वाक्यालङ्कारे,'मुट्ठिवाएणं'ति वज्रग्रहणाय यो मुष्टेर्बन्धने वात उत्पन्नः स मुष्टिवातः तेन मुष्टिवातेन 'वीइत्था' केशाग्राणि वीजितवान् 'अज्जं'ति अद्यास्मिन्नहनि, तथा आर्यं उपसम्पद्यतु उपसम्पन्नो भूत्वा वर्त्ते, 'नाइभुज्जो'त्ति नैव भूय एवंकरणतायां वर्त्तिष्ये, 'सीहे'त्ति शीघ्रो वेगवान् 'सीहगइ'त्ति शीघ्रगतिरेव, त्वरितः कायतः, त्वरितगतिः मार्गे सौत्सुक्यप्रवर्त्तितवेगगतिः, 'उड्ढंलोयकंडए'त्ति ऊर्ध्वलोकगमने कण्डकं–कालखण्डं ऊर्ध्वलोककण्डकं, ऊर्ध्वलोककण्डकापेक्षया अधोलोककण्डकं सङ्ख्यातगुणं–द्विगुणमिति, अथ शक्रादीनां प्रत्येकं गतिक्षेत्रस्याल्पबहुत्वोपदर्शकं सूत्रत्रयमाह–'सक्कस्स णं भंते'त्ति 'सव्वत्थोवं'ति

३ शतके २ उद्देशः

॥५८॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सर्वस्तोकमधःक्षेत्रं समयेनावपतति, अधोमन्दगतित्वाच्छक्रस्य, 'तिरियं संखेज्ज'त्ति कल्पनया किलैकेन समयेन योजनमधो गच्छति शक्रः, तत्र च योजने द्विधाकृते द्वौ भागौ भवतः, तयोश्चैकस्मिन् द्विभागे मीलिते त्रयः सङ्ख्येयभागाः स्युः, अतस्तान् तिर्यग्गच्छति, सार्द्धं योजनमिति भावः, तिर्यग्गतौ तस्य शीघ्रगतित्वात्, 'उद्धं संखेज्ज'त्ति यान् कल्पनया त्रीन् द्विभागान् तिर्यग्गच्छेत् तेषु चतुर्थेऽन्यस्मिन् द्विभागे मीलिते चत्वारो द्विभागरूपास्सङ्ख्यातभागास्सम्भवन्ति, अतस्तान्ऊर्ध्वं गच्छति, अथ कथं सूत्रे सङ्ख्यातभागमात्रग्रहणे सति इदं नियतभागव्याख्यानं क्रियते?, उच्यते–"जावइयं खित्तं चमरे अहे ओवयइ एक्केणं समएणं तं सक्के दोहिं," तथा "सक्कस्स य उप्पयणकाले चमरस्स य ओवयणकाले एए णं दोण्णिवि तुल्ला" इति वचनान्निश्चीयते–शक्रो यावदधो द्वाभ्यां समयाभ्यां व्रजेत् तावदूर्ध्वं एकेनेति द्विगुणमधःक्षेत्रादूर्ध्वं क्षेत्रं, एतयोश्चापान्तरालवर्त्ति तिर्यक्क्षेत्रं सार्द्धं योजनं स्यादिति व्याख्यातं, आह चूर्णिकारः–"एगेणं समएणं ओवयइ अहे जोयणं, एगेणेव समएणं तिरियं दिवड्ढं गच्छइ, उड्ढं दो जोयणाइं सक्को"त्ति 'चमरस्स ण' मिति 'सव्वत्थोवं'ति ऊर्ध्वगतौ मन्दगतित्वात् तस्य, तच्च कल्पनया किल त्रिभागन्यूनं गव्यूतत्रयं, 'तिरियं'ति तस्मिन्नेव पूर्वोक्ते त्रिभागन्यूने गव्यूतत्रये द्विगुणिते ये योजनसङ्ख्येयभागाः स्युः तान् व्रजेत्, तिर्यग्गतौ शीघ्रतरगतित्वात् तस्य, 'अहे संखेज्ज'त्ति पूर्वोक्ते त्रिभागद्वयन्यूने गव्यूतषट्के त्रिभागन्यूनगव्यूतत्रये मीलिते ये सङ्ख्येयभागास्तान् व्रजेत्, योजनद्वयमिति भावः, अथ कथं सङ्ख्येयभागमात्रोपादाने नियतसङ्ख्येयभागत्वं व्याख्यायते?, उच्यते, शक्रस्योर्ध्वगतेश्चमरस्याधोगतेः समत्वमुक्तं, शक्रस्य समयेनैकेन योजनद्वयमूर्ध्वगमनं चमरस्याधस्तथैव, 'जावइयं सक्के ३ उड्ढं उप्पयइ एगेणं समएणं तं वज्जे दोहिं, जं वज्जे दोहिं तं चमरे तीहिं'ति वचनात् प्रतीयते–शक्रस्य यदूर्ध्वगमनक्षेत्रं तस्य त्रिभागमात्ररूपं चमरस्योर्ध्व-

३ शतके २ उद्देशः

गतिक्षेत्रं, अतो व्याख्यातं–त्रिभागन्यूनत्रिगव्यूतमानं तदिति, ऊर्ध्वाधोगतिक्षेत्रयोरपान्तरालवर्त्ति तिर्यक्क्षेत्रमितिकृत्वा त्रिभागद्व-यन्यूनषड्गव्यूतमानं तच्च व्याख्यातमिति, यच्च चूर्णिकारेणोक्तम्—'चमरो उड्ढं जोयण'मिति तन्नावगतं, 'वज्जं जहा सक्कस्स' वज्रस्य गत्यल्पबहुत्वं यथा शक्रस्य, 'विसेसाहिय'न्ति 'सव्वत्थोवे'त्ति सर्वस्तोकं क्षेत्रं शक्रः अधो व्रजेत् एकेन समयेन, तस्याधो मन्दगतित्वात्, तच्च किल कल्पनया त्रिभागन्यूनं योजनं, तिर्यक् विशेषाधिकौ भागौ याति, शीघ्रतरगतित्वात्, तौ च योज-नस्य द्वौ त्रिभागौ विशेषाधिकौ, सत्रिभागं गव्यूतत्रयमिति भावः, तथोर्ध्वं विशेषाधिकौ भागौ गच्छति, यौ किल तिर्यग् विशेषा-धिकौ भागौ तावेवोर्ध्वगतौ किञ्चिद्विशेषाधिकौ, शीघ्रतमगतित्वात्, परिपूर्णं योजनमिति भावः, अथ कथं सामान्यतो विशेषाधि-कत्वेऽभिहिते नियतभागत्वं व्याख्यायते ?,उच्यते,'जाव-इयं चमरे अहे ओवयइ जाव तं वज्जे तिहिं'ति वचनसा-मर्थ्याद् अधोगत्यपेक्षया वज्रस्य त्रिभागन्यूना अधोग-तिर्लब्धेति त्रिभागन्यूनं योजनमिति सा व्याख्याता,तथा 'सक्कस्स ओवयणकाले वज्जस्स उप्पयणकाले एस णं दुण्णिवि तुल्ले' इति वचसा अवसीयते यावदेकेन समयेन शक्रोऽधो व्रजेत् तावद्वज्रमूर्ध्वं,शक्रश्चैकेनाधः किल योजनं, एवं कृत्वा वज्रस्योर्ध्वं योजनमुक्तं, ऊर्ध्वाधोगत्योश्चापान्तरालवर्त्तितिर्यग्गतेः सत्रिभागगव्यूतत्रयलक्षणं तिर्यग्गतिप्रमाणमुक्तमिति,

ऊर्ध्वं	२४	१२	८
तिर्यग्	१८	१०	१६
अधः	१२	८	२४
	इन्द्र	वज्र	चमर

	ऊर्ध्वं	तिर्यग्	अधः
इन्द्र	यो. २	यो. १ यो. २	यो. १
वज्र	योजन	ग. १/३ ३/३	ग. २/३ २/३
चमर	ग. ३/२ २/२	यो. १/ग. १ १/२	योजन २

॥५९॥

श्रीभग-लघुवृत्तौ

एषैव व्याख्या सुखावबोधार्थं विस्तरतो विव्रियते, तत्रादौ गाथाद्वयमाह-"चउवीस बारसऽट्ठ य दुवालसंसा उ जोयणस्सुड्ढं। सक्को वज्जं चमरो तिण्णिवि गच्छंति समकालं ॥१॥ तिरियऽट्ठारस दस सोलसेव अह बारसऽट्ठ चउवीसा। जहसंखं तेण हरी वज्जं पाविंसु नो चमरं ॥२॥" देवेन्द्रसूरिभिरिमे गाथे कृते, एतत्स्थापना चेयम्। एवं गतिविषयं क्षेत्रमानमनेकविधं, तस्य मध्ये कतरो गति-विषयः कतरस्माद् गतिविषयादल्पादिरिति प्रश्नः, उत्तरं तु सर्वस्तोकमधःक्षेत्रं समयेन शक्रोऽवपतति, यतः-त्रिभिर्भागैर्गव्यूतं चिन्तितमत्रास्ति, तेन चतुर्भिस्त्रिकैर्द्वादशेति वचसा त्रिभागरूपगव्यूतचतुष्केण योजनं स्यात्, ततोऽधः शक्रो मन्दगतित्वात् योजनं यातीत्यर्थः, इत्यधो द्वादशभागैर्योजनं, ततश्च योजने द्विधा कृते द्वौ भागौ स्यातामिति, कथं ?, द्वादशभागरूपं योजनमर्धीक्रियते, अतस्त्रिभागद्वयरूपाः षड् भागाः स्युरित्येवं द्वौ षड्रूपौ भागौ जातौ, तयोश्चैकस्मिन् द्विभागे मीलिते त्रयस्सङ्ख्येया भागाः स्युरिति, कथं ?, तयोः षड्रूपयोर्भागयोरेकस्मिन् द्विभागत्रिभागरूपगव्यूतद्वयरूपे तृतीयषड्भागे मीलिते सति जातास्त्रयः षड्भागा इति प्रागुक्तद्वादशभागरूपयोजनोपरित्रिभागरूपं गव्यूतद्वयं यदि चिन्त्यते तदा तिर्यग्गतौ तस्य शीघ्रगतित्वात् जातं षड्भागाधिकं योजनं, भागाश्चैवं जाता अष्टादश, तैर्जातं गव्यूतद्वयाधिकं योजनं, सार्द्धं योजनमित्यर्थः, तेषु चतुर्थेऽन्यस्मिन् द्विभागे मीलिते ते चत्वारो द्विभागरूपाः सङ्ख्यातभागाः सम्भवंतीति, कथं ?, तेषु प्रागुक्ताष्टादशभागेषु चतुर्थेऽन्यस्मिन् द्विभागे त्रिभागरूपगव्यूत-द्वयरूपे चतुर्थषड्भागे च मीलिते सति जाते द्वे योजने, भागाश्चैवं चतुर्विंशतयः, अतस्तानूर्ध्वं शीघ्रगतित्वाच्छक्रो व्रजेत्, जाते ऊर्ध्वं द्वे योजने इत्यर्थः, एवं शक्रस्याधस्तिर्यगूर्ध्वगतित्रयमानं प्रोक्तं। 'चमरस्स णं'ति ऊर्ध्वं चमरस्त्रिभागंन्यूनं गव्यूतत्रयमिति, कोऽर्थः ?, प्रागुक्तत्रिभागरूपगव्यूतद्वयं तृतीयगव्यूतस्य द्वौ भागौ च, एवं जाते द्वे गव्यूते त्रिभागरूपगव्यूतद्वयद्विभागाधिके ग. २३

३ शतके १ उद्देशः

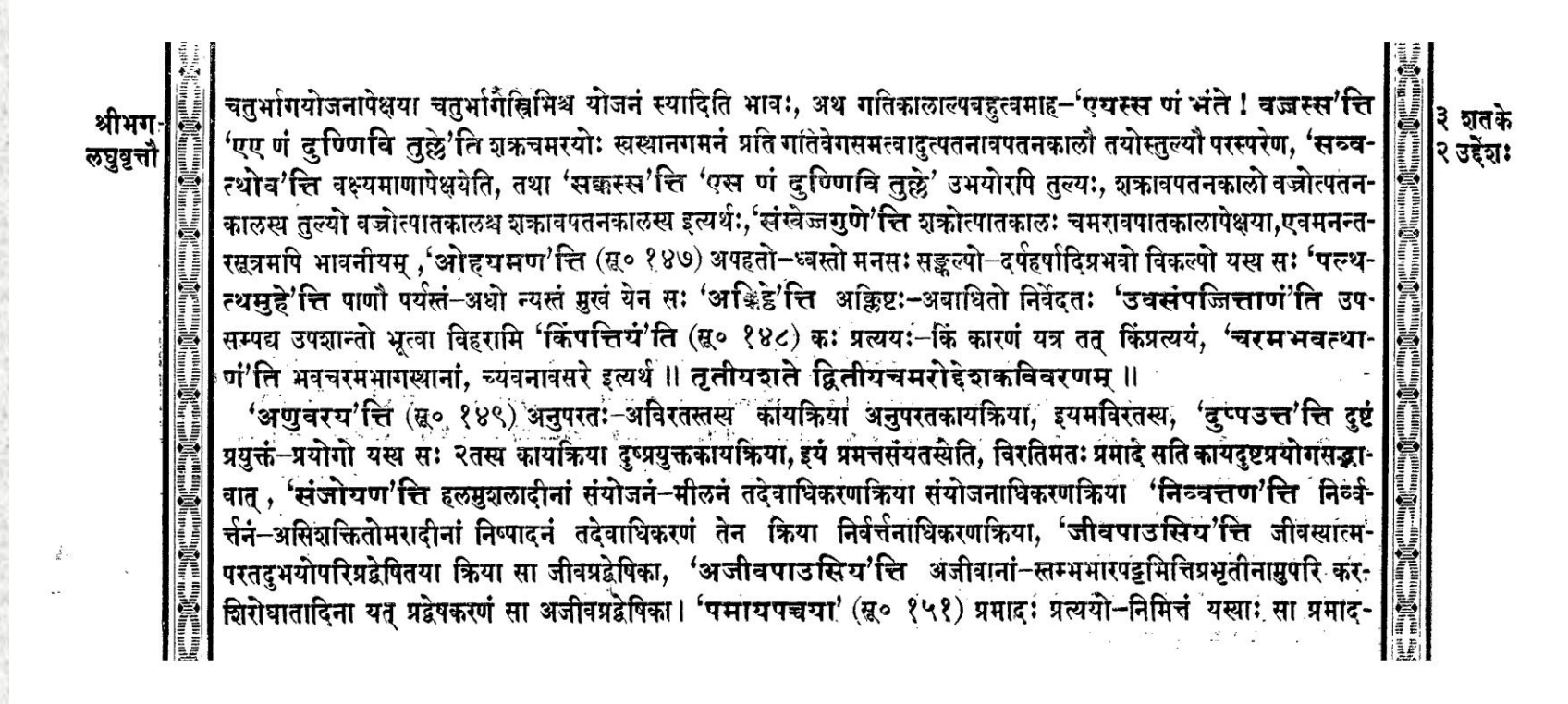
अत्र **शतक-३, उद्देशक** : २ एव वर्तते, मूल संपादने यत् उद्देषकः १ मुद्रितं, तत् मुद्रण स्खलना ।

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एवं जातास्सर्वेऽप्यष्टौ भागाः,ऊर्ध्वं तस्य मन्दगतित्वात् ,'तिरियं'ति तस्मिन्नेव प्रागुक्तभागाष्टरूपे तृतीयभागन्यूनगव्यूतत्रये द्विगुणिते सति जाताः षोडश भागाः सङ्ख्येया योजनस्येति यो. १ ग. १⅓ तान् व्रजेत् , तिर्यग्गतौ तस्य शीघ्रगतित्वात् , 'अहे संखेज्जे भागे गच्छइ'त्ति प्रागुक्ते द्विगुणितेऽङ्के भागद्वारेण षोडशभागरूपे बद्धाङ्कतया जातानि पञ्च गव्यूतानि त्रिभागरूपषष्ठगव्यूतस्यैको भागश्च, एवं जातं त्रिभागद्वयन्यूनगव्यूतषट्कमानं, तन्मध्ये चमरोर्ध्वगतिसत्कप्रागुक्ततृतीयभागन्यूनगव्यूतत्रयमीलने ग. २⅔ गव्यूतद्वयतृतीयगव्यूतभागद्वयाधिकैतावत्प्रमाणाङ्कक्षेपे जातं योजनद्वयमित्यर्थः, अधस्तस्य शीघ्रगतित्वात्। अथ वज्रस्य गतित्रयमानमुच्यते, तत्र यच्चमरस्योर्ध्वगतिमानं तद्वज्रस्याधोगतिमानं, त्रिभागन्यूनं योजनमिति, कोऽर्थः?–अत्र भागचतुष्करूपा योजनस्य त्रयो भागाश्चिन्त्यन्ते, तत्र चतुर्भागरूपौ योजनस्य द्वौ भागौ, तत एवं तृतीयचतुर्भागरूपत्रिभागेन न्यूनं योजनं, गव्यूतापेक्षया तु द्वे गव्यूते द्वौ त्रिभागहृतौ भागौ भवतः ग. २⅔ अंशाश्चाष्टौ जाताः, अधो मन्दगतित्वात् तस्येति, अथ तिर्यक् उच्यते–योजनस्य द्वौ त्रिभागौ इति, कोऽर्थः?, प्रागुक्तौ चतुर्भागरूपौ योजनस्य द्वौ भागौ विशेषाधिकाविति, किं ?, प्रागुक्तयोस्तयोरवशिष्टो यस्तृतीयश्चतुर्भागः स त्रिभाग इत्युच्यते, ततस्तौ योजनस्य द्वौ भागौ तृतीयचतुर्थभागसत्कद्विभागाधिकौ क्रियेते, एवं जाता योजनदशभागाः, गव्यूतापेक्षया तु गव्यूतत्रयं त्रिभागहृतैकभागश्च ग. ३⅓ सत्रिभागगव्यूतत्रयमित्यर्थः, तिर्यग् शीघ्रगतित्वात्तस्य । अथोर्ध्वगतिरुच्यते–प्रागुक्तोऽङ्कः स एव दशभागरूपः स्थाप्यते, तत्रापि विशेषाधिकाविति, कोऽर्थः ?, पूर्वाङ्कमध्ये योजनापेक्षया तृतीयचतुर्भागावशिष्टद्विभागक्षेपे जातं योजनमेकमित्यर्थः, ऊर्ध्वं शीघ्रतमगतित्वात्तस्य, गव्यूतापेक्षया तु पूर्वोक्ताङ्कमध्ये त्रिभागसत्कोद्धरितद्विभागक्षेपे जाता द्वादश भागाः, तैरप्येवमेव जातं योजनमूर्ध्वं तस्य, गव्यूतापेक्षया गव्यूतत्रिकैश्चतुर्भिः

३ शतके २ उद्देशः

॥६०॥



श्रीभग-लघुवृत्तौ

चतुर्भागयोजनापेक्षया चतुर्भागैस्त्रिभिश्च योजनं स्यादिति भावः, अथ गतिकालाल्पबहुत्वमाह–'एयस्स णं भंते ! वज्जस्स'त्ति 'एए णं दुण्णिवि तुल्ले'ति शक्रचमरयोः स्वस्थानगमनं प्रति गतिवेगसमत्वादुत्पतनावपतनकालौ तयोस्तुल्यौ परस्परेण, 'सव्वत्थोव'त्ति वक्ष्यमाणापेक्षयेति, तथा 'सक्कस्स'त्ति 'एस णं दुण्णिवि तुल्ले' उभयोरपि तुल्यः, शक्रावपतनकालो वज्रोत्पतनकालस्य तुल्यो वज्रोत्पातकालश्च शक्रावपतनकालस्य इत्यर्थः,'संखेज्जगुणे'त्ति शक्रोत्पातकालः चमरावपातकालापेक्षया,एवमनन्तरसूत्रमपि भावनीयम् ,'ओहयमण'त्ति (सू० १४७) अपहतो–ध्वस्तो मनसः सङ्कल्पो–दर्पहर्षादिप्रभवो विकल्पो यस्य सः 'पल्थत्थमुहे'त्ति पाणौ पर्यस्तं–अधो न्यस्तं मुखं येन सः 'अझिंडे'त्ति अक्लिष्टः–अबाधितो निर्वेदतः 'उवसंपज्जित्ताणं'ति उपसम्पद्य उपशान्तो भूत्वा विहरामि 'किंपत्तियं'ति (सू० १४८) कः प्रत्ययः–किं कारणं यत्र तत् किंप्रत्ययं, 'चरमभवत्थाणं'ति भवचरमभागस्थानां, च्यवनावसरे इत्यर्थ ॥ तृतीयशते द्वितीयचमरोद्देशकविवरणम् ॥

'अणुवरय'त्ति (सू० १४९) अनुपरतः–अविरतस्तस्य कायक्रिया अनुपरतकायक्रिया, इयमविरतस्य, 'दुप्पउत्त'त्ति दुष्ठं प्रयुक्तं–प्रयोगो यस्य सः २तस्य कायक्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रिया, इयं प्रमत्तसंयतस्येति, विरतिमतः प्रमादे सति कायदुष्टप्रयोगसद्भावात् , 'संजोयण'त्ति हलमुशलादीनां संयोजनं–मीलनं तदेवाधिकरणक्रिया संयोजनाधिकरणक्रिया 'निव्वत्तण'त्ति निर्व्वर्त्तनं–असिशक्तितोमरादीनां निष्पादनं तदेवाधिकरणं तेन क्रिया निर्वर्त्तनाधिकरणक्रिया, 'जीवपाउसिय'त्ति जीवस्यात्मपरतदुभयोपरिप्रद्वेषितया क्रिया सा जीवप्रद्वेषिका, 'अजीवपाउसिय'त्ति अजीवानां–स्तम्भभारपट्टभित्तिप्रभृतीनामुपरि करशिरोघातादिना यत् प्रद्वेषकरणं सा अजीवप्रद्वेषिका। 'पमायपच्चया' (सू० १५१) प्रमादः प्रत्ययो–निमित्तं यस्याः सा प्रमाद-

३ शतके २ उद्देशः

अत्र **शतक**-३, उद्देषक: २ समाप्तः, अथ **शतक**-३ **उद्देशक** : ३ आरब्धः

प्रत्यया, यथा दुष्प्रयुक्तकायक्रियाजन्यं कर्म्म, योगनिमित्तं च यथैर्यापथिकं कर्म 'एयइ' (सू० १५२) एजति–कम्पते, **'वेयइ'** व्येजति–विविधं कम्पते, 'चलइ' स्थानान्तरं गच्छति, 'फंदइ'त्ति किंचिच्चलति, 'स्पदि किंचिच्चलने' इतिधातोः, अन्यमवकाशं गत्वा पुनस्तत्रैव गच्छति इत्यन्ये, 'घट्टइ'त्ति सर्वदिक्षु चलति, पदार्थान्तरं वा स्पृशति, **'खुब्भइ'त्ति** क्षुभ्यति पृथिवीं प्रविशति, क्षोभयति वा पृथ्वीं, विभेति वा, 'उदीरेइ'त्ति उदीरयति, उत्–प्राबल्येन प्रेरयति, **'तं तं भावं'ति** उत्क्षेपणावक्षेपणाकुंचनप्रसारणादिकं परिणामं यातीत्यर्थः, **'आरंभइ'** आरभते पृथिव्यादीन् उपद्रवयति, संरभते–तेषु विनाशसङ्कल्पं कुर्यात्, **'समारभइ'त्ति** समारभते, तानेव परितापयति, आह च–**"संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो। आरंभो उद्दवओ, सव्वनयाणं विसुद्धाणं ॥१॥ 'सोयावणयाए'त्ति** दैन्यप्रापणायां **'जूरावण'त्ति** शोकातिरेकाच्छरीरजीर्णताप्रापणायां **'तिप्पावणत्ति'** 'तिपृ ष्टेपृ क्षरणे, इति वचनात्, तिप्रापणायां शोकातिरेकादेव अश्रुलालादिक्षरणप्रापणायां **'परियावण'त्ति** परितापनायां शरीरसन्तापे वर्त्तते, **'णो एयइ'त्ति** शैलेशीकरणे योगनिरोधे नो एजति, एजनादिरहितस्तु नारम्भादिषु वर्त्तते, तथा च योगनिरोधाभिधानशुक्लध्यानेन सकलकर्मध्वंसरूपा अन्तक्रिया स्यात्, **'तणहत्थयं'ति** तृणपूलकं जाततेजसि–वह्नौ **'मसमसाविज्जइ'** शीघ्रं दह्यते, एवमेजनादिरहितस्य शुक्लध्यानचतुर्थभेदानलेन कर्मदाह्यादहनं स्यात् 'उद्दाइ'त्ति उद्याति, जलस्योपरि–वर्त्तते, **'अत्तत्तासंवुडस्स'त्ति** आत्मन्यात्मना संवृतस्य प्रतिसंलीनस्येति, **'आउत्तं'ति** आयुक्तः उपयोगपूर्वकं **'चक्खुपम्ह'त्ति** चक्षुःपक्ष्मनिपातोऽपि, प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः, उन्मेषनिमेषमात्रक्रियाऽप्यस्ति, आस्तां गमनादिका, **'वेमाय'त्ति** विविधा मात्रा अन्तर्मुहूर्त्तादेर्देशोनपूर्वकोटीपर्यन्तस्य क्रियाकालस्य विचित्रत्वात्, 'सुहुम'त्ति सूक्ष्मबन्धादिकाला **'इरियावहि'त्ति** ईर्यापथो–गमनमार्गस्तत्र भवा

॥६१॥

ऐर्यापथिकी, केवलकाययोगप्रत्ययेति,'किरिय'त्ति क्रिया-कर्म सातावेदनीयं 'कज्जइ'त्ति क्रियते भवतीति, उपशान्तमोहक्षीण-मोहसयोगिकेवलिगुणस्थानकत्रयवर्त्तिवीतरागोऽपि सक्रियत्वात् सातवेद्यं कर्म बध्नातीति भावः, 'बद्धपुट्ठ'त्ति बद्धा कर्मतापादनात्, स्पृष्टा जीवप्रदेशैः स्पर्शनात्, वेदिता अनुभूतस्वरूपा, निर्जीर्णा अनुभूतस्वरूपत्वेन जीवप्रदेशेभ्यः परिशटितेति, एतद्वाक्यान्तरेणाह-बद्धा स्पृष्टा प्रथमसमये द्वितीयसमये उदीरिता-उदयमुपनीता, किमुक्तं स्यात्?—वेदिता, नह्येकस्मिन् समये उदीरणा उदयश्च सम्भवति इत्येवं व्याख्यानं, तृतीये निर्जीर्णा, 'सेयकाले'त्ति एष्यत्काले 'अकम्मं वावि'त्ति अकर्मापि स्यात्। अथ यदुक्तं श्रमणानां प्रमादप्रत्यया क्रिया स्यात्, तत्र प्रमादपरत्वं तदितरत्वं संयतस्य कालतो निरूपयन्नाह—'सव्वावि य णं पमत्तद्धे'ति (सू० १५३) सर्वापि-सर्वकालसम्भवापि च प्रमत्ताद्धा-प्रमत्तगुणस्थानकालः कालतः-कियन्तं कालं यावद् भवति इति प्रश्नः, 'एक्कं समयं' जघन्येन प्रमत्तसंयमप्रतिपत्तिसमयसमनन्तरमेव मरणात्, 'देसूणा पुव्वकोडि'त्ति किल प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणे एव प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानके, ते च पर्यायेण जायमाने देशोनपूर्वकोटिं यावदुत्कर्षेण भवतः, संयमवतो हि पूर्वकोटिरेव परमायुः, स च संयममष्टासु वर्षेषु गतेष्वेव लभते, महान्ति वा अप्रमत्तान्तर्मुहूर्त्तापेक्षया प्रमत्तान्तर्मुहूर्त्तानि कल्प्यन्ते, एवमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणानां प्रमत्ताद्धानां सर्वासां मीलनेन देशोना पूर्वकोटीकालमानं स्यात्, अन्ये त्वाहुः-अष्टवर्षोनां पूर्वकोटीं यावदुत्कर्षतः प्रमत्तसंयतता स्यादिति, एवमप्रमत्तसूत्रमपि, नवरं 'जहण्णेणं'ति किलाप्रमत्ताद्धायां वर्त्तमानस्यान्तर्मुहूर्त्तमध्ये मृत्युर्न स्यात्, चूर्णिकारमतं तु प्रमत्तसंयतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽप्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात्, स चोपशमश्रेणीं प्रतिपद्यमानो मुहूर्त्ताभ्यन्तरे कालं कुर्वन् जघन्यकालो लभ्यते, देशोनपूर्वकोटी तु केवलिनमाश्रित्येति, 'अइरेयं'ति (सू० १५४) तिथ्यन्तरापेक्षयाऽधिकतरं 'लवणसमुद्द-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१५४]

दीप अनुक्रम [१८३]

श्रीभग लघुवृत्तौ

वत्तव्वय'त्ति जीवाभिगमोक्ता, कियद्दूरं यावदित्याह–'जाव लोयट्ठिई' यावल्लोकस्थितिः,'लोयाणुभावे'त्ति लोकप्रभाव इति ॥ तृतीयशते तृतीयोद्देशकविवरणम् ॥

तत्र 'भावियप्प'त्ति भावितात्मा संयमतपोभ्यां, एवंविधानगाराणां हि प्रायोऽवधिज्ञानलब्धयः स्युरितिकृत्वा भावितात्मेत्युक्तं, 'जाणरूवेणं'ति यानप्रकारेण–शिबिकाद्याकारवता वैक्रियविमानेनेति, 'जायमाणं'ति यान्तं–गच्छन्तं 'जाणइ' ज्ञानेन 'पासइ' दर्शनेन, उत्तरं तु चतुर्भङ्गी, विचित्रत्वादवधिज्ञानस्येति, 'अंतो'त्ति मध्यं काष्ठसारादि, 'बाहिं'ति बहिर्वर्त्ति त्वक्पत्रसञ्चयादि 'जाव बीयं'ति यावत्करणात् मूलं १ कन्दः २ स्कन्धः ३ त्वक् ४ शाखा ५ प्रवालं ६ पत्रं ७ पुष्पं ८ फलं ९ बीजं १० चेति पदानि, एतेषां पञ्चचत्वारिंशत् द्विकसंयोगाः स्युः, एतावन्त्येव चतुर्भङ्गीसूत्राण्यध्येयानि, 'जाणं'ति शकटं, 'जुग्ग'त्ति गोल्लविषयप्रसिद्धं, जंपानं द्विहस्तप्रमाणं वेदिकोपशोभितं, 'गिल्लि'त्ति हस्तिन उपरि कोल्लरूपा या मानुषं गिलतीव 'थिल्लि'त्ति लाटानामड्डपल्यानं तद् अन्यविषयेषु थिल्लीत्युच्यते, 'सीय'त्ति शिबिका कूटाकाराच्छादिता, 'संदमाणिय'त्ति पुरुषप्रमाणायामा 'वाउकाए'त्ति वायुकायः 'पडागासंठिय'त्ति पताकासंस्थितं, स्वरूपेणैव वायोः पताकाकारशरीरत्वाद् वैक्रियावस्थायामपि तदाकारभावात् , 'आयड्ढि'त्ति आत्मर्द्ध्या आत्मलब्ध्या वा 'आयकम्मुण'त्ति आत्मक्रियया 'आयप्पओगेणं' न परप्रयुक्त इति, 'उस्सिओदयं' उच्छ्रितः–ऊर्ध्व उदयः–आयामो यत्र गमने तदुच्छ्रितोदयं, ऊर्ध्वपताकमिति, 'पतोदयं'ति पतितपताकं गच्छति, ऊर्ध्वपताका स्थापना चेयम् |>पतितपताका स्थापना चेयम् |>'एगओपडाग'त्ति एकतः–एकस्यां दिशि पताका यत्र तदेकतः पताकं स्थापना <|'दुहओपडागं'ति द्विधापताकं, स्थापना त्वेवम्<|>'बलाहए'त्ति (सू० १५७) मेघः,'परिणामे'त्ति

३ शतके ४ उद्देशः

॥६२॥

अत्र शतक-३, उद्देषक: ३ समाप्तः, अथ शतक-३ उद्देशक : ४ आरब्धः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

बलाहकस्याजीवत्वेन विकुर्वणाया असम्भवात् परिणामयितुमुक्तम्, परिणामश्चास्य विश्रसारूपः, 'नो आयड्ढिए'त्ति अचेतनत्वान्मे-घस्य विवक्षितशक्तेरभावान्नात्मर्ध्या गमनमस्ति वायुना देवेन वा प्रेरितस्य तु स्याद् गमनमतोऽभिधीयते–'परिड्ढीए'त्ति एवं 'पुरि-से आसे'त्ति स्त्रीरूपसूत्रमिव पुरुषाश्वहस्तिरूपसूत्राण्यध्येतव्यानि, 'एगओचक्कवालंपि' नवरमिह यानं–शकटं चक्रवालं–चक्रं, शकट एव चक्रवालभावात्, ततश्च युग्यगिल्लिथिल्लिशिबिकास्यन्दमानिकारूपसूत्राणि स्त्रीरूपसूत्रवदध्येयानि, 'जे भविए'त्ति यो योग्यः 'किण्हलेसेसु'त्ति (सू० १५८) का कृष्णादीनामन्यतमा लेश्या येषां तेषु किण्हलेश्येषु मध्ये 'जल्लेसाइं'ति या लेश्या येषां द्रव्याणां तानि यल्लेश्यानि, यस्या लेश्यायाः सम्बन्धीनीति भावः, 'परियाइत्ता' पर्यादाय कालं करोति–म्रियते, तल्लेश्येषु नार-केषूत्पद्यते, अत्र गाथाः–"सव्वाहिं लेसाहिं, पढमे समयंमि संपरिणयाहिं। नो कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स ॥१॥" सव्वाहिं लेसाहिं चरमे समयंमि संपरिणयाहिं। नवि कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवाणं ॥२॥ अंतमुहुत्तंमि गए अंत-मुहुत्तंमि सेसए चेव। लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥३॥" 'जाव'त्ति ननु एतावतैव विवक्षितार्थसिद्धेः किमर्थं भेदेन ज्योतिष्कालापकः पृथगुक्तः ?, उच्यते, २४ दण्डकान्त्यसूत्रदर्शनार्थं, ननु तर्हि यावत्करणात् वैमानिकसूत्रं वाच्यं स्यात्, न तु ज्योतिष्कसूत्रं, सत्यं, किन्तु ज्योतिष्कवैमानिकाः प्रशस्तलेश्याः स्युरित्यस्यार्थस्य दर्शनार्थं तेषां भेदेनाभिधानं, विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेः, 'बाहिरए'त्ति औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैक्रियानिति, उल्लङ्घनं सकृत्, प्रलङ्घनं पुनः २, 'णो इणमट्ठे'त्ति वैक्रि-यपुद्गलपर्यादानं विना वैक्रियकरणस्यैवाभावात्, बाह्यपुद्गलपर्यादाने तु पर्वतोल्लङ्घनादौ प्रभुः स्यात्, महतः पर्वतातिक्रामिणः शरीरस्य सम्भवादिति, 'मायी'त्ति (सू० १५९) मायावान् सकषायः प्रमत्त इति, अप्रमत्तो हि वैक्रियं न कुर्यादिति, 'वामेइ'त्ति

वमनं करोति, 'बहुली'त्ति घनीस्यात्, प्रणीतसामर्थ्यात्, 'पयणुए'त्ति अघनीस्यात् 'अहाबायर'त्ति यथाबादरा आहारपुद्गलाः 'लूहं'ति रूक्षं अप्रणीतं,'णो बामेइ' अकषायितया वैक्रियायामनर्थित्वात् रूक्षभोजिन आहारादिपुद्गला उच्चारादितयैव परिणमन्ति, अन्यथा शरीरासारतानापत्तेरिति, 'तस्स ठाणस्स'त्ति तस्मात् स्थानात् विकुर्वणलक्षणात् प्रणीतभोजनलक्षणाद्वा ॥ तृतीयशते चतुर्थोद्देशकविवरणम् ॥

'असिचम्मपायं'ति (सू० १६०) असिः–खड्गः, चर्मपात्रं–प्रत्याकारः, असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा, कृत्यं सङ्गादि, तत्र कार्यं गतः–प्राप्तः, सूत्रे विशेषणकर्मधारयसमासः, 'उड्ढं वेहासं'ति ऊर्ध्वं विहायसं–आकाशं, 'वग'ति वृकः 'दीविय'त्ति चतुष्पदविशेषः, 'अच्छ'त्ति ऋक्षः 'तरच्छ'त्ति व्याघ्रविशेषः 'परासर'त्ति शरभः 'अहिजुंजित्तए' अभियोक्तुं–विद्यासामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुं,यच्च स्वस्यानुप्रवेशनेनाभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तबाह्यपुद्गलान् विना न स्यादित्युच्यते-'नो बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्त'त्ति, 'अणगारे णं'ति अनगार एवासौ, तत्त्वतोऽनगारस्यैवाश्वाद्यनुप्रवेशेन व्याप्रियमाणत्वात्, 'माई अभिजुंजइ'त्ति कषायवानभियुङ्क्ते,अधिकृतवाचनायां 'माई विउव्वइ'त्ति दृश्यते, तत्र अभियोगोऽपि विकुर्वणा मन्तव्या, विक्रियारूपत्वात् तस्येति, 'अण्णयरेसु'त्ति आभियोगिकदेवा अच्युतान्ताः स्युरिति अन्यतरेषु केषुचित् उत्पद्यन्ते अभियोगभावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु, कश्चित्करोति विद्यालब्ध्युपजीवकोऽभियोगभावनां, यदाह–मंता जोगं काउं भूईकम्मं च जे पउंजंति। सायरसइड्ढिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ ॥१॥" 'इत्थी(*२६)त्यादि सङ्ग्रहगाथा गतार्था ॥ तृतीयशते पञ्चम उद्देशकः॥

विकुर्वणाधिकारसम्बद्ध एव षष्ठ उद्देशकः, तस्येदमादिसूत्रम्–'अणगारे णं'ति (सू० १६१) अनगार एव गृहवासत्यागात्

॥६३॥

अत्र शतक-३, उद्देषकः ४ समाप्तः, अथ शतक-३ उद्देशक : ५ आरब्धः एवं समाप्तः, अथ शतक-३ उद्देशक : ६ आरब्धः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

भावितात्मा स्वसमयानुसारिप्रशमादिभिः, मायी कषायवान्, मिथ्यादृष्टिरन्यतीर्थिकः, वीर्यलब्ध्यादिभिः कारणभूताभिः वाणारसीं पुरीं 'समोहए'त्ति विकुर्वितवान्, रूपाणि–पशुपुरुषप्रासादप्रभृतीनि, जानाति पश्यति च विभङ्गज्ञानलब्ध्या, स हि मन्यते अहं राजगृहं समवहतः, वाणारसीरूपाणि जानामि पश्यामि, एवं 'से' तस्यानगारस्य 'से'त्ति असौ दर्शने विपर्यासो विपर्ययः, अन्यदीयरूपाणामन्यदीयरूपतया विकल्पितत्वात्, दिग्मोहादिव पूर्वामपि पश्चिमां मन्यमानस्येति, अन्तरा—तयोरन्तरालवर्त्तिनं जनपदसमूहं समवहतः नो तथाभावं, यतोऽसौ वैक्रियाण्यपि तानि मन्यते स्वाभाविकानि, 'जसे'त्ति यशोहेतुत्वाद्यशः, 'चत्तारि चउसट्ठि'त्ति (सू० १६३) तत्र सर्वेषामिन्द्राणां सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षाः तेन चतुःषष्टिः 'चत्तारि'त्ति चतुर्गुणाः क्रियन्ते, जाताः सर्वे २५६००० प्रमाणाश्चमरस्यात्मरक्षकाः। तृतीयशते षष्ठ उद्देशकः॥

'वीइवइत्त'त्ति (सू० १६४) व्यतिव्रज्य–व्यतिक्रम्य 'उयालीसं जोयण'त्ति एकोनचत्वारिंशद्योजनलक्षाणि 'उवगारियालेणं'ति उपकारिकालयनं–गृहपीठबन्धकल्पं 'सोमकाइय'त्ति सोमस्य कायो–निकायो येषामस्ति ते सोमकायिकाः–सोमपरिवारभूताः 'सोमदेवयकाइय'त्ति सोमदेवताः–तत्सामानिकादयस्तासां कायो येषामस्ति ते सोमदेवताकायिकाः–सोमसामानिकादिदेवपरिवाररूपाः, 'तब्भत्तिया' तत्र–सोमे भक्तिर्येषां ते तद्भक्तिकाः, 'तप्पक्खिया' सोमपाक्षिकाः–सोमप्रयोजनसहायाः 'तब्भारिया' तस्य–सोमस्यातिवश्यत्वात्तद्भार्या इव, अथवा तद्भारो वोढव्यतया येषामस्ति ते तद्भारिकाः, 'गहदंड'त्ति दण्डा इव दण्डाः–तिर्यगायताः श्रेणयः ग्रहाणां—मङ्गलादीनां दण्डा ग्रहदण्डाः, एवं ग्रहमुशलानि, नवरमूर्ध्वायतश्रेणयः, 'गहगज्जिय'त्ति ग्रहसञ्चालादौ स्तनितानि गर्जितानि ग्रहगर्जितानि, ग्रहयुद्धानीति ग्रहयोरेकत्र नक्षत्रे दक्षिणोत्तरेण समश्रेणितयाऽवस्थानानि,

३ शतके ६–७ उद्देशः

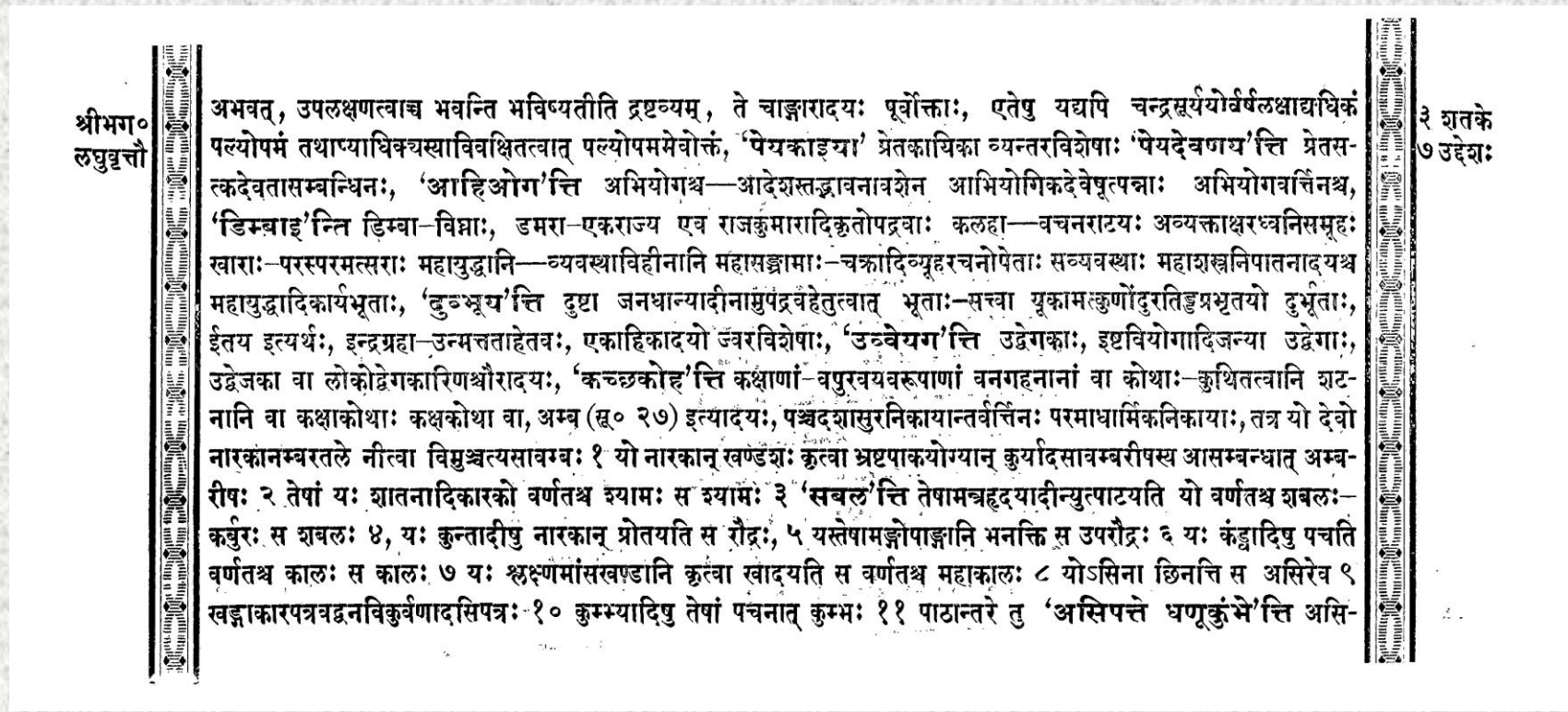
अथ शतक-३ उद्देशक : ६ समाप्तः, अथ शतक-३ उद्देशक : ७ आरब्धः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ग्रहसिङ्घाटकानि–ग्रहाणां सिङ्घाटकफलाकारेणावस्थानानि, ग्रहापसव्यानि–ग्रहाणामपसव्यानि ग्रहाणामपसव्यगमनानि–प्रतीपगमनानि, अभ्रात्मका वृक्षाः, गन्धर्वनगराणि आकाशे व्यन्तरकृतानि नगराकाराणि प्रतिबिम्बानि, उल्कापाताः–तारकस्यैव पाता दिग्दाहा–अन्यतमस्यां दिशि अधोऽन्धकारा उपरि च प्रकाशात्मका दह्यमानमहानगरप्रकाशकल्पाः, 'जूव'त्ति शुक्लपक्षे प्रतिपदादिदिनत्रयं यावद्यैः सन्ध्याछेदो आवियन्ते ते यूपकाः 'जक्खालित्त'त्ति यक्षोद्दीप्तानि—आकाशे व्यन्तरकृतज्वलनानि, धूमिया–धूमिका धूसरवर्णा, महिका त्वापाण्डुरा, 'रउग्घाओ' रजोवृष्टिं, 'चंदोवरागसूरोवरागा' चंद्रसूर्यग्रहणानि,'पडिचंद'त्ति प्रतिचन्द्राः, 'उदगमच्छ'त्ति इन्द्रधनुःखण्डानि 'कविहसिय'त्ति अनभ्रे या विद्युत् सहसा तत्कपिहसितं, अथवा कपिहसितं नाम यदाकाशे कपिमुखसदृशस्य विकृतमुखस्य हसनं, अमोघाः–आदित्योदयास्तमयोरादित्यकिरणविकारजनिताः आताम्राः श्यामा वा शकटोद्धिसंस्थिता दण्डाः, 'पाईण'त्ति पूर्वदिग्वाताः 'पडीण'त्ति प्रतीचीनवाताः, यावत्करणात् दाहिणउदीणउड्ढाहोतिरियदिसिविदिसिवाया वाउब्भामा–वातोद्भामा अनवस्थिता वाताः 'वाउक्कलिया' वातोत्कलिकाः समुद्रोत्कलिकावत्, 'वायमंडलिया' वातोल्यः, उक्कलिया वाया–उत्कलिकाभिर्ये वान्ति, मण्डलिया वाया–मण्डलिकाभिर्ये वान्ति, गुञ्जावाताः–सशब्दं ये वान्ति,झंझावाता उत्पातरूपाः,संवर्त्तकवाचाः तृणादिसंवर्त्तनस्वभावाः ॥ अथानन्तरोक्तग्रहदण्डादिफलानि दर्शयन्नाह–प्राणक्षयाः–बलक्षया व्यसनभूता–आपद्रूपाः अनार्याः–पापात्मकाः न ते अज्ञाताः अण्णाया अनुमानतः अदृष्टाः प्रत्यक्षापेक्षया अश्रुताः अन्यवचनद्वारेण अस्मृता मनोऽपेक्षया अविज्ञाता अवध्यपेक्षया । 'अहावच्च'त्ति यथापत्यानि, पुत्रस्थानीया इत्यर्थः,'अभिण्णाया' अभिज्ञाताः–अवगताः, 'कंदप्पिय'त्ति कान्दर्पिकाः, कान्दर्पभावनाभाविताः, कान्दर्पिकदेवेषु अभिमतवस्तुकारित्वात्,'होत्था'

३ शतके ७ उद्देशः

॥६४॥



श्रीभग० लघुवृत्तौ

अभवत्, उपलक्षणत्वाच्च भवन्ति भविष्यतीति द्रष्टव्यम्, ते चाङ्गारादयः पूर्वोक्ताः, एतेषु यद्यपि चन्द्रसूर्ययोर्वर्षलक्षाद्यधिकं पल्योपमं तथाप्याधिक्यस्याविवक्षितत्वात् पल्योपममेवोक्तं, 'पेयकाइया' प्रेतकायिका व्यन्तरविशेषाः 'पेयदेवणय'त्ति प्रेतस-त्कदेवतासम्बन्धिनः, 'आहिओग'त्ति अभियोगश्च—आदेशस्तद्भावनावशेन आभियोगिकदेवेषूत्पन्नाः अभियोगवर्त्तिनश्च, 'डिम्बाइ'न्ति डिम्बा—विघ्नाः, डमरा—एकराज्य एव राजकुमारादिकृतोपद्रवाः कलहा—वचनराटयः अव्यक्ताक्षरध्वनिसमूहः खाराः—परस्परमत्सराः महायुद्धानि—व्यवस्थाविहीनानि महासङ्ग्रामाः—चक्रादिव्यूहरचनोपेताः सव्यवस्थाः महाशस्त्रनिपातनाद्यश्च महायुद्धादिकार्यभूताः, 'दुब्भूय'त्ति दुष्टा जनधान्यादीनामुपद्रवहेतुत्वात् भूताः—सत्त्वा यूकामत्कुणोंदुरतिड्डप्रभृतयो दुर्भूताः, ईतय इत्यर्थः, इन्द्रग्रहा—उन्मत्तताहेतवः, एकाहिकादयो ज्वरविशेषाः, 'उव्वेयग'त्ति उद्वेगकाः, इष्टवियोगादिजन्या उद्वेगाः, उद्वेजका वा लोकोद्वेगकारिणश्चौरादयः, 'कच्छकोह'त्ति कक्षाणां—वपुरवयवरूपाणां वनगहनानां वा कोथाः—कुथितत्वानि शट-नानि वा कक्षाकोथाः कक्षकोथा वा, अम्ब (सू० २७) इत्यादयः, पञ्चदशासुरनिकायान्तर्वर्त्तिनः परमाधार्मिकनिकायाः, तत्र यो देवो नारकानम्बरतले नीत्वा विमुञ्चत्यसावम्बः १ यो नारकान् खण्डशः कृत्वा भ्रष्टपाकयोग्यान् कुर्यादसावम्बरीषस्य आसम्बन्धात् अम्ब-रीषः २ तेषां यः शातनादिकारको वर्णतश्च श्यामः स श्यामः ३ 'सबल'त्ति तेषामन्त्रहृदयादीन्युत्पाटयति यो वर्णतश्च शबलः—कर्बुरः स शबलः ४, यः कुन्तादीषु नारकान् प्रोतयति स रौद्रः, ५ यस्तेषामङ्गोपाङ्गानि भनक्ति स उपरौद्रः ६ यः कुंडादिषु पचति वर्णतश्च कालः स कालः ७ यः श्लक्ष्णमांसखण्डानि कृत्वा खादयति स वर्णतश्च महाकालः ८ योऽसिना छिनत्ति स असिरेव ९ खड्गाकारपत्रवद्वनविकुर्वणादसिपत्रः १० कुम्भ्यादिषु तेषां पचनात् कुम्भः ११ पाठान्तरे तु 'असिपत्ते धणूकुंभे'त्ति असि-

३ शतके ७ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१६४-१६६] + गाथा

दीप अनुक्रम [१९४-१९९]

श्रीभग-लघुवृत्तौ

पत्रकुम्भौ पूर्ववत्, 'धणु'त्ति यो धनुर्विमुक्तार्द्धचन्द्रादिबाणैः कर्णादिच्छेदनभेदनादि कुर्यात् स धनुः १२ कदम्बपुष्पाद्याकारवालुकासु यः पचति सः वालुकः १३ 'वेयरणी य'त्ति तत्र पूयरुधिरादिभृतवैतरण्याख्यनदीविकुर्वणात् वैतरणीदेव इति, यो वज्रकण्टकाकुलं शाल्मलीतरुमारोप्य नारकं खरस्वरं कुर्वन्तं कर्षत्यसौ खरस्वरः १४, यो भीतान् पलायमानान् नारकान् पशूनिव वाटके महाघोषं कुर्वन् रुणद्धि स महाघोषः १५ एवमेते यथापत्यदेवा उक्ताः, 'अइवास'त्ति अतिशयवर्षाः—वेगवद्वर्षणानि 'मंद'त्ति शनैर्वर्षणानि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टिः, 'उदउब्भेय'त्ति उदकोद्भेदाः, गिरितटादिभ्यो जलोद्भवाः, 'उदउप्पीलिय'त्ति उदकोत्पीलाः—तडागादिजलसमूहाः 'पवाह'त्ति अपकृष्टानि अल्पान्युदकवहनानि, तान्येव प्रकर्षवन्ति प्रवाहाः, इह प्राणक्षयादयो जलकृता द्रष्टव्याः 'कक्कोडए'त्ति कर्कोटकाभिधानोऽनुवेलन्धरनागराजावासभूतो गिरिर्लवणाब्धौ ऐशान्यां दिश्यस्ति, ततस्तन्निवासी नागराजः कर्कोटकः, 'कद्दमए'त्ति आग्नेय्यां तथैव विद्युत्प्रभगिरिः तत्र कर्दमको नाम नागराजः 'अंजणो'त्ति वेलम्बाभिधानवायुकुमारराजस्य लोकपालोऽञ्जनाभिधानः, 'संखवालए'त्ति धरणाभिधाननागराजस्य लोकपालः शङ्खपालः, शेषास्तु पुण्ड्रादयोऽप्रतीताः, 'वसुहार'त्ति (सू. १६७) तीर्थकरजन्मादिषु नभसो द्रव्यवृष्टिः वसुधारा, हिरण्यं—रुप्यं, घटितं सुवर्णमित्यन्ये, वर्षोऽल्पतरः दृष्टिस्तु महतीति वर्षवृष्ट्योर्भेदः, माल्यं—ग्रथितपुष्पाणि, वर्णश्चन्दनं, चूर्णो- गन्धद्रव्यसम्बन्धी, गन्धाः—कोष्ठपुटपाकादयः 'सण्णिहि'त्ति घृतगुडादिस्थापनानि, 'सन्निचय'त्ति धान्यसञ्चयाः, निधिर्लक्षादिप्रमाणद्रव्यस्थापनानि, निधाना भूमिगतसहस्रादिद्रव्यसङ्ख्यसञ्चयाः, 'पहीणसेइयाइ'न्ति प्रहीणा—अल्पीभूताः सेक्तारः—सेचका नवद्रव्यप्रक्षेप्तारो येषां तानि प्रहीणं—विरलीभूतमानुषं गोत्रागारं—तत्स्वामिगोत्रगृहं येषां तानि, 'निद्धमणेसु' नगरोदकनिर्गमनेषु 'सुसाण'त्ति

३ शतके ७ उद्देशः

॥६५॥

श्रीभग-लघुवृत्तौ

गृहशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् श्मशानगृहं–पितृगृहं गिरिगृहं–पर्वतोपरिगृहं कन्दरगृहं–गुफा शान्तिगृहं–शान्तिकर्मस्थानं शैलगृहं–पर्वतमुत्कीर्य यत्कृतं उपस्थानगृहं–आस्थानमण्डपः भवनगृहं–कुटुम्बवसनस्थानमिति ॥ तृतीये सप्तम उद्देशकः ॥

अथ दक्षिणभवनपतीन्द्राणां प्रथमलोकपालनामानि सो० को० चि० प० ते० रु० ज० तु० का० आ० (सू. १६८) इत्यक्षरदशकेन उच्यन्ते, वाचनान्तरेषु गाथा, सा चैवम्–"सोमे य १ कोलवाले २ चित्त ३ प्पभ ४ तेउ ५ तह रुए चेव ६ । जलपह ७ तह तुरियगई ८ काले ९ आवत्त १० पढमाओ ॥१॥" एवं द्वितीयादयोऽप्यभ्यूह्याः, इह पुस्तकान्तरेऽयमर्थो दृश्यते, दाक्षिणात्येषु लोकपालेषु प्रतिसूत्रं यौ तृतीयचतुर्थौ तावौदीच्येषु चतुर्थतृतीयौ ज्ञातव्यौ, 'एसा वत्तव्वया सव्वेसुवि कप्पेसु'त्ति एषा वक्तव्यता सौधर्मेशानोक्ता सर्वेषु कल्पेषु–इन्द्रनिवासभूतेषु भणितव्या, सनत्कुमारादीन्द्रयुग्मेषु पूर्वेन्द्रापेक्षया उत्तरेन्द्रसम्बन्धिनां लोकपालानां तृतीयचतुर्थयोर्व्यत्ययो वाच्य इत्यर्थः, एते सोमादयः प्रतिदेवलोकं वाच्याः, न तु भवनपतीन्द्राणामिवापरापरे, 'जे य इंदावि' शक्रादयो दशेन्द्रा वाच्याः, अन्तिमदेवलोकचतुष्के इन्द्रद्वयभावादिति ॥ तृतीये शतेऽष्टम उद्देशकः ॥

जीवाभिगमोक्तः 'जोइसियउद्देसओ' (सू. १६९) स चायं–सोइंदियविसए जाव फासिंदियविसए, सोइंदियविसए णं भंते! पोग्गलपरिणामे कइविहे पण्णत्ते ?, गो० ! दुविहे–सुब्भि० दुब्भिसद्दपरिणामे य' शुशाशुभशब्दपरिणामः, चक्षुरिन्द्रियविषये सुरूव० दुरूवपरिणामे य, घाणेंदिये सुब्भि० दुब्भिगंधपरिणामे य, जिब्भिंदिये सुरसदुरसपरिणामे य, स्पर्शेन्द्रिये तु सुफासदुफासपरिणामे य, से नूणं भंते ! उच्चावएहिं सद्दपरिणामेहिं परिणामेमाणा पोग्गला परिणमंति इति वक्तव्वं सिया ?, हंता ! गोयमा !, एवं सुब्भिणो'त्ति इदं सूत्रं पुनरेवम् ,–से नूणं भंते ! सुब्भिसद्दपोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणामन्ति ? हंता ! गोयमा !॥ तृतीयशते नवम उद्देशकः ॥

३ शतके ८–९ उद्देशः

अथ **शतक-३ उद्देशक** : ७ समाप्तः, अथ **शतक-३ उद्देशक** : ८ + ९ आरब्धः एवं समाप्तः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'समिय'त्ति (सू. १७०) समिका उत्तमत्वेन स्थिरप्रकृतितया उपशमनी स्वप्रभावा कोपौत्सुक्यादिभावान् शमयति उपादेयवचनतया शमिता वा–अनुद्धता, 'चंड'त्ति तथाविधमहत्त्वाभावेनेषत्कोपादीनां जातत्वाच्चण्डा, 'जाय'त्ति प्रकृतिमहत्त्ववर्जितत्वेन अस्थानकोपादीनां जातत्वाज्जाता, क्रमेणाभ्यन्तरा मध्यमा बाह्या चेति, तत्राभ्यन्तरा समुत्पन्नकार्येण प्रभुणा गौरवार्हत्वादाकारितैव पार्श्वे समेति, तां चासावर्थपदं पृच्छेत्, मध्यमा तूभयथाऽप्यागच्छेत्, अल्पतरगौरवविषयत्वात् अभ्यन्तरया चादिष्टमर्थपदं तया समं प्रबध्नाति–ग्रन्थिबन्धं कुर्यात्, बाह्या अनाकारितैवागच्छति, अल्पतमगौरवविषयत्वात्, तस्माच्चार्थपदं वर्णयत्येव, आद्यायां चतुर्विंशतिसहस्राणि देवानां द्वितीयायामष्टाविंशतिः तृतीयायां द्वात्रिंशदिति, तथा क्रमेण देवीशतानि अध्युष्टानि त्रीणि सार्द्धे द्वे चेति, तद्देवानामायुः क्रमेणार्द्धतृतीयपल्योपमानि द्वे सार्द्धं चेति, देवीनां तु सार्द्धे एकं तदर्द्धं चेति, एवं बलेरपि, नवरं देवप्रमाणं तदेव चतुश्चतुःसहस्रहीनं, देवीमानं तु शतेनाधिकं, आयुर्मानमपि तदेव, नवरं पल्योपमाधिकं, एवमच्युतान्तानामिन्द्राणां प्रत्येकं तिस्रः पर्षदः स्युः, नामतो देवादिमानतः स्थितिमानतश्च क्वचित्किञ्चिद्भेदः, एतत्स्वरूपं जीवाभिगमादवसेयमिति॥ **सम्पूर्णं तृतीयं शतम्॥**

४ शतके १ उद्देशः

'अच्चणिय'त्ति (सू. १७१) सिद्धायतनजिनप्रतिमाद्यर्चनममिनवोत्पन्नसोमलोकपालस्येति, **'रायहाणीसु चत्तारि उद्देसया भाणियव्वा'** ते चैवम्–'कहन्नं भंते! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमाणामं रायहाणी पण्णत्ता?, गो०! सुमणस्स महाविमाणस्स अहे सपक्खिं इति, पूर्वोक्तानुसारेण जीवाभिगमोक्तविजयराजधानीवर्णकानुसारेण चैकैक उद्देशकः अध्येतव्यः, 'आदि'गाह(*३२)त्ति ईशानेन्द्रस्य, 'आदिदुय'त्ति आद्यद्वयोः सोमयमयोरायुस्त्रिभागोने द्वे पल्ये 'दो चेव'त्ति सम्बन्धा-

॥६६॥

अथ **शतक-३ उद्देशक** : १० आरब्धः एवं समाप्तः, तत् समाप्ते **शतक-३** अपि परिसमाप्तः

अथ **शतक-४** आरभ्यते

अत्र **शतक-४**, उद्देशकाः १-८ आरब्धाः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

द्भवतः, धनदस्य द्वे एव पल्योपमे, 'तिभाग'त्ति वरुणविषये सत्रिभागे द्वे पल्ये, 'पलिय'त्ति यथापत्यदेवानां पल्यमेकमिति, गाथा गतार्था ॥ चतुर्थशतेऽष्टम उद्देशकः ॥

'नेरइए णं'ति (सू. १७३) लेस्सापदे सप्तदशे प्रज्ञापनायास्तृतीय उद्देशको भणितव्यः,स चैवं–गोयमा ! नेरइए णेरइएसु उववज्जइ, णो अणेरइए णेरइएसु उववज्जइ' अयं चास्यार्थः—नैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते, न पुनरनैरयिकः, कथमेतद् ?, उच्यते, यस्मान्नारकादिभवोपग्राहकं आयुरेव, अतो जीवः कोऽपि प्राग्भवायुर्भुक्त्वा नरकादिषूत्पत्तुकामः स नारकाद्यायुःप्रथमसमयसंवेदनकाल एव नारकादिव्यपदेश्यः स्यात् ऋजुसूत्रनयदर्शनेन, यत उक्तं नयविद्भिः–'पलालं न दहत्यग्निर्भिद्यते न घटः क्वचित् । न शून्यान्निर्गमोऽस्तीह, न च शून्यं प्रविश्यते ॥१॥" नारकव्यतिरिक्तश्च, नरके नोपपद्यते । नरकान्नारकश्चास्य, न कश्चिद्विप्रमुच्यते ॥२॥" 'जाव नाणाइं'ति अयमुद्देशको ज्ञानावसानोऽध्येतव्यः, स चायम्–'कण्हलेसे णं जीवे कइसु नाणेसु होज्जा ?, गो० ! दोसु तिसु चउसु वा नाणेसु होज्जा, दोसु होज्जेमाणे आभिणिबोहियसुयनाणेसु होज्जा' ॥ चतुर्थशते नवम उद्देशकः ॥

'तारूवत्ताए'त्ति (सू. १७४) तद्रूपतया नीललेश्यास्वभावेन, एवं प्रज्ञापनालेश्यापदे चतुर्थोद्देशकः, स चैवम्–'तावण्णत्ताए तागंध० तारस० ताफासत्ताए भुज्जो २ परिणमंति ?, हंता ! गोयमा ! कण्हलेसा नीललेसं पप्प तारूवत्ताए० भुज्जो २ परिणमइ.' अयमस्य भावार्थः–यदा कृष्णलेश्यापरिणतो जीवो नीललेश्यायोग्यानि द्रव्याणि गृहीत्वा कालं कुर्यात् तदा नीललेश्यापरिणत उत्पद्यते, 'जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसे उववज्जइ' इति वचनाद् , अतः कारणमेव कार्यीस्यात् , 'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–कण्हलेसा नीललेसं पप्प तारूवत्ताए भुज्जो २ परिणमइ ?, गोयमा ! से जहानामए खीरे दूसिं पप्प' तक्रमिति भावः,'सुद्धे

४ शतके ९ उद्देशः

अथ **शतक-४** उद्देशकाः १-८ समाप्ताः, अथ **शतक-४ उद्देशक** : ९ आरब्धः एवं समाप्तः, अथ **शतक-४ उद्देशक** : १० आरब्धः

वा वस्थे रागं पप्य तारूवत्ताए भुज्जो २ परिणमइ, एएणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–कण्हलेसा' इत्यादि, एतेनैवाभिलापेन नीला कापोतीं कापोती तैजसीं तैजसी पद्मां पद्मा शुक्लां प्राप्य तद्रूपत्वादिना परिणमतीति वाच्यम्, अथ कियद्दूरमुद्देशकोऽयं वाच्य इत्याह–'जावे'त्यादि, परिणामेत्यादिगाथोक्तद्वारपरिसमाप्तिं यावदिति, तत्र परिणामो दर्शित एव, तथा 'वण्ण'त्ति कृष्णादिलेश्यानां वर्णो वाच्यः,स चैवं–'कण्हलेस्सा णं भंते! केरिसगा वण्णेणं पन्नत्तेति, उत्तरं तु कृष्णा जीमूतादिवत्, नीला भृङ्गादिवत्, कापोती कापोतवर्णा खदिरसारादिवत्, तैजसी लोहिता शशकरक्तादिवत्, पद्मा पीता चम्पकादिवत्, शुक्ला(श्वेता)शङ्खादिवत्,'रस'त्ति कृष्णा तिक्तरसा लिम्बवत्, नीला कटुकरसा नागरवत्, कापोती कषायरसा अपक्वबदरवत्, तेजोलेश्या अम्लमधुरा अपक्वाम्रफलवत्, पद्मा कटुकषायमधुररसा चन्द्रप्रभासुरावत्, शुक्ला मधुररसा गुडादिवत्,'गंध'त्ति लेश्यागन्धो वाच्यः, आद्यास्तिस्रो दुरभिगन्धाः, अन्त्याश्च तदितराः, 'सुद्ध'त्ति अन्त्याः शुद्धाः, आद्यास्त्वितराः, 'अपसत्थ'त्ति आद्या अप्रशस्ता अन्त्याः प्रशस्ताः 'संकिलिट्ठ'त्ति आद्याः संक्लिष्टाः, अन्त्या अन्याः, 'उण्ह'त्ति अन्त्या उष्णाः स्निग्धाश्च, आद्याः शीता रूक्षाश्च, 'गइ'त्ति आद्या दुर्गतिहेतवः अन्त्याः सुगतिहेतवः,'परिणाम'त्ति लेश्यानां कतिविधः परिणाम इति वाच्यं, तत्रासौ जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रिधा उत्पादादिभेदाद्वा त्रिधा, 'एएसि'न्ति आसां प्रदेशा वाच्याः, तत्रानंतप्रदेशकाः प्रत्येकं वाच्या एताः,'ओगाह'त्ति अवगाहना आसां वाच्या, तत्रैता असङ्ख्यातक्षेत्रप्रदेशावगाढाः, 'वग्गण'त्ति वर्गणा आसां वाच्याः, तत्र वर्गणा कृष्णलेश्यादियोग्यद्रव्यवर्गणाः, ताश्चानन्ता औदारिकादिवर्गणावत्, 'ठाण'त्ति तारतम्येन विचित्राध्यवसायनिबन्धनानि कृष्णादिद्रव्यवृन्दानि, तानि चासङ्ख्येयानि, अध्यवसायस्थानानामसङ्ख्यातत्वात्,'अप्पबहु'त्ति लेश्यास्थानानामल्पबहुत्वं वाच्यं, तच्चैवम्–'एएसि णं भंते!

॥६७॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१७६-१७८] + गाथा

दीप अनुक्रम [२१५-२१८]

कण्हलेसाठाणाणं जाव सुक्कलेसाठाणाण य जहन्नगाणं दव्वट्ठयाए ३ कयरे २ हिंतो अप्पा वा ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा जहण्णगा काउलेसाठाणा दव्वट्ठयाए जहण्णगा नीललेसाठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा जहण्णगा कण्हलेसा०दव्व० असं०जह०पम्हलेसाठाणा दव्व० असंखेज्जहण्णगा तेउलेसाठाणा दव्व० असं० जह०पम्हलेसाठाणा दव्व० असं० जह० सुक्कलेसाठाणा दव्व० असं०' इत्यादीति ॥ चतुर्थशते दशमः ॥ सम्पूर्णं चतुर्थं शतम् ॥

भगवत्यां चतुर्थशतान्ते लेश्या उक्ताः, पञ्चमशते तु प्रायो लेश्यावन्तो निरूप्यन्ते, एवंसम्बन्धस्यास्योद्देशकस्य सङ्ग्रहगाथेयम्— "चंप रवि १ अणिल २ गंठिय ३ सद्दे ४ छउमा ५ ऽऽउ ६ एअण ७ णियंठे ८ । रायगिहं ९ चंपा चंदिमा य १० दस पंचमंमि सए ॥१॥" 'चंपे'ति तत्र चम्पायां रविविषयप्रश्ननिर्णयार्थः प्रथमः, 'अणिल'त्ति वायुविषयो द्वितीयः, 'गंठिय'त्ति जालग्रथिकाज्ञातज्ञापनीयार्थनिर्णयपरस्तृतीयः, 'सद्दे'त्ति शब्दविषयप्रश्ननिर्णयार्थश्चतुर्थः, 'छउम'त्ति छद्मस्थवक्तव्यतार्थः पञ्चमः, 'आउ'त्ति आयुषोऽल्पत्वादिवाच्यार्थः षष्ठः, 'एयण'त्ति पुद्गलानामेजनाद्यर्थवाच्यः सप्तमः, 'णियंठे'त्ति निर्ग्रन्थीपुत्राभिधानानगारविहितसुविचारसारोऽष्टमः, 'रायगिहं'ति राजगृहनगरविचारपरो नवमः,'चंपा चंदिमा य'त्ति चम्पायां चन्द्रवक्तव्यतार्थो दशमः, तत्र प्रथमोद्देशके किञ्चिल्लिख्यते–'सूरिय'त्ति द्वौ रवी, जम्बूद्वीपे द्वयोरेव भावात्, 'उदीणपाईणं'ति उदगेव उदीचीनं प्रागेव प्राचीनं, उदीचीनं तदुदीच्यासन्नत्वात् प्राचीनं तत्प्रत्यासन्नत्वात्, उदीचीनप्राचीनं दिगन्तरं, क्षेत्रदिगपेक्षया पूर्वोत्तरदिगित्यर्थः,'उग्गच्छ'त्ति उद्गत्य क्रमेण तत्रोद्गमनं कृत्वा 'पाईणदाहिणं'ति प्राचीनदक्षिणं दिगन्तरं, पूर्व-

अथ शतक-४ उद्देशक : १० समाप्तः, तत् समाप्ते शतक-४ अपि समाप्तः

अत्र शतक-५ आरभ्यते

अथ शतक-५ उद्देशक : १ आरब्धः

दक्षिणमिति,'आगच्छंति'त्ति आगच्छतः, क्रमेणैवास्तं यात इति, इह चोद्गमनमस्तमयं च द्रष्टृलोकविवक्षयाऽवसेयं, तथाहि— येषामदृश्यौ सन्तौ दृश्यौ तौ रवी स्यातां ते तयोरुद्गमनं व्यवहरन्ति, येषां तु दृश्यौ सन्तावदृश्यौ स्यस्ते तयोरस्तमनं व्यवहरन्ति इत्यनियतावुदयास्तमयौ, आह च—"जह २ समए २ पुरओ संचरइ भक्खरो गयणे। तह २ पुरओऽवि नियमा जायइ रयणीय भावत्थो ॥१॥ एवं च सइ नराणं उदयत्थमणाइं होंतऽनिययाइं। सइ दिसिभेए कस्स य किंची ववदिस्सए नियमा ॥ २ ॥ सइ चेव य निद्दिट्ठो, भद्दमुहुत्तो कमेण सव्वेसि। केसिंची दाणिंपिय विसयपमाणो रवी जेसिं ॥३॥" इत्यादि, अनेन च सूर्यस्य चतसृषु दिक्षु गतिरुक्ता, ततश्च ये मन्यन्ते सूर्यः पश्चिमसमुद्रं प्रविश्य पाताले गत्वा पुनः पूर्वसमुद्रे उदेति तन्मतं निषिद्धं, इह च सूर्यस्य सर्वतो गमनेऽपि प्रतिनियतत्वात् प्रकाशस्य रात्रिदिवसविभागोऽस्ति, तं क्षेत्रभेदेन दर्शयन्नाह–'जया णं'ति (सू. १७६) इह सूर्यद्वयभावादेकदैव दिगद्वये दिवस उक्तः, इह यद्यपि दक्षिणार्द्धे तथा उत्तरार्द्धे इत्युक्तं तथाऽपि दक्षिणभागे उत्तरभागे चेति बोद्धव्यं, अर्द्धशब्दस्य भागमात्रार्थत्वात्, यतो यदि दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च समग्र एव दिवसः स्यात् तदा कथं पूर्वेणापरेण च रात्रिः स्यात् इति वक्तुं युज्येत ?, अर्द्धद्वयग्रहणेन सर्वक्षेत्रस्य गृहीतत्वात्, इतश्च दक्षिणार्द्धादिशब्देन दक्षिणादिभागमात्रमवसेयं, न त्वर्द्धं, यतो यदापि दक्षिणोत्तरयोः सर्वोत्कृष्टो दिवसः स्यात् तदापि जम्बूद्वीपस्य दशभागत्रयप्रमाणमेव तापक्षेत्रं तयोः प्रत्येकं स्यात्, दशभागद्वयमानं च पूर्वपश्चिमयोः प्रत्येकं रात्रिक्षेत्रं स्यात्, तथाहि–षष्ट्या मुहूर्त्तैः किल सूर्यो मण्डलं वृत्ताकारं जम्बूद्वीपं पूरयति, उत्कृष्टदिनं चाष्टादशभिर्मुहूर्त्तैरुक्तः, अष्टादश च षष्टेर्दशभागत्रितयरूपाः स्युः, यदाऽष्टादशमुहूर्तो दिवसस्तदा रात्रिर्द्वादशमुहूर्त्ता स्यात्, द्वादश च षष्टेर्दशभागद्वयरूपाः स्युः, तत्र च मेरुं प्रति नव योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि ९४८६ ६०

भागा नव च दशभागयोजनस्येत्येतत् सर्वोत्कृष्टदिवसे दशभागत्रयरूपं तापक्षेत्रप्रमाणं स्यात्, कथं ?, मन्दरपरिक्षेपस्य किञ्चिन्न्यूनत्रयोविंशत्युत्तरषट् ३१६२३ शताधिकैकत्रिंशद्योजनसहस्रमानस्य दशभिर्भागे हृते यल्लब्धं तस्य त्रिगुणितत्वे एतस्य भावादिति। तथा लवणसमुद्रं प्रति चतुर्नवतियोजनानां सहस्रं ९४८६८ $\frac{४}{१०}$ अष्टौ शतानि अष्टषष्ट्यधिकानि चत्वारश्च दशभागयोजनस्येत्येतदुत्कृष्टदिने तापक्षेत्रप्रमाणं स्यात्, कथं ?, जम्बूद्वीपपरिधेः किञ्चिन्न्यूनाष्टाविंशत्युत्तरशतद्व्याधिकषोडशसहस्रोपेतयोजनलक्षत्रयमानस्य ३१६२२८ दशभिर्भागे यल्लब्धं तस्य त्रिगुणितत्वे एतस्य भावादिति, जघन्यरात्रिक्षेत्रपरीमाणं चाप्येवमेव, नवरं परिधेर्दशभागो द्विगुणः कार्यः, तत्राद्यः षड् योजनानां ६३२४ $\frac{६}{१०}$ सहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि षट् च भागा दशभागयोजनस्य, द्वितीयं तु त्रिषष्टिः सहस्राणि द्वे पञ्चचत्वारिंशदधिके योजनानां शते षड् भागा दशभागयोजनस्य ६३२४५ $\frac{६}{१०}$ सर्वलघौ च दिने तापक्षेत्रमनन्तरोक्तरात्रिक्षेत्रतुल्यं, रात्रिक्षेत्रं त्वनन्तरोक्तातापक्षेत्रतुल्यमिति, आयामतस्तु तापक्षेत्रं जम्बूद्वीपमध्ये पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि, लवणे च त्रय ३३३३३ $\frac{१}{३}$ स्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि एकभागश्च त्रिभागयोजनस्य, उभयमीलने तु अष्टसप्ततिः सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागश्चेति ७८३३३ $\frac{१}{३}$। 'उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे हवइ'त्ति इह किल सूर्यस्य चतुरशीत्यधिकं मण्डलशतं स्यात्, तत्र किल जम्बूद्वीपमध्ये पञ्चषष्टिर्मण्डलानि स्युः, एकोनविंशत्यधिकं च शतं मण्डलानां लवणसमुद्रमध्ये भवति, तत्र सर्वाभ्यन्तरे मण्डले यदा वर्त्तते सूर्यस्तदा अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, यदा सर्वबाह्ये मण्डले वर्त्तते रविस्तदा सर्वजघन्यो द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति, अष्टादश मुहूर्त्ताः कथं स्युः ?, उच्यते, द्वितीयमण्डलादारभ्य प्रतिमण्डलं द्वाभ्यां एकषष्टिभागरूपमुहूर्त्तसम्बन्धिभागाभ्यां दिनस्य वृद्धौ त्र्यशीत्यधिकशत-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१७६-१७८] + गाथा

दीप अनुक्रम [२१५-२१८]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तममण्डले षट् मुहूर्त्ता वर्द्धन्त इत्येवमष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः स्यात्, अत एव द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः स्यात्, त्रिंशत्मुहूर्त्तत्वादहोरात्रस्य, **'अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे'त्ति** यदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलानन्तरे मण्डले वर्त्तते सूर्यस्तदा मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयहीनोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः स्यात्, स चाष्टादशमुहूर्त्तादिवसादनन्तरोऽष्टादशमुहूर्त्तानन्तर इति व्यपदिश्यते, **'साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राइ'त्ति** द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणा रात्रिः स्यात्, यावता भागेन दिनं हीयते तावता रात्रिर्वर्द्धते, त्रिंशन्मुहूर्त्तत्वाद-होरात्रस्येति, **'एवं एएणं कमेणं'ति** एतेनानन्तरोक्तेन **'जया णं भंते! जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे'** इत्यनेन **'ओसारेयव्वं'ति** दिनमानं ह्रस्वीकार्यं,तदेव दर्शयति–**'सत्तरसे'**त्यादि,तत्र सर्वाभ्यन्तरमण्डलानन्तरमण्डलादारभ्यैकत्रिंशत्तममण्डलार्द्धे यदा सूर्यस्तदा सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसः स्यात्, पूर्वोक्तहानिक्रमेण त्रयोदशमुहूर्त्ता च रात्रिरिति, **'सत्तरसमुहुत्ताणंतर'त्ति** मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्व-यहीनसप्तदशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो यत् द्वितीयादारभ्य द्वात्रिंशत्तममण्डलार्द्धे स्यात्, एवमनन्तरत्वमन्यत्राप्यूह्यम्, **'साइरेगतेर-समुहुत्ता राइ'त्ति** मुहूर्त्तैकषष्टिभागद्वयेन सातिरेकत्वं, एवं सर्वत्र,**'सोलसमुहुत्ते दिवसे'त्ति** द्वितीयादारभ्यैकषष्टितममण्डले १६ मुहूर्त्तो दिवसः स्यात्, **'पन्नरसमुहुत्ते दिवसे'ति** द्विनवतितममण्डलार्द्धे वर्त्तमाने रवौ, **'चउद्दसमुहुत्ते दिवसे'त्ति** द्वाविंशत्युत्तरशततमे मण्डले, **'तेरसमुहुत्तेत्ति** सार्द्धद्विपञ्चाशदुत्तरशततमे मण्डले, **'बारसमुहुत्ते'त्ति** त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले,सर्वबाह्य इत्यर्थः॥ कालाधिकारादिदमाह–**'जया णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ'** इत्यादि, (सू. १७७) **'वासाणं'ति** चतुर्मासप्रमाणवर्षाकालस्य सम्बन्धी प्रथमः–आद्यः समयः–क्षणः प्रतिपद्यते–संपद्यते, भवति इत्यर्थः, **'अणंतरपुरेक्खडे समयंसि'त्ति** अनन्तरो निर्व्यवधानो दक्षिणार्धवर्षाप्रथमतापेक्षया, स चातीतोऽपि स्यादत आह—

५ शतके १ उद्देशः

॥६९॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१७६-१७८] + गाथा

दीप अनुक्रम [२१५-२१८]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पुरस्कृतः–पुरोवर्त्ती, भविष्यन्नित्यर्थः, समयः प्रतीतः, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः तत्र,'अणंतरपच्छाकडे समयंसि'त्ति पूर्वापरविदेहवर्षाप्रथमसमयापेक्षया योऽनन्तरः पश्चात्कृतः–अतीतः समयस्तत्र दक्षिणोत्तरयोर्वर्षाकालप्रथमसमयः स्यात् , 'एवं जहा समएणं'ति इत्यादि, आवलिकाभिलापश्चैवम्–'जया णं भंते! जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ जया णं उत्तरड्ढेऽवि, जया णं उत्तरड्ढे वासाणं पढ० तया णं जंबु० मंदरपव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमे णं अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमावलिया पडिवज्जइ? हंता! गोयमे'त्यादि, एवमानप्राणादिषु पदेष्वपि, आवलिकाद्यर्थः पुनरेवं–आवलिका–असङ्ख्यातसमयात्मिका आनप्राणः—उच्छ्वासनिःश्वासकालः स्तोकः–सप्तप्राणप्रमाणो लवस्तु–सप्तस्तोकरूपः, मुहूर्त्तः पुनः लवसप्तसप्ततिमितः ऋतुस्तु मासद्वयमानः 'हेमंताणं'ति शीतकालस्य 'गिम्हाणं'ति उष्णकालस्य, 'पढमे अयणे'त्ति दक्षिणायनं, श्रावणादित्वात् संवत्सरस्य, षण्मासीं यावद्दक्षिणायनमिति, एवमुत्तरायणमपि, 'जुएणवि'त्ति युगं–पञ्चसंवत्सरमानं 'पुव्वेण व'त्ति पूर्वांगं ८४ वर्षलक्षाणां, 'पुव्वेण व'त्ति पूर्वं पूर्वाङ्गमेव ८४ वर्षलक्षगुणितं, एवमग्रेऽपि ८४ वर्षलक्षगुणितमुत्तरोत्तरं स्थानं स्यात् , चतुर्णवत्यधिकं चाङ्कशतमन्तिमे स्थाने स्यादिति, 'पढमा ओसप्पिणि'त्ति अवसर्पयति भावानित्येवंशीला अवसर्पिणी तस्याः प्रथमो विभागः प्रथमा अवसर्प्पिणि 'उस्सप्पिणि'त्ति उत्सर्पयति भावानित्येवंशीला उत्सर्पिणी ॥ **पञ्चमशते प्रथम उद्देशकः** ॥

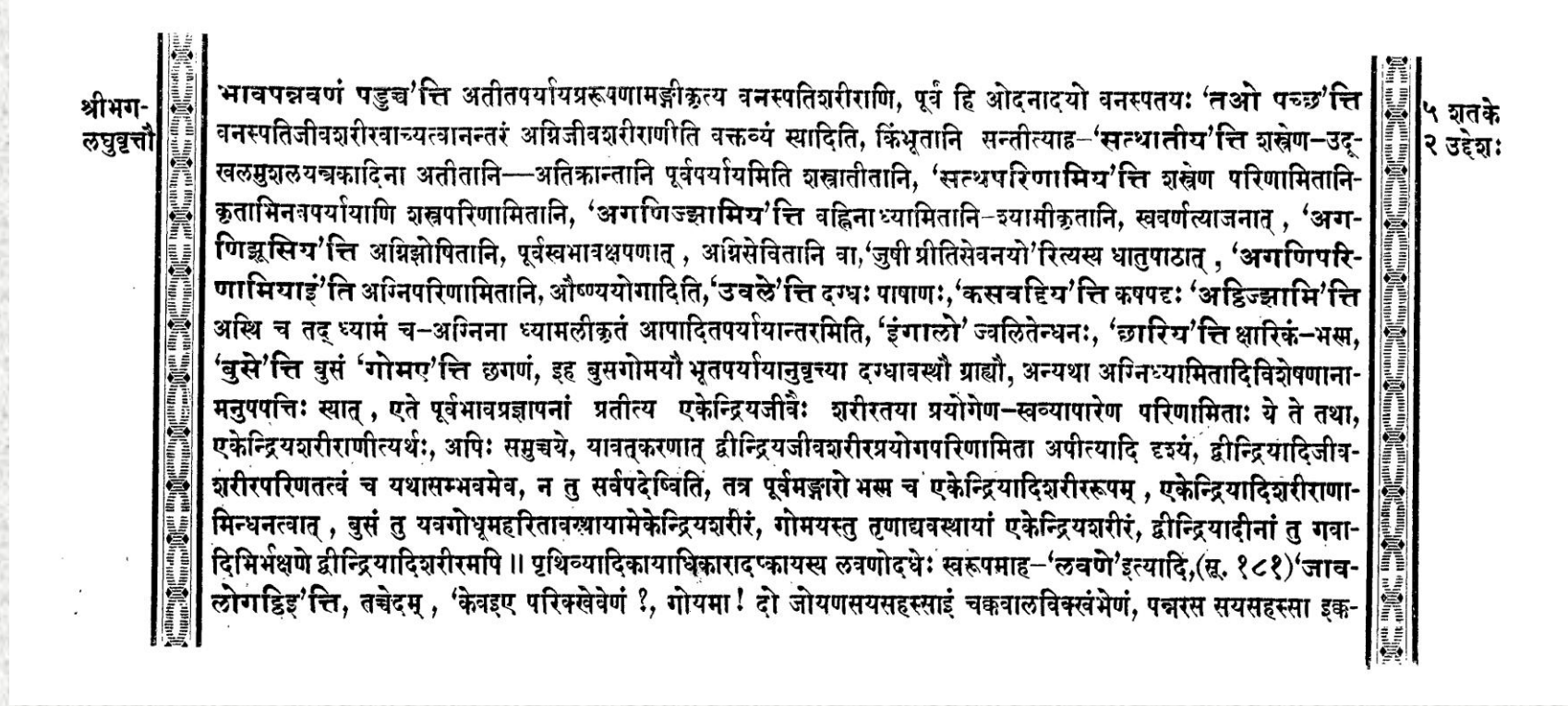
प्रथमोद्देशके दिक्षु दिवसादिभाग उक्तः, द्वितीये तु तास्वेव वातं प्रतिपिपादयिषुर्वातभेदांस्तावदभिधातुमाह–'अत्थि'त्ति (सू. १७९) अस्त्ययमर्थो यदुत वाता वान्ति, कीदृशा इत्याह–'ईसिं पुरेवाय'त्ति मनाक् सत्रेहवाताः,'पच्छावाय'त्ति पथ्या–वनस्पत्यादिहिता वायवः, 'मंदा वाय'त्ति मन्दाः–शनैः सञ्चारिणोऽमहावाताः 'महावाय'त्ति उद्दण्डवाता अनल्पाः,'पुरत्थिमे-

५ शतके १ उद्देशः

अथ **शतक-५ उद्देशक** : १ समाप्तः, अथ **शतक-५ उद्देशक** : २ आरब्धः

णं'ति मेरोः पूर्वदिशि, एवमेतानि दिग्विदिगपेक्षयाऽष्टौ सूत्राणि ॥ उक्तं दिग्भेदतो वातानां वानं, अथ दिशामेव परस्परोपनिबन्धेन तदाह–'जया णं'ति इह च द्वे दिक्सूत्रे द्वे विदिक्सूत्रे ॥ अथ प्रकारान्तरेण वातस्वरूपनिरूपणसूत्रं, तत्र 'दीविच्चगि'त्ति द्वैप्या द्वीपसम्बन्धिनः 'सामुद्दिय'त्ति समुद्रस्यैते सामुद्रिकाः,'अन्नमन्नविवच्चासेणं'ति अन्योऽन्यव्यत्यासेन, यदैके ईषत्पुरोवातादि-विशेषणा वाता वान्ति तदेतरे न तथाविधा वान्तीति, 'वेलं नाइक्कमंति' तथाविधवातद्रव्यसामर्थ्याद्वेलायाः तथास्वभावत्वाच्चेति । अथ वातानां वाने प्रकारत्रयं सूत्रत्रयेण दर्शयन्नाह–'अत्थि ण'मित्यादि, 'अहारियं'ति रीतं रीतिः–स्वभावः तस्यानतिक्रमेण यथारीतं गच्छति, यथास्वाभाविक्या गत्या गच्छति,'उत्तरकिरियं'ति वायुकायस्य हि मूलशरीरमौदारिकं, उत्तरं तु वैक्रियं, अतः उत्तरा उत्तरशरीराश्रया गतिलक्षणा क्रिया यत्र गमने तदुत्तरक्रियम् तद्यथा भवतीत्येवं 'रीयं रीयते' गच्छति. इह चैकसूत्रेणैव वायुवानकारणत्रयस्य वक्तुं शक्यत्वे यत् सूत्रत्रयकरणं तद् विचित्रत्वात् सूत्रगतेरिति मन्तव्यं, वाचनान्तरे त्वाद्यं कारणं महावात-वर्जितानां द्वितीयं तु मन्दवातवर्जितानां तृतीयं तु चतुर्णामप्युक्तं ॥ वायुकायाधिकारादेवेदमाह–'वाउआए ण'मित्यादि,'जहा खंदए' तत्र प्रथमो दर्शित एव, 'अणेगे'त्यादि द्वितीयः, स चैवम्–वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दा-इत्ता २ तत्थेव भुज्जो २ पच्चायाइ ?, हंता ! गो० !, 'पुट्ठे उद्दाइ'त्ति तृतीयः, स चैवम्–'से भंते ! किं पुट्ठे उद्दाइ' ? अपुट्ठे०?, गो० ! पुट्ठे उद्दाइ, नो अपुट्ठे' 'ससरीरी'त्यादिश्चतुर्थः, स चैवम्–से भंते ! किं ससरीरी निक्खमइ, असरीरी नि०?, गो० ! सिय ससरीरी'त्ति, वायुकायश्चिन्तितः । अथ वनस्पतिकायादीन् शरीरतश्चिन्तयन्नाह–'एएणं'ति एतानि 'किंसरीर'त्ति (सू० १८०) केषां शरीराणि किंशरीराणि, 'सुराए य जे घणे'त्ति सुरायां द्वे द्रव्ये स्यातां–घनद्रव्यं द्रवद्रव्यं च, तत्र यद् घनद्रव्यं 'पुव्व-

॥७०॥



श्रीभग-लघुवृत्तौ

भावपन्नवणं पडुच्च'त्ति अतीतपर्यायप्ररूपणामङ्गीकृत्य वनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि ओदनादयो वनस्पतयः 'तओ पच्छ'त्ति वनस्पतिजीवशरीरवाच्यत्वानन्तरं अग्निजीवशरीराणीति वक्तव्यं स्यादिति, किंभूतानि सन्तीत्याह–'सत्थातीय'त्ति शस्त्रेण–उदूखलमुशलयन्त्रकादिना अतीतानि—अतिक्रान्तानि पूर्वपर्यायमिति शस्त्रातीतानि, 'सत्थपरिणामिय'त्ति शस्त्रेण परिणामितानिकृताभिनवपर्यायाणि शस्त्रपरिणामितानि, 'अगणिज्झामिय'त्ति वह्निना ध्यामितानि–श्यामीकृतानि, स्ववर्णत्याजनात्, 'अगणिझूसिय'त्ति अग्निझोषितानि, पूर्वस्वभावक्षपणात्, अग्निसेवितानि वा,'जुषी प्रीतिसेवनयो'रित्यस्य धातुपाठात्, 'अगणिपरिणामियाइं'ति अग्निपरिणामितानि, औष्ण्ययोगादिति,'उवले'त्ति दग्धः पाषाणः,'कसवट्टिय'त्ति कषपट्टः 'अट्ठिज्झामि'त्ति अस्थि च तद् ध्यामं च–अग्निना ध्यामलीकृतं आपादितपर्यायान्तरमिति, 'इंगाले' ज्वलितेन्धनः, 'छारिय'त्ति क्षारिकं–भस्म, 'बुसे'त्ति बुसं 'गोमए'त्ति छगणं, इह बुसगोमयौ भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धावस्थौ ग्राह्यौ, अन्यथा अग्निध्यामितादिविशेषणानामनुपपत्तिः स्यात्, एते पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्य एकेन्द्रियजीवैः शरीरतया प्रयोगेण–स्वव्यापारेण परिणामिताः ये ते तथा, एकेन्द्रियशरीराणीत्यर्थः, अपिः समुच्चये, यावत्करणात् द्वीन्द्रियजीवशरीरप्रयोगपरिणामिता अपीत्यादि दृश्यं, द्वीन्द्रियादिजीवशरीरपरिणतत्वं च यथासम्भवमेव, न तु सर्वपदेष्विति, तत्र पूर्वमङ्गारो भस्म च एकेन्द्रियादिशरीररूपम्, एकेन्द्रियादिशरीराणामिन्धनत्वात्, बुसं तु यवगोधूमहरितावस्थायामेकेन्द्रियशरीरं, गोमयस्तु तृणाद्यवस्थायां एकेन्द्रियशरीरं, द्वीन्द्रियादीनां तु गवादिभिर्भक्षणे द्वीन्द्रियादिशरीरमपि ॥ पृथिव्यादिकायाधिकारादप्कायस्य लवणोदधेः स्वरूपमाह–'लवणे'इत्यादि,(सू. १८१)'जावलोगट्ठिइ'त्ति, तच्चेदम्, 'केवइए परिक्खेवेणं ?, गोयमा! दो जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं, पन्नरस सयसहस्सा इक्क-

५ शतके २ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१७९-१८१]

दीप अनुक्रम [२१९-२२१]

श्री भग-लघुवृत्तौ

सीइं च सहस्सा सयं च इगुयालं किंचिविसेसूणं परिक्खेवेणं पण्णत्ते,' इत्यादि, एतस्यां 'ता कम्हा णं भंते ! लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं २ नो उव्वीलेइ' इत्यादिप्रश्ने 'गोयमा ! जंबुद्दीवे २ भरहेरवएसु वासेसु अरहंता चक्कवट्टी'त्यादि, उत्तरग्रन्थस्यान्ते 'लोगट्ठिई' इत्यादि, द्रष्टव्यमिति ॥ **पञ्चमे शते द्वितीय उद्देशकः** ॥

तृतीयोद्देशकादिसूत्रमिदमाह—'**जालगंठिय**'त्ति (सू. १८२) जालं—मत्स्यबन्धनं तस्येव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका-जालिका, किंस्वरूपा सेत्याह–'**आणुपुव्विगढिय**'त्ति आनुपूर्व्या–परिपाट्या, आद्युचितग्रन्थीनामादौ विधानाद् अन्तोचितानां च क्रमेण अन्त एव करणात् '**आणंतरगढि**'त्ति प्रथमग्रन्थीनामनन्तरव्यवस्थापितग्रन्थिभिस्सह ग्रथिताः,एवं परम्परैः–व्यवहितैस्सह ग्रथिताः,'**अन्नमन्न**'त्ति अन्योऽन्यं–मिथः एकेन ग्रन्थिना सहान्यो ग्रन्थिः अन्येन च सहान्य इत्यन्योऽन्यग्रथिताः,'**अन्नमन्नगुरुय**'त्ति अन्योऽन्येन ग्रथनात् गुरुकता–विस्तीर्णता तया, '**अन्नमन्नभारिय**'त्ति अन्योऽन्यस्य यो भारः स विद्यते यत्र तदन्योऽन्यभारिकं तद्भावस्तत्ता तया, '**अन्नमन्नगुरुयसंभारिय**'त्ति अन्योऽन्येन गुरुकं यत् संभारिकं च तत्तथा तद्भावस्तत्ता तया, '**अन्नमन्नघड**'त्ति अन्योऽन्यं घटा—समुदायरचना यत्र तदन्योऽन्यघटं तद्भावस्तत्ता तया '**चिट्ठइ**'त्ति आस्ते, अयं दृष्टान्तः, अथ दार्ष्टान्तिक उच्यते–"**एवामेव**'त्ति अनेनैव न्यायेन '**बहूसु आजाइसहस्सेसु**'त्ति अनेकेषु देवादिजन्मसु प्रतिजीवं क्रमेण प्रवृत्तेषु बहून्यायुष्कसहस्राणि, तत्स्वामिजीवानां आजातीनां च बहुसहस्रसङ्ख्यत्वात्, आनुपूर्वीग्रथितानीति पूर्ववद् व्याख्येयं, अथैतेषामायुषां को वेदनविधिरित्याह–'**एगेऽवि ये**'त्यादि, एकोऽपि जीव एकेन समयेनेत्यादि प्रथमशतवत्, अत्रोत्तरं–'**जे ते**' इत्यादि, मिथ्यात्वं चैषामेवं–यानि हि बहूनि आयूंषि बहूनां जालग्रन्थिकावत्तिष्ठन्ति तानि य(त)था

५ शतके ३ उद्देशः

॥७१॥

अथ **शतक-५ उद्देशक** : २ समाप्तः, अथ **शतक-५ उद्देशक** : ३ आरब्धः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१८२-१८३]

दीप अनुक्रम [२२२-२२३]

स्वजीवप्रदेशेषु सम्बद्धानि असंबद्धानि वा ?, यदि सम्बद्धानि तदा कथं भिन्नस्वजीवस्थितानां तेषां जालग्रन्थिकाकल्पना कल्पयितुं शक्या, तथापि तत्कल्पने जीवानामपि जालग्रथिकाकल्पत्वं स्यात्, तत्सम्बद्धत्वात्, तथा च सर्वजीवानां सर्वायुस्संवेदनेन सर्वभवानुभवनप्रसङ्गः, अथ जीवानामसम्बद्धान्यायूंषि तदा तद्वशादेवादिजन्म इति न स्याद्, असम्बद्धत्वादेवेति, यच्चोक्तं–एको जीव एकेन समयेन द्वे आयुषी वेदयति, तदपि मिथ्या, आयुर्द्वयसंवेदने युगपद्भवद्वयप्रसङ्गादिति, 'एगमेगस्स'त्ति एकैकस्य जीवस्य, नतु बहूनां, बहुष्वाजातिसहस्रेषु क्रमवृत्तिअतीतकालिकेषु तत्कालापेक्षया सत्सु बहून्यायुःसहस्राणि अतीतानि वर्त्तमानभवान्तानि अन्यभविकमन्यभविकेन प्रतिबद्धं इत्येवं सर्वाणि मिथःप्रतिबद्धानि स्युः, न पुनरेकभव एव बहूनि,'इहभवियाउ'त्ति वर्त्तमानभवायुः 'परभवियाउ'त्ति परभवप्रायोग्यं यद्वर्त्तमानभवनिबद्धं, तच्च परभवे गतो यदा वेदयति तदा व्यपदिश्यते 'परभवियाउयं व'त्ति 'कहिं कडे'त्ति क्व भवे बद्धं ?, 'समाइण्णे'त्ति, समाचरितं, तद्धेतुसमाचरणात् 'जे जंभविए जोणिं उववज्जित्तए'त्ति यो यस्यां योनावुत्पत्तुं योग्य इति,'दुविहं'ति सम्मूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात् द्विधा,'चउविहं'ति चतुर्विधं भवनपत्यादिभेदादिति ॥ पञ्चमशते तृतीय उद्देशकः ॥

'आउडिज्जमाणाइं'ति (सू० १८४) 'जुड बन्धने' इति धातोः आजोड्यमानेभ्यः–सम्बध्यमानेभ्यो मुखहस्तदण्डादिना सह शङ्खपटहझल्लर्यादिवाद्येभ्यः, आकुट्यमानेभ्यो वा एभ्य एव, ये जाताः शब्दास्ते आजोड्यमाना आकुट्यमाना एव वा उच्यन्ते, अतस्तानाजोड्यमानानाकुट्यमानान् वा शब्दान् शृणोति, इह प्राकृतत्वाच्छब्दस्य नपुंसकता, अथवा 'आउडिज्जमाणाइं'ति आकुट्यमानानि मिथोऽभिहन्यमानानि शब्दानि–शब्दद्रव्याणि, 'संखिय'त्ति शङ्खिका–ह्रस्वशङ्खः 'खरमुहे'त्ति काहला 'पोया'महती काहला

अथ **शतक-५ उद्देशक** : ३ समाप्तः, अथ **शतक-५ उद्देशक** : ४ आरब्धः

श्रीभग-लघुवृत्तौ

'पिरिपिरिया' कोलिकपुटकावनद्धमुखो वाद्यविशेषः, 'पणव'त्ति भाण्डपटहः लघुपटहो वा 'भंभ'त्ति ढक्का 'होरंभ'त्ति रूढिगम्या, 'भेरि'त्ति महाढक्का 'झल्लरि'त्ति वलयाकारा 'दुन्दुहि' देववाद्यं 'ततारिण'त्ति, ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम्। घनं तु कांस्यतालादि, वंशादि शुषिरं मत ॥१॥' मिति, 'पुट्ठाइं'ति प्रथमशते आहाराधिकारवदवसेयं 'आरगयाइं'ति आराद्भागस्थितान् इन्द्रियगोचरमागतान् 'पारगयाइं'ति इन्द्रियविषयात्परतोऽवस्थितान् 'सव्वदूरमूलमंतियं'ति सर्वथा दूरं–विप्रकृष्टं मूलं च–निकटं सर्वदूरमूलं तद्योगाच्छब्दोऽपि सर्वदूरमूलोऽतस्तं, अत्यर्थदूरवर्त्तिनमत्यन्तासन्नं चेत्यर्थः, अंतिकमासन्नं च, तन्निषेधादनन्तिकं, नञोऽल्पार्थत्वान्नात्यन्तमन्तिकं अदूरासन्नमिति भावः, तद्योगाच्छब्दोऽप्यनान्तिकोऽतस्तं, अथवा 'सव्व'त्ति सर्वतः–समन्तात् दूरमूलं, अनादिकमिति हृदयं, 'अणंतियं' अनन्तिकमिति 'मियं'ति परिमाणवत्, गर्भजमनुष्यजीवद्रव्यादि, 'अमियं'ति अनन्तमसङ्ख्येयं वा वनस्पतिपृथ्वीजीवद्रव्यादि, 'निव्वुडे'त्ति निर्वृत्तं निरावरणज्ञानं, केवलिनः क्षायिकत्वाच्छुद्धमिति, वाचनान्तरे तु 'निव्वुडे वि'तिमिरे विसुद्धेइति पाठो वा॥ 'उस्सुयाइज्ज'त्ति (सू० १८५) उत्सुकायेत–उत्सुको भवेत्, विषयादानं प्रत्यौत्सुक्यं कुर्यादिति, 'जण्णं जीव'त्ति यस्माज्जीवः, 'से णं'ति तच्चारित्रमोहनीयं कर्म केवलिनो नास्ति, एवं वैमानिकान् यावत् नारकादिदण्डको वाच्यः, स चैवम्–'णेरइए णं भंते! हसमाणे उस्सुयमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ?, गो० ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा' इत्यादि, इह च पृथिव्यादीनां हासः प्राग्भविकतत्परिणामादवसेयः,'पोहत्तिएहिं'ति पृथक्त्वसूत्रेषु–बहुवचनसूत्रेषु 'जीवा णं भंते! हसमाणा वा उस्सुयमाणा वा कइ क० बंधंति?, सत्तविहबंधगावि अट्ठविहबंधगावि', 'जीवेगिंदियवज्जो'त्ति जीवपदमेकेन्द्रियपदानि पृथिव्यादीनि च वर्जयित्वा अन्येषु एकोनविंशतौ नारकादिपदेषु त्रिकभङ्गो–भङ्गत्रयं वाच्यं,यतो

५ शतके ४ उद्देशः

॥७२॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु बहुत्वाज्जीवानां सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धकाश्चेत्येक एव भङ्गो लभ्यते, नारकादिषु तु त्रयं, तथाहि–सर्व एव सप्तविधबन्धकाः स्युरित्येकः, सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धकश्चेति द्वितीयः, सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धकाश्चेति तृतीयः, **'निद्दाए'त्ति** निद्रां–सुखप्रतिबोधलक्षणां कुर्यात् निद्रायेत, **'पयलाएए'त्ति** प्रचलां–ऊर्ध्वस्थितनिद्राकरणलक्षणां कुर्यात् प्रचलायेत, **'इत्थीगब्भं'ति** (सू. १८६) स्त्रीसम्बन्धी गर्भः–सजीवपुद्गलपिण्डः स्त्रीगर्भस्तं,**'संहरमाणे'त्ति** अन्यत्र नयन्, इह चतुर्भङ्गी-गर्भाद्–गर्भाशयादवधेगर्भं–गर्भाशयान्तरं संहरति–प्रवेशयति इत्येकः, गर्भाद् अवधेर्योनिं–गर्भनिर्गमद्वारं संहरति योन्या उदरान्तरं प्रवेशयति २ तथा योनितो–योनिद्वारेण गर्भं संहरति ३ तथा योनीतो–योनिसकाशात् योनिं संहरति–नयति, योन्या–उदराच्निष्काश्य योनिद्वारेणैवोदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः ४, एतेषु शेषनिषेधेन तृतीयमनुजानन्नाह–**'परामुसि'त्ति** परामृश्य २ तथाविधकरव्यापारेण संस्पृश्य स्त्रीगर्भं अव्याबाधमव्याबाधेन सुखंसुखेन योनिद्वारेण निष्काश्य गर्भं–गर्भाशयं संहरति, यच्चेह योनीतो निर्गमनं स्त्रीगर्भस्योक्तं तल्लोकव्यवहारानुवर्त्तनात्, तथाहि–निष्पन्नोऽनिष्पन्नो वा गर्भः स्वभावाद्योन्यैव निर्गच्छति इति, अथ सामर्थ्यं दर्शयति–नखाग्रे **'साहरित्तए'** संहर्त्तुं–प्रवेशयितुं **'नीहरित्तए'** नखशिरसो रोमकूपाद्वा निर्हर्त्तुं–निष्काशयितुं **'छविच्छेदं'ति** गर्भस्य हि छविच्छेदमकृत्वा नखादौ प्रवेशयितुमशक्यत्वात्, **'एसुहुमे णं'ति** इतिसूक्ष्मं–इतिलब्धिति। **'कुमारसमणे'त्ति** (सू.१८७) षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वाद्, आह–**'छव्वरिसो पव्वइओ निग्गंथं रोइऊण पावयणं'ति**, एतदेवाश्चर्यं, अन्यथा वर्षाष्टकादारान्न दीक्षा स्यात्,**'कक्ख'त्ति** कक्षायां प्रतिग्रहं रजोहरणमादाय **'नाविया मे'** नौका–द्रोणी मे–ममेयमिति, **'अदक्खु'त्ति** अद्राक्षुः–दृष्टवन्तः, ते च क्षुल्लकोचितां चेष्टां दृष्ट्वा तमुपहसन्त इव भगवन्तं पप्रच्छुः, **'हीलेह'** जात्युद्घाटनतः,

५ शतके ४ उद्देश

श्रीभग-लघुवृत्तौ

निन्दह मनसा 'खिंस'त्ति जनसमक्षं, 'गरह'त्ति अन्यजनसमक्षं 'अवमन्नह'त्ति तदुचितप्रतिपत्त्यकरणेन 'परिभवह'त्ति परिभवः–समस्तपूर्वोक्तपदकरणेन अग्लान्या–अखेदेन 'संगिण्हह' सङ्गृण्हीत–स्वीकुरुत, 'उवगिण्हह' उपगृण्हीत–उपष्टम्भं कुरुत, 'अंतकर'त्ति भवच्छेदकरः, स च दूरतरभवेऽपि स्यादत आह–'अंतिमसरीर'त्ति चरमशरीर इति, 'झाणंतरियाए'त्ति अन्तरस्य–विच्छेदस्य करणमन्तरिका ध्यानस्यान्तरिका ध्यानान्तरिका, आरब्धध्यानस्य समाप्तिरपूर्वस्यानारम्भणमिति भावः, तस्यां वर्त्तमानस्य ॥'कप्पाओ'(सू.१८८)कल्पाद्–देवलोकात् 'सग्गाओ'त्ति स्वर्गाद्–देवलोकदेशात् प्रस्तटात् 'विमाणाओ'प्रस्तटैकदेशात् 'वागरणाइं' व्याक्रियन्त इति व्याकरणानि–अर्थाः अधिकृता एव, 'देवाणं'ति (सू. १८९) 'से किं खाईणं भंते! देवा इय वत्तव्वं सिय'त्ति से इति अथार्थः, खाई पुनरर्थः, णमिति वाक्यालङ्कारे, देवा इति यद्वस्तु तद्वक्तव्यं स्यात्,'नोसंयता' इत्येतद्वक्तव्यं स्यात्, असंयतशब्दपर्यायत्वेऽपि नोसंयतशब्दस्यानिष्ठुरवचनत्वात्, मृतशब्दापेक्षया परलोकीभूतशब्दवदिति, 'विसिस्सइ'त्ति (सू. १९०) विशिष्यते–विशिष्टा स्यात्,'अद्धमागह'त्ति भाषा षड्विधा, यथा प्राकृतसंस्कृतशौरसेनीमागधीपैशाचीअपभ्रंशरूपाः, तत्र मागधभाषालक्षणं किञ्चित्किञ्चिच्च प्राकृतभाषालक्षणमस्यामस्ति सा अर्धं मागध्या इति व्युत्पत्त्याऽर्द्धमागधी 'उवासगस्स'त्ति (सू. १९१) केवलिनमुपास्ते यः श्रवणाकाङ्क्षी तदुपासनामात्रपरः सन्नसौ केवल्युपासकः, 'तप्पक्खियस्स'त्ति केवलिपाक्षिकस्य स्वयंबुद्धस्येति, 'पच्चक्खाणे'त्ति (सू. १९०) प्रमीयते येनार्थस्तत्प्रमाणं 'पच्चक्खे' अक्षं–जीवं प्रति गतं प्रत्यक्षं 'अणुमाणे' अनु–लिङ्गग्रहणसम्बन्धस्मरणादेः पश्चात् मीयतेऽनेनेत्यनुमानं 'ओवम्मे' उपमीयते–सदृशतया गृह्यते वस्तु अनयेत्युपमा सैव औपम्यं 'आगमि'त्ति गुरुपारम्पर्येणैतीत्यागमः, द्विविधं प्रत्यक्षं–इन्द्रियप्रत्यक्षं नोइन्द्रियप्रत्यक्षं च,

५ शतके ४ उद्देशः

॥७३॥

तत्र प्रथमं पञ्चधा श्रोत्रादीन्द्रियभेदात्, नोइन्द्रियं त्रिधा–अवध्यादिभेदात्, त्रिविधमनुमानं–पूर्ववत् शेषवत् दृष्टसाधर्म्यवत्, तत्र (पूर्ववत्) पूर्वोपलब्धासाधारणलक्षणात् मात्रादिप्रमातुः पुत्रादिपरिज्ञानं, शेषवत् यत्कार्यादिलिङ्गान्परोक्षार्थज्ञानं, यथा मयूरोऽत्र केकायितादिति, दृष्टसाधर्म्यवत् यथा एकस्य कार्षापणादेर्दर्शनादन्येऽप्येवंविधा एते इति प्रतिपत्तिः औपम्यं यथा गौर्गवयस्तथेति, आगमो द्विधा लौकिकलोकोत्तरभेदात्, त्रिधा वा सूत्रार्थोभयभेदात्, अन्यथा वा त्रिधा, आत्मागमअनन्तरागमपरम्परागमभेदात्, तत्रात्मागमादयोऽर्थतः क्रमेण जिनगणधरतच्छिष्यापेक्षया द्रष्टव्याः, सूत्रतस्तु गणधरतच्छिष्यप्रशिष्यापेक्षयेति, **'तेण परं'**-ति, गणधरशिष्याणां सूत्रतोऽनन्तरागमः अर्थतस्तु परम्परागमः, ततः परं प्रशिष्याणामिति, **'नो'त्ति** आत्मअनन्तरपरंपरागमत्रिके निषेध एव वाच्य इत्यर्थः ॥ **'चरमकम्मं'ति** (सू. १९३) चरमकर्म यच्छैलेशीचरमसमयेऽनुभूयते, चरमनिर्जरा तु यत्ततोऽनन्तरसमये जीवप्रदेशेभ्यः परिशटतीति ॥ **'पणीयं'ति** (सू.१९४) प्रणीतं शुभतया प्रकृष्टं **'धारेज्ज'त्ति** धारयेद्–व्यापारयेत्, **'एवं अणंतरपरंपर'त्ति** अस्यायमर्थः–यथा वैमानिका द्विधा प्रोक्ताः, मायिमिथ्यादृष्टीनां च ज्ञाननिषेधः, एवमत्रापि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तरोपपन्नकपरम्परोपपन्नकभेदेन द्विधा वाच्याः, अनन्तरोपपन्नकानां ज्ञाननिषेधः, तथा परम्परोपपन्नकाः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात् द्विधा, अपर्याप्तकानां च ज्ञाननिषेधः, पर्याप्तका उपयुक्तानुपयुक्तभेदेन द्विधा, अनुपयुक्तानां ज्ञाननिषेधः, आलापं–(सू. १९५) सकृज्जल्पनं संल्लापं–मुहुर्मुहुर्जल्पनं,**'लद्धाओ'** तदवधेर्विषयं गताः,**'पत्ताओ'** तदवधिना सामान्यतः प्राप्ताः–परिच्छिन्नाः, अभिसमन्वागता–विशेषतः परिच्छिन्नाः, यतस्तेषामवधिज्ञानं सम्भिन्नलोकविषयं, यच्च लोकनाडीग्राहकं तन्मनोवर्गणाग्राहकं स्यादेव, यतो योऽपि लोकसङ्ख्येयभागविषयोऽवधिः सोऽपि मनोद्रव्यग्राही, यः पुनः सम्भिन्नलोकविषयोऽसौ कथं न मनोद्रव्यग्राही भवि-

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ष्यति ?, इष्यते लोकसङ्ख्येयभागावधेर्मनोद्रव्यग्राहित्वं, यदाह–"संखिज्ज मणोदव्वे, भागो लोगपलियस्स बोद्धव्वो"त्ति ॥'उदिन्नमोह'त्ति (सू. १९६) उत्कटवेदमोहनीयाः, 'उवसंत'त्ति अनुत्कटवेदमोहाः, परिचारणायाः कथञ्चिदप्यभावात्, नतु सर्वथोपशान्तमोहाः, उपशमश्रेणेस्तेषामभावात्,'नो खीणमोहे'त्ति क्षपकश्रेणेरभावात् 'आयाणेहिं' (सू. १९७) आदीयते–गृह्यतेऽर्थ एभिरित्यादानानि–इन्द्रियाणि तैर्न जानाति, केवलित्वात्॥ 'अस्सिं समयंसि' (सू.१९८) अस्मिन् वर्त्तमानसमये 'ओगाहित्ताणं' अवगाह्य–आक्रम्य 'सेयकालंसि' एष्यत्कालेऽपि 'वीरिय'त्ति वीर्यं–वीर्यान्तरायक्षयप्रभवा शक्तिस्तत्प्रधानं सयोगं–मानसादिव्यापारयुक्तं यत् सद्–विद्यमानं द्रव्यं–जीवद्रव्यं तत्तथा, वीर्यसद्भावेऽपि जीवद्रव्यस्य योगान् विना चलनं न स्यात् इति सयोगशब्देन द्रव्यं विशेषितं, सदिति विशेषणं तस्य सदा सत्तावधारणार्थं, अथवा स्वः–आत्मा तद्रूपं द्रव्यं स्वद्रव्यं, ततः कर्म्मधारयः, अथवा वीर्यप्रधानः सयोगो–योगवान् वीर्यसयोगः स चासौ सद्रव्यः–मनःप्रभृतिवर्गणायुक्तो वीर्यसयोगसद्द्रव्यस्तस्य भावस्तत्ता तया हेतुभूतया 'चलाइं'ति चलानि–अस्थिराणि 'उवकरणाइं' अङ्गोपाङ्गानि 'चलोवगरणट्ठयाए'त्ति चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावः चलोपकरणार्थता तया चलोपकरणार्थतया ॥ 'घडाओ घडसहस्सं' (सू. १९९) घटावधेः–घटं निश्रां कृत्वा घटसहस्रं 'अभिनिव्वट्टित्ता' अभिनिर्वर्त्त्य–विधाय श्रुतसमुत्थलब्धिविशेषेणोपदर्शयितुं प्रभुरिति प्रश्नः,'उक्कारियाभेएणं' इह पुद्गलानां पञ्चधा भेदः खण्डादिभेदात्, तत्र खण्डभेदः खण्डशो यो भवति लोष्ठादिरिव, प्रतरभेदोऽभ्रपटलानामिव, चूर्णिकाभेदस्तिलादिचूर्णवत्, अनुतटिकाभेदोऽवटतटवंशभेदवत्, उत्कारिकाभेदः एरंडबीजानामिव, तत्रोत्कारिकाभेदेन भिद्यमानानि लब्धानि–लब्धिविशेषाद् ग्रहणविषयतां गतानि–प्राप्तानि, अभिसमन्वागतानि घटादिरूपेण परिणमयितुमारब्धानि, ततस्तैर्घटसहस्रादि निर्व-

५ शतके ४ उद्देशः

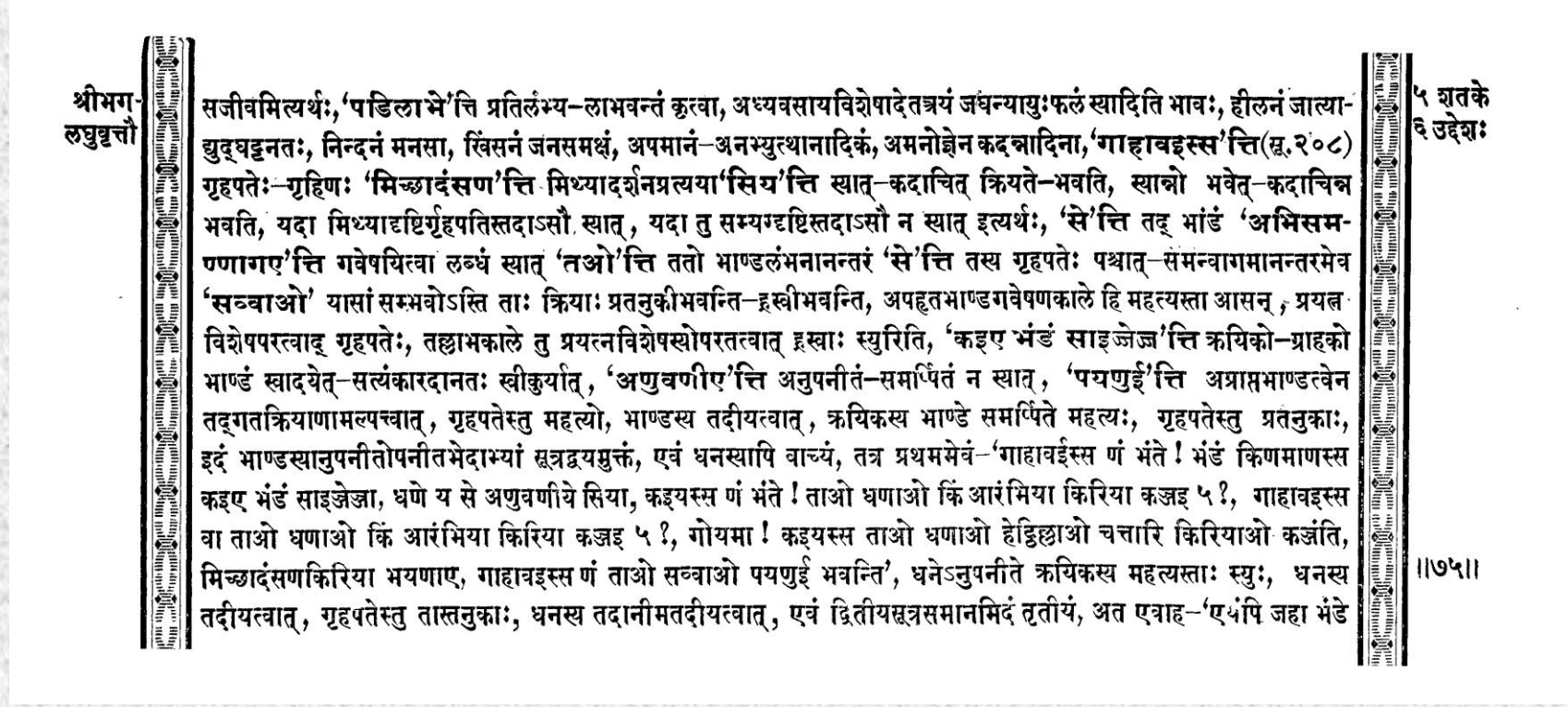
॥७४॥

र्त्तयति, आहारकशरीरवत् निर्वर्त्य च दर्शयति जनानामिति, इह च उत्कारिकाभेदग्रहणं तद्भिन्नानामेव द्रव्याणां विवक्षितघटादि-निष्पादनसामर्थ्यमस्ति, नान्येषामितिकृत्वेति ॥ **पञ्चमशते चतुर्थः** ॥

'**जहा पढमसए त्ति** (सू.२००) तत्र छद्मस्थ आधोऽवधिकः परमाधोऽवधिकश्च केवलेन संयमादिना न सिध्यति इत्याद्यर्थपरं तावन्नेयं यावदुत्पन्नज्ञानादिधरः केवली अलमस्त्विति वक्तव्यं स्यादिति, 'एवं भूयं'ति (सू. २०१) यथाविधं कर्म निबद्धमेवं-भूतां–एवंप्रकारोत्पन्नां वेदनामसातादिकर्मोदयां वेदयन्ति–अनुभवन्ति,मिथ्यात्वं चैतद्वादिनामेवं, नहि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्मा-नुभूयते, आयुःकर्मणा व्यभिचारात्, तथाहि–दीर्घकालानुभवनीयस्यायुःकर्मणोऽल्पीयसापि कालेनानुभवो भवति, कथमन्यथा अपमृत्युव्यपदेशः स्यात्?, कथं वा युद्धे जीवलक्षाणां युगपन्मृत्युरुपपद्यते ?,'**अणेवंभूयं**'ति यथा बद्धं कर्म नैवंभूता अनेवंभूता अतस्तां, यतो बहुस्थितिकं कर्मदलिकं बद्ध्वा अपवर्त्तनाकरणेनाल्पकालेनापि वेद्यते, यदुक्तं **सङ्ग्रहिण्यां**–'**बहुकालवेयणिज्ज**'-(४६२)मित्यादि, श्रूयंते ह्यागमे कर्मणः स्थितिरसघातादय इति, नारकाधिकारे तु नैवं, अनैवं, कथं ?, तत्र सम्यग्दृष्टित्वमिथ्या-दृष्टित्वादिकारणविशेषात्, यथा कृष्णश्रेणिकजीवादीनां सप्तभीतः प्रथमतृतीयपृथ्व्योर्गमनं जातं, ततो नैवमनैवमित्युच्यते,'**संसार-मंडलं**'ति एवमुक्तक्रमेण वैमानिकावसानं संसारिजीवचक्रवालं नेतव्यमिति ॥ **पञ्चमशते पञ्चमः** ॥

'**अप्पाउयत्ताए**'त्ति (सू.२०३) अल्पायुष्कतायै, अल्पायुर्निबन्धनमित्यर्थः, अल्पायुष्कतया वा, कर्म–आयुष्कलक्षणं प्रकुर्वन्ति–बध्नन्ति '**अइवायित्त**'त्ति अतिपात्य–विनाश्य मृषावादमुक्त्वा '**तहारूवं**' तथारूपं भक्तदानोचितपात्रमिति, श्राम्यति–तपस्य-तीति श्रमणस्तं, मा हनेत्येवं योऽन्यं प्रति वक्ति स्वयंहननिवृत्तः सन्नसौ माहनः, न प्रगता असवः–प्राणिनो यस्मात् तदप्रासुकं,

अथ **शतक-५ उद्देशक** : ४ समाप्तः, अथ **शतक-५ उद्देशक** : ५ आरब्धः एवं समाप्तः, अत्र **शतक-५ उद्देशक** : ६ आरब्धः



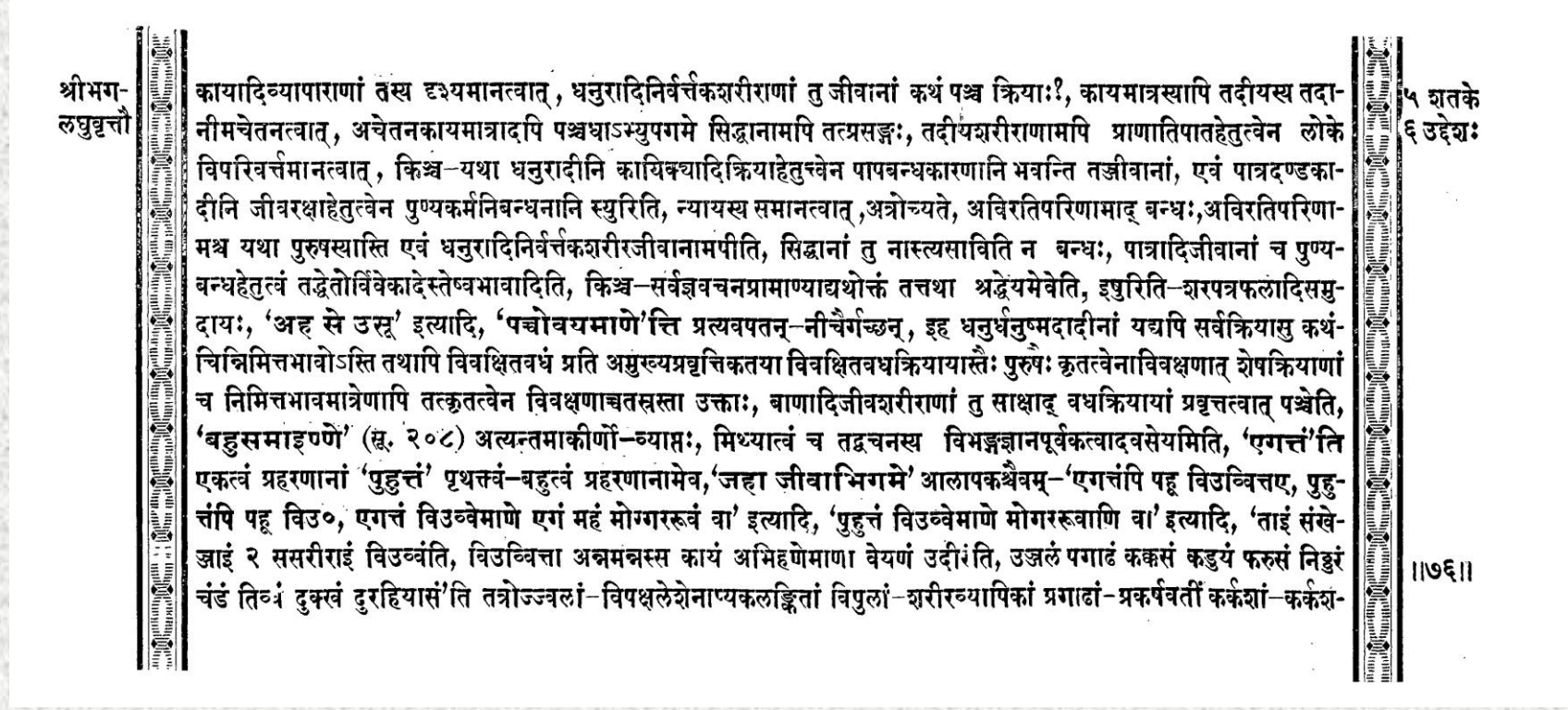
श्रीभग-लघुवृत्तौ

सजीवमित्यर्थः,'पडिलाभे'त्ति प्रतिलंभ्य–लाभवन्तं कृत्वा, अध्यवसायविशेषादेतत्त्रयं जघन्यायुःफलं स्यादिति भावः, हीलनं जात्या-द्युद्घट्टनतः, निन्दनं मनसा, खिंसनं जनसमक्षं, अपमानं–अनभ्युत्थानादिकं, अमनोज्ञेन कदन्नादिना,'गाहावइस्स'त्ति(सू.२०८) गृहपतेः–गृहिणः 'मिच्छादंसण'त्ति मिथ्यादर्शनप्रत्यया'सिय'त्ति स्यात्–कदाचित् क्रियते–भवति, स्यान्नो भवेत्–कदाचिन्न भवति, यदा मिथ्यादृष्टिर्गृहपतिस्तदाऽसौ स्यात्, यदा तु सम्यग्दृष्टिस्तदाऽसौ न स्यात् इत्यर्थः, 'से'त्ति तद् भांडं 'अभिसम-ण्णागए'त्ति गवेषयित्वा लब्धं स्यात् 'तओ'त्ति ततो भाण्डलंभनानन्तरं 'से'त्ति तस्य गृहपतेः पश्चात्–समन्वागमानन्तरमेव 'सव्वाओ' यासां सम्भवोऽस्ति ताः क्रियाः प्रतनुकीभवन्ति–ह्रस्वीभवन्ति, अपहृतभाण्डगवेषणकाले हि महत्यस्ता आसन्, प्रयत्न विशेषपरत्वाद् गृहपतेः, तल्लाभकाले तु प्रयत्नविशेषस्योपरतत्वात् ह्रस्वाः स्युरिति, 'कइए भंडं साइज्जेज्ज'त्ति क्रयिको–ग्राहको भाण्डं स्वादयेत्–सत्यंकारदानतः स्वीकुर्यात्, 'अणुवणीए'त्ति अनुपनीतं–समर्पितं न स्यात्, 'पयणुई'त्ति अप्राप्तभाण्डत्वेन तद्गतक्रियाणामल्पत्वात्, गृहपतेस्तु महत्यो, भाण्डस्य तदीयत्वात्, क्रयिकस्य भाण्डे समर्पिते महत्यः, गृहपतेस्तु प्रतनुकाः, इदं भाण्डस्यानुपनीतोपनीतभेदाभ्यां सूत्रद्वयमुक्तं, एवं धनस्यापि वाच्यं, तत्र प्रथममेवं–'गाहावईस्स णं भंते ! भंडं किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा, धणे य से अणुवणीये सिया, कइयस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५?, गाहावइस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५?, गोयमा ! कइयस्स ताओ धणाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसणकिरिया भयणाए, गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुई भवन्ति', धनेऽनुपनीते क्रयिकस्य महत्यस्ताः स्युः, धनस्य तदीयत्वात्, गृहपतेस्तु तास्तनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात्, एवं द्वितीयसूत्रसमानमिदं तृतीयं, अत एवाह–'एवंपि जहा भंडे

५ शतके ६ उद्देशः

॥७५॥

उवणीये तहा नेयव्वं'ति, द्वितीयसूत्रसमतयेति, चतुर्थं त्वेवमध्येयम्–'गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा धणे य से उवणीए सिया गाहावइस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किमारंभिया किरिया कज्जइ ५ ?, कइयस्स वा ताओ धणाओ किमारंभिया किरिया कज्जइ ४ मिच्छादंसणकिरिया किज्जइ ?,गोयमा ! गाहावइस्स ताओ धणाओ आरंभिया ४, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिया कज्जइ सिय णो कज्जइ,कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयुणई भवंति, धने उपनीते धनप्रत्ययत्वात् गृहपतेस्तु महत्यः,क्रयिकस्य तु प्रतनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात्, एवं च प्रथमसूत्रसममिदं चतुर्थमिति । क्रियाधिकारादिदमाह–'अहुणोज्जलिए' अधुनोज्ज्वलितः–सद्यःप्रदीप्तः **'महाकम्म'त्ति** विध्यायमानानलापेक्षयाऽतिशयेन महान्ति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकर्मतरः, एवमन्यदपि, **'नवरं किरिय'त्ति** क्रिया–दाहरूपा आश्रवो–नवकर्म्मोपादानहेतुः वेदना–पीडा भाविनी तत्कर्मजन्या, मिथः शरीरसम्बाधजन्या वा,**'ओकसिज्जमाणे'त्ति** व्यपकृष्यमाणः–अपकर्षं गच्छन् **'अप्प'त्ति** अंगारापेक्षया, अल्पशब्दः स्तोकार्थः, क्षारावस्थायां त्वभावार्थः, **'परामुसइ'** परामृशति–गृह्णाति **'आयय'त्ति** आयतः–क्षेपाय प्रसारितः सज्जीकृतः कर्णायतः–कर्णं यावदाकृष्टः ततः कर्मधारयात् आयतकर्णायतं इषुं–बाणं,**'उड्ढं वेहासं'ति** ऊर्ध्वं वृक्षशिखराद्यपेक्षयापि स्यादत आह–विहायसि–आकाशे **'संघाइ'** अन्योऽन्यं गात्रैः संहतान् कुर्यात्, **'उव्विहइ'** ऊर्ध्वं विजहति, क्षिपतीत्यर्थः,**'अभिहण'त्ति** अभिमुखमागच्छतो हंति, **'वत्तेइ'** वर्तुलीकरोति, वपुःसङ्कोचापादनात्, **'लेसेइ'** श्लेषयति–आत्मनि श्लिष्टान् कुर्यात्,**'संघट्टेइ'** मनाक् स्पृशति,परितापयति-समन्ततः पीडयति,**'किलामेइ'** मारणान्तिकसमुद्घातं नयति,**'ठाणा'** स्वस्थानात् स्थानान्तरं नयेत् **'जीवि०'त्ति** च्युतजीवितान् करोति, **'किरियाहिं'** क्रियाभिः स्पृष्टः **'धणु'त्ति** धनुर्दण्डगुणसमुदायः, ननु पुरुषस्य क्रियाः पञ्च भवन्तु,



श्रीभग-लघुवृत्तौ

कायादिव्यापाराणां तस्य दृश्यमानत्वात्, धनुरादिनिर्वर्त्तकशरीराणां तु जीवानां कथं पञ्च क्रियाः?, कायमात्रस्यापि तदीयस्य तदानीमचेतनत्वात्, अचेतनकायमात्रादपि पञ्चधाऽभ्युपगमे सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गः, तदीयशरीराणामपि प्राणातिपातहेतुत्वेन लोके विपरिवर्त्तमानत्वात्, किञ्च–यथा धनुरादीनि कायिक्यादिक्रियाहेतुत्वेन पापबन्धकारणानि भवन्ति तज्जीवानां, एवं पात्रदण्डकादीनि जीवरक्षाहेतुत्वेन पुण्यकर्मनिबन्धनानि स्युरिति, न्यायस्य समानत्वात्, अत्रोच्यते, अविरतिपरिणामाद् बन्धः, अविरतिपरिणामश्च यथा पुरुषस्यास्ति एवं धनुरादिनिर्वर्त्तकशरीरजीवानामपीति, सिद्धानां तु नास्त्यसाविति न बन्धः, पात्रादिजीवानां च पुण्यबन्धहेतुत्वं तद्धेतोर्विवेकादेस्तेष्वभावादिति, किञ्च–सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद्यथोक्तं तत्तथा श्रद्धेयमेवेति, इषुरिति–शरपत्रफलादिसमुदायः, **'अह से उसू'** इत्यादि, **'पच्चोवयमाणे'त्ति** प्रत्यवपतन्–नीचैर्गच्छन्, इह धनुर्धनुष्मदादीनां यद्यपि सर्वक्रियासु कथंचिन्निमित्तभावोऽस्ति तथापि विवक्षितवधं प्रति अमुख्यप्रवृत्तिकतया विवक्षितवधक्रियायास्तैः पुरुषैः कृतत्वेनाविवक्षणात् शेषक्रियाणां च निमित्तभावमात्रेणापि तत्कृतत्वेन विवक्षणाच्चतस्रस्ता उक्ताः, बाणादिजीवशरीराणां तु साक्षाद् वधक्रियायां प्रवृत्तत्वात् पञ्चेति, **'बहुसमाइण्णे'** (सू. २०८) अत्यन्तमाकीर्णो–व्याप्तः, मिथ्यात्वं च तद्वचनस्य विभङ्गज्ञानपूर्वकत्वादवसेयमिति, **'एगत्तं'ति** एकत्वं प्रहरणानां **'पुहुत्तं'** पृथक्त्वं–बहुत्वं प्रहरणानामेव, **'जहा जीवाभिगमे'** आलापकश्चैवम्–**'एगत्तंपि पहू विउव्वित्तए, पुहुत्तंपि पहू विउ०, एगत्तं विउव्वेमाणे एगं महं मोग्गररूवं वा'** इत्यादि, **'पुहुत्तं विउव्वेमाणे मोगररूवाणि वा'** इत्यादि, **'ताइं संखेज्जाइं २ ससरीराइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं अभिहणेमाणा वेयणं उदीरेंति, उज्जलं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुसं निट्ठुरं चंडं तिव्वं दुक्खं दुरहियासं'ति** तत्रोज्ज्वलां–विपक्षलेशेनाप्यकलङ्कितां विपुलां–शरीरव्यापिकां प्रगाढां–प्रकर्षवतीं कर्कशां–कर्कश-

५ शतके ६ उद्देशः

॥७६॥

द्रव्योपमामनिष्टां, एवं कटुकां–परुषां कठोरां–निष्ठुरां चण्डां–रौद्रां तीव्रां–झगिति शरीरव्यापिकां दुःखां–असुखरूपां, दुर्गां–दुःखाश्रयणीयां, अत एव दुरधिसह्यामिति। इयं च वेदना ज्ञानाद्याराधनाविरहेण स्यादिति 'अणवज्जे' (सू. २०९) अनवद्यमिति, 'मणं' मानसं प्रधारयिता–स्थापयिता स्यात् चिन्तितवानिति, रइयकडं–मोदकचूर्णादि पुनर्मोदकतया रचितमौद्देशिकभेदरूपं 'कंतार'त्ति कान्तारं–अरण्यं तत्र भिक्षुकाणां निर्वाहार्थं यद्विहितं भक्तं तत्कान्तारभक्तं, एवमन्यान्यपि, नवरं वद्दलिया—वार्दलिका मेघदुर्दिनं 'गिलाण'त्ति ग्लानस्य नीरोगतार्थं भिक्षुकदानाय यत्कृतं भक्तं तत् ग्लानभक्तं, आधाकर्म्मादीनां सदोषत्वेनागमेऽभिहितानां निर्दोषताकल्पनं तत एव स्वयं भोजनमन्यसाधुभ्योऽनुप्रदानं सभायां निर्दोषताभणनं च विपरीतश्रद्धानादिरूपत्वान्मिथ्यात्वादि, ततश्च ज्ञानादिविराधना स्फुटैव। **'सविसयंसि'** (सू.२१०) स्वविषये–अर्थसूत्रदानलक्षणे गणं गच्छं अखेदेन सङ्गृह्णन्–स्वीकुर्वन् उपगृह्णन्–उपष्टंभयन् द्वितीयश्च भवो देवभवान्तरितो द्रष्टव्यः, चारित्रवतोऽनन्तरो देवभव एव स्यात्, न च तत्र सिद्धिरस्ति, अलीकेन (सू. २११) भूतनिह्नवरूपेण पालितब्रह्मचर्यसाधुविषयेऽपि नानेन ब्रह्मव्रतं पालितमित्यादिरूपेण **'असब्भूएणं'**ति असद्भूतोद्भावनरूपेण–अचौरे चौरोऽयमिति, **'असंतएणं'** असत्येन, तच्च द्रव्यतोऽपि स्याद् यथा लुब्धकादिना मृगादीन् पृष्टस्य जानतोऽपि नाहं जानामीति, असद्भूतेन–दुष्टाभिप्रायत्वादशोभनरूपेण **'अब्भक्खाणेणं'** आभिमुख्येन ख्यानं–दोषाविष्करणमभ्याख्यानं तेन अभ्याख्यानेन **'अब्भक्खाइ'** अभ्याख्याति ब्रूते **'कहप्पगारा'** कथंप्रकाराणि–किंप्रकाराणीति, **'तहप्पगारा'** अभ्याख्यानफलानीति, **'जत्थेव णं'** यत्रैव मानुषत्वादौ अभिसमागच्छति–उत्पद्यते, तत्रैव प्रतिवेदयति अभ्याख्यानफलं कर्म, ततः पश्चाद्वेदयति, निर्जरयतीति ॥ **पञ्चमशाले षष्ठ उद्देशकः** ॥

अथ **शतक-५ उद्देशक** : ६ समाप्तः

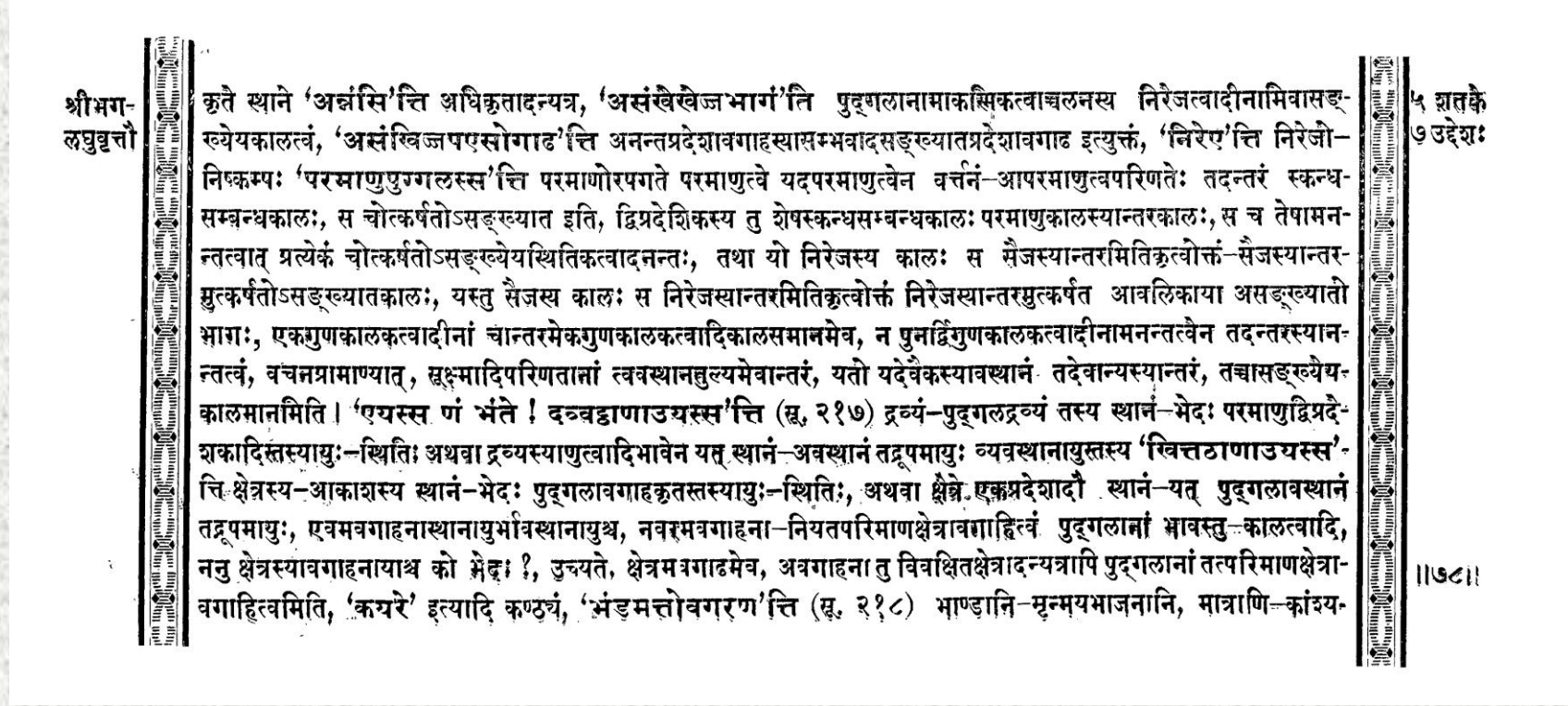
'सिय एयइ' (सू.२१२) कदाचिदेजति, कादाचित्कत्वात्सर्वपुद्गलेष्वेजनादिधर्माणां, तथा व्येजति, 'तं तं भावं'ति शुक्ल-नीलादिभावं परिणमति,द्विप्रदेशके त्रयो विकल्पाः–स्यादेजनं १ स्यादनेजनं २ देशेनैजनं देशेनानेजनं ३ द्व्यंशत्वात्तस्येति, त्रिप्रदेशके पञ्च, आद्यास्त्रयस्त एव, द्व्यणुकस्यापि तदीयस्यैकांशस्य तथाविधपरिणामेनैकदेशतया विवक्षितत्वात्, तथा देशस्य एजनं देशयोश्चानेजनं इति चतुर्थः, तथा देशयोरेजनं देशस्य चानेजनमिति पञ्चमः, एवं चतुष्प्रदेशकेऽपि, नवरं षट्, तत्र षष्ठो देशयोरेजनं देशयोरेव चानेजनमिति। पुद्गलाधिकारादेवेदं सूत्रवृन्दं,'ओगाहेज्ज'त्ति (सू. २१३) अवगाहेत–आश्रयेत, छिद्येत–द्विधा भावं यायात्, भिद्येत–विदारणभावमात्रं यायात्, 'नो खलु तत्थ सत्थं'ति परमाणुत्वात्, अन्यथा परमाणुत्वमेव न स्यादिति, 'अत्थेगइए छिज्जेज्ज'त्ति तथाविधबादरपरिणामत्वात्, 'अत्थेगइए नो छिज्जेज्जा' सूक्ष्मपरिणामत्वात्, 'उल्ले सिय'त्ति आर्द्रः स्यात्,'विणिहयि'त्ति विनिघातं–प्रतिस्खलनमापद्येत 'परियावज्जेज्ज' पर्यापद्येत–विनश्येत्,'दुपएसिए'त्ति (सू.२१४) यस्य स्कन्धस्य समाः प्रदेशाः स सार्द्धः, यस्य तु विषमाः स समध्यमः, सङ्ख्येयप्रदेशादिषु स्कन्धः समप्रदेशिक इतरश्च, तत्र यः समप्रदेशिकः स सार्द्धोऽमध्यः, इतरस्तु विपरीतः। 'देसे' इत्यादि (सू. २१५) ९ विकल्पाः, तत्र देशेन स्वकीयेन देशं तदीयं स्पृशति, देशेनेत्यनेन देशं देशान् सर्वमित्येवं शब्दत्रयपरेण त्रयः, देशैरित्यनेन ३, सर्वेणेत्यनेन च त्रय एव, स्थापना–देशेन देशं १ देशेन देशान् २ देशेन सर्वं ३ देशैर्देशं १ देशैर्देशान् २ देशैः सर्वं ३ सर्वेण देशं १ सर्वेण देशान् २ सर्वेण सर्वं ३, अत्र च सर्वेण सर्वमित्येक एव घटते, परमाणोर्निरंशत्वेन शेषाणामसम्भवात्, ननु यदि सर्वेण सर्वं स्पृशतीत्युच्यते तदा परमाण्वोरेकत्वापत्तिः, कथमपरपरमाणुयोगेन घटादिस्कन्धनिष्पत्तिरिति, अत्रोच्यते, सर्वेण सर्वं स्पृशतीति कोऽर्थः?–स्वात्मना तावन्योऽन्यं

अथ शतक-५ उद्देशक : ७ आरब्धः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

लगतः, न पुनरर्धार्धंशेन, अर्धादिदेशस्य तयोरभावात्, घटाद्यभावापत्तिस्तु तदैव प्रसज्येत यदा तयोरेकत्वापत्तिः, न च तयोः सा, स्वरूपभेदात्, **'सत्तमनवमेहिं'**ति सर्वेण देशं सर्वेण सर्वमित्येताभ्यामित्यर्थः, तत्र यदा द्विप्रदेशिकः प्रदेशद्वयावस्थितः स्यात् तदा तस्य परमाणुः सर्वेण देशं स्पृशति, परमाणोस्तदेशस्यैव विषयत्वात्, यदा तु द्विप्रदेशिकः परिमाणसौक्ष्म्यादेकप्रदेशस्थो भवति तदा तं परमाणुः सर्वेण सर्वं स्पृशेत् इत्युच्यते, **'निप्पच्छिमएहिं'**ति निर्गतः पश्चिमो भङ्गको येभ्यस्ते निष्पश्चिमास्तैरपश्चिमभङ्गकैः त्रिभिरन्त्यैस्त्रिप्रदेशिकमसौ स्पृशति, तत्र यदा त्रिप्रदेशिकः प्रदेशत्रयस्थितः स्यात् तदा तस्य परमाणुः सर्वेण देशं स्पृशति, यदा तु तस्यैकप्रदेशे द्वौ प्रदेशावन्यत्र एकोऽवस्थितः स्यात् तदा एकप्रदेशस्थितपरमाणुद्वयस्य परमाणोः स्पर्शविषयत्वेन सर्वेण देशौ स्पृशति इत्युच्यते, ननु द्विप्रदेशकेऽपि युक्तोऽयं विकल्पः, तत्रापि प्रदेशद्वयस्य स्पृश्यमानत्वात्, नैवम्, यतस्तत्र द्विप्रदेशमात्र एवावयवीति कस्य देशः स्पृशति ?, त्रिप्रदेशिके तु त्रयापेक्षया द्वयस्पर्शने एकः अवशिष्यते, ततश्च सर्वेण देशौ स्पृशति त्रिप्रदेशिकस्कन्धस्य इति व्यपदेशः साधुः स्यात्, यदा त्वेकप्रदेशावगाढोऽसौ तदा सर्वेण सर्वं स्पृशतीति स्यादिति, **'तइयणवमेहिं'**ति यदा तु द्विप्रदेशिको द्विप्रदेशस्थस्तदा परमाणुर्देशेन सर्वं स्पृशति इति तृतीयः, यदा एकप्रदेशावगाढोऽसौ तदा सर्वेण सर्वमिति नवमः, **'पढमतइयसत्तमणवमेहिं'**ति यदा द्विप्रदेशकौ प्रत्येकं द्विप्रदेशावगाढौ तदा देशेन देशमिति प्रथमः, यदा त्वेक एकत्र अन्यस्तु द्वयोस्तदा देशेन सर्वमिति तृतीयः, तथा सर्वेण देशमिति सप्तमः, नवमस्तु प्रतीत एवेति, अनया दिशाऽन्येऽपि व्याख्येया इति। अथ पुद्गलानां द्रव्यक्षेत्रभावान् कालतश्चिन्तयति, तत्र द्रव्यचिन्ता **'असंखिज्जं'**ति (सू. ११६) असङ्ख्येयकालात्परतः पुद्गलानामेकरूपेण स्थित्यभावात्, **'एगपएसोगाढे णं'**ति क्षेत्रचिन्ता, **'सेए'**त्ति सैजः—सकम्पः **'तंमि वा ठाणे'** तस्मिन्नधि-

५ शतके ७ उद्देशः



श्रीभग-लघुवृत्तौ

कृते स्थाने 'अन्नंसि'त्ति अधिकृतादन्यत्र, 'असंखेखेज्जभागं'ति पुद्गलानामाकस्मिकत्वाच्चलनस्य निरेजत्वादीनामिवासङ्ख्येयकालत्वं, 'असंखिज्जपएसोगाढ'त्ति अनन्तप्रदेशावगाहस्यासम्भवादसङ्ख्यातप्रदेशावगाढ इत्युक्तं, 'निरेए'त्ति निरेजो-निष्कम्पः 'परमाणुपुग्गलस्स'त्ति परमाणोरपगते परमाणुत्वे यदपरमाणुत्वेन वर्त्तनं-आपरमाणुत्वपरिणतेः तदन्तरं स्कन्ध-सम्बन्धकालः, स चोत्कर्षतोऽसङ्ख्यात इति, द्विप्रदेशिकस्य तु शेषस्कन्धसम्बन्धकालः परमाणुकालस्यान्तरकालः, स च तेषामनन्तत्वात् प्रत्येकं चोत्कर्षतोऽसङ्ख्येयस्थितिकत्वादनन्तः, तथा यो निरेजस्य कालः स सैजस्यान्तरमितिकृत्वोक्तं-सैजस्यान्तरमुत्कर्षतोऽसङ्ख्यातकालः, यस्तु सैजस्य कालः स निरेजस्यान्तरमितिकृत्वोक्तं निरेजस्यान्तरमुत्कर्षत आवलिकाया असङ्ख्यातो भागः, एकगुणकालकत्वादीनां चान्तरमेकगुणकालकत्वादिकालसमानमेव, न पुनर्द्विगुणकालकत्वादीनामनन्तत्वेन तदन्तरस्यानन्तत्वं, वचनप्रामाण्यात्, सूक्ष्मादिपरिणतानां त्ववस्थानतुल्यमेवान्तरं, यतो यदेवैकस्यावस्थानं तदेवान्यस्यान्तरं, तच्चासङ्ख्येयकालमानमिति। **'एयस्स णं भंते ! दव्वट्ठाणाउयस्स'त्ति** (सू. २१७) द्रव्यं-पुद्गलद्रव्यं तस्य स्थानं-भेदः परमाणुद्विप्रदेशकादिस्तस्यायुः-स्थितिः अथवा द्रव्यस्याणुत्वादिभावेन यत् स्थानं-अवस्थानं तद्रूपमायुः व्यवस्थानायुस्तस्य **'खित्तठाणाउयस्स'**त्ति क्षेत्रस्य-आकाशस्य स्थानं-भेदः पुद्गलावगाहकृतस्तस्यायुः-स्थितिः, अथवा क्षेत्रे एकप्रदेशादौ स्थानं-यत् पुद्गलावस्थानं तद्रूपमायुः, एवमवगाहनास्थानायुर्भावस्थानायुश्च, नवरमवगाहना-नियतपरिमाणक्षेत्रावगाहित्वं पुद्गलानां भावस्तु-कालत्वादि, ननु क्षेत्रस्यावगाहनायाश्च को भेदः ?, उच्यते, क्षेत्रमवगाढमेव, अवगाहना तु विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रापि पुद्गलानां तत्परिमाणक्षेत्रावगाहित्वमिति, 'कयरे' इत्यादि कण्ठ्यं, 'भंडमत्तोवगरण'त्ति (सू. २१८) भाण्डानि-मृन्मयभाजनानि, मात्राणि-कांस्य-

५ शतके ७ उद्देशः

॥७८॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२१२-२१९]

दीप अनुक्रम [२५३-२६१]

भाजनानि, उपकरणानि–लोहकटल्लकादीनि, एकेन्द्रियाणां परिग्रहोऽप्रत्याख्यानादवसेयः, 'बाहिरभंडमत्तोवगरण'त्ति उपकरणसाधर्म्यात् बाह्यानि द्वीन्द्रियाणां शरीररक्षार्थं तत्कृतगृहकादीनि अवसेयानि, 'टंक'त्ति छिन्नटङ्काः 'कूड'त्ति कूटानि–शिखराणि हस्त्यादिबन्धनस्थानानि वा 'सेल'त्ति मुण्डपर्वताः 'सिहरि'त्ति शिखरिणः–शिखरवन्तो गिरयः 'पब्भार'त्ति ईषदवनता गिरिदेशाः 'लेण'त्ति उत्कीर्णं पर्वतगृहं 'उज्झर'त्ति अपझरः–पर्वततटादुदकस्याधः पतनं 'निज्झर'त्ति निर्झरः–उदकस्य श्रवणं 'चिल्ल'त्ति चिक्खिल्लमिश्रोदको जलस्थानविशेषः, 'पल्लण'त्ति प्रल्हादनशीलः स एव 'वप्पिण'त्ति केदारवान् तटवान् वा देशः 'अगड'त्ति कूपः 'वावि'त्ति वापी–चतुरस्रो जलाश्रयविशेषः 'पुक्खरिणि'त्ति पुष्करिणी–वृत्तः स एव पुष्करवान् वा 'दीहिय'त्ति सारण्यो 'गुंजालिय'त्ति वक्राः सारण्यः 'सर'त्ति सरांसि–स्वयंसम्भूतजलाश्रयविशेषाः 'सरपंतिय'त्ति सरःपङ्क्तयः 'सरसर'त्ति यासु सरःपङ्क्तिषु एकस्मात् सरसोऽन्यस्मिन् अन्यस्मादन्यत्र एवं सञ्चारकपाटकेनोदकं सञ्चरति ताः सरःसरःपङ्क्तयः, बिलपङ्क्तयः प्रतीताः 'आराम'त्ति आरमंति येषु माधवीलतादिषु दम्पत्यादीनि ते आरामाः 'उज्जाण'त्ति उद्यानानि–पुष्पादिमद्वृक्षसंकुलानि उत्सवादौ बहुजनभोग्यानि, काननानि–सामान्यवृक्षसंयुक्तानि नगरासन्नानि वनानि–नगरविप्रकृष्टानि वनखण्डाः–एकजातीयवृक्षसमूहात्मकाः वनराजयो–वृक्षपङ्क्तयः, खातिका–उपरि विस्तीर्णा अधःसङ्कटखातरूपाः, परिखा–अध उपरि च समखातरूपाः 'अट्टालग'त्ति प्राकारोपरि आश्रयविशेषाः 'चरिय'त्ति चरिका गृहप्राकारान्तरे हस्त्यादिप्रचारमार्गः, 'दारं' द्वारं खडक्किका 'गोपुरं' नगरप्रतोली, 'पासाय'त्ति प्रासादो देवभूपानां 'सरण'त्ति शरणानि तृणमयावसरिकादीनि, आपणाहट्टाः शृङ्गाटकं स्थापना ◁ त्रिकं स्थापना ⊥ चतुष्कं स्थापना + चत्वरं स्थापना ※ चतुर्मुखं देवकुलादि, महापथो–राजमार्गः, लोही–

अत्र **शतक ५ उद्देशक** : ७ एव वर्तते, यत् मूल संपादने उद्देषकः ८ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

मण्डकादिपचनिका,'लोहकडुच्छुय'त्ति अन्नपरिवेषणाद्यर्थो भाजनविशेषः,'भवणा' भवनपतिनिवासाः॥'पंच हेउ'त्ति(सू.२१९) इत्यादि, इह हेतुषु वर्त्तमानो ना–नरो हेतुरेव, तदुपयोगानन्यत्वात्, पञ्चविधत्वं चास्य क्रियाभेदादित्याह–'हेउं जाणइ'त्ति हेतुं–साध्याविनाभूतं साध्यनिश्चयार्थं जानाति–विशेषतः सम्यगवगच्छति, सम्यग्दृष्टित्वाद्, अयं च पञ्चविधोऽपि सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः, मिथ्यादृष्टेः सूत्रद्वयात् परतो वक्ष्यमाणत्वादित्येकः, एवं हेतुं पश्यति, सामान्यत एव, अवबोधत्वादिति द्वितीयः, एवं हेतुं बुध्यते, सम्यक् श्रद्धत्ते, बोधेः सम्यक्श्रद्धानपर्यायत्वात् इति तृतीयः, हेतुं अभिसमागच्छति, साध्यसिद्धौ व्यापारणतः सम्यक् प्राप्नोतीति चतुर्थः,'हेउं छउमत्थे'त्ति हेतुः–अध्यवसानादिर्मरणकारणं तद्योगात् मरणमपि हेतुरत्तस्तं, हेतुमदित्यर्थः, छद्मस्थमरणं, न केवलि-मरणं, तस्य निर्हेतुकत्वात्, नाप्यज्ञानमरणं, एतस्य सम्यग्ज्ञानित्वात्, अज्ञानमरणस्य च वक्ष्यमाणत्वात्, म्रियते–करोतीति पञ्चमः। प्रकारान्तरेण हेतूनेवाह–हेतुना अनुमानस्थापकेन जानाति–अनुमेयं सम्यगवगच्छति, सम्यग्दृष्टित्वादेकः, पश्यति द्वितीयः, बुध्यते श्रद्धत्ते इति तृतीयः, एवमभिसमागच्छति–प्राप्नोतीति चतुर्थः, अकेवलित्वात् हेतुना अध्यवसानादिना छद्मस्थमरणं म्रियत इति पञ्चमः। अथ मिथ्यादृष्टिमाश्रित्य हेतूनाह–'पञ्चे'त्यादि, पञ्च क्रियाभेदात्, हेतवो हेतुव्यवहारत्वात्, तत्र हेतुं–लिङ्गं न जानाति, नञः कुत्सार्थत्वादसम्यगवैति, मिथ्यादृष्टित्वात्, एवं न पश्यति न बुध्यते नाभिसमागच्छति, हेतुं अध्यवसानादिहेतुयुक्तं अज्ञा-नमरणं म्रियते–करोति, मिथ्यादृष्टित्वेनासम्यग्ज्ञानित्वात्। अथ प्रकारान्तरेण हेतूनाह–हेतुना–लिङ्गेन न जानाति, असम्यग-वगच्छति, एवमन्येऽपि चत्वारः, अथ उक्तविपक्षभूतानहेतूनाह–'पंचे'त्यादि, प्रत्यक्षज्ञानित्वादिना अहेतुव्यवहारित्वादहेतवः– केवलिनः, ते च पञ्च क्रियाभेदात्, तद्यथा–'अहेउं जाणइ'त्ति अहेतुं न हेतुभावेन, सर्वज्ञत्वेनानुमानानपेक्षत्वाद्धूमादिकं जानाति,

॥७९॥

स्वस्यानुमानानुत्थापकतयेति, अतोऽसावहेतुरिति, एवं पश्यतीत्यादि ३, तथा 'अहेउं केवलिमरणं'ति अहेतुः—निर्हेतुकमनुपक्रमत्वात् केवलिमरणं म्रियते—करोति इति, अहेतुरसौ पञ्चम इति। प्रकारान्तरेण 'पञ्चे'त्यादि तथैव, नवरं अहेतुना—हेत्वभावेन केवलित्वाज्जानाति योऽसावहेतुरित्येवं पश्यतीत्यादयोऽपि ३ 'अहेउणा केवलिमरणं'ति अहेतुना उपक्रमाभावे केवलिमरणं म्रियते, केवलिनो निर्हेतुकस्यैव तस्य भावादिति, अहेतूनेव प्रकारान्तरेण आह—'पञ्च अहेऊ'इत्यादि, अहेतवः—अहेतुव्यवहारिणस्ते च पञ्च, ज्ञानादिभेदात्, तद्यथा—'अहेउं न याणइ'त्ति अहेतुं न हेतुभावेन, स्वस्यानुमानानुत्थापकतयेत्यर्थः, न जानाति न सर्वथाऽवगच्छति, कथञ्चिदेवावगच्छतीत्यर्थः, नञो देशनिषेधार्थत्वात्, ज्ञातुश्चावध्यादिज्ञानित्वात् कथञ्चित् ज्ञानमुक्तं, समग्रज्ञानं तु केवलिन एव स्यादिति, एवमन्यान्यपि ३, तथा 'अहेउं छउमत्थमरणं'ति अध्यवसानादेरुपक्रमकारणस्याभावात्, छद्मस्थमरणं अकेवलित्वात्, नत्वज्ञानमरणं, अवध्यादिज्ञानित्वेन ज्ञानित्वात्तस्येति, अहेतूनेवान्यथाऽऽह—'पंचे'त्यादि,तथैव, नवरं अहेतुना—हेत्वभावेन न जानाति—कथञ्चिदवगच्छति, गमनिकामात्रमेवेदमष्टानामपि सूत्राणां, एषां भावार्थं तु बहुश्रुता विदन्ति ॥

॥ इति पञ्चमशते सप्तमः ॥

'दव्वादेसेणं'ति (सू. २२०) द्रव्यप्रकारेण, द्रव्यात् इत्यर्थः, परमाणुत्वाद्याश्रित्येतियावत्, 'खित्तादेसेणं'ति एकप्रदेशावगाढत्वादिनेति, 'कालादेसेणं'ति एकादिसमयस्थितिकत्वेन 'भावादेसेणं'ति एकगुणकालकत्वादिना, 'सव्वपोग्गला सपएस'त्ति सर्वे पुद्गलाः सप्रदेशा अप्रदेशा अपि इत्यादि, इह च ये सार्द्धादिपुद्गलविचारे प्रक्रान्ते सप्रदेशा अप्रदेशा एव ते प्रस्तावितास्तत्तेषां प्ररूपणे सार्द्धत्वादि प्ररूपितमेव स्यादितिकृत्वेत्यवसेयं, तथाहि—सप्रदेशाः सार्द्धाः समध्या वा अप्रदेशा अमध्या वा,

अथ शतक-५ उद्देशक : ७ समाप्तः, अथ शतक-५ उद्देशक : ८ आरब्धः

'अणंत'त्ति तत्परिमाणज्ञापनपरं तत्स्वरूपाभिधानं, अथ द्रव्यतोऽप्रदेशस्य क्षेत्राद्याश्रित्याप्रदेशादित्वं निरूपयन्नाह–'जे दव्वओ अप्पएसे'त्ति द्रव्यतोऽप्रदेशः परमाणुः, स च क्षेत्रतो नियमादप्रदेशो, यस्मादसौ क्षेत्रस्यैकत्रैव प्रदेशेऽवगाहते, प्रदेशद्वयाद्यवगाहे तु तस्य अप्रदेशत्वमेव न स्यात्, कालतस्तु यद्यसावेकसमयस्थितिकस्तदाऽप्रदेशः, अनेकसमयस्थितिकस्तु सप्रदेश इति, भावतः पुनर्यद्येकगुणकालकादिस्तदाऽप्रदेशः, अनेकगुणकालकादिस्तु सप्रदेश इति, निरूपितो द्रव्यतोऽप्रदेशः, अथ क्षेत्रतोऽप्रदेशं निरूपयन्नाह–'जे खेत्तओ अपएस'त्ति यः क्षेत्रतोऽप्रदेशः स द्रव्यतः स्यात् सप्रदेशः, द्व्याणुकादेरपि एकप्रदेशावगाहित्वात्, स्यादप्रदेशः परमाणोरप्येकप्रदेशावगाहित्वात्, कालतो 'भयणाए'त्ति क्षेत्रतोऽप्रदेशो यः स कालतो भजनया अप्रदेशादिर्वाच्यः, तथाहि–एकप्रदेशावगाढ एकसमयस्थितिकत्वादप्रदेशोऽपि स्याद् अनेकसमयस्थितिकत्वात् सप्रदेशोऽपि स्यादिति, 'भावओ भयणाए'त्ति क्षेत्रतोऽप्रदेशो योऽसावेकगुणकालकत्वादिनाऽप्रदेशोऽपि स्यादनेकगुणकालकत्वादिना सप्रदेशोऽपि स्यादिति। अथ कालाप्रदेशं भावाप्रदेशं च निरूपयन्नाह–'जहा खेत्तओ एवं कालओ भावओ'त्ति यथा क्षेत्रतोऽप्रदेश उक्तः, एवं कालतो भावतश्चासौ वाच्यः, तथाहि–'जे कालओ अप्पएसे से दव्वओ सिय सपएसे सिय अपएसे' एवं क्षेत्रतो भावतश्च, तथा 'जे भावओ अपएसे से दव्वओ सिय सपएसे सिय अपएसे,' एवं क्षेत्रतः कालतश्चेति, उक्तोऽप्रदेशः। अथ सप्रदेशमाह–'जे दव्वओ सप्पएसे'त्ति, अयमर्थो–यो द्रव्यतो द्व्याद्यणुकादित्वेन सप्रदेशः स क्षेत्रतः स्यात्सप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात्, स्यादप्रदेश एव एकप्रदेशावगाहित्वात्, एवं कालतो भावतश्चेति, तथा यः क्षेत्रतः सप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात् स द्रव्यतः सप्रदेश एव, द्रव्यतोऽप्रदेशस्य द्व्यादिप्रदेशावगाहासम्भात्, कालतो भावतश्चासौ द्वेधापि स्यादिति, तथा यः कालतः सप्रदेशः स द्रव्यतः क्षेत्रतो भावतश्च

द्विधापि स्यात्, तथा यो भावतः सप्रदेशः, स द्रव्यक्षेत्रकालैर्द्विधाऽपि स्यादिति सप्रदेशसूत्राणां भावार्थ इति। अथैषां सप्रदेशानां द्रव्याणामल्पबहुत्वविभागमाह–'एएसि णं'ति इत्यादि सूत्रसिद्धं, यदाहुर्वृद्धाः–'वोच्छं अप्पाबहुयं दव्वक्खेत्तद्धभावओ वावि। अपएससप्पएसाण पोग्गलाणं समासेणं ॥१॥ दव्वेणं परमाणू खेत्तेणेगप्पएसमोगाढो। कालेण एगसमया अपएसा पुग्गला हुंति ॥२॥ भावेण अप्पएसा एगगुणा जे हवंति वन्नाई। वर्णादिभिरिति, तेचिय थोवा जं पुण बाहल्लं पायसो दव्वे ॥३॥ द्रव्ये प्रायो द्व्यादिगुणाश्चानन्तगुणान्ताः कालकत्वादयः स्युः, एकगुणकालकादयस्त्वल्पा इति विस्तरतो बृहद्वृत्तौ प्रोक्तमस्ति तदत्र ग्रन्थगौरवभयान्न लिखितं, जीवा वर्द्धन्ते हीयन्ते अवस्थिताः ?, (सू० २२१) गौतम! अवस्थिताः, 'नेरइया णं'ति 'अवट्ठिया जहण्णेणमेगसमयं उक्कोसेणं चउवीसई मुहुत्त'त्ति,कथं ?, सप्तस्वपि पृथिवीषु द्वादश मुहूर्त्तान् यावन्न कोऽप्युत्पद्यते उद्वर्त्तते च, उत्कृष्टतो विरहकालस्यैवंरूपत्वात्, अन्येषु पुनर्द्वादशसु मुहूर्त्तेषु यावन्त उत्पद्यन्ते तावन्त एवोद्वर्त्तन्त इत्येवं चतुर्विंशतिं यावन्नारकाणामेकपरिमाणत्वादवस्थितत्वं, वृद्धिहान्योरभाव इत्यर्थः, एवं रत्नप्रभादिषु य उत्पादोद्वर्त्तनाविरहकालश्चतुर्विंशतिमुहूर्त्तादिको व्युत्क्रान्तिपदेऽभिहितः स तत्र तुल्यस्य समसङ्ख्यानामुत्पादोद्वर्त्तनाकालस्य मीलनात् द्विगुणितः सन्नवस्थितकालोऽष्टचत्वारिंशन्मुहूर्त्तादिकः सूत्रोक्तः स्यात्, विरहकालश्च प्रतिपदमवस्थानकालार्द्धभूतः स्वयमभ्यूह्यः,'एगिंदिया वड्ढंति' तेषु विरहाभावेऽपि बहुतराणामुत्पादादल्पतराणां चोद्वर्त्तनात्, 'हायंति'त्ति बहुतराणामुद्वर्त्तनात् अल्पतराणां चोत्पादात्, 'अवट्ठिय'त्ति तुल्यानामुत्पादादुद्वर्त्तनाच्चेति,'एतेहिं तिहिवि'त्ति एतेषु त्रिष्वपि एकेन्द्रियवृद्ध्यादिषु आवलिकासङ्ख्येयो भागः, ततः परं यथायोगं वृद्ध्यादेरभावात्,'दो अंतोमुहुत्त'त्ति एकमन्तर्मुहूर्त्तं विरहकालः द्वितीयं तु समानानामुत्पादोद्वर्त्तनकालः, सङ्ख्येया मासाः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सङ्ख्येया वासाः, इह विरहकालस्य सङ्ख्यातमासवर्षरूपस्य द्विगुणितत्वेऽपि सङ्ख्यातत्वमेवेत्यतः सङ्ख्यातमासाः इत्युक्तं,'एवं गेवेज्जदेवाणंपि' इह यद्यपि ग्रैवेयकाधस्तनत्रये सङ्ख्यातानि शतानि वर्षाणां मध्यमे सहस्राणि उपरिमे लक्षाणि विरह उच्यते तथापि द्विगुणनेऽपि सङ्ख्यातवर्षत्वं न विरुध्यते, विजयादिषु त्वसङ्ख्यातकालो विरहः, स च द्विगुणितोऽपि स एव, सर्वार्थसिद्धे पल्योपमसङ्ख्येयभागः, सोऽपि द्विगुणितः सङ्ख्येयभाग एव स्यात्, अत उक्तम्–'विजयवेजयन्तजयंतापराजियाणं असंखिज्जाइं वाससहस्साइं' इत्यादि। **'सिद्धा सोवचय'त्ति** अनेकसिद्धानामेकसमये द्व्यादीनामष्टोत्तरशतान्तानां प्ररूपणागाथामाह सङ्ग्रहिण्यां यथा **'बत्तीसा अडयाल०'त्ति** एतद्व्याख्या–यदैकसमयेनैकादय उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्सिद्ध्यन्ति एवं द्वितीयसमयेऽपि द्वात्रिंशद् एवं नैरन्तर्येण अष्टसमयान् यावद् द्वात्रिंशत्सिद्ध्यन्ति ततोऽवश्यमन्तरं स्यात्, यदा ४८ एकसमयेन सिद्ध्यन्ति तदा निरन्तरं सप्त समयान्, तदनन्तरमन्तरं,यदा एकोनपञ्चाशतमादौ कृत्वा एकसमयेन षष्टिः सिद्ध्यन्ति तदा निरन्तरं ६ समयान्, तदुपर्यन्तरं समयादि स्यात्, एवमग्रेऽपि ज्ञेयं, यावदष्टोत्तरशतमेकसमयेन सिद्ध्यति, तदनन्तरमवश्यमन्तरं इत्युक्ताः सिद्धाः सोपचयाः। अथ जीवानेव भङ्गान्तरेणाह–सोपचयाः सवृद्धयः प्राक्तनेष्वन्येषामुत्पादात्,सापचयाः प्राक्तनेभ्यः केषाञ्चिदुद्वर्त्तनात् सक्षया इति,सोपचयसापचया उत्पादोद्वर्त्तनाभ्यां वृद्धिहान्योर्युगपद्भावात्,निरुपचयनिरपचया उत्पादोद्वर्त्तनयोरभावेन वृद्धिहान्योरभावात्, ननूपचयो वृद्धिः, अपचयस्तु हानिः युगपत् द्वयमद्वयं चावस्थितत्वमेवं च शब्दभेदव्यतिरेकेण कोऽनयोः सूत्रयोर्भेदः ?, उच्यते, पूर्वत्र परिमाणमभिप्रेतमिह तु तदनपेक्षमुत्पादोद्वर्त्तनामात्रं,ततश्चेह तृतीयभङ्गके पूर्वोक्तवृद्ध्यादिविकल्पानां त्रयमपि स्यात्, तथाहि–बहुतरोत्पादे वृद्धिः, बहुतरोद्वर्त्तने च हानिः, समोत्पादोद्वर्त्तनयोश्चावस्थितत्वमित्येवं भेदः, 'एगिंदिया तइयाए' सोपचयास्सा-

५ शतके ८ उद्देशः

॥८१॥

पचया इत्यर्थः, युगपदुत्पादोद्वर्त्तनाभ्यां वृद्धिहानिभावात्, शेषभङ्गेषु ते न सम्भवन्ति, प्रत्येकमुत्पादोद्वर्त्तनयोस्तद्विरहस्य वा भावात्, 'अवट्ठिएहिं'ति अत्र प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी वाच्या, कथं ?, निरुपचयनिरपचयनिरपचयेषु 'वक्तव्यकालो भाणियव्वो' विरहकालो वाच्यः ॥ पञ्चमशतेऽष्टमः ॥

'जहा एयणुद्देसए'त्ति (सू० २२२) एजनोद्देशकोऽस्यैव पञ्चमशतस्य सप्तमः, तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वक्तव्यता, 'टङ्का कूडा सेला सिहरी'त्यादिका योक्ता सेह भणितव्या, अत्रोत्तरम्–'पुढवीवि नगर'मिति पृथिव्यादिसमुदायो राजगृहं, न पृथिव्यादिसमुदायादृते राजगृहशब्दप्रवृत्तिः, 'पुढवी जीवा इय अजीवाइय'त्ति जीवाजीवस्वभावं राजगृहमिति प्रतीतं, ततश्च विवक्षिता पृथिवी सचेतनाचेतनत्वेन जीवाश्चाजीवाश्चेति राजगृहमिति प्रोच्यते, 'दिवा सुभ'त्ति (सू० २२३) दिवा–दिवसे शुभाः पुद्गलाः स्युः, किमुक्तं भवति ?–शुभः पुद्गलपरिणामः, स चार्ककरसम्पर्कात्, 'रत्तिं'ति रात्रौ, 'नेरइयाणं असुभपुग्गल'त्ति तत्क्षेत्रस्य पुद्गलशुभतानिमित्तभूतरविकरादिप्रकाशकवस्तुवर्जितत्वात् 'असुरकुमाराणं सुभा पोग्गल'त्ति तदाश्रयादीनां भास्वरत्वात् 'पुढविकाइय'त्ति पृथ्वीकायिकादयस्त्रीन्द्रियान्ता यथा नैरयिका उक्ताः तथा वाच्याः, एषां नास्त्युद्योतस्तमिस्रं चास्ति, पुद्गलानामशुभत्वात्, इह चेयं भावना–एतत्क्षेत्रे रविकरसम्पर्के सत्यपि एषां चक्षुरिन्द्रियाभावेन दृश्यवस्तुनो दर्शनाभावात् शुभपुद्गलकार्याकरणेनाशुभपुद्गला लभ्यन्ते, ततश्चैषामन्धकारमेवेति, 'चउरिंदियाणं सुभासुभ'त्ति एषां चक्षुःसद्भावेन रविकरादिसद्भावेन दृश्यार्थावबोधहेतुत्वात् शुभाः पुद्गलाः, रविकराद्यभावे त्वर्थावबोधाजनकत्वादशुभाः, 'तत्थ गया णं'ति (सू० २२४) नरकस्थितैः, षष्ठ्यास्तृतीयार्थत्वादेव, 'पण्णायइ'त्ति एवं प्रज्ञायते, इदं विज्ञायते, 'समयाइवा' समया इति वा

'इहं तेसिं'ति इह–मनुष्यक्षेत्रे तेषां–समयादीनां मानं–परिमाणं,आदित्यगतिसमभिव्यङ्ग्यत्वात् ,तस्या आदित्यगतेश्च मनुष्यक्षेत्र एव भावात् , नरकादौ त्वभावादिति, 'इहं तेसिं पमाणं'ति इह–मनुष्यक्षेत्रे समयादीनां प्रमाणं–प्रकृष्टं मानं, सूक्ष्ममानमित्यर्थः, तत्र मुहूर्त्तस्तावन्मानं, तदपेक्षया लवः सूक्ष्मत्वात् प्रमाणं, तदपेक्षया स्तोकः प्रमाणं लवस्तु मानमित्येवं नेयं यावत्समय इति, ततश्च 'इहं तेसि'मित्यादि इह—मर्त्यलोके मनुजैस्तेषां समयादीनां सम्बन्धि एवं वक्ष्यमाणं स्वरूपं समयत्वाद्येव ज्ञायते, तद्यथा–'समयाइ वा' इत्यादि, इह च समयक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तिनां समयाद्यज्ञानमवसेयं, तत्र समयादिकालस्याभावेन तद्व्यवहाराभावात् , तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्काश्च यद्यपि केचन मनुष्यक्षेत्रेऽपि सन्ति,तथापि तेऽल्पाः प्रायस्तदव्यवहारिणश्च इतरे तु बहव इति तदपेक्षया ते न जानन्तीत्युच्यते, इति कालनिरूपणाधिकाराद् रात्रिंदिवलक्षणकालविशेषनिरूपणार्थमिदमाह–'तेणं कालेण'मित्यादि (सू० २२५) 'असंखिज्जे' असङ्ख्यातप्रदेशात्मकत्वात् , लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके क्षेत्रलोके आधारभूते 'अणंतराइंदिय'त्ति अनन्तपरिमाणानि रात्रिंदिवानि–अहोरात्राणि 'उप्पज्जिंसु'त्ति उत्पन्नानि उत्पद्यन्ते उत्पत्स्यन्ते वा, पृच्छतामयमभिप्रायो–यदि नामासङ्ख्यातो लोकस्तदा कथमनन्तानि तत्र भवितुमर्हन्ति ?, अल्पत्वादाधारस्य महत्त्वाच्चाधेयस्येति, तथा 'परित्ता राइंदिय'त्ति परीत्तानि–नियतपरिमाणानि, नानन्तानि, इहाप्ययमभिप्रायो–यद्यनन्तानि तदा कथं परीत्तानीति विरोधः, अत्र 'हन्ते'त्याद्युत्तरं, अत्रायमभिप्रायः–असङ्ख्यातप्रदेशेऽपि लोके अनन्ता जीवा वर्त्तन्ते, तथाविधस्वरूपत्वाद् , एकत्राश्रये सहस्रादिसङ्ख्यप्रदीपप्रभा इव, ते चैकत्रैव समयादिके कालेऽनन्ता उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च, स च समयादिकालस्तेषु साधारणशरीरावस्थायामनन्तेषु प्रत्येकशरीरावस्थायां च परीत्तेषु प्रत्येकं वर्त्तते, तत्स्थितिलक्षणपर्यायरूपत्वात् तस्य, तथा

॥८२॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२२२-२२७]

दीप अनुक्रम [२६४-२७१]

कालोऽनन्तः परीत्तश्च स्यादित्येवं वा सङ्ख्येयेऽपि लोके रात्रिंदिवान्यनन्तानि परीत्तानि च कालत्रये युज्यन्त इति, एतदेव प्रश्नपूर्वकं तत्संमतजिनमतेन दर्शयन्नाह—'से नूणं'ति 'मे'त्ति भवतां सम्बन्धिना 'अज्जो'त्ति हे आर्याः 'पुरिसादाणीयेणं'ति पुरुषाणां मध्ये आदानीयः—आदेयः पुरुषादानीयः तेन 'सासए'त्ति प्रतिक्षणं स्थायी, स्थिर इत्यर्थः,'वुइए'त्ति उक्तः, स्थिरश्च उत्पत्तिक्षणादप्यारभ्य स्यादित्यत आह–'अणाइए'त्ति अनादिकः, स च सान्तोऽपि स्याद् भव्यत्ववदित्याह–'अणवयग्गे'त्ति अनवदग्रः–अनन्तः 'परित्ते'त्ति परिमितः प्रदेशतः, अनेन लोकस्यासङ्ख्येयत्वं पार्श्वजिनस्यापि सम्मतमिति दर्शितं,'परिवुडे'त्ति अलोकेन परिवृतः, 'हेट्ठा विच्छिण्णे'त्ति सप्तरज्जुविस्तृतत्वादधः, 'मज्झे'त्ति मध्ये एकरज्जुविस्तारत्वात्, 'उप्पिं'ति ब्रह्मलोकदेशस्थ पञ्चरज्जुविस्तारत्वात्, एतदेवोपमानतः प्राह—'अहे पलियंकसंठिए'त्ति उपरि सङ्कीर्णत्वाधोविस्तृतत्वाभ्यां 'मज्झे वरवइर'त्ति वरवज्रवद्विग्रहः–शरीरमाकारो मध्यक्षामत्वेन यस्य स तथा, स्वार्थिकश्चैकप्रत्ययः, 'उप्पिं उड्ढमुइंगागारसंठिए'त्ति ऊर्ध्वो, न तु तिरश्चीनो, यो मृदङ्गस्तस्याकारेण संस्थितो यः स तथा, मल्लकसम्पुटाकार इत्यर्थः,'अणंता जीवघण'त्ति अनन्ताः परिमाणतः सूक्ष्मादिसाधारणशरीराणां विवक्षितत्वात्, सन्तत्यपेक्षया चानन्ता जीवसन्ततीनामपर्यवसानत्वात्, जीवाश्च ते घनाश्च अनन्तपर्यायसमूहरूपत्वादसङ्ख्येयप्रदेशपिण्डरूपत्वाच्च जीवघनाः, किमित्याह–'उप्पज्जित्ते'त्ति उत्पद्योत्पद्य निलीयन्ते–विनश्यन्ति, तथा 'परित्ता' प्रत्येकं शरीराः, अनपेक्षितातीतानागतसन्तानतया वा सङ्क्षिप्ताः जीवघनाः, अनेन च प्रश्नेन यदुक्तं 'अणंता राइंदिया' इत्यादि तस्योत्तरं सूचितं, यतोऽनन्तपरीत्तजीवसम्बन्धात् कालविशेषा अपि अनन्ताः परीत्ताश्च व्यपदिश्यन्ते, अतो विरोधः परिहृतः स्यात्, अथ लोकमेव स्वरूपत आह–'से नूणं भूए'त्ति ४जीवघना उत्पद्य निलीयन्ते स-

अत्र शतक ५ उद्देशक : ९ एव वर्तते, यत् मूल संपादने उद्देषकः १० मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

श्रीभग० लघुवृत्तौ

लोको भूतः सद्भूतो वा भवनधर्मयोगात्, स चानुत्पत्तिकोऽपि स्याद् यथा नयमतेनाकाशमत आह–उत्पन्नः, एवंविधश्च अनश्वरोऽपि स्यात् यथा विवक्षितघटाभाव इत्यत आह–विगतः, स चानन्वयोऽपि किल स्यात् अत आह–परिणतः–पर्यायान्तराण्यापन्नो, नतु निरन्वयनाशेन नष्टः, अथ कथमयमेवंविधो निश्चीयते इत्याह–'अजीवेहिं'ति अजीवैः–पुद्गलादिभिः सत्तां बिभ्रद्भिरुत्पद्यमानैर्विगच्छद्भिः परिणमद्भिश्च लोकानन्यभूतैर्लोक्यते–निश्चीयते प्रलोक्यते–प्रकर्षेण निश्चीयते भूतादिधर्म्मकोऽयमिति, अत एव यथार्थनामाऽसाविति दर्शयन्नाह–'जे लोक्कए से लोए'त्ति यो लोक्यते प्रमाणेन स लोकः–लोकशब्दवाच्यः स्यादिति, एवं लोकस्वरूपाभिधायकपार्श्वजिनवचनसंस्मरणेन स्ववचनं भगवान् समर्थितवानिति, 'पच्चभिजाणंति'त्ति प्रत्यभिजानते सर्वज्ञमिति, अनंतरं 'देवेलोएसु उववण्णा' इत्युक्तमतो देवलोकप्ररूपणसूत्रम्,'कइविहाण'(सू.२२६)मित्यादि॥पञ्चमशते नवम उद्देशकः॥

अथ चन्द्रं समुद्दिश्य दशमोद्देशकमाह, तस्य चेदं सूत्रम्,'तेणं कालेण(सू.२२७)मित्यादि, एतच्चन्द्राभिलापेन पञ्चमशतप्रथमोद्देशकवन्नेयमिति ॥ पञ्चमशते दशमः ॥ समाप्तं पञ्चमशतमिति ॥

अथ षष्ठमारभ्यते—एतत्सङ्ग्रहणीगाथेयम्–'वेयण'इत्यादि (*३७) तत्र 'वेयण'त्ति महावेदनो महानिर्जर इति प्रतिपादनपरः प्रथमः, आहाराद्यर्थाभिधायको द्वितीयः, महाश्रवणस्य पुद्गला बध्यन्ते इति तृतीयः, 'सपएस'त्ति सप्रदेशो जीवोऽप्रदेशो वा इति चतुर्थः,'तमुयए'त्ति तमस्कायार्थः पञ्चमः,'भविए'त्ति भव्यो नारकत्वादिनोत्पादस्य योग्य इत्यर्थः षष्ठः,'साली'त्ति शाल्यादिधान्यवक्तव्यतार्थस्सप्तमः,'पुढवि'त्ति रत्नप्रभादिपृथिवीवक्तव्यतार्थोऽष्टमः,'कम्म'त्ति कर्म्मबन्धाभिधायको नवमः, 'अण्णउत्थि'त्ति अन्यतीर्थिकवक्तव्यतार्थो दशमः । 'से नूणं'ति (सू. २२८) महावेदनः–उपसर्गादिसमुद्भूतविशिष्टपीडः महानिर्जरो–

६ शतके १ उद्देशः

॥८३॥

अथ **शतक-५ उद्देशक** : ९ समाप्तः, **उद्देशक** : १० आरब्धः एवं समाप्तः,

अथ **शतक-६** आरभ्यते

अत्र **शतक-६** उद्देशकाः १

विशिष्टकर्मक्षयः, अनयोश्चान्योऽन्याविनाभूतत्वाविर्भायनाय 'जे महाणिज्जरे' इति प्रत्यावर्त्तनमित्येकः प्रश्नः, तथा महावेदनस्य चाल्पवेदनस्य च मध्ये स श्रेयान् यः प्रशस्तनिर्जराकः–कल्याणानुबन्धनिर्जर इत्येष द्वितीयः प्रश्नः, हन्तेत्याद्युत्तरं, प्रथमप्रश्नोत्तरे महावीरो महोपसर्गकाले ज्ञातं, द्वितीयस्यापि स एवोपसर्गानुपसर्गावस्थायामिति, यो महावेदनः स महानिर्जर इति यदुक्तं तत्र व्यभिचारं शङ्कमान आह–'छट्ठसत्तमासु णं'ति, 'दुधोयतराए'त्ति दुष्करतरधावनप्रक्रियं दुवामतराए–दुर्वाम्यतरकं दुस्त्याज्यतरकलङ्कं, दुपरिकम्मतराए–कष्टकर्त्तव्यतेजोजननभङ्गकरणादिप्रक्रियं, अनेन विशेषणत्रयेणापि दुर्विशोध्यमित्युक्तं 'गाढीकयाइं'ति आत्मप्रदेशैः सह गाढबद्धानि, सणसूत्रगाढबद्धसूचीकलापवत् 'चिक्कणीकयाइं' सूक्ष्मकर्म्मस्कन्धानां सरसतया मिथो-गाढसम्बन्धकरणतो दुर्भेदीकृतानि मृत्पिण्डवत्,'सिलिट्ठीकयाइं' श्लिष्टीकृतानि निधत्तानि–सूत्रबद्धाग्नितप्तलोहशलाकाकलापवत्, 'खिलीभूयाइं' खिलीभूतानि अनुभूतिव्यतिरिक्तोपायान्तरेण क्षपयितुमशक्यानि, निकाचितानीत्यर्थः, विशेषणचतुष्टयेनाप्यनेन दुर्विशोध्यानि स्युस्ततः 'संपगाढं'ति सम्प्रगाढां अतिदुःसहां 'णो महापज्जवसाणा भवन्ति' अनेन महानिर्जराया अभाव-स्य निर्वाणाभावलक्षणमुक्तं फलमिति नाप्रस्तुतत्वमस्य शङ्कनीयमीति, तदेवं यो महावेदनः स महानिर्जर इति विशिष्टजीवापेक्ष-मवगन्तव्यं, न पुनर्मारकादिक्लिष्टकर्मजीवापेक्षं, यदपि यो महानिर्जरः स महावेदन इत्युक्तं तदपि प्रायिकं, यतः स्यादयोगी महा-निर्जरो महावेदनस्तु भजनयेति, 'अहिगरणिं'त्ति अधिकरणी यत्र लोहकारा अयोघनेन लोहानि कुट्टयंति, 'आउडेमाणे'त्ति आकुट्टयन् 'खद्देणं'ति अयोघनघातप्रभवेण ध्वनिना पुरुषहुंकृतिरूपेण वा 'घोसेणं'ति तस्यैवानुनादेन 'परम्पराघाएणं'ति परम्परा–निरन्तरता तत्प्राधान्ये घातः–ताडनं परम्पराघातस्तेन, उपर्युपरिघातेनेति, 'अहाबायरे'त्ति स्थूलप्रकारान् 'सुधोयत-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२२८-२३०] + गाथा: दीप अनुक्रम [२७२-२७७]

राए'त्ति अनेन सुविशोध्यं स्यादिति 'अहाबायराइं'ति स्थूलतरस्कन्धानि, असाराणीत्यर्थः, 'सिढिलीकयाइं'ति श्लथीकृतानि, मन्दविपाकीकृतानि, 'निट्ठियाइं कयाइं'ति निस्सत्ताकानि कृतानि 'विपरिणामियाइं' विपरिणामं नीतानि स्थितिरसघातादिभिः, तानि क्षिप्रमेव विध्वस्तानि स्युरिति, एभिर्विशेषणैः सुविशोध्यानि इत्युक्तं स्यात्, 'कम्मकरणे'त्ति कर्म्मविषयं करणं, जीववीर्यं बन्धनसङ्क्रमादिनिमित्तभूतं कर्म्मकरणं 'वेमायाए'त्ति विविधमात्रया कदाचित् सातां कदाचिदसातां 'महावेयणे'त्ति (*३८) सङ्ग्रहगाथा गतार्था ॥ **षष्ठशते प्रथम उद्देशकः** ॥

अथ द्वितीयः-आहारोद्देशकः, (सू. २३१) स च प्रज्ञापनायामिव दृश्यः, स चायं-'नेरइया णं भंते ! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा मीसाहारा ?, गोयमा ! नो सचित्ताहारा, अचित्ताहारा, नो मीसाहारा'इत्यादि ॥ **षष्ठशते द्वितीय उद्देशकः** ॥

'बहुकम्म'त्ति (*३९-४०) महाकर्मणः सर्वतः पुद्गला बध्यन्ते इत्यादि वाच्यं, **'वत्थपोग्गलापओगसा वीसस'त्ति** यथा वस्त्रे पुद्गलाः प्रयोगतो विस्रसातश्च चीयंते किमेवं जीवानामपीति वाच्यं, **'साइए'त्ति** वस्त्रस्य सादिः पुद्गलचयः, एवं किं जीवानामपि इति प्रश्न उत्तरं च वाच्यं, **'कम्मट्ठिइ'त्ति** कर्म्मस्थितिर्वाच्या **'इत्थि'त्ति** किं स्त्री पुरुषादिर्वा कर्म्म बध्नातीति, **'संजय'त्ति** किं संयतादिः, **'सम्मदिट्ठि'त्ति** किं सम्यग्दृष्ट्यादिः, **'सण्णी य'त्ति** संज्ञी भव्यो दर्शनी पर्याप्तको भाषकोऽपरीत्तो ज्ञानी योगी उपयोगी आहारकः सूक्ष्मः चरमः, **'बंधे य'त्ति** एतानाश्रित्य बन्धो वाच्यः, **'अप्पबहु'त्ति** एषामेव स्त्रीप्रभृतीनां कर्म्मबन्धकानां मिथोऽल्पबहुत्वं वाच्यमिति, तत्र बहुकर्मद्वारे **'महाकम्मस्स'त्ति** (सू० २३२) महाकर्मणः स्थित्याद्यपेक्षया महाक्रियस्य-अलघुकायिक्यादिक्रियस्य महाश्रवस्य-बृहन्मिथ्यात्वादिकर्मबन्धहेतुकस्य महावेदनस्य—महापीडस्य **'सव्व-**

॥८४॥

अथ **शतक-६ उद्देशक** : १ समाप्तः, **उद्देशक** : २ आरब्धः एवं समाप्तः. अथ **शतक-६ उद्देशक** : ३ आरब्धः

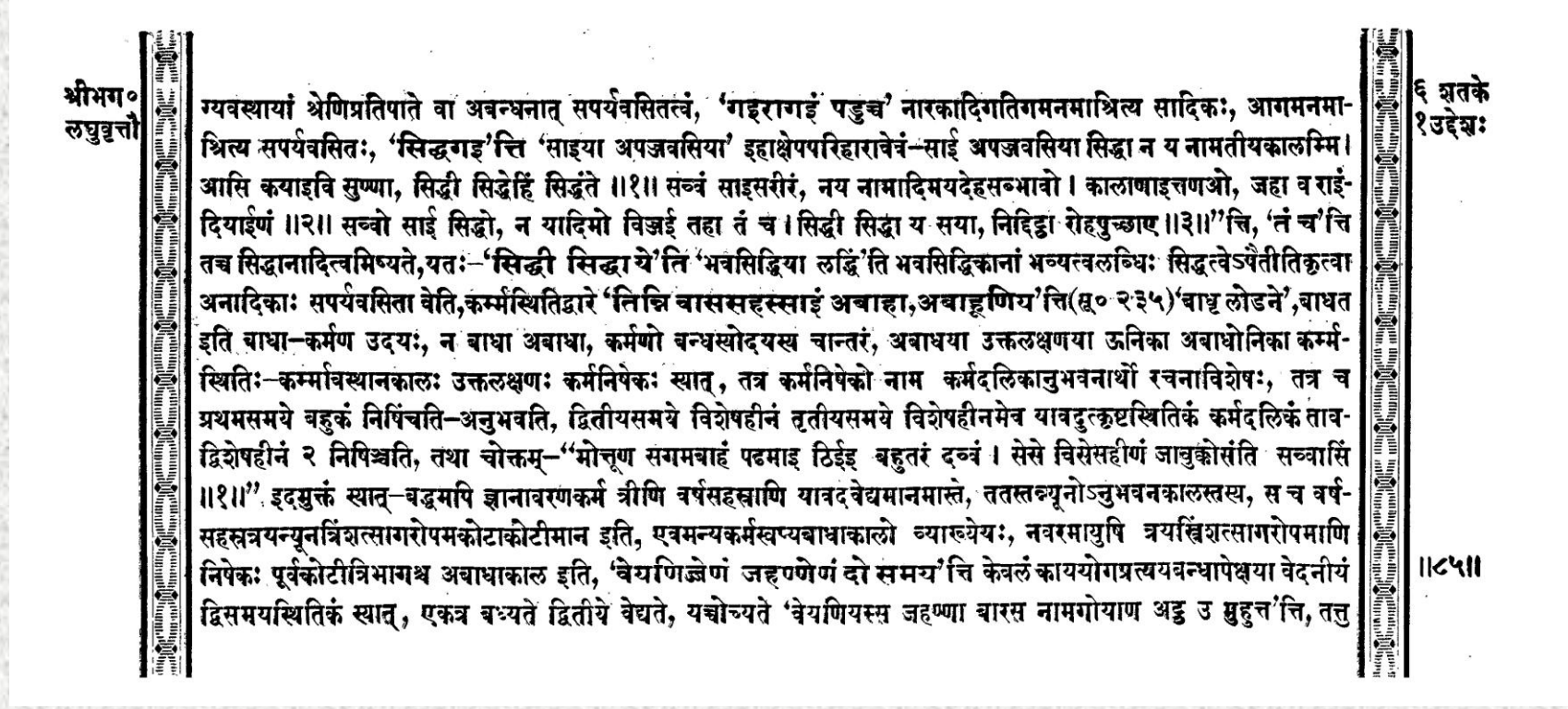
ओ'त्ति सर्वतः–सर्वासु दिक्षु सर्वान् वा जीवप्रदेशानाश्रित्य बध्यन्ते—चीयन्ते बन्धनतः, उपचीयन्ते–निषेकरचनतः, अथवा बध्यन्ते बन्धनतः चीयन्ते निधत्ततः उपचीयन्ते निकाचनतः, सदा–सर्वदा समितं–सततं, 'तस्स आय'त्ति यस्य जीवस्य पुद्गला बध्यन्ते तस्यात्मा–बाह्यात्मा, शरीरमित्यर्थः, 'अणिट्ठत्ताए' इच्छाया अविषयतया 'अकंतत्ताए' असुंदरतया 'अप्पियत्ताए' अप्रेमहेतुतया 'असुभत्ताए' अमङ्गलतया 'अमणुन्नत्ताए' न मनसा–भावतो ज्ञायते सुन्दरोऽयमित्यमनोज्ञस्तद्भावस्तत्ता तया 'अमणामत्ताए' न मनसा अम्यते–गम्यते संस्मरणतोऽमनोऽमस्तद्भावस्तत्ता तया 'अणिच्छियत्ताए' अनीप्सिततया—प्राप्तुमवाञ्छितत्वेन 'अहिज्झियत्ताए' मिथ्या–लोभः, सा सञ्जाता यत्र स मिध्यितो न मिध्यितः अभिध्यितस्तद्भावस्तत्ता तया 'अहत्ताए' जघन्यतया,'नो उड्ढत्ताए' न मुख्यतया 'अहयस्स'त्ति अपरिभुक्तस्य 'धोयस्स' नीरधौतस्य तंतुवायस्य तन्त्रात् तुरिवेमादेरपनीतमात्रस्य ' बज्झंती ' त्यादिना पदत्रयेणेह वस्त्रस्य पुद्गलानां च यथोत्तरं सम्बन्धप्रकर्ष उक्तः, 'भिज्झंति'त्ति प्राक्तनसम्बन्धविशेषत्यागात् छिद्यंति–विशेषतः, विद्धस्संति ततोऽधःपातात्, परिविद्धस्संति, विशेषतया पातात्, 'जल्लियस्स' जल्लितस्य–यानगलनधर्म्मोपेतमलयुक्तस्य ' पंकियस्स ' पङ्कितस्य—आर्द्रमलोपेतस्य 'मइलियस्स' मलिनस्य–कठिनमलयुक्तस्य 'परिकम्मिज्जमाणस्स' क्रियमाणशोधनार्थोपक्रमस्य ॥'वत्थस्सत्ति (सू० २३३) वस्त्रस्य द्वारे 'पओगसा वीससा' छांदसत्त्वात् प्रयोगेण–पुरुषव्यापारेण विस्रसा–स्वभावेन, 'जीवाणं कम्मोवचए पओगसा नो वीससा, प्रयोगेणैव, अन्यथा अयोगस्यापि बन्धप्रसङ्गः, सादिद्वारे 'इरियावहियबंधगस्स'त्ति (सू० २३४) ईर्यापथो–गमनमार्गस्तत्र भवमैर्यापथिकं–केवलयोगप्रत्ययं कर्म तद्बन्धकस्य, उपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य संयोगिकेवलिनश्चेति भावः, ईर्यापथिककर्मणो हि अबद्धपूर्वस्य बन्धनात् सादित्वं, अयो-

अत्र शतक-६ उद्देशक : ३ एव वर्तते, यत् मूल संपादने उद्देशक : १ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२३२-२३७]

दीप अनुक्रम [२८०-२८५]



श्रीभग० लघुवृत्तौ

ग्यवस्थायां श्रेणिप्रतिपाते वा अबन्धनात् सपर्यवसितत्वं, 'गइरागइं पडुच्च' नारकादिगतिगमनमाश्रित्य सादिकः, आगमनमाश्रित्य सपर्यवसितः, 'सिद्धगइ'त्ति 'साइया अपज्जवसिया' इहाक्षेपपरिहारावेवं–साई अपज्जवसिया सिद्धा न य नामतीयकालम्मि। आसि कयाइवि सुण्णा, सिद्धी सिद्धेहिं सिद्धंते ॥१॥ सव्वं साइसरीरं, नय नामादिमयदेहसब्भावो। कालाणाइत्तणओ, जहा व राईदियाईणं ॥२॥ सव्वो साई सिद्धो, न यादिमो विज्जई तहा तं च। सिद्धी सिद्धा य सया, निद्दिट्ठा रोहपुच्छाए ॥३॥"त्ति, 'तं च'त्ति तच्च सिद्धानादित्वमिष्यते,यतः–'सिद्धी सिद्धा ये'ति 'भवसिद्धिया लद्धिं'ति भवसिद्धिकानां भव्यत्वलब्धिः सिद्धत्वेऽपैतीतिकृत्वा अनादिकाः सपर्यवसिता वेति,कर्म्मस्थितिद्वारे 'तिन्नि चाससहस्साइं अबाहा,अबाहूणिय'त्ति(सू० २३५)'बाधृ लोडने',बाधत इति बाधा–कर्मण उदयः, न बाधा अबाधा, कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरं, अबाधया उक्तलक्षणया ऊनिका अबाधोनिका कर्म्मस्थितिः–कर्म्मावस्थानकालः उक्तलक्षणः कर्मनिषेकः स्यात्, तत्र कर्मनिषेको नाम कर्मदलिकानुभवनार्थो रचनाविशेषः, तत्र च प्रथमसमये बहुकं निषिंचति–अनुभवति, द्वितीयसमये विशेषहीनं तृतीयसमये विशेषहीनमेव यावदुत्कृष्टस्थितिकं कर्मदलिकं तावद्विशेषहीनं २ निषिञ्चति, तथा चोक्तम्–"मोत्तूण सगमबाहं पढमाइ ठिईइ बहुतरं दव्वं। सेसे विसेसहीणं जावुक्कोसंति सव्वासिं ॥१॥" इदमुक्तं स्यात्–बद्धमपि ज्ञानावरणकर्म त्रीणि वर्षसहस्राणि यावदवेद्यमानमास्ते, ततस्तव्यूनोऽनुभवनकालस्तस्य, स च वर्षसहस्रत्रयन्यूनत्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटीमान इति, एवमन्यकर्मस्वप्यबाधाकालो व्याख्येयः, नवरमायुषि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि निषेकः पूर्वकोटीत्रिभागश्च अबाधाकाल इति, 'वेयणिज्जेणं जहण्णेणं दो समय'त्ति केवलं काययोगप्रत्ययबन्धापेक्षया वेदनीयं द्विसमयस्थितिकं स्यात्, एकत्र बध्यते द्वितीये वेद्यते, यच्चोच्यते 'वेयणियस्स जहण्णा बारस नामगोयाण अट्ठ उ मुहुत्त'त्ति, तत्तु

६ शतके १उद्देशः

॥८५॥

अत्र शतक-६ उद्देशक : ३ एव वर्तते, यत् मूल संपादने उद्देशक : १ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२३२-२३७]

दीप अनुक्रम [२८०-२८५]

सकषायस्थितिबन्धमाश्रित्य वेदितव्यमिति । स्त्रीद्वारे 'नाणावरणिज्जं कम्मं किं इत्थी बंधइ' (सू० २३६) इत्यादि प्रश्नः, तत्र न स्त्री न पुरुषो न नपुंसको वेदोदयरहितः, स च निवृत्तिबादरसंपरायप्रभृतिगुणस्थानवर्त्ती स्यात्, तत्र चानिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसम्परायौ ज्ञानावरणीयस्य बन्धकौ समविधषड्विधबन्धकत्वात्, उपशान्तमोहादिकस्त्वबन्धकः,एकविधबन्धकत्वाद्, अत उक्तं–स्याद् बध्नाति स्यान्न बध्नाति, 'आउगं णं भंते'त्ति इत्यादि प्रश्नः, तत्र स्त्र्यादित्रयमायुः स्याद् बध्नाति स्यान्न बध्नाति, बन्धकाले बध्नाति अबन्धकाले न बध्नाति, आयुषः सकृदेवैकत्र भवे बन्धात्, निवृत्तस्त्र्यादिवेदस्तु न बध्नाति, निवृत्तिबादरसम्परायादिगुणस्थानकेष्वायुर्बन्धस्य व्यवच्छिन्नत्वात्, संयतद्वारे 'संजए सिय'त्ति संयतः आद्यसंयमचतुष्टयवृत्तिर्ज्ञानावरणं बध्नीयात्, यथाख्यातसंयमसंयतस्तूपशान्तमोहादिर्न बध्नाति, अत उक्तं–स्याद् बध्नाति स्यान्न बध्नाति, असंयतो–मिथ्यादृक्प्रमुखः, संयतासंयतस्तु देशविरतः, तौ च बध्नीतः, निषिद्धसंयमादिभावस्तु सिद्धः, स च न बध्नाति, हेत्वभावादिति, 'आउगं हेट्ठिल्ला तिन्नि भयणाए'त्ति संयतोऽसंयतः संयतासंयतश्चैवं त्रयोऽपि आयुर्बध्नन्ति अन्यदा नेति भजनयेत्युक्तं, 'उवरि'त्ति संयतादिषूपरितनः सिद्धः, स च न बध्नात्यायुः। सम्यग्दृष्टिद्वारे सम्यग्दृष्टिर्वीतरागः तदितरश्च स्यात्, तत्र वीतरागो ज्ञानावरणं न बध्नाति, एकविधबन्धकत्वात्, इतरश्चावीतरागो बध्नातीति स्यादित्युक्तं, मिथ्यादृग्मिश्रदृष्टी तु बध्नीत एव इति, 'आउए हेट्ठिल्ला दो भयणाए'त्ति सम्यग्मिथ्यादृष्टी तु आयुः स्याद् बध्नीत इत्यर्थः, तथाहि–सम्यग्दृष्टिरपूर्वकरणादिरायुर्न बध्नाति, इतरस्तु आयुर्बन्धकाले तद् बध्नाति अन्यदा तु न बध्नाति, एवं मिथ्यादृष्टिरपि,'सम्मामिच्छदिट्ठि'त्ति मिश्रदृष्टिस्त्वायुर्न बध्नात्येव,तद्बन्धाध्यवसायस्थानाभावादिति, 'मीसा न रागदोसो' इति मिश्रगुणस्थानकलक्षणेन कार्मग्रथिकेन 'न सम्ममीसो कुणइ

अत्र शतक-६ उद्देशक : ३ एव वर्तते, यत् मूल संपादने उद्देशक : १ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२३२-२३७]

दीप अनुक्रम [२८०-२८५]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

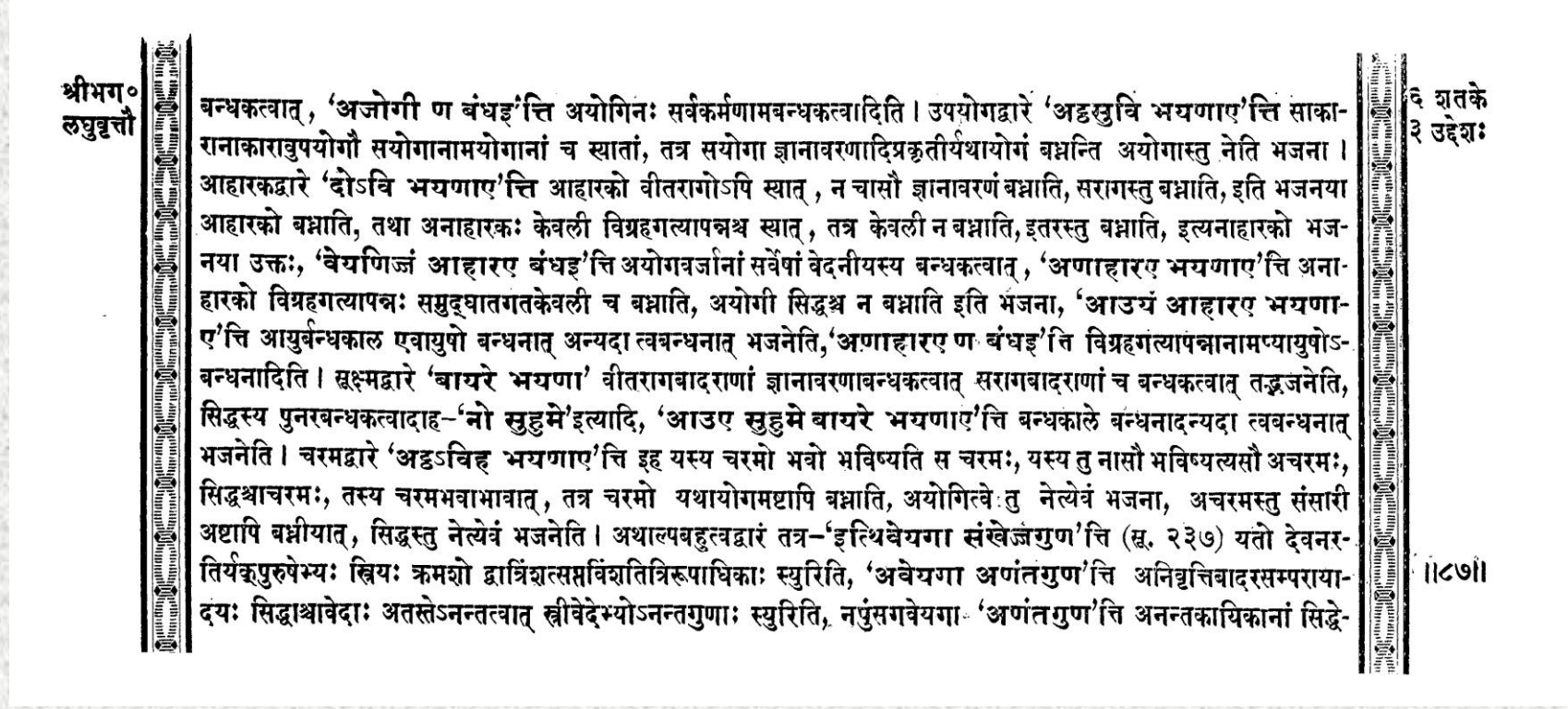
काल'मिति वचसा आयुर्न बध्नात्येव, संज्ञिद्वारे 'सन्नी सिय'त्ति संज्ञी–मनःपर्याप्तियुक्तः, स च यदि वीतरागस्तदा ज्ञानावरणं न बध्नाति यदि पुनरितरस्तदा बध्नाति ततः स्यादित्युक्तं, 'असण्णी बंधइ'त्ति मनःपर्याप्तिविकलो बध्नात्येव, 'नोसन्नीनोअसन्नी' केवली सिद्धश्च न बध्नाति, हेत्वभावात्, 'वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला दो बंधंति' संज्ञी असंज्ञी च द्वौ वेदनीयं बध्नीतः, अयोगिसिद्धवर्जानां तद्बन्धकत्वात्, 'उवरिल्ले भयणाए'त्ति उपरितनो नोसंज्ञीनोअसंज्ञी च, स च सयोगायोगकेवली सिद्धश्च, तत्र यदि सयोगकेवली तदा वेदनीयं बध्नाति, यदि पुनरयोगकेवली सिद्धो वा तदा न बध्नाति, अतो भजनयेत्युक्तं, 'आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए'त्ति संज्ञी असंज्ञी च द्वौ स्याद् बध्नीतः आयुःकर्म्म स्यान्न बध्नीत, कथं ?, बन्धकाले बध्नीतः, अबन्धकाले न, अन्तर्मुहूर्त्तमेव तद्बन्धात्, 'उवरिल्लो ण बंधइ'त्ति केवली सिद्धश्चायुर्न बध्नातीति। भवसिद्धिकद्वारे भवसिद्धिको यो वीतरागस्स न बध्नाति ज्ञानावरणं तदन्यस्तु भव्यो बध्नातीति भजनयेत्युक्तं, 'नोभवसिद्धिएनोअभवसिद्धिए'त्ति सिद्धः, स च न बध्नाति 'आउयं हेट्ठिल्ला दो भयणाए'त्ति भव्योऽभव्यश्चायुर्बन्धकाले बध्नीतः अन्यदा तु न बध्नीत इत्यतो भजनयेत्युक्तं 'उवरिल्ले ण'त्ति सिद्धो न बध्नाति। दर्शनद्वारे 'हेट्ठिल्ला तिन्नि भयणाए'त्ति चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनिनो यदि छद्मस्थवीतरागास्तदा न ज्ञानावरणं बध्नन्ति, वेदनीयस्यैव बन्धकत्वात् तेषां, सरागास्तु बध्नन्ति, अतो भजनयेत्युक्तं, 'उवरिल्ले ण बंधइ'त्ति केवलदर्शनी भवस्थः सिद्धो वा न बध्नाति, हेत्वभावात्। 'वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला तिन्नि बंधंति' आद्यास्त्रयो दर्शनिनः छद्मस्थवीतरागाः सरागाश्च वेदनीयं बध्नन्त्येव, 'केवलदंसणी भयणाए'त्ति केवलदर्शनी सयोगकेवली बध्नाति, अयोगकेवली सिद्धश्च न बध्नीयात्, अतो भजनयेयुक्तं। पर्याप्तकद्वारे 'पज्जत्तए भयणाए'त्ति पर्याप्तको वीतरागः सरागश्च, तत्र वीतरागो ज्ञानावरणं न बध्नाति, सरागस्तु

६ शतके १ उद्देश

॥८६॥

अत्र शतक-६ उद्देशक : ३ एव वर्तते, यत् मूल संपादने उद्देशक : १ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

बध्नीयादिति भजना, 'नो पज्जत्त०'त्ति सिद्धो न बध्नाति, 'आउगं हेट्ठिल्ला दो भयणाए'त्ति पर्याप्तकोऽपर्याप्तको वा आयुस्तद्बन्धकाले बध्नीतान्यदा नेति विकल्पः, 'उवरिल्ले'ति सिद्धो न बध्नाति। भाषकद्वारे 'दोन्नि भयणाए'त्ति भाषको–भाषालब्धिमान् तदन्यस्त्वभाषकः, तत्र भाषको वीतरागो ज्ञानावरणं न बध्नाति, सरागस्तु बध्नीयात्, अभाषकस्त्वयोगी सिद्धश्च न बध्नाति पृथिव्यादयो विग्रहगत्यापन्नाश्च बध्नन्तीति 'दोवि भयणाए' इत्युक्तं, वेयणिज्जं 'भासए बंधइ'त्ति सयोग्यवसानस्थापि भाषकस्य सद्वेदनीयबन्धकत्वात् 'अभासए भयणाए'त्ति अभाषकस्त्वयोगी सिद्धश्च न बध्नाति, पृथिव्यादिकस्तु बध्नातीति भजना। परीत्तद्वारे 'परित्ते भयणाए'त्ति परीत्तः–प्रत्येकशरीरोऽल्पसंसारो वा, स च वीतरागोऽपि स्यात्, न चासौ ज्ञानावरणीयं बध्नाति, सरागपरीत्तस्तु बध्नाति इति भजना, 'अपरित्ते बंधइ'त्ति अपरित्तः–साधारणकायोऽनन्तसंसारो वा, स च बध्नाति, 'नोपरित्ते नोअपरित्ते'त्ति सिद्धो न बध्नाति 'आउयं अपरित्तोऽवि भयणाए' प्रत्येकशरीरादिरायुर्बन्धकाल एव बध्नाति आयुः, न तु सर्वदा ततो भजनेति, सिद्धस्तु न बध्नात्येव, अत आह–'नो परित्ते' इत्यादि। ज्ञानद्वारे 'हेट्ठिल्ला चत्तारि भयणाए'त्ति आभिनिबोधिकज्ञानिप्रभृतयश्चत्वारो ज्ञानिनो ज्ञानावरणं वीतरागावस्थायां न बध्नन्ति सरागावस्थायां तु बध्नन्तीति भजना, 'वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला चत्तारि बंधंति' वीतरागाणामपि छद्मस्थानां वेदनीयस्य बन्धकत्वात्, 'केवलणाणी भयणाए'त्ति सयोगिकेवलिनां वेदनीयस्य बन्धनाद् अयोगिनां सिद्धानां चाबन्धनाद् भजनेति। योगद्वारे 'हेट्ठिल्ला तिन्नि भयणाए'त्ति मनोवाकाययोगिनो ये उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनस्ते ज्ञानावरणं न बध्नन्ति, तदन्ये तु बध्नन्तीति भजना, 'अयोगी न बंधइ'त्ति अयोगी–अयोगिकेवली सिद्धश्च न बध्नाति, 'वेयणिज्जं हेट्ठिल्ला बंधंति' मनोयोग्यादयो बध्नन्ति, सयोगानां वेदनीयस्य



श्रीभग० लघुवृत्तौ

बन्धकत्वात्, 'अजोगी ण बंधइ'त्ति अयोगिनः सर्वकर्मणामबन्धकत्वादिति। उपयोगद्वारे 'अट्ठसुवि भयणाए'त्ति साकारानाकारावुपयोगौ सयोगानामयोगानां च स्यातां, तत्र सयोगा ज्ञानावरणादिप्रकृतीर्यथायोगं बध्नन्ति अयोगास्तु नेति भजना। आहारकद्वारे 'दोऽवि भयणाए'त्ति आहारको वीतरागोऽपि स्यात्, न चासौ ज्ञानावरणं बध्नाति, सरागस्तु बध्नाति, इति भजनया आहारको बध्नाति, तथा अनाहारकः केवली विग्रहगत्यापन्नश्च स्यात्, तत्र केवली न बध्नाति, इतरस्तु बध्नाति, इत्यनाहारको भजनया उक्तः, 'वेयणिज्जं आहारए बंधइ'त्ति अयोगवर्जानां सर्वेषां वेदनीयस्य बन्धकत्वात्, 'अणाहारए भयणाए'त्ति अनाहारको विग्रहगत्यापन्नः समुद्घातगतकेवली च बध्नाति, अयोगी सिद्धश्च न बध्नाति इति भजना, 'आउयं आहारए भयणाए'त्ति आयुर्बन्धकाल एवायुषो बन्धनात् अन्यदा त्वबन्धनात् भजनेति,'अणाहारए ण बंधइ'त्ति विग्रहगत्यापन्नानामप्यायुषोऽबन्धनादिति। सूक्ष्मद्वारे 'बायरे भयणा' वीतरागबादराणां ज्ञानावरणाबन्धकत्वात् सरागबादराणां च बन्धकत्वात् तद्भजनेति, सिद्धस्य पुनरबन्धकत्वादाह–'नो सुहुमे'इत्यादि, 'आउए सुहुमे बायरे भयणाए'त्ति बन्धकाले बन्धनादन्यदा त्वबन्धनात् भजनेति। चरमद्वारे 'अट्ठऽविह भयणाए'त्ति इह यस्य चरमो भवो भविष्यति स चरमः, यस्य तु नासौ भविष्यत्यसौ अचरमः, सिद्धश्चाचरमः, तस्य चरमभवाभावात्, तत्र चरमो यथायोगमष्टापि बध्नाति, अयोगित्वे तु नेत्येवं भजना, अचरमस्तु संसारी अष्टापि बध्नीयात्, सिद्धस्तु नेत्येवं भजनेति। अथाल्पबहुत्वद्वारं तत्र–'इत्थिवेयगा संखेज्जगुण'त्ति (सू. २३७) यतो देवनरतिर्यक्पुरुषेभ्यः स्त्रियः क्रमशो द्वात्रिंशत्सप्तविंशतित्रिरूपाधिकाः स्युरिति, 'अवेयगा अणंतगुण'त्ति अनिवृत्तिबादरसम्परायादयः सिद्धाश्चावेदाः अतस्तेऽनन्तत्वात् स्त्रीवेदेभ्योऽनन्तगुणाः स्युरिति, नपुंसगवेयगा 'अणंतगुण'त्ति अनन्तकायिकानां सिद्धे-

६ शतके ३ उद्देशः

॥८७॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

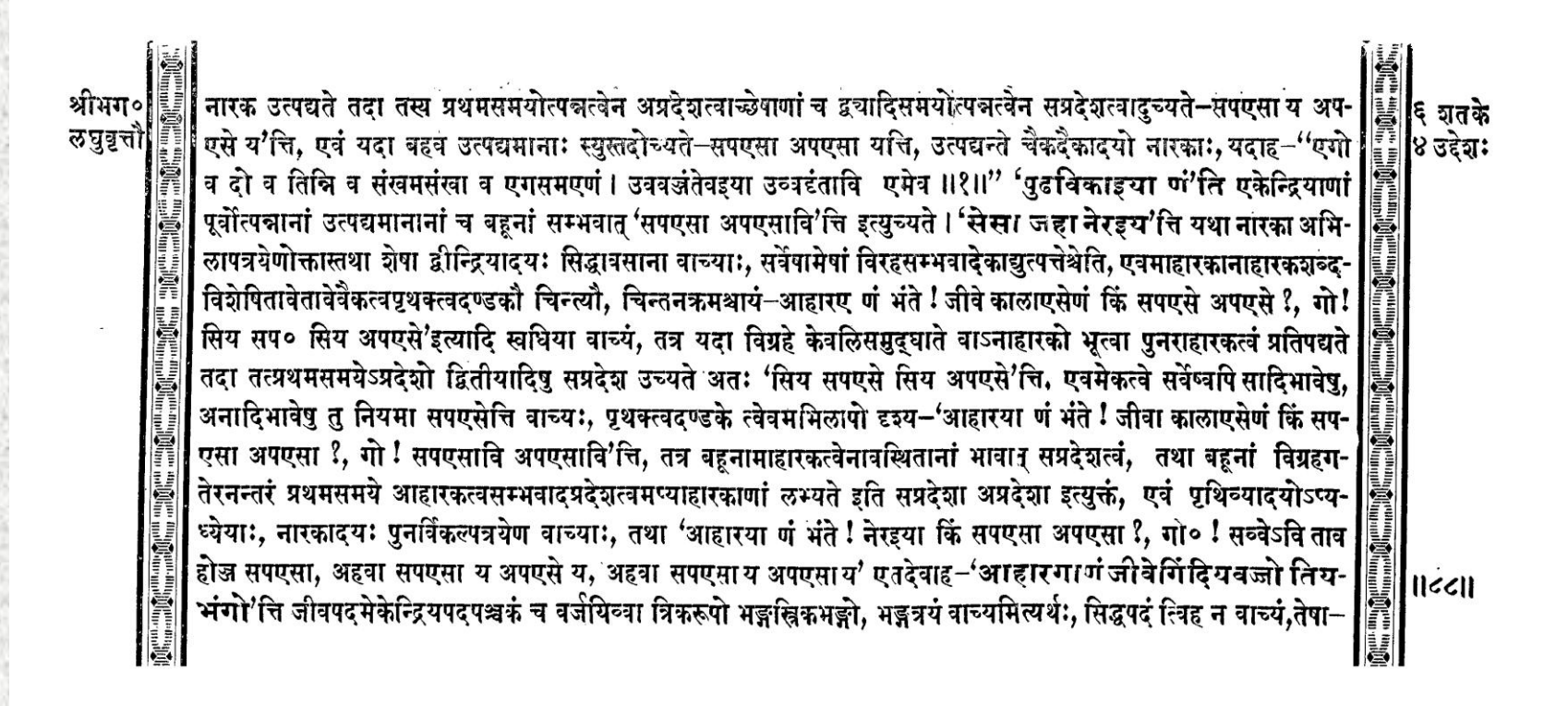
प्रत सूत्रांक [२३२-२३७]

दीप अनुक्रम [२८०-२८५]

भ्योऽनन्तगुणानामिह गणनादिति, 'एएसिं सव्वेसिं'ति एतेषां पूर्वोक्तानां संयतादीनां चतुर्दशद्वाराणां तद्गतभेदापेक्षया अल्पबहुत्वमुच्चारयितव्यं, तद्यथा–एएसि णं भंते ! संजयाणं असंजयाणं संजयासंजयाणं नोसंजयनोअसंजयनोसंजयासंजयाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा संजया संजयासंजया असंखेज्जगुणा नोसंजयानोअसंजयानोसंजयासंजया अणंतगुणा'इत्यादि प्रज्ञापनानुसारेण वाच्यं, यावच्चरमाद्यल्पबहुत्वं, एतदेवाह 'सव्वत्थोवा जीवा अचरिमे'त्यादि, अत्राचरिमा अभव्याः, चरमाश्च ये भव्याश्चरमभवं प्राप्स्यंति, सेत्स्यन्तीत्यर्थः, ते चाचरमेभ्योऽनन्तगुणाः, यस्मादभव्येभ्यः सिद्धा अनन्तगुणा भणिताः, यावन्तश्च सिद्धास्तावन्त एव चरमाः, यस्माद्यावन्तस्सिद्धा अतीताद्धायां तावन्त एव सेत्स्यन्त्यनागताद्धायामिति ॥ **षष्ठशते तृतीयोद्देशकविवरणम् ॥**

अनन्तरोद्देशके जीवा निरूपिताः, तानेव भङ्गान्तरेण चतुर्थोद्देशकेऽपि निरूपयन्नाह–'**जीवे ण**'मित्यादि (सू.२३८) '**कालाएसेणं**'ति कालप्रकारेण कालमाश्रित्येत्यर्थः,'**सपएसे**'त्ति सविभागः '**नियमा सपएस**'त्ति अनादित्वेन जीवस्यानन्तसमयस्थितिकत्वात् सप्रदेशता, यो ह्येकसमयस्थितिकः सोऽप्रदेशः द्व्यादिसमयस्थितिकस्तु सप्रदेशः, इह चानया गाथया भावना कार्या,'जो जस्स पढमसमए वट्टइ भावस्स सो य अपएसो। अन्नंमि वट्टमाणे कालाएसेण सपएसो (सू.२३८) ॥१॥ नारकस्तु यः प्रथमसमयोत्पन्नः सोऽप्रदेशः द्व्यादिसमयोत्पन्नः स सप्रदेशः अत उक्तम्–'**सिय सपएसे सिय अपएसे**' एष एकत्वेन जीवादिः सिद्धावसानः षड्विंशतिदण्डकः कालसप्रदेशत्वादिना चिन्तितो, अथायमेव तथैव पृथक्त्वेन चिन्त्यते 'सव्वेऽवि ताव होज्ज सपएस'त्ति उपपातविरहकाले असङ्ख्यातानां पूर्वोत्पन्नानां भावात् सप्रदेशाः सर्वेऽपि भवेयुः, तथा पूर्वोत्पन्नेषु मध्ये यदैकोऽन्यो

अथ **शतक-६ उद्देशक** : ३ समाप्तः, अथ **शतक-६ उद्देशक** : ४ आरब्धः



श्रीभग० लघुवृत्तौ

नारक उत्पद्यते तदा तस्य प्रथमसमयोत्पन्नत्वेन अप्रदेशत्वाच्छेषाणां च द्व्यादिसमयोत्पन्नत्वेन सप्रदेशत्वादुच्यते–सपएसा य अपएसे य'त्ति, एवं यदा बहव उत्पद्यमानाः स्युस्तदोच्यते–सपएसा अपएसा यत्ति, उत्पद्यन्ते चैकदैकादयो नारकाः, यदाह–"एगो व दो व तिन्नि व संखमसंखा व एगसमएणं। उववज्जंतेवइया उव्वट्टंतावि एमेव ॥१॥" 'पुढविकाइया णं'ति एकेन्द्रियाणां पूर्वोत्पन्नानां उत्पद्यमानानां च बहूनां सम्भवात् 'सपएसा अपएसावि'त्ति इत्युच्यते। 'सेसा जहा नेरइय'त्ति यथा नारका अभिलापत्रयेणोक्तास्तथा शेषा द्वीन्द्रियादयः सिद्धावसाना वाच्याः, सर्वेषामेषां विरहसम्भवादेकाद्युत्पत्तेश्चेति, एवमाहारकानाहारकशब्दविशेषितावेतावेवैकत्वपृथक्त्वदण्डकौ चिन्त्यौ, चिन्तनक्रमश्चायं–आहारए णं भंते ! जीवे कालाएसेणं किं सपएसे अपएसे ?, गो! सिय सप० सिय अपएसे'इत्यादि स्वधिया वाच्यं, तत्र यदा विग्रहे केवलिसमुद्घाते वाऽनाहारको भूत्वा पुनराहारकत्वं प्रतिपद्यते तदा तत्प्रथमसमयेऽप्रदेशो द्वितीयादिषु सप्रदेश उच्यते अतः 'सिय सपएसे सिय अपएसे'त्ति, एवमेकत्वे सर्वेष्वपि सादिभावेषु, अनादिभावेषु तु नियमा सपएसेत्ति वाच्यः, पृथक्त्वदण्डके त्वेवमभिलापो दृश्य–'आहारया णं भंते ! जीवा कालाएसेणं किं सपएसा अपएसा ?, गो ! सपएसावि अपएसावि'त्ति, तत्र बहूनामाहारकत्वेनावस्थितानां भावात् सप्रदेशत्वं, तथा बहूनां विग्रहगतेरनन्तरं प्रथमसमये आहारकत्वसम्भवादप्रदेशत्वमप्याहारकाणां लभ्यते इति सप्रदेशा अप्रदेशा इत्युक्तं, एवं पृथिव्यादयोऽप्यध्येयाः, नारकादयः पुनर्विकल्पत्रयेण वाच्याः, तथा 'आहारया णं भंते ! नेरइया किं सपएसा अपएसा ?, गो० ! सव्वेऽवि ताव होज्ज सपएसा, अहवा सपएसा य अपएसे य, अहवा सपएसा य अपएसा य' एतदेवाह–'आहारगाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो'त्ति जीवपदमेकेन्द्रियपदपञ्चकं च वर्जयित्वा त्रिकरूपो भङ्गस्त्रिकभङ्गो, भङ्गत्रयं वाच्यमित्यर्थः, सिद्धपदं त्विह न वाच्यं,तेषा–

६ शतके ४ उद्देशः

॥८८॥

मनाहारकत्वात्, अनाहारकदण्डकद्वयमप्येवमनुसरणीयं, तच्चानाहारको विग्रहगत्यापन्नः समुद्घातगतकेवली अयोगी सिद्धो वा स्यात्, स चानाहारकत्वप्रथमसमयेऽप्रदेशः, द्वितीयादिषु तु सप्रदेशस्तेन स्यात् सप्रदेश इत्याद्युच्यते, पृथक्त्वदण्डके विशेषमाह–'अणाहारगा णं'ति जीवानेकेन्द्रियांश्च वर्जयन्तीति जीवैकेन्द्रियवर्जाः, तान् वर्जयित्वेत्यर्थः, जीवपदे एकेन्द्रियपदे च सप्तएसा अपएसा इत्येवमेक एव भङ्गः, बहूनां विग्रहगत्यापन्नानां सप्रदेशानामप्रदेशानां च लाभात्, नारकादीनां द्वीन्द्रियादीनां चाल्पतराणामुत्पादः, तत्र चैकद्वयादीनामनाहारकाणां भावात् षड्भङ्गिकासम्भवः, तत्र द्वौ बहुवचनान्तौ अन्ये तु चत्वार एकवचनबहुवचनसंयोगात्, केवलैकवचनभङ्गकाविह न स्तः, पृथक्त्वस्याधिकृतत्वादिति, 'सिद्धेहिं तियभंगो'त्ति सप्रदेशपदस्य बहुवचनान्तस्यैव सम्भवात्, 'भवसिद्धिय अभवसिद्धिय जहा ओहिय'त्ति, अयमर्थः औधिकदण्डकवदेषां प्रत्येकं दण्डकद्वयं, तत्र अभव्यो भव्यो वा जीवो नियमात् सप्रदेशः, नारकादिस्तु सप्रदेशोऽप्रदेशो वा, बहवस्तु जीवाः सप्रदेशा एव, नारकाद्यास्तु त्रिभङ्गवन्तः, एकेन्द्रियास्तु सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येकभङ्गा एवेति, सिद्धपदमिह न वाच्यं, सिद्धानां भव्याभव्यविशेषणानुपपत्तेरिति, 'नोभवसिद्धियनोअभवसिद्धिय'त्ति एतद्विशेषणं जीवादिदण्डकद्वयमध्येयम्, तत्रायमभिलापः—नोभवसिद्धिएनोअभवसिद्धिए णं भंते! जीवे सपएसे अपएसे? इत्यादि, एवं पृथक्त्वदण्डकोऽपि, केवलमिह जीवपदं सिद्धपदं चेति द्वयमेव, नारकादिपदानां तु नोभव्य० विशेषणस्यानुपपत्तेरिति, इह च पृथक्त्वदण्डके पूर्वोक्तं भङ्गत्रयमेव वाच्यं, अत आह–'जीवसिद्धेहिं तियभंगो'त्ति संज्ञिषु यौ दण्डकौ तयोर्द्वितीयदण्डके जीवादिपदेषु भङ्गत्रयं स्याद् अत आह–'सन्नीहिं'ति तत्र संज्ञिनो जीवाः कालतः सप्रदेशाः स्युश्चिरोत्पन्नानपेक्ष्य, उत्पादविरहानन्तरं चैकस्योत्पत्तौ तत्प्राथम्ये सप्रदेशाश्चाप्रदेशश्चेति स्यात्, बहूनामुत्पत्ति-

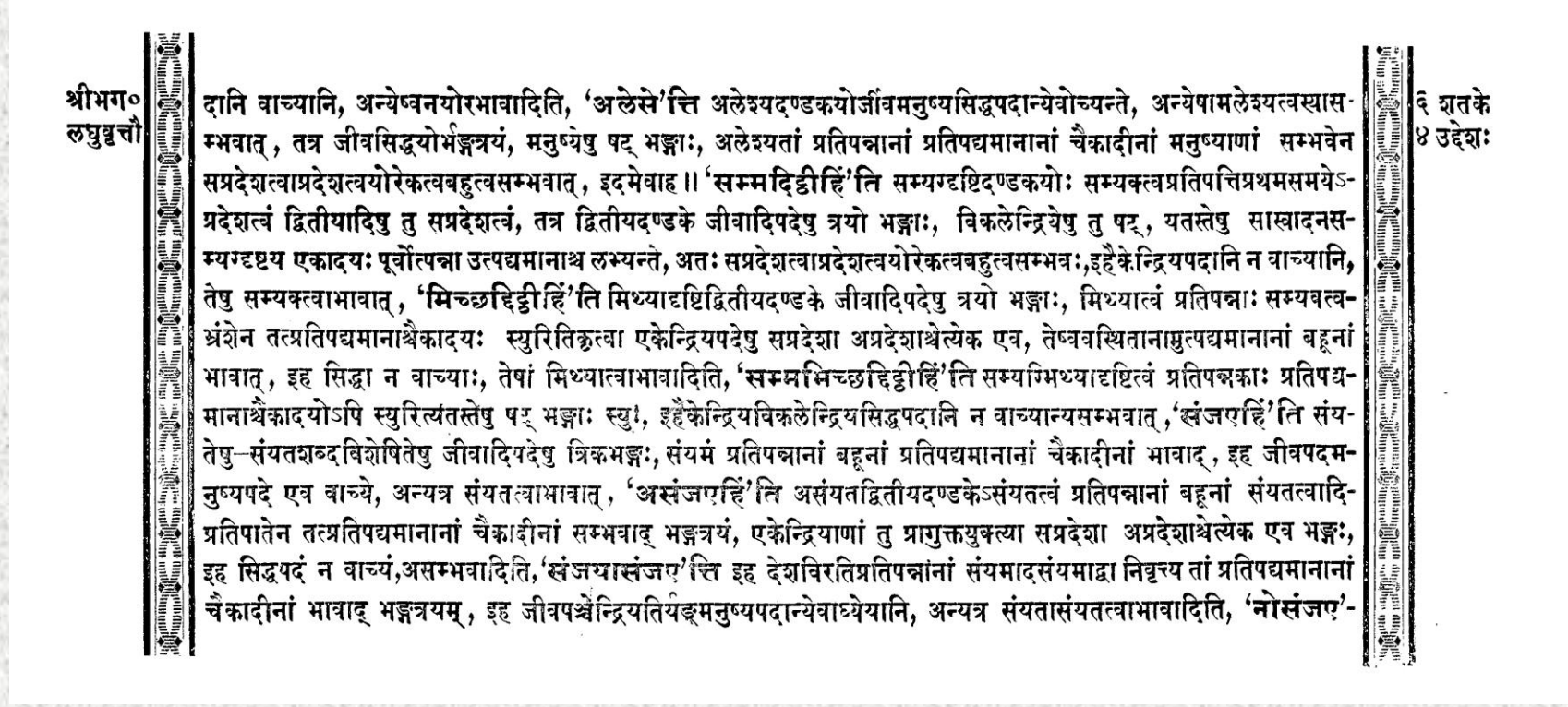
प्रत सूत्रांक [२३८-२३९] + गाथा: दीप अनुक्रम [२८६-२९०]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

६ शतके ४ उद्देशः

प्राथम्ये तु सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेति स्यात्, तदेवं भङ्गत्रयमिति, एवं सर्वपदेषु, केवलमेतयोर्दण्डयोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियसिद्धपदानि न वाच्यानि, तेषु संज्ञिविशेषणस्यासम्भवादिति, **'असण्णीहिं'त्ति** असंज्ञिषु असंज्ञिविषये द्वितीयदण्डके पृथिव्यादिपदेषु हि सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव, सदा बहूनामुत्पादात् तेषां अप्रदेशबहुत्वस्यापि सम्भवात्, नैरयिकादीनां व्यन्तरान्तानां संज्ञिनामप्यसंज्ञिभ्य उत्पादाद्भूतभावतया अवसेयं, तथा नैरयिकादिष्वपि असंज्ञित्वस्य कादाचित्कत्वेनैकत्वबहुत्वसम्भवात् षड् भङ्गाः स्युः, ते च दर्शिता एव, एतदेवाह–**'नेरइयदेवमणुएहिं'**इत्यादि, ज्योतिष्कवैमानिकसिद्धास्तु न वाच्याः, तेषामसंज्ञित्वस्यासम्भवात्, तथा **'नोसण्णिणो'त्ति** नोसंज्ञिनोनोअसंज्ञिनश्च नोसंज्ञिनो असंज्ञिविशेषणदण्डकयोर्द्वितीयदण्डके जीवमनुजसिद्धपदेषूक्तरूपं भङ्गत्रयं स्यात्, तेषु बहूनामवस्थितानां लाभात्, उत्पद्यमानानां चैकादीनां सम्भवादिति, एतयोर्दण्डकयोर्जीवमनुजसिद्धपदान्येव स्युः, नारकादिपदनां नोसंज्ञिनोअसंज्ञि इति विशेषणाघटनात्। **'सलेसे'त्ति** सलेश्यदण्डकद्वये औधिकदण्डकवज्जीवनारकादयो वाच्याः, सलेश्यतायां जीवत्ववदनादित्वेन विशेषानुत्पादकत्वात्, केवलं सिद्धपदं नाधीयते, सिद्धानामलेश्यत्वात्, **'किण्हनील'त्ति** कृष्णनीलकापोतलेश्याश्च जीवनारकादयः प्रत्येकं दण्डकद्वयेन आहारकजीवादिवदुपयुज्य वाच्याः, केवलं यस्य जीवनारकादेरेतास्सन्ति स एव वाच्यः, एताश्च ज्योतिष्कवैमानिकानां न स्युः, सिद्धानां तु सर्वा न स्युः, **'तेउलेसाए'त्ति** तेजोलेश्याद्वितीयदण्डके जीवादिपदेषु त एव त्रयो भङ्गाः, **'पुढवि'त्ति** पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु षड् भङ्गाः, यत्तेषु तेजोलेश्याया एकादयो देवाः पूर्वोत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च लभ्यन्ते, इति सप्रदेशानामप्रदेशानां चैकत्वबहुत्वसम्भवः, इह नारकतेजोवायुविकलेन्द्रियसिद्धपदानि न वाच्यानि, तेजोलेश्याया अभावात्, **'पम्हलेसाए'त्ति** पद्मशुक्ललेश्ययोर्द्वितीयदण्डके जीवादिषु पदेषु त एव त्रयो भङ्गाः, इह पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यवैमानिकप-

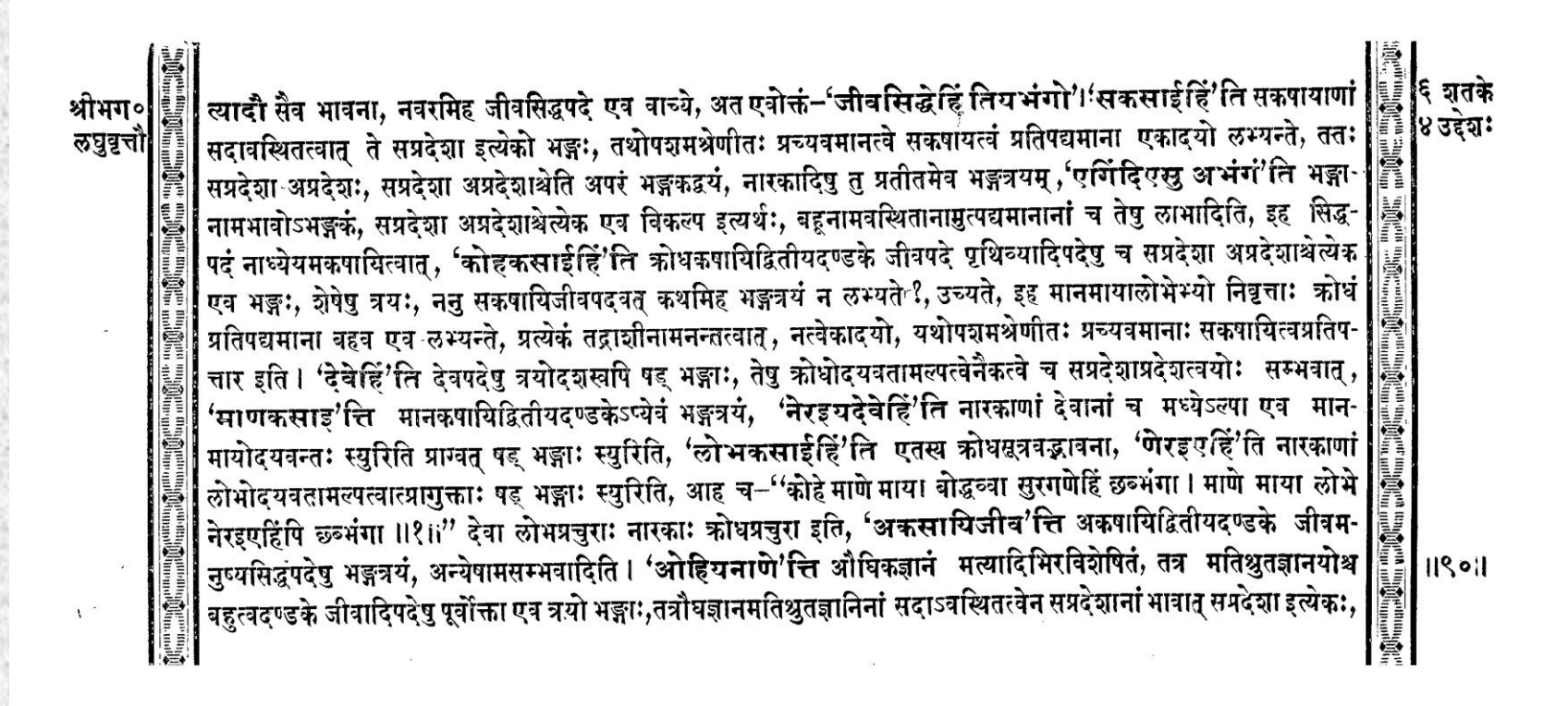
॥८९॥



श्रीभग० लघुवृत्तौ

दानि वाच्यानि, अन्येष्वनयोरभावादिति, 'अलेसे'त्ति अलेश्यदण्डकयोर्जीवमनुष्यसिद्धपदान्येवोच्यन्ते, अन्येषामलेश्यत्वस्यास-म्भवात्, तत्र जीवसिद्धयोर्भङ्गत्रयं, मनुष्येषु षट् भङ्गाः, अलेश्यतां प्रतिपन्नानां प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां मनुष्याणां सम्भवेन सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वयोरेकत्वबहुत्वसम्भवात्, इदमेवाह ॥ 'सम्मदिट्ठीहिं'ति सम्यग्दृष्टिदण्डकयोः सम्यक्त्वप्रतिपत्तिप्रथमसमयेऽ-प्रदेशत्वं द्वितीयादिषु तु सप्रदेशत्वं, तत्र द्वितीयदण्डके जीवादिपदेषु त्रयो भङ्गाः, विकलेन्द्रियेषु तु षट्, यतस्तेषु सास्वादनस-म्यग्दृष्टय एकादयः पूर्वोत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च लभ्यन्ते, अतः सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वयोरेकत्वबहुत्वसम्भवः,इहैकेन्द्रियपदानि न वाच्यानि, तेषु सम्यक्त्वाभावात्, 'मिच्छदिट्ठीहिं'ति मिथ्यादृष्टिद्वितीयदण्डके जीवादिपदेषु त्रयो भङ्गाः, मिथ्यात्वं प्रतिपन्नाः सम्यक्त्व-भ्रंशेन तत्प्रतिपद्यमानाश्चैकादयः स्युरितिकृत्वा एकेन्द्रियपदेषु सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव, तेष्ववस्थितानामुत्पद्यमानानां बहूनां भावात्, इह सिद्धा न वाच्याः, तेषां मिथ्यात्वाभावादिति, 'सम्मामिच्छदिट्ठीहिं'ति सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वं प्रतिपन्नकाः प्रतिपद्य-मानाश्चैकादयोऽपि स्युरित्यतस्तेषु षट् भङ्गाः स्युः, इहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियसिद्धपदानि न वाच्यान्यसम्भवात्,'संजएहिं'ति संय-तेषु—संयतशब्दविशेषितेषु जीवादिपदेषु त्रिकभङ्गः, संयमं प्रतिपन्नानां बहूनां प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां भावाद्, इह जीवपदम-नुष्यपदे एव वाच्ये, अन्यत्र संयतत्वाभावात्, 'असंजएहिं'ति असंयतद्वितीयदण्डकेऽसंयतत्वं प्रतिपन्नानां बहूनां संयतत्वादि-प्रतिपातेन तत्प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां सम्भवाद् भङ्गत्रयं, एकेन्द्रियाणां तु प्रागुक्तयुक्त्या सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्गः, इह सिद्धपदं न वाच्यं,असम्भवादिति,'संजयासंजए'त्ति इह देशविरतिप्रतिपन्नानां संयमादसंयमाद्वा निवृत्त्य तां प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां भावाद् भङ्गत्रयम्, इह जीवपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यपदान्येवाध्येयानि, अन्यत्र संयतासंयतत्वाभावादिति, 'नोसंजए'-

६ शतके ४ उद्देशः



श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्यादौ सैव भावना, नवरमिह जीवसिद्धपदे एव वाच्ये, अत एवोक्तं–'जीवसिद्धेहिं तियभंगो'।'सकसाईहिं'ति सकषायाणां सदावस्थितत्वात् ते सप्रदेशा इत्येको भङ्गः, तथोपशमश्रेणीतः प्रच्यवमानत्वे सकषायत्वं प्रतिपद्यमाना एकादयो लभ्यन्ते, ततः सप्रदेशा अप्रदेशः, सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेति अपरं भङ्गकद्वयं, नारकादिषु तु प्रतीतमेव भङ्गत्रयम्,'एगिंदिएसु अभंगं'ति भङ्गानामभावोऽभङ्गकं, सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव विकल्प इत्यर्थः, बहूनामवस्थितानामुत्पद्यमानानां च तेषु लाभादिति, इह सिद्धपदं नाध्येयमकषायित्वात्, 'कोहकसाईहिं'ति क्रोधकषायिद्वितीयदण्डके जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्गः, शेषेषु त्रयः, ननु सकषायिजीवपदवत् कथमिह भङ्गत्रयं न लभ्यते?, उच्यते, इह मानमायालोभेभ्यो निवृत्ताः क्रोधं प्रतिपद्यमाना बहव एव लभ्यन्ते, प्रत्येकं तद्राशीनामनन्तत्वात्, नत्वेकादयो, यथोपशमश्रेणीतः प्रच्यवमानाः सकषायित्वप्रतिपत्तार इति। 'देवेहिं'ति देवपदेषु त्रयोदशस्वपि षड् भङ्गाः, तेषु क्रोधोदयवतामल्पत्वेनैकत्वे च सप्रदेशाप्रदेशत्वयोः सम्भवात्, 'माणकसाइ'त्ति मानकषायिद्वितीयदण्डकेऽप्येवं भङ्गत्रयं, 'नेरइयदेवेहिं'ति नारकाणां देवानां च मध्येऽल्पा एव मानमायोदयवन्तः स्युरिति प्राग्वत् षड् भङ्गाः स्युरिति, 'लोभकसाईहिं'ति एतस्य क्रोधसूत्रवद्भावना, 'णेरइएहिं'ति नारकाणां लोभोदयवतामल्पत्वात्प्रागुक्ताः षड् भङ्गाः स्युरिति, आह च–"कोहे माणे माया बोद्धव्वा सुरगणेहिं छब्भंगा। माणे माया लोभे नेरइएहिंपि छब्भंगा ॥१॥" देवा लोभप्रचुराः नारकाः क्रोधप्रचुरा इति, 'अकसायिजीव'त्ति अकषायिद्वितीयदण्डके जीवमनुष्यसिद्धपदेषु भङ्गत्रयं, अन्येषामसम्भवादिति। 'ओहियनाणे'त्ति औधिकज्ञानं मत्यादिभिरविशेषितं, तत्र मतिश्रुतज्ञानयोश्च बहुत्वदण्डके जीवादिपदेषु पूर्वोक्ता एव त्रयो भङ्गाः,तत्रौघज्ञानमतिश्रुतज्ञानिनां सदाऽवस्थितत्वेन सप्रदेशानां भावात् सप्रदेशा इत्येकः,

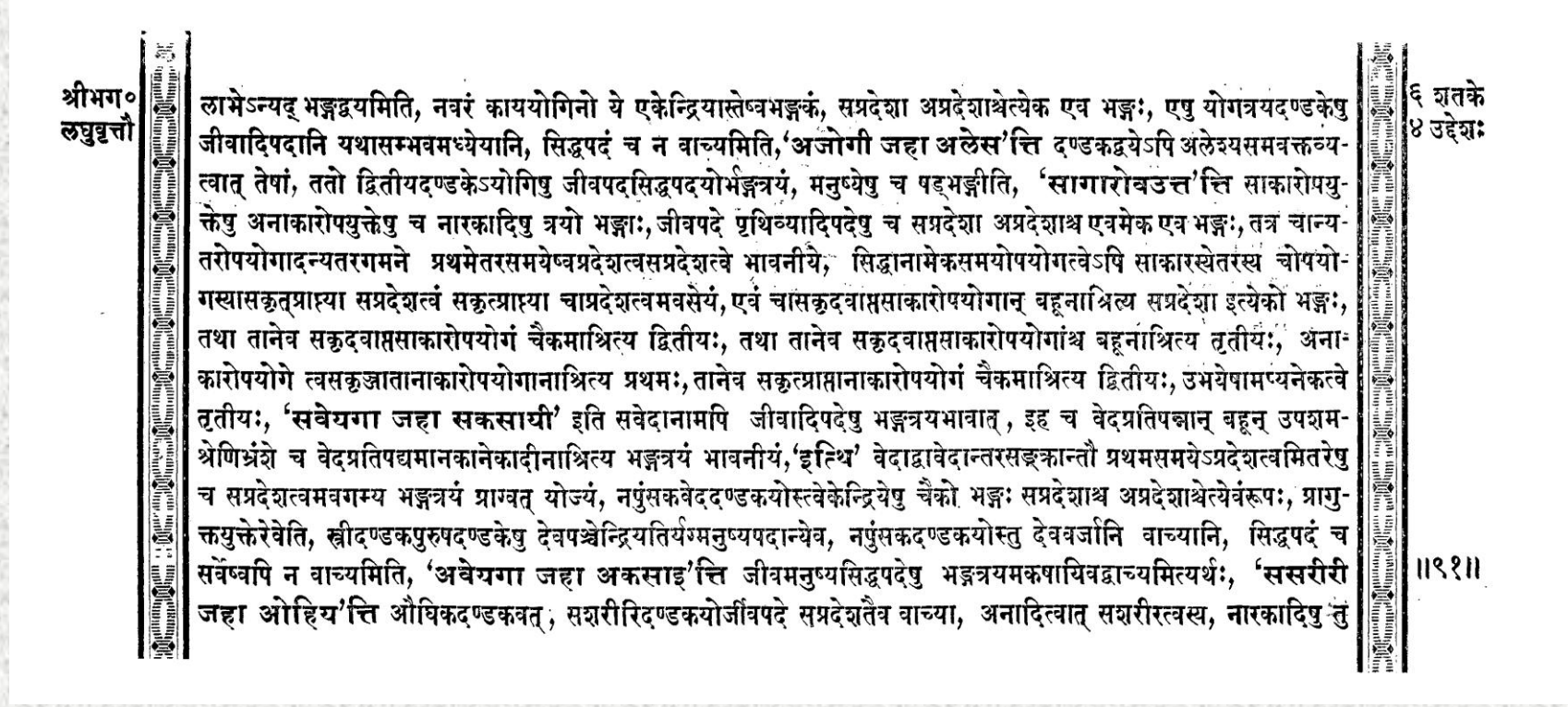
६ शतके ४ उद्देशः

॥९०॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२३८-२३९] + गाथा: दीप अनुक्रम [२८६-२९०]

तथा मिथ्याज्ञानमात्रान्मत्यादिज्ञानमात्रं मत्यज्ञानान्मतिज्ञानं श्रुताज्ञानात् श्रुतज्ञानं प्रतिपद्यमानानामेकादीनां लाभात् सप्रदेशा अप्रदेशश्च, तथा सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेति द्वितीयः, इत्येवं त्रयमपि, **'वियलिंदिएहिं छब्भंग'त्ति** द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु सास्वादनसम्यक्त्वसम्भवेनाभिनिबोधिकादिज्ञानिनामेकादीनां सम्भवात् त एव षड् भङ्गाः, इह यथायोगं पृथिव्यादयः सिद्धाश्च न वाच्याः असम्भवादिति, **'ओहिणाणे मण'त्ति** एवमवध्यादिषु भङ्गत्रयभावना, केवलमवधिदण्डकयोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः सिद्धाश्च न वाच्याः, मनःपर्यायदण्डकयोश्च जीवा मनुष्याश्च वाच्याः, केवलज्ञानदण्डकयोर्जीवमनुष्यसिद्धा वाच्याः, अत एव वाचनान्तरे दृश्यते **'विन्नेयं जस्स जं अत्थि'त्ति**, **'ओहिए अण्णाणे'त्ति** सामान्येऽज्ञाने मत्यज्ञानादिभिरविशेषिते मत्यज्ञाने श्रुताज्ञाने च जीवादिषु त्रिभङ्गी स्यात्, एते हि सदावस्थितत्वात् सप्रदेशा इत्येकः, यदा तु तदन्ये ज्ञानं विमुच्य मत्यज्ञानादितया परिणमन्ति तदैकादिसम्भवेन सप्रदेशा अप्रदेशः सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेति भङ्गद्वयमित्येवं भङ्गत्रयमपि, पृथिव्यादिषु तु सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव, अत आह—**'एगिंदियवज्जो तियभंगो'त्ति** इह भङ्गत्रये सिद्धा न वाच्याः, विभङ्गे तु जीवादिषु भङ्गत्रयं, तद्भावना च मत्यज्ञानादिवत्, केवलमिहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः सिद्धाश्च न वाच्याः, **'सजोई जहा ओहिए'त्ति** सयोगी जीवादिदण्डकद्वयेऽपि तथा वाच्यः यथौधिको जीवादिः, स चैवम्—सयोगी जीवो नियमात्सप्रदेशो, नारकादिस्तु सप्रदेशोऽप्रदेशो वा, बहवस्तु जीवाः सप्रदेशा एव, नारकाद्यास्तु त्रिभङ्गवन्तः, एकेन्द्रियाः पुनस्तृतीयभङ्गा इति, इह सिद्धपदं नाध्येयं, **'मणजोइ'त्ति** मनोयोगिनो योगत्रयवन्तः, संज्ञिन इत्यर्थः, वाग्योगिन एकेन्द्रियवर्जाः, काययोगिनस्तु सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयः, एतेषु जीवादिकस्त्रिविधो भङ्गः, तद्भावना च मनोयोग्यादीनामवस्थितत्वे प्रथमः, अमनोयोगित्वादित्यागाच्च मनोयोगित्वाद्युत्पादेन अप्रदेशत्व-

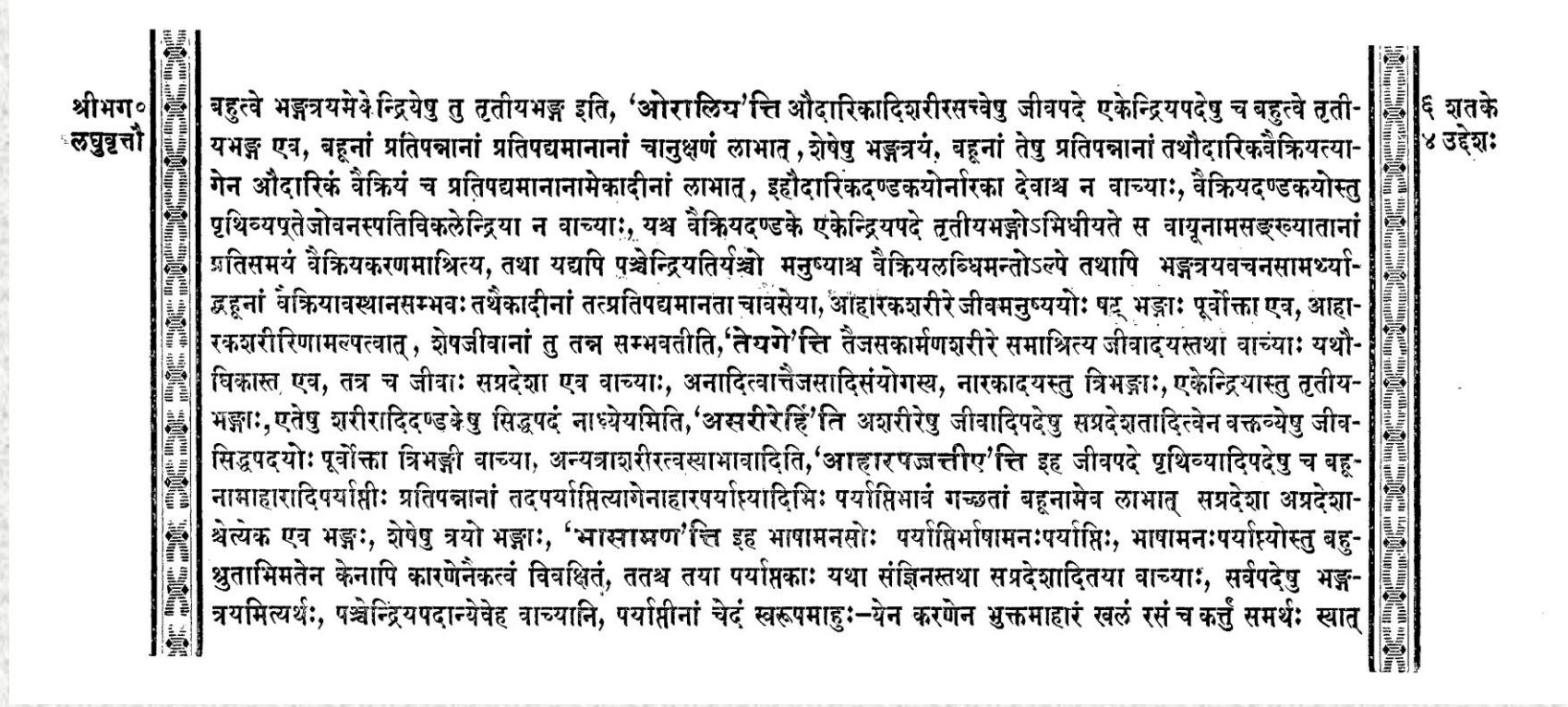


श्रीभग० लघुवृत्तौ

लाभेऽन्यद् भङ्गद्वयमिति, नवरं काययोगिनो ये एकेन्द्रियास्तेष्वभङ्गकं, सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्गः, एषु योगत्रयदण्डकेषु जीवादिपदानि यथासम्भवमध्येयानि, सिद्धपदं च न वाच्यमिति,'अजोगी जहा अलेस'त्ति दण्डकद्वयेऽपि अलेश्यसमवक्तव्यत्वात् तेषां, ततो द्वितीयदण्डकेऽयोगिषु जीवपदसिद्धपदयोर्भङ्गत्रयं, मनुष्येषु च षड्भङ्गीति, 'सागारोवउत्त'त्ति साकारोपयुक्तेषु अनाकारोपयुक्तेषु च नारकादिषु त्रयो भङ्गाः, जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च सप्रदेशा अप्रदेशाश्च एवमेक एव भङ्गः, तत्र चान्यतरोपयोगादन्यतरगमने प्रथमेतरसमयेष्वप्रदेशत्वसप्रदेशत्वे भावनीये, सिद्धानामेकसमयोपयोगत्वेऽपि साकारस्येतरस्य चोपयोगस्यासकृत्प्राप्त्या सप्रदेशत्वं सकृत्प्राप्त्या चाप्रदेशत्वमवसेयं, एवं चासकृदवाप्तसाकारोपयोगान् बहूनाश्रित्य सप्रदेशा इत्येको भङ्गः, तथा तानेव सकृदवाप्तसाकारोपयोगं चैकमाश्रित्य द्वितीयः, तथा तानेव सकृदवाप्तसाकारोपयोगांश्च बहूनाश्रित्य तृतीयः, अनाकारोपयोगे त्वसकृज्जातानाकारोपयोगानाश्रित्य प्रथमः, तानेव सकृत्प्राप्तानाकारोपयोगं चैकमाश्रित्य द्वितीयः, उभयेषामप्यनेकत्वे तृतीयः, 'सवेयगा जहा सकसायी' इति सवेदानामपि जीवादिपदेषु भङ्गत्रयभावात्, इह च वेदप्रतिपन्नान् बहून् उपशमश्रेणिश्रंशे च वेदप्रतिपद्यमानकानेकादीनाश्रित्य भङ्गत्रयं भावनीयं,'इत्थि' वेदाद्वावेदान्तरसङ्क्रान्तौ प्रथमसमयेऽप्रदेशत्वमितरेषु च सप्रदेशत्वमवगम्य भङ्गत्रयं प्राग्वत् योज्यं, नपुंसकवेददण्डकयोस्त्वेकेन्द्रियेषु चैको भङ्गः सप्रदेशाश्च अप्रदेशाश्चेत्येवंरूपः, प्रागुक्तयुक्तेरेवेति, स्त्रीदण्डकपुरुषदण्डकेषु देवपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यपदान्येव, नपुंसकदण्डकयोस्तु देववर्जानि वाच्यानि, सिद्धपदं च सर्वेष्वपि न वाच्यमिति, 'अवेयगा जहा अकसाइ'त्ति जीवमनुष्यसिद्धपदेषु भङ्गत्रयमकषायिवद्वाच्यमित्यर्थः, 'ससरीरी जहा ओहिय'त्ति औघिकदण्डकवत्, सशरीरिदण्डकयोर्जीवपदे सप्रदेशतैव वाच्या, अनादित्वात् सशरीरत्वस्य, नारकादिषु तु

६ शतके ४ उद्देशः

॥९१॥



श्रीभग० लघुवृत्तौ

बहुत्वे भङ्गत्रयमेकेन्द्रियेषु तु तृतीयभङ्ग इति, 'ओरालिय'त्ति औदारिकादिशरीरसत्त्वेषु जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च बहुत्वे तृतीयभङ्ग एव, बहूनां प्रतिपन्नानां प्रतिपद्यमानानां चानुक्षणं लाभात्, शेषेषु भङ्गत्रयं, बहूनां तेषु प्रतिपन्नानां तथौदारिकवैक्रियत्यागेन औदारिकं वैक्रियं च प्रतिपद्यमानानामेकादीनां लाभात्, इहौदारिकदण्डकयोर्नारका देवाश्च न वाच्याः, वैक्रियदण्डकयोस्तु पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिविकलेन्द्रिया न वाच्याः, यश्च वैक्रियदण्डके एकेन्द्रियपदे तृतीयभङ्गोऽभिधीयते स वायूनामसङ्ख्यातानां प्रतिसमयं वैक्रियकरणमाश्रित्य, तथा यद्यपि पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च वैक्रियलब्धिमन्तोऽल्पे तथापि भङ्गत्रयवचनसामर्थ्याद्बहूनां वैक्रियावस्थानसम्भवः तथैकादीनां तत्प्रतिपद्यमानता चावसेया, आहारकशरीरे जीवमनुष्ययोः षट् भङ्गाः पूर्वोक्ता एव, आहारकशरीरिणामल्पत्वात्, शेषजीवानां तु तन्न सम्भवतीति, 'तेयगे'त्ति तैजसकार्मणशरीरे समाश्रित्य जीवादयस्तथा वाच्याः यथौधिकास्त एव, तत्र च जीवाः सप्रदेशा एव वाच्याः, अनादित्वात्तैजसादिसंयोगस्य, नारकादयस्तु त्रिभङ्गाः, एकेन्द्रियास्तु तृतीयभङ्गाः, एतेषु शरीरादिदण्डकेषु सिद्धपदं नाध्येयमिति, 'असरीरेहिं'ति अशरीरेषु जीवादिपदेषु सप्रदेशतादित्वेन वक्तव्येषु जीवसिद्धपदयोः पूर्वोक्ता त्रिभङ्गी वाच्या, अन्यत्राशरीरत्वस्याभावादिति, 'आहारपज्जत्तीए'त्ति इह जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च बहूनामाहारादिपर्याप्तीः प्रतिपन्नानां तदपर्याप्तित्यागेनाहारपर्याप्त्यादिभिः पर्याप्तिभावं गच्छतां बहूनामेव लाभात् सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्गः, शेषेषु त्रयो भङ्गाः, 'भासामण'त्ति इह भाषामनसोः पर्याप्तिर्भाषामनःपर्याप्तिः, भाषामनःपर्याप्त्योस्तु बहुश्रुताभिमतेन केनापि कारणेनैकत्वं विवक्षितं, ततश्च तया पर्याप्तकाः यथा संज्ञिनस्तथा सप्रदेशादितया वाच्याः, सर्वपदेषु भङ्गत्रयमित्यर्थः, पञ्चेन्द्रियपदान्येवेह वाच्यानि, पर्याप्तीनां चेदं स्वरूपमाहुः—येन करणेन भुक्तमाहारं खलं रसं च कर्तुं समर्थः स्यात्

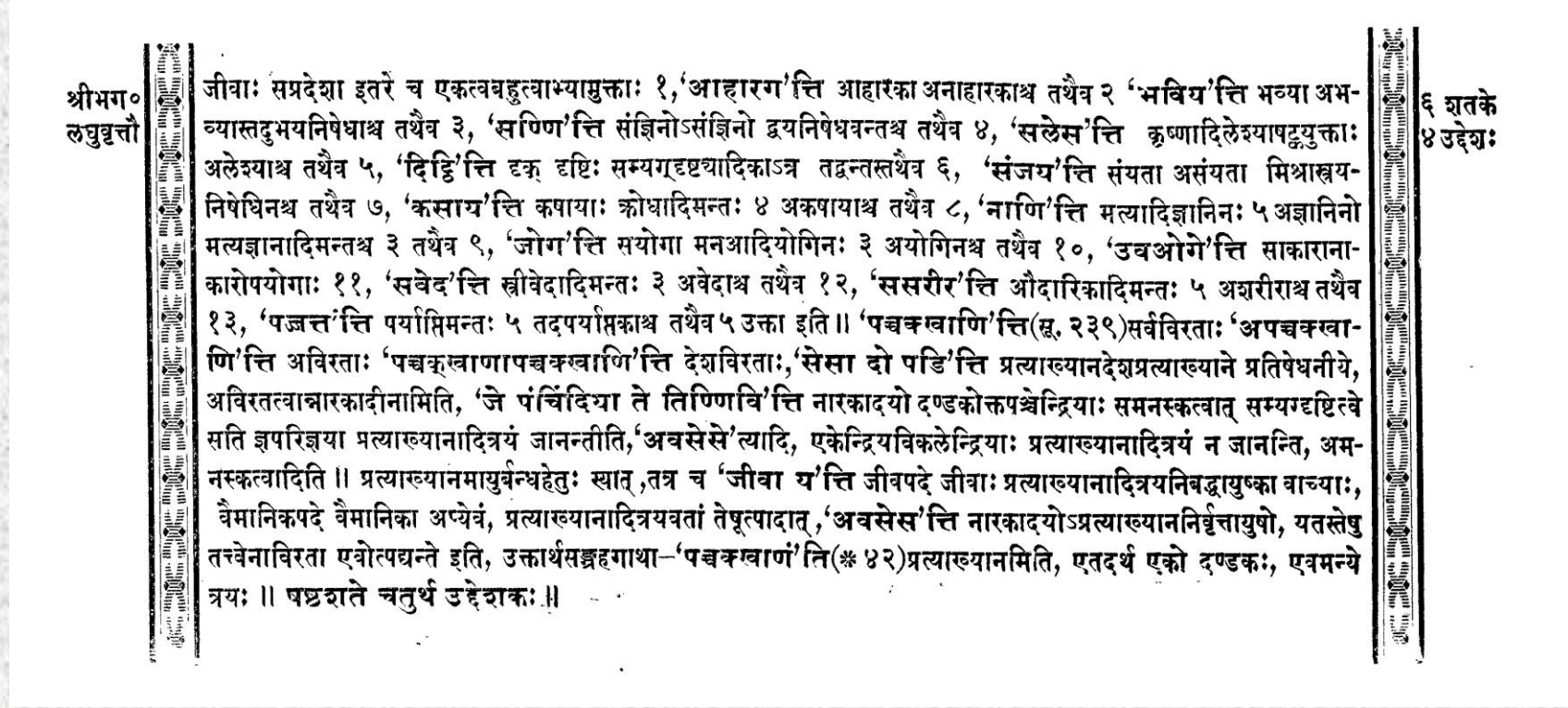
६ शतके ४ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तस्य करणस्य निष्पत्तिराहारपर्याप्तिः, करणं शक्तिरिति पर्यायौ, तथा शरीरपर्याप्तिर्नाम येन करणेन औदारिकवैक्रियाहारकशरीराणां योग्यद्रव्याणि गृहीत्वौदारिकादिभावेन परिणामयति, तस्य करणस्य निर्वृत्तिः शरीरपर्याप्तिरिति, तथा येन करणेनैकादीनामिन्द्रियाणां प्रायोग्यद्रव्याणि गृहीत्वाऽऽत्मीयान् विषयान् ज्ञातुं प्रभुः स्यात् तस्य करणस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः, तथा येन करणेनाऽऽनप्राणयोग्यानि द्रव्याण्यवलम्ब्यानप्राणतया निसृष्टुं समर्थः स्यात् तस्य करणस्य निर्वृत्तिरानप्राणपर्याप्तिः, तथा येन करणेन सत्यादिभाषयाः प्रायोग्यद्रव्याण्यवलम्ब्य चतुर्विधभाषया परिणमय्य भाषानिसर्जनप्रभुः स्यात् तस्य करणस्य निष्पत्तिर्भाषापर्याप्तिः, तथा येन करणेन चतुर्विधमनोयोग्यद्रव्याणि गृहीत्वा मनसः मननसमर्थः स्यात् तस्य करणस्य निष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिरिति, 'आहारपज्जत्तीए'त्ति इह जीवपदे पृथिव्यादिषु च सप्रदेशाश्चेत्येक एव भङ्गः, अनवरतं विग्रहगतिमतामाहारपर्याप्तिमतां बहूनां लाभात्, शेषेषु च षड् भङ्गाः पूर्वोक्ता एव, आहारपर्याप्तिमतामल्पत्वात्, **'सरीरअपज्जत्तीए'त्ति** इह जीवेष्वेकेन्द्रियेषु चैक एव भङ्गः, अन्यत्र तु त्रयं, शरीराद्यपर्याप्तकानां कालतः सप्रदेशानां सदैव लाभात्, अप्रदेशानां च कदाचिदेकादीनां लाभात्, नारकदेवमनुष्येषु च पडेवेति, **'भासामण'त्ति** भाषामनोऽपर्याप्त्या अपर्याप्तकादयस्ते येषां जातितो भाषामनोयोग्यत्वे सति तदसिद्धिः, ते च पञ्चेन्द्रिया एव, यदि पुनर्भाषामनसोरभावमात्रेण तदपर्याप्तका अभविष्यंस्तदैकेन्द्रिया अपि तेऽभविष्यन्, ततश्च **'जीवाइओ तियभंगो'त्ति** तत्र जीवेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु च बहूनां तदपर्याप्तिं प्रतिपन्नानां प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां लाभात् पूर्वोक्तमेव भङ्गत्रयं,**'नेरइयदेव'त्ति** नैरयिकादिषु मनोऽपर्याप्तकानामल्पतरत्वेन सप्रदेशाऽप्रदेशानामेकादीनां लाभात् एवं षड् भङ्गाः, एषु च पर्याप्त्यपर्याप्तिदण्डकेषु सिद्धपदं नाध्येयमसम्भवादिति, पूर्वोक्तद्वाराणां सङ्ग्रहगाथा-**'सपदेसाहारग'त्ति** (*४१) कालतो

६ शतके ४ उद्देशः

॥९२॥



श्रीभग० लघुवृत्तौ

जीवाः सप्रदेशा इतरे च एकत्वबहुत्वाभ्यामुक्ताः १,'आहारग'त्ति आहारका अनाहारकाश्च तथैव २ 'भविय'त्ति भव्या अभव्यास्तदुभयनिषेधाश्च तथैव ३, 'सण्णि'त्ति संज्ञिनोऽसंज्ञिनो द्वयनिषेधवन्तश्च तथैव ४, 'सलेस'त्ति कृष्णादिलेश्याषट्कयुक्ताः अलेश्याश्च तथैव ५, 'दिट्ठि'त्ति दृक् दृष्टिः सम्यग्दृष्ट्यादिकाऽत्र तद्वन्तस्तथैव ६, 'संजय'त्ति संयता असंयता मिश्राश्चय-निषेधिनश्च तथैव ७, 'कसाय'त्ति कषायाः क्रोधादिमन्तः ४ अकषायाश्च तथैव ८, 'नाणि'त्ति मत्यादिज्ञानिनः ५ अज्ञानिनो मत्यज्ञानादिमन्तश्च ३ तथैव ९, 'जोग'त्ति सयोगा मनआदियोगिनः ३ अयोगिनश्च तथैव १०, 'उवओगे'त्ति साकारानाकारोपयोगाः ११, 'सवेद'त्ति स्त्रीवेदादिमन्तः ३ अवेदाश्च तथैव १२, 'ससरीर'त्ति औदारिकादिमन्तः ५ अशरीराश्च तथैव १३, 'पज्जत्त'त्ति पर्याप्तिमन्तः ५ तदपर्याप्तकाश्च तथैव ५ उक्ता इति॥ 'पच्चक्खाणि'त्ति(सू. २३९)सर्वविरताः 'अपच्चक्खाणि'त्ति अविरताः 'पच्चक्खाणापच्चक्खाणि'त्ति देशविरताः,'सेसा दो पडि'त्ति प्रत्याख्यानदेशप्रत्याख्याने प्रतिषेधनीये, अविरतत्वान्नारकादीनामिति, 'जे पंचिंदिया ते तिण्णिवि'त्ति नारकादयो दण्डकोक्तपञ्चेन्द्रियाः समनस्कत्वात् सम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानादित्रयं जानन्तीति,'अवसेसे'त्यादि, एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः प्रत्याख्यानादित्रयं न जानन्ति, अमनस्कत्वादिति॥ प्रत्याख्यानमायुर्बन्धहेतुः स्यात्,तत्र च 'जीवा य'त्ति जीवपदे जीवाः प्रत्याख्यानादित्रयनिबद्धायुष्का वाच्याः, वैमानिकपदे वैमानिका अप्येवं, प्रत्याख्यानादित्रयवतां तेषूत्पादात्,'अवसेस'त्ति नारकादयोऽप्रत्याख्याननिर्वृत्तायुषो, यतस्तेषु तत्त्वेनाविरता एवोत्पद्यन्ते इति, उक्तार्थसङ्ग्रहगाथा–'पच्चक्खाणं'ति(※ ४२)प्रत्याख्यानमिति, एतदर्थ एको दण्डकः, एवमन्ये त्रयः॥ षष्ठशते चतुर्थ उद्देशकः॥

६ शतके ४ उद्देशः

अथ **शतक-६ उद्देशक** : ४ समाप्तः,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२४०-२४३] + गाथा: दीप अनुक्रम [२९१-२९९]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'तमुकाए'त्ति (सू. २४०) तमसां–तमिश्रपुद्गलानां कायो–राशिस्तमस्कायः, स च नियत एवेह स्कन्धः कश्चिद्विवक्षितः, स च तादृशः पृथ्वीरजःस्कन्धो वा उदकरजःस्कन्धो वा, नत्वन्यः, तदन्यस्यातादृशत्वादिति, पृथ्व्यब्विषयसन्देहादाह—'किं पुढवी'ति व्यक्तं, 'पुढविकाइए णं' पृथ्वीकायिकोऽस्त्येककः, 'सुभे'त्ति कश्चिच्छुभो–भास्वरः 'देसं'ति देशं विवक्षितक्षेत्रस्य प्रकाशयति, भास्वरत्वात् मण्यादिवत्, तथाऽस्त्येककः पृथ्वीकायो देशं पृथ्वीकायान्तरं प्रकाश्यमपि न प्रकाशयति, अभास्वरत्वादिति, नैवं पुनरप्कायः, तस्य सर्वस्याप्यप्रकाशकत्वात्, ततश्च तमस्कायस्यैव सर्वथाऽप्रकाशत्वादप्कायपरिणामतैव, 'एगपएसियाए'त्ति एक एव न द्व्यादयः औत्तराधर्यं प्रति प्रदेशो यस्यां सा तथा तया, समभित्तितयेत्यर्थः, न च वाच्यमेकप्रदेशप्रमाणतयेति, असङ्ख्यातप्रदेशावगाहस्वभावत्वेन जीवानां तस्यां जीवावगाहाभावप्रसङ्गात्, तमस्कायस्य च स्तिबुकाकारापृकायिकजीवात्मकत्वात् बाहल्यमानस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वादिति, 'एत्थ णं'ति प्रज्ञापकालेख्यलिखितस्यारुणोदसमुद्रादेरधिकरणतोपदर्शनार्थमुक्तवान्, 'अहे'त्ति अधस्तात् मल्लकमूलसंस्थितः–शरावबुध्नसंस्थानः समजलस्योपरि सप्तदशयोजनशतान्येकविंशत्यधिकानि यावद्वलयसंस्थितत्वात्, स्थापना चेयम्–[ ]'केवइयं विक्खंभेणं'ति,विस्तारेण, क्वचिद् 'आयामविक्खंभेणं'ति दृश्यते, तत्रायाम उच्चत्वमिति, 'संखिज्ज'त्ति सङ्ख्यातयोजनविस्तृतः, आदित आरभ्य ऊर्ध्वं सङ्ख्येययोजनानि यावत्, ततोऽङ्ख्यातयोजनविस्तृतः,उपरि तस्य विस्तारगामित्वेनोक्तत्वात्,'असंखिज्जाइं'ति सङ्ख्यातयोजनविस्तृतत्वेऽपि तमस्कायस्यासङ्ख्याततमद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात् परिक्षेपस्यासङ्ख्यातयोजनसहस्रप्रमाणत्वं, आन्तरबाह्यपरिक्षेपविभागस्तु नोक्तः, उभयस्याप्यसङ्ख्याततया तुल्यत्वादिति, 'देवे णं'ति अथ किमैदंपर्यमिदं महर्द्ध्यादिविशेषणं देवस्य?, जाव इणामेव'त्ति इह याव-

६ शतके ५ उद्देशः

॥९३॥

अथ शतक-६ उद्देशक : ५ आरब्धः

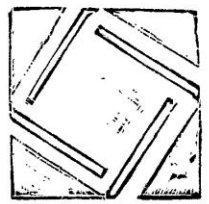
श्रीभग० लघुवृत्तौ

च्छब्द ऐदंपर्यार्थः, 'इणामेव २' इदं गमनमेवेति शीघ्रत्वावेदकचप्पुटिकारूपहस्तव्यापारोपदर्शनपरं, अनुस्वाराश्रवणं च प्राकृतत्वात्, द्विर्वचनं शीघ्रत्वातिशयोपदर्शनपरं 'इतिकट्टु' इतिः–उपदर्शनार्थः कृत्वा—विधाय 'केवलकप्पं'ति केवलज्ञानकल्पं, परिपूर्णमित्यर्थः, वृद्धव्याख्याने तु केवलः सम्पूर्णः, कल्पते इति कल्पः–स्वकार्यकरणसमर्थो वस्तुरूप इतियावत् केवलश्चासौ कल्पश्चेति केवलकल्पः तं, 'तिहिं अच्छराहिं'ति तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरित्यर्थः,'तिसत्त'त्ति त्रिगुणाः सप्त त्रिसप्त, त्रिसप्त वारान् त्रिसप्तकृत्वः, एकविंशतिवारानित्यर्थः, 'हव्वं'ति शीघ्रं,'अत्थेगइय'त्ति सङ्ख्यातयोजनमानं व्यतिव्रजेद् इतरं तु नेति,'उराल'त्ति महान्तो मेघाः 'संसेयंति' संस्विद्यन्ति, तज्जनकपुद्गलस्नेहसम्पत्त्या सम्मूर्च्छन्ति, पुद्गलमीलनात् तदाकारतयोत्पत्तेः, 'तं भंते'त्ति तत्संस्वेदनं सम्मूर्च्छनं वर्षणं च 'बायरे'त्ति इह न बादरतेजस्कायिका मन्तव्याः, इहैव तेषां निषेत्स्यमाणत्वात्, किन्तु देवप्रभावजनिता भास्वराः पुद्गलास्ते इति,'नन्नत्थ विग्गहगइ'त्ति न इति योऽयं बादरपृथ्वीतेजसोर्निषेधः सोऽन्यत्र विग्रहगतिसमापन्नान्, विग्रहगत्यैव बादरे ते तत्र भवतः, पृथ्वी हि बादरा रत्नप्रभाद्यास्वष्टासु पृथिवीषु गिरिविमानेषु च, तेजस्तु मनुष्यक्षेत्र एवेति, तृतीया चेह पञ्चम्यर्थे प्राकृतत्वात्, 'पलियस्स'त्ति परिपार्श्वतः पुनस्सांति तमस्कायस्य चन्द्रादय इति 'काकूसणिया पुण'त्ति, ननु तत्पार्श्वतश्चन्द्रादीनां सद्भावात् तत्प्रभाऽपि तत्रास्ति, सत्यं, केवलं कं–आत्मानं दूषयति तमस्कायपरिणामेन परिणमनात् कदूषणा सैव कदूषणिका, दीर्घता च प्राकृतत्वात्, 'कालोभास'त्ति कालोऽपि कश्चित् कुतोऽपि कालो नावभासते अत आह–कालावभासः, कालदीप्तिर्वा, 'गंभीरलोम'त्ति गम्भीरश्चासौ भीषणत्वात् रोमहर्षजननश्चेति गम्भीररोमहर्षजननः भीष्मः, 'उत्तासण'त्ति उत्त्रासनकः उत्कम्पहेतुः 'तप्पढम'त्ति दर्शनप्रथमतायां 'खोभाए'त्ति स्कभ्नीयात्–क्षुभ्येत्,

६ शतके ५ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'अहे णं'ति अथैनं तमस्कायमभिसमागच्छेत्–प्रविशेत्, भयात् 'सीह'न्ति कायगतिवेगेन 'तुरिय'त्ति मनोगतेरतिवेगेन 'खिप्पा-मेव'त्ति क्षिप्रमेव 'वीईव'त्ति व्यतिव्रजेदिति, 'तमे'त्ति तमः अन्धकाररूपत्वात् १ तमस्कायो वा २ अन्धकाररात्रिरूपत्वात् अन्धकारं ३ महान्धकारं ४ लोकान्धकारं ५ लोकमध्ये तादृगन्धकारस्यान्यस्यासम्भवात्, लोकतमिश्रं वा ६ देवान्धकारं ७ देवा-नामपि तत्रोद्योताभावेन तमोरूपत्वात्, एवं देवतमिश्रं वा ८, देवारण्यं ९ बलवद्देवभयान्नश्यतां देवानां तथाविधारण्यमिव शर-णभूतत्वात्, देवव्यूहः १० देवानां दुर्भेदत्वात् व्यूह इव देवव्यूहः, 'देवफलिहे'त्ति देवपरिघः, देवानां भीत्युत्पादकत्वेन गम-नविघातहेतुत्वात् ११ 'देवपलिक्खोभे'त्ति देवप्रतिक्षोभहेतुत्वात् १२ 'अरुणोदए'त्ति अरुणोदक इति वा समुद्रः, १३, अरु-णोदकाब्धिजलविकारत्वादिति, 'तमुकाए'त्ति बादरवायुवनस्पतयस्त्रसाश्च तत्रोत्पद्यन्ते, अप्काये तदुत्पत्तिसम्भवात्, न त्वितरे, अस्थानत्वात्, अत उक्तं–'नो चेव ण'मित्यादि ॥ अथ कृष्णराजिप्रकरणम्–'कण्हराईओ'त्ति (सू. २४१) कृष्णवर्णपुद्गल-रेखाः 'अक्खाडग'त्ति इहाखाटकः–प्रेक्षास्थाने आसनविशेषलक्षणस्तत्संस्थिताः, स्थापना चेयम्–



'नो असुरो'त्ति असुरनागकुमाराणां तत्र गमनासम्भवादिति, 'कण्हराई'त्ति प्राग्वत् १ 'मेघरा-ई'त्ति कालमेघरेखातुल्यत्वात् २ 'मघा इ'त्ति तमिश्रतया षष्ठनरकपृथ्वीतुल्यत्वात् ३ 'माघवइ'त्ति तथैव सप्तमपृथ्वीतुल्यत्वात् ४ 'वायफलिहे'त्ति वातो-वात्या तद्वयतिमिश्रत्वात्, परिघश्च दुर्लङ्घ्यत्वात् वातपरिघः ५, 'वायपलिक्खोभे'ति वातोऽत्र वात्या तद्वयतिमिश्रत्वात् परिक्षोभश्च परिक्षोभहेतुत्वा द्वातपरिक्षोभ इति ६, शेषे नाम्नी प्राग्व्याख्याते स्तः, 'अट्ठसु'त्ति द्वयोरन्तरं अवकाशान्तरं, तत्राभ्यन्तरोत्तरपूर्वयोरेकं पूर्वयोर्द्वितीयं

४ शतके ५ उद्देशः

॥९४॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

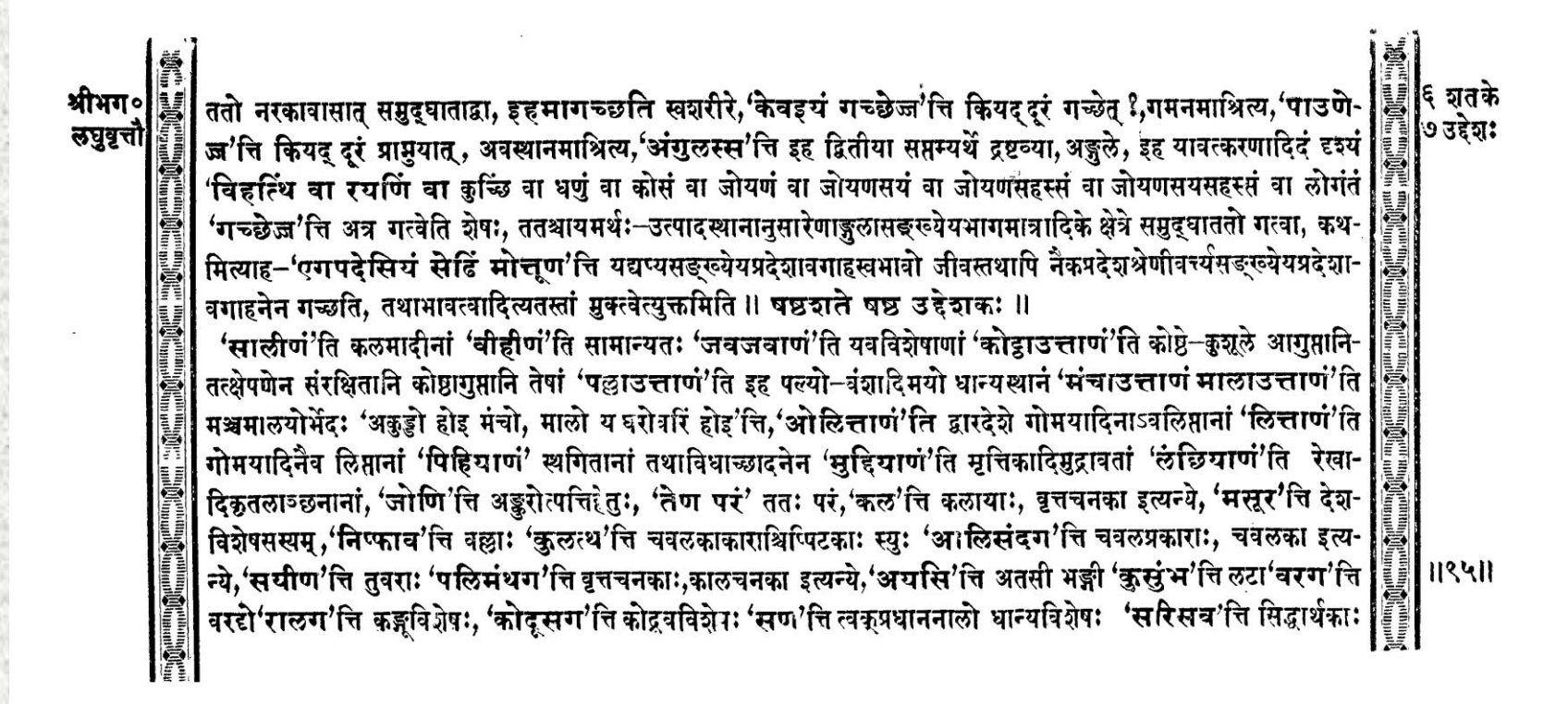
अभ्यन्तरपूर्वदक्षिणयोस्तृतीयं दक्षिणयोश्चतुर्थं अभ्यन्तरदक्षिणपश्चिमयोः पञ्चमं पश्चिमयोः षष्ठं अभ्यन्तरपश्चिमोत्तरयोः सप्तमं, उत्तरयोरष्टमम्, 'लोगंतिय'त्ति लोकस्यान्ते–समीपे भवानि लोकान्तिकानि तानि च तानि विमानानि चेति समासः, लोकान्तिका वा देवाः तेषां विमानानि इति समासः, अत्र च अवकाशान्तरवर्त्तिष्वष्टसु अर्चिःप्रभृतिविमानेषु यत् कृष्णराजीमध्यभागवर्त्ति रिष्टं विमानं नवममुक्तं तद्विमानप्रस्तावादवसेयं, 'सारस्सयमाइच्चाणं'ति सारस्वतादित्ययोः समुदितयोः सप्त देवशतानि परिच्छदः इत्यक्षरानुसारेणावगम्यते, एवमुत्तरत्रापि, 'अवसेसाणं'ति अव्याबाधाग्नेयरिष्टानां,'एवं नेयव्वं'ति पूर्वोक्तप्रश्नानुसारेण लोकान्तिकविमानवक्तव्यताजातं नेतव्यं, 'विमाणाण पइट्ठाणं'ति तत्र विमानानां प्रतिष्ठानं दर्शितमेव, विमानानां पृथ्वीबाहल्यं, तच्च पञ्चविंशतियोजनशतानि, उच्चत्वं तु योजनसप्तशतानि, संस्थानमेषां नानाविधमनावलिकाप्रविष्टत्वात्, आवलिकाप्रविष्टानि हि वृत्तव्यस्रचतुरस्रभेदात् त्रिसंस्थानानि स्युः,'बंभलोए'त्ति ब्रह्मलोके या विमानानां देवानां च जीवाभिगमोक्ता वक्तव्यता सा तेषु ज्ञेया,सा चैवं लेशतः–'लोयंतियविमाणा णं भंते! कइवन्ना?, तिवन्ना, लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला',एवं पभाए निच्चालोया गंधेणं इट्ठगंधा एवं इट्ठफासा एवं सव्वरयणामया, तेसु देवा समचउरंसा अल्लमहुगसमवण्णा पम्हलेसा। लोयंतियविमाणेसु णं भंते! सव्वे पाणा ४ पुढवित्ताए देवत्ताए उववण्णपुव्वा?, हंते'त्यादि लिखितमेव,'केवइयं'ति छान्दसत्वात् कियत्या अबाधया–अन्तरेण लोकान्तः प्रज्ञप्तः॥ षष्ठशते पञ्चम उद्देशकः॥

'से णं भंते! तत्थगए'त्ति (सू. २४८) नरकावासप्राप्त एव 'आहारेज्ज'त्ति पुद्गलानादद्यात्,'परिणामेज्ज'त्ति तेषामेव खलरसविभागं कुर्यात्, 'सरीरं'ति तैरेव शरीरं निष्पादयेत्, 'अत्थेगइए'त्ति यस्मिन्नेव समुद्घाते म्रियते, ततः प्रतिनिवर्त्तते,

६ शतके ६ उद्देशः

अथ **शतक-६ उद्देशक** : ५ समाप्तः, अथ **शतक-६ उद्देशक** : ६ आरब्धः

***अत्र **शतक-६**, सूत्र-२४४ वर्तते, मूल संपादने यत् २४८ मुद्रितं तत् मुद्रण स्खलना संभाव्यते



श्रीभग० लघुवृत्तौ

ततो नरकावासात् समुद्घाताद्वा, इहमागच्छति स्वशरीरे,'केवइयं गच्छेज्ज'त्ति कियद् दूरं गच्छेत् ?,गमनमाश्रित्य,'पाउणेज्ज'त्ति कियद् दूरं प्राप्नुयात्, अवस्थानमाश्रित्य,'अंगुलस्स'त्ति इह द्वितीया सप्तम्यर्थे द्रष्टव्या, अङ्गुले, इह यावत्करणादिदं दृश्यं 'विहत्थिं वा रयणिं वा कुच्छिं वा धणुं वा कोसं वा जोयणं वा जोयणसयं वा जोयणसहस्सं वा जोयणसयसहस्सं वा लोगंतं 'गच्छेज्ज'त्ति अत्र गत्वेति शेषः, ततश्चायमर्थः—उत्पादस्थानानुसारेणाङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रादिके क्षेत्रे समुद्घाततो गत्वा, कथमित्याह—'एगपदेसियं सेढिं मोत्तूण'त्ति यद्यप्यसङ्ख्येयप्रदेशावगाहस्वभावो जीवस्तथापि नैकप्रदेशश्रेणीवर्त्यसङ्ख्येयप्रदेशावगाहनेन गच्छति, तथाभावत्वादित्यतस्तां मुक्त्वेत्युक्तमिति ॥ षष्ठशते षष्ठ उद्देशकः ॥

'सालीणं'ति कलमादीनां 'वीहीणं'ति सामान्यतः 'जवजवाणं'ति यवविशेषाणां 'कोट्ठाउत्ताणं'ति कोष्ठे—कुशूले आगुप्तानि-तत्क्षेपणेन संरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि तेषां 'पल्लाउत्ताणं'ति इह पल्यो—वंशादिमयो धान्यस्थानं 'मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं'ति मञ्चमालयोर्भेदः 'अकुड्डो होइ मंचो, मालो य घरोवरिं होइ'त्ति,'ओलित्ताणं'ति द्वारदेशे गोमयादिनाऽवलिप्तानां 'लित्ताणं'ति गोमयादिनैव लिप्तानां 'पिहियाणं' स्थगितानां तथाविधाच्छादनेन 'मुद्दियाणं'ति मृत्तिकादिमुद्रावतां 'लंछियाणं'ति रेखादिकृतलाञ्छनानां, 'जोणि'त्ति अङ्कुरोत्पत्तिहेतुः, 'तेण परं' ततः परं,'कल'त्ति कलायाः, वृत्तचनका इत्यन्ये, 'मसूर'त्ति देशविशेषसस्यम्,'निप्फाव'त्ति वल्लाः 'कुलत्थ'त्ति चवलकाकाराश्चिपिटकाः स्युः 'आलिसंदग'त्ति चवलप्रकाराः, चवलका इत्यन्ये,'सयीण'त्ति तुवराः 'पलिमंथग'त्ति वृत्तचनकाः,कालचनका इत्यन्ये,'अयसि'त्ति अतसी भङ्गी 'कुसुंभ'त्ति लटा'वरग'त्ति वरट्टो'रालग'त्ति कङ्गूविशेषः, 'कोद्दूसग'त्ति कोद्रवविशेषः 'सण'त्ति त्वक्प्रधाननालो धान्यविशेषः 'सरिसव'त्ति सिद्धार्थकाः

६ शतके ७ उद्देशः

॥९५॥

अथ शतक-६ उद्देशक : ६ समाप्तः, अथ शतक-६ उद्देशक : ७ आरब्धः

'मूलगबीय'त्ति मूलकबीजानि, शाकविशेषबीजानीत्यर्थः, 'ऊसासद्धा वियाहिय'त्ति (सू. २४७) उच्छ्वासाद्धाः–उच्छ्वास-प्रमितकालविशेषाः, व्याहृता भगवद्भिः, अत्रोत्तरं–'असंखिज्ज'त्ति असङ्ख्यातानां समयानां सम्बन्धिनो ये समुदया–वृन्दानि तेषां याः समितयो–मीलनानि तासां यस्समागमः–संयोगः तेन यत्कालमानं स्यात् सैकावलिका प्रोच्यते,'संखेज्जावलिय'त्ति किल षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयेन आवलिकानां क्षुल्लकभवग्रहणं स्यात्, तानि सप्तदश सातिरेकाणि उच्छ्वासनिःश्वासकालः, एवं सङ्ख्याता आवलिका उच्छ्वासकालमानं,' हट्ठस्स 'त्ति हृष्टस्य ' अणवगल्लस्स ' (*४६) अनवकल्पस्य—जरानभिभूतस्य 'निरुवकिट्ठस्स' व्याधिना प्राक् साम्प्रतं चाक्लिष्टस्य जन्तोः–प्राणिन एकोच्छ्वासेन सह निःश्वास उच्छ्वासनिःश्वासो य एष प्राण इत्युच्यते, 'सत्त पाणु'त्ति (*४७) प्राकृतत्वात्, सप्त प्राणा–उच्छ्वासनिश्वासाः, तैस्सप्तभिरेकः स्तोकः, सप्तस्तोकैरेको लवो, लव-सप्तसप्तत्या मुहूर्त्तः,'तिन्नि सहस्सा(*४८)गाह'त्ति अस्या भावार्थोऽयम्–सप्तभिः प्राणैः स्तोकः, तैस्सप्तभिर्लवः,ततो लवस्सप्त-भिर्गुणितो जाता एकोनपञ्चाशदुच्छ्वासाः, एवं मुहूर्त्ते च सप्तसप्ततिः लवाः स्युः, सा एकोनपञ्चाशद्गणने जातं यथोक्तं मानमिति, 'एताव ताव गणियस्स विसए'त्ति एतावान् शीर्षप्रहेलिकाप्रमेयराशिप्रमाणः, तावदिति क्रमागतः गणितविषयो–गणितगो-चरो,गणितप्रमेय इत्यर्थः,'उवमिए'त्ति उपमया निर्वृत्तमौपमिकं, उपमामन्तरेण यत्कालप्रमाणमनतिशयिना ग्रहीतुं न शक्यते तदौ-पमिकमिति भावः, (*४९) छेत्तुं–द्विधाकर्तुं खड्गादिना भेत्तुं–सूच्यादिना सच्छिद्रं कर्त्तुं'सिद्ध'त्ति ज्ञानसिद्धाः केवलिनः, न तु सिद्धाः सिद्धिं गताः, तेषां वदनस्यासम्भवादिति,'पमाणाणं'ति वक्ष्यमाणप्रमाणानामुच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकादीनामिति,'अणंताणं'ति अनन्तानां व्यावहारिकपरमाणूनां समुदाया–द्व्यादिरूपास्तेषां समितयो–मीलनानि तासां समागमः–परिणामवशादेकीभवनं तेन

श्रीभग० लघुवृत्तौ

समुदयसमितिसमागमेनैका उत्-प्राबल्येन श्लक्ष्णिका उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका,एते चोच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकादयोऽङ्गुलान्ता दश प्रमाणभेदा यथोत्तरमष्टगुणाः सन्तोऽपि प्रत्येकमनन्तपरमाणुत्वं न व्यभिचरन्ति अत उक्तम्–उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, एतदष्टगुणत्वात् ऊर्ध्वरेण्वपेक्षया तु अष्टभागत्वात् **'सण्हसण्हिय'**त्ति श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका **'उद्धरेणु'**त्ति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनलक्षणो रेणुरूर्ध्वरेणुः **'तसरेणु'**त्ति त्रसति–वायुप्रेरितो गच्छेदिति त्रसरेणुः रथोत्खातो रेणू रथरेणुः, वालाग्रलिक्षाद्यः प्रतीताः,**'नालिय'**त्ति यष्टिविशेषः,**'अक्खे'**त्ति अक्षः–शकटावयवः, **'तं तिऊणं सविसेसं'**ति तं पल्यं त्रिगुणं सविशेषं, वृत्तपरिधेः किञ्चिन्यूनषड्भागाधिकत्रिगुणत्वात्, **'एगाहिये'**त्यादि एकाहिकद्व्याहिकव्याहिकानां **'उक्कोस'**त्ति उत्कर्षतः सप्तरात्रप्ररूढानां **'संमट्ठे'**त्ति सम्मृष्ट–आकण्ठभृतः सन्निचितो-व्याप्तो निविडः,**'कुत्थेज्ज'**त्ति न कुथ्येयुः-नासारतां गच्छेयुः**'परिविद्धंसेज्ज'**त्ति तानि वालाग्राणि न परिविध्वंसेरन्–विनाशं न गच्छेयुः **'नो पूइत्ताए'**त्ति न पूतितया **'अवहाय'**त्ति तद्वालाग्रमपनीय **'खीणे'** क्षीणो वालाग्राकर्षणात् **'नीरए'** निर्गतरजाः अपकृष्टधान्यरजःकोष्ठागारवत्,**'निम्मले'** निर्मलः विगतमलः, मलः सूक्ष्मतरवालाग्रः, प्रमार्जनिकाप्रमृष्टकोष्ठागारवत्, **'निट्ठिए'** अपनेयद्रव्यापनयनमाश्रित्य निष्ठां गतः, प्रयत्नप्रमार्जितकोष्ठागारवत्,**'निल्लेव'**त्ति अतिसंश्लेषात् तन्मयतां गतो (लेपः, तथाविध)-वालाग्रापहारात्, अपनीतभित्त्यादिगतधान्यकोष्ठागारवत्,**'अवहडे'** निःशेषवालाग्रापहारात्, विशुद्धो रजोमलकल्पवालाग्राकर्षणात् विशेषेण शुद्धो विशुद्धः, एकार्थाश्चैते शब्दाः, व्यावहारिकं चेदमद्धापल्योपमं, इदमेवासङ्ख्येयखण्डीकृतैकैकवालाग्रभृतपल्यात् वर्षशते २ य उद्धारस्तत्सूक्ष्मं स्यात्, समयोद्धारे तु उद्धारपल्योपमं, तैरेवासंख्येयखण्डैः समयोद्धारे सूक्ष्ममुद्धारं,तथा तैरेव वालाग्रैः स्पृष्टाः ये प्रदेशाः तेषां प्रतिसमयोद्धारेण यः कालस्तद् व्यावहारिकं क्षेत्रपल्योपमं,एवं यः पुनस्तैरेवासङ्ख्येयखण्डीकृतैः स्पृष्टास्पृष्टानां

६ शतके ७ उद्देशः

॥९६॥

तथैवोद्धारकालस्तत् सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमं, एवं सागरोपममपि विज्ञेयमिति,'उत्तमट्ठपत्ताए'त्ति उत्तमान् उत्कृष्टानर्थान् आयुष्कादीन् प्राप्ता, उत्तमकाष्ठां प्राप्ता वा–प्रकृष्टावस्थां गता, तस्यां 'आगारभावपडोआरि'त्ति आकारस्य–आकृतेः भावाः–पर्यायास्तेषां प्रत्यवतारः–अवतरणमाविर्भाव आकारभावप्रत्यवतारः, 'आलिंगपुक्खरे'त्ति मरुजमुखपुटं, 'एवं'ति उत्तरकुरुवक्तव्यता जीवाभिगमोक्ता च दृश्या, 'मुइंगपुक्खरेइ वा सरतलेइ वा' सरस्तलं–सर एव वा करतले–कर एव, एवं भूमिसमतायाः भूभागगततृणमणीनां वर्णपञ्चकस्य सुरभिगन्धस्य मृदुस्पर्शस्य शुभशब्दस्य वाप्यादीनां वाप्याद्यनुगतोत्पातपर्वतादीनामुत्पातपर्वताश्रितानां हंसासनादीनां लतागृहादीनां शिलापट्टकादीनां च वर्णको वाच्यः, तदन्ते चैवं दृश्यं–तत्थ २ णं बहवे भारहया मणुस्सा मणुस्सीओ आसयंति ५''तत्थ २'त्ति तत्र तत्र भारतस्य खण्डे २ देशे २, देशे २–खण्डांशे २ 'तहिं तहिं'ति देशस्यांशे २ उद्दालकादयो वृक्षविशेषाः, यावत्करणात् 'कयमाला नट्टमाला' इत्यादि दृश्यं, 'कुस'त्ति कुशा–दर्भाः, विकुशाः–तृणविशेषास्तैर्विशुद्धानि–सहितानि वृक्षमूलानि येषां ते तथा, 'जाव'त्ति यावत्करणात् 'कन्दमंतो मूलमन्त' इति दृश्यं,'अणुसज्जित्थ'त्ति अनुसक्तवन्तोऽनुवृत्तवन्तः, 'छद्दिह'त्ति षड्गन्धयः १ मियगंध'त्ति मृगमदगंधयः २ 'अमम'त्ति ममकाररहिताः ३ 'तेयली'त्ति तेजश्च तलं च–रूपं येषां ते तेजस्तलिनः ४ 'सह'त्ति सहिष्णवः–समर्थाः ५ 'सणंचर'त्ति शनैः–मन्दमुत्सुकत्वाभावाच्चरन्तीत्येवंशीलाः शनैश्चारिणः ॥

॥ षष्ठशते सप्तमः उद्देशकः ॥

'बायरे अगणिकाए'त्ति ननु यथा बादराग्नेर्मनुष्यक्षेत्र एव सद्भावान्निषेध इहोच्यते–एवं बादरपृथिवीकायस्यापि निषेधो वाच्यः स्यात्, पृथिव्यादिष्वेव स्थानेषु तस्य भावादिति, सत्यं, किन्तु नेह यद्यत्र नास्ति तत्तत्र सर्वं निषिध्यते, मनुष्यादिवत्, विचित्र-

श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्वात् सूत्रगतेः, अतोऽसतोऽपीह पृथ्वीकायस्य न निषेध उक्तः, अप्कायवायुवनस्पतीनां त्विह घनोदध्यादिभावेन निषेधाभावः सुगम एव, **'नो नाओ'त्ति** नागकुमारस्य तृतीयायाः पृथिव्या अधो गमनं नास्तीत्यनुमीयते, **'नो असुरो नो नागो'त्ति** इहाप्यत एव चतुर्थ्यादीनामधोऽसुरनागकुमारयोर्गमनं नास्तीत्यनुमीयते, सौधर्मेशानयोस्त्वधोऽसुरो व्रजेच्चमरवत्, न नागकुमारोऽशक्तत्वाद्, अत एवाह—**'देवो पकरेइ'**इत्यादि, इह बादरपृथ्वीतेजसोर्निषेधः सुगम एव, अस्वस्थानात्, तथा अब्वायुवनस्पतीनामनिषेधः सुगम एव च, तयोरुदधिप्रतिष्ठितत्वेनाब्वनस्पतिसम्भवात्, वायोश्च सर्वत्र भावादिति, **'एवं सणंकुमार'त्ति** इहातिदेशतो बादराब्वनस्पतीनां सम्भवोऽनुमीयते, स च तमस्कायसद्भावतोऽवसेयः, **'सव्वहिं'ति** अच्युतं यावदित्यर्थः, परतो देवस्यापि गमो नास्तीति न तत्कृतबलाहकादेर्भावः,**'पुच्छेयव्वो'त्ति** बादराप्कायः अग्निर्वनस्पतिश्च प्रष्टव्यः,**'अण्णं तं चेव'त्ति** वचनान्निषेधश्च, यतोऽनेन विशेषोक्तादन्यत् सर्वं पूर्वोक्तमेव वाच्यमिति सूचितं, तथा ग्रैवेयकादीषत्प्राग्भारान्तेषु पूर्वोक्तं सर्वं गेहादिकमधिकृतवाचनायामनुक्तमपि निषेधतोऽध्येयमिति, प्रागुक्तसङ्ग्रहगाथामाह—**'तमुकाय'त्ति** (*५१) तमस्कायप्रकरणे प्रागुक्ते **'कप्पपणए'** सौधर्मादिकल्पपञ्चके **'अगणि'त्ति** अग्निपृथ्वीकायावध्येतव्यौ, **'अत्थि णं भंते !** बादरे पुढविकाए बादरे अगणिकाए ?, नो इणमट्ठे समट्ठे, नण्णत्थ विग्गहगइसमावण्णगेणं, इत्यनेनाभिलापेन, तथा **'अगणि'त्ति** अग्निकायोऽध्येतव्यः,**'पुढवीसु'त्ति** रत्नप्रभादिपृथिवीसूत्रेषु, **'अत्थि णं भंते !** इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे बादरे अगणिकाए' इत्याद्यभिलापेनेति, तथा **'आऊतेउ वणस्सइ'त्ति** अप्तेजोवनस्पतयोऽध्येतव्याः,**'अत्थि णं भंते !** बादरे आउकाए बादरे तेउकाए बादरे वणस्सकाए ? नो इणट्ठे समट्ठे'इत्यादिनाऽभिलापेन, केष्वित्याह—**'कप्पुवरिम'त्ति** कल्पपञ्चकोपरितनकल्पसूत्रेषु, तथा **'कण्हराईसु'त्ति**

६ शतके ८ उद्देशः

॥९७॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

प्रागुक्तकृष्णराजीसूत्रे, इह च ब्रह्मलोकोपरिस्थानानामधो योऽब्वनस्पतिनिषेधः स यान्यत्र वायुप्रतिष्ठितानि स्थानानि तेषामध आनन्तर्येण वायोरेव भावात् आकाशप्रतिष्ठितानां त्वाकाशस्यैव भावादवगन्तव्यः, अग्नेरस्वस्थानादिति, 'जाइनामनिहत्ताउए'त्ति (सू. २४९) तत्र जातिः–एकेन्द्रियजात्यादिः सैव पञ्चधा, नाम इति नामकर्मण उत्तरप्रकृतिः तया निधत्तं–निषिक्तं यदायुस्तज्जातिनामनिधत्तायुः, निषेकश्च कर्मपुद्गलानां प्रतिसमयमनुभवनार्थं रचनेति १ 'गतिनाम०'त्ति गतिः–नारकादि चतुर्द्धा, शेषं तथैव २,'ठिइनाम'त्ति स्थितिरिति यत्स्थातव्यं क्वचिद्विवक्षितभवे जीवेनायुःकर्मणो वा सैव नामः—परिणामो धर्मः स्थितिनाम तेन निधत्तं यदायुर्दलिकरूपं तत् स्थितिनामनिधत्तायुः ३, ओगाहनामनिधत्त० ४ अवगाहते यस्यां जीवः सा अवगाहना–शरीरमौदारिकादि तस्य नाम—औदारिकादिशरीरनामकर्मेत्यवगाहनानाम शेषं प्राग्वत्, 'पएसनाम'त्ति प्रदेशानां—आयुःकर्मद्रव्याणां नामः–परिणतिः, प्रदेशनामः शेषं प्राग्वत् ५ 'अणुभागनाम'त्ति अनुभागः आयुर्द्रव्याणामेव विपाकस्तल्लक्षणो नामः–परिणतिः, शेषं तथैव ६, अथ किमर्थं जात्यादिनामकर्मणाऽऽयुर्विशेष्यते ?, उच्यते, आयुष्कस्य प्राधान्योपदर्शनार्थं, यस्मान्नारकाद्यायुरुदये सति जात्यादिनामकर्मणामुदयः स्यात्, नारकादिभवोपग्राहकं चायुरेव, यस्मादुक्तं इहैव–"नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ, अनेरइए नेरइएसु उ०?, गो०! नेरइए नेरइएसु उव०, नो अनेरइए नेरइएसु उ०' अयमर्थः—नारकायुःप्रथमसमयवेदन एव नारक उच्यते, तत्सहचारिणां च पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामकर्मणामप्युदय इति, इह च आयुर्बन्धस्य षड्विधत्वे उपन्यस्ते यदायुः षड्विधमुक्तं तदायुषो बन्धाव्यतिरेकाद् बद्धस्यैवायुर्व्यपदेशविषयत्वादिति, 'दंडओ'त्ति 'जीवाणं भंते ! कइविहे आउबंधे पण्णत्ते' इत्यादि वैमानिकान्तश्चतुर्विंशतिदण्डको वाच्यः, अत आह–'जाव वेमाणियाणं'ति एवं जीवपदस्यैकत्वबहुत्वाभ्यां आयुर्ब-

६ शतके ८ उद्देशः

प्रत सूत्रांक [२४९-२५०] + गाथा: दीप अनुक्रम [३१३-३१६]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

न्धषड्विधत्वे द्वादश दण्डकाः स्युरिति, अथ कर्मविशेषाधिकारात् तद्विशेषितानां जीवादिपदानां द्वादश दण्डकानाह–'जीवा णं भंते ! जातिनामनिहत्ता' जातिनाम निधत्तं निषिक्तं विशिष्टबन्धं वा कृतं यैस्ते जातिनामनिधत्ताः यावत्करणाद् एवं गत्यादिनाम० षट् प्रकारा वाच्याः अयमेको दण्डको वैमानिकान्तो वाच्यः १, 'जातिणामनिहत्ताउया' जातिनामनिधत्तायुषः, एवमन्यो दण्डकः २, जातिनामनिउत्ता० तत्र जातिनाम नियुक्तं–नितरां संयुक्तं–संबद्धं निकाचितं वेदने वा नियुक्तं यैस्ते जातिनामनियुक्ताः ३ 'जातिनामनिउत्ताउया' तत्र जातिनाम्ना सह नियुक्तं–निकाचितं वेदयितुमारब्धं वाऽऽयुर्यैस्ते जातिनामनियुक्तायुषः ४ 'जातिगोयनिहत्ता०' तत्र जातेः–एकेन्द्रियादिकाया यदुचितं गोत्रं–नीचैर्गोत्रादि तज्जातिगोत्रं तन्निधत्तं यैस्ते जातिगोत्रनिधत्ताः ५, एवमन्यान्यपि, 'जातिगोयनिहत्ताउया' जातिगोत्रेण समं निधत्तमायुर्यैस्ते जातिगोत्रनिधत्तायुषः ६, एवमन्यान्यपि ५, 'जाइगोयनिउत्ता' जातिगोत्रं नियुक्तं यैस्ते जातिगोत्रनियुक्ताः, एवमन्यान्यपि ७, जातिगोयनिउत्ताउया जातिगोत्रेण समं नियुक्तमायुर्यैस्ते जातिगोत्रनियुक्तायुषः ८, एवमन्यान्यपि ५ जाइणामगोयनिहत्ता जातिनाम गोत्रं च निधत्तं यैस्ते तथा ९, एवमन्यान्यपि ५, जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तमायुर्यैस्ते तथा १० एवमन्यान्यपि ५, 'जाइनामगोयनिउत्ता' जातिनाम गोत्रं च नियुक्तं यैस्ते ११ एवमन्यान्यपि ५,जातिणामगोयनिउत्ताउया जातिनाम्ना गोत्रेण च समं नियुक्तमायुर्यैस्ते १२ एवमन्यान्यपि ५ । अथ लवणसमुद्रस्वरूपं प्ररूपयन्नाह–'उस्सिओदएत्ति (सू. २५०) उच्छ्रितोदकः—ऊर्ध्ववृद्धिगतजलः, तद्वृद्धिश्च साधिकषोडशयोजनसहस्राणि 'पत्थडोदए'त्ति प्रसृतोदकः–समजलः,'खुभिय'त्ति वेलावशात्, वेला च महापातालकलशगतवायुक्षोभादिति,'एत्तो'त्ति इतः सूत्रादारब्धं सद्यथा 'जीवाभिगमे' तथाऽध्येतव्यं, तच्चेदम्–'जहा णं भंते !

६ शतके ८ उद्देशः

॥९८॥

लवणे समुद्दे ऊसिओदए, नो पत्थडोदए, खुभियजले नो अखुभियजले, तहा णं बाहिरगा समुद्दा ऊसिओदगा ४ ?, गोयमा ! बाहिरगा समुद्दा नो ऊसिओदग्गा पत्थडोदगा, नो खुभियजला अखुभियजला, पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभर०, अत्थि णं भंते ! लवणसमुद्दे बहवे ओराला बलाहया संसेयंति संमुच्छंति ?, हंता ! अत्थि,जहा णं भंते ! लवणसमुद्दे ओराला ५ तहा णं बाहिरेसुवि समुद्देसु ओराला ५ ?,नो इणमट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–बाहिरगा णं समुद्दा पुन्ना जाव घडत्ताए चिट्ठंति ?, गोयमा ! बाहिरेसु णं समुद्देसु बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति उववज्जंति', शेषं तु लिखितमेवास्ते, व्यक्तं चेदमिति, **'संठाणओ एग'**त्ति एकेन विधिना–प्रकारेण चक्रवाललक्षणेन विधानं–स्वरूपस्य करणं येषां ते एकविधिविधानाः, विस्तारतोऽनेकविधिविधानाः, कुत इत्याह–'दुगुणे'त्यादितः,**'जाव अस्सि'**ति यावत्करणादिदं दृश्यं—'पवित्थरमाणो २ बहुउप्पलपउमकुमुयणलिणसुभगसोगंधियपुंडरीयमहापुंडरीयसयवत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवइया' उत्पलादीनां केसरैः फुल्लैश्चोपपेता इत्यर्थः, **'सुभा णाम'**त्ति स्वस्तिकादीनि, **'सुभा रूव'**त्ति शुक्लपीतादीनि देवादीनि वा **'सुभा गंध'**त्ति कर्पूरादयः **'सुभा रस'**त्ति मधुरादयः, **'सुभा फास'**त्ति मृदुप्रभृतयः स्पर्शवन्तो वा नवनीतादयः,**'एव'**मिति द्वीपसमुद्राभिधायकतया नेतव्यानि, शुभनामानि प्रागुक्तानि **'उद्धारो'**त्ति द्वीपसमुद्रेषूद्धारो नेतव्यः, स चैवम्–'दीवसमुद्दा णं भंते ! केवइया उद्धारसमएणं पण्णत्ता ?, गो०! जावइया अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया दीवसमुद्दा उद्धारसमएणं पण्णत्ता', येनैकैकेन समयेन वालाग्रमेकैकमुद्धियते असावुद्धारसमयोऽतस्तेन,**'परिणामो'**त्ति परिणामो ज्ञेयो द्वीपसमुद्रेषु, स चैवं–'दीवसमुद्दा णं भंते! किं पुढविपरिणामा आउपरिणामा जीवपरिणामा पुग्गलपरिणामा ?, गोयमा ! पुढविपरिणामावि'-

अत्र **शतक** ६, **उद्देशक** : ८ एव वर्तते. मूल संपादने यत् **उद्देशक** : १० मुद्रितं, तत् मुद्रणदोषः अस्ति

श्रीभग० लघुवृत्तौ

इत्यादि,'सव्वजीवाणं'ति सर्वजीवानां द्वीपसमुद्रेषु उत्पादो ज्ञेयः, स चैवम्–'दीवसमुद्देसु ण भंते ! सव्वे पाणा ४ पुढविकाइयत्ताए जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वा ?, हंता ! गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो'त्ति ॥ **षष्ठशते अष्टम उद्देशकः॥**

'सत्तविहबंधए'त्ति (सू. २५१) आयुरबन्धकाले, 'अट्ठविह'त्ति आयुर्बन्धकाले,'छव्विह'त्ति सूक्ष्मसम्पराये मोहायुषोरबन्धकत्वात्, 'बंधुद्देस'त्ति बन्धोद्देशकः, प्रज्ञापनाचतुर्विंशतितमपदेऽध्येतव्यः, स चायम्—'नेरइए णं ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधेमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?, गो०! अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा जाव वेमाणिए, णवरं मणुस्से जहा जीवे'इत्यादि, 'एगवण्ण'त्ति (सू. २५२) कृष्णाद्येकवर्णं एकरूपं–एकविधाकारं स्वशरीरादि 'इहगए'त्ति इहगतान् प्रज्ञापकासन्नक्षेत्रस्थितान् 'तत्थ गए'त्ति देवः किल प्रायो देवस्थान एव वर्त्तते इति तत्र गतान्–देवलोकगतान् 'अण्णत्थगए'त्ति प्रज्ञापकक्षेत्राद्देवस्थानाच्चान्यत्र स्थितान्, तत्र च स्वस्थान एव प्रायो विकुरुते, यतः–कृतोत्तरवैक्रियरूप एवान्यत्र गच्छति, इति नो इहगतान् पुद्गलान् पर्यादायेत्युक्तमिति, 'कालयं पुग्गलं नीलपुग्गलत्ताए' इत्यादौ कालनीललोहितहालिद्रशुक्ललक्षणानां पञ्चवर्णानां दशद्विकसंयोगसूत्राण्यध्येयानि, 'गंधरसफास'त्ति इह सुरभिदुरभिगन्धद्वयस्यैकमेव तिक्तकटुकषायाम्लमधुरलक्षणानां पञ्चरसानां दश सूत्राणि, अष्टानां स्पर्शानां च चत्वारि सूत्राणि, परस्परविरुद्धेन कर्कशमृद्वादिना द्वयेनैकैकसूत्रनिष्पादनादिति,'अविसुद्धलेसे'त्ति (सू. २५३) अविशुद्धलेश्यो विभङ्गज्ञानी देवः, 'असमोहं'त्ति असमवहतेन–अनुपयुक्तेनात्मना, इहाविशुद्धलेश्यो देवः १ असमवहतात्मा २ अविशुद्धलेश्यं देवादिकं ३ इत्यस्य पदत्रयस्य १२ विकल्पास्सन्ति,तद्यथा–'अविसुद्धलेसे णं देवे १असमोहएणं अप्पाणेणं२ अविसुद्धलेसं देवं ३ जाणइ पासइ,नो इणमट्ठे समट्ठे इत्येकः प्रथमो विकल्पः,अविसुद्धले०१असमो०२अप्पाणेणं विसुद्ध० देवं

६ शतके ९ उद्देशः

॥९९॥

अथ **शतक-६ उद्देशक** : ८ समाप्तः, अथ **शतक-६ उद्देशक** : ९ आरब्धः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२५१-२५३]

दीप अनुक्रम [३१७-३१९]

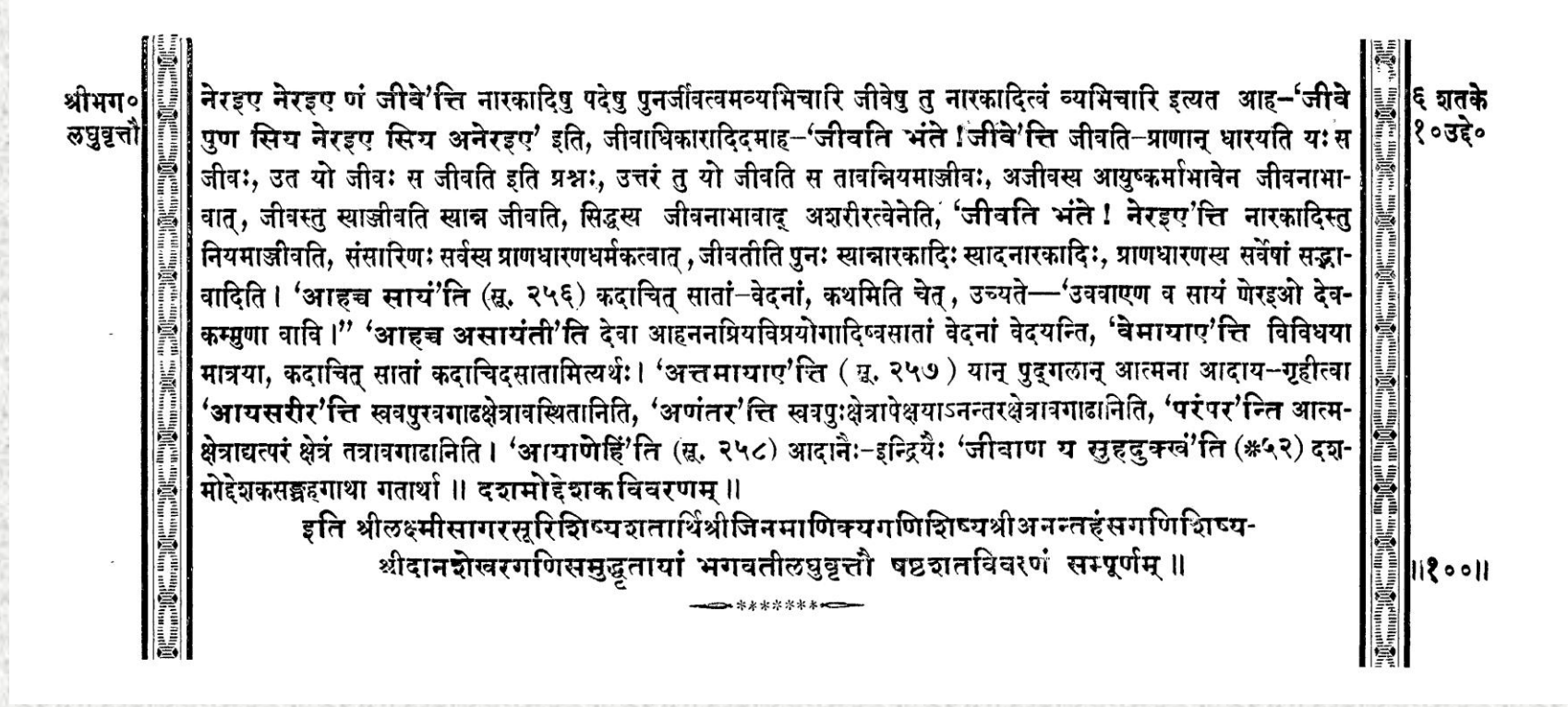
श्रीभग० लघुवृत्तौ

३,नो इणमट्ठेत्ति २ विकल्पः, अविसुद्धलेसे समो० अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं ३,नो इणत्ति ३,अविसुद्धलेसे स० अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं ३ नो इणत्ति ४, अविसुद्ध० समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं अविसु० देवं ३ नो इणमट्ठे ५, अविसु० समोहयासमो० अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं ३ नो इणमट्ठे ६, विसुद्धलेसे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसु० देवं ३ नो इणट्ठे समट्ठे ७, विसुद्ध० देवे असमो० अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं ३ नो इणमट्ठे ८, एभिरष्टभिर्विकल्पैर्न जानाति, तत्र षड्भिर्मिथ्यादृष्टित्वात् द्वाभ्यां त्वनुपयुक्तत्वात् न जानाति, विसुद्धलेसे समोहएणं अविसुद्धलेसं देवं ३ जाणइ ?, हंता ! जाणइ ९, विसुद्ध० देवे समोहएणं विसुद्ध० देवं जाणइ ?, हंता १०, विसुद्ध० देवे समोहयासमोहएणं अविसुद्धलेसं देवं जाणइ ? हंता ११, विसुद्धलेसे समोहयासमोहएणं विसुद्धलेसं देवं ३ जाणइ ? हंता ! जाणइत्ति १२, एभिश्चतुर्भिर्विकल्पैस्सम्यग्दृष्टित्वादुपयुक्तत्वानुपयुक्तत्वाच्च जानाति, उपयोगानुपयोगपक्षे उपयोगांशस्य ज्ञानहेतुत्वादिति, एतदेवाह–'हेट्ठिल्लेहिं अट्ठहिं'इत्यादि ॥ षष्ठशते नवम उद्देशकः॥

'नो चक्किय'त्ति (सू. २५४) न शक्नुयात्,'जाव कोलट्ठिय'त्ति यावत्कुवलास्थिकमात्रमपि, कुवलास्थिकं–बदरकुवलकः 'निप्फाव'त्ति वल्लः 'कल'त्ति कलाया धान्यविशेषः 'जूय'त्ति यूका लिक्षामात्रमपि सुखं दुःखं वा 'अभिनिव्वट्टित्ता' अभिनिर्वृत्य–प्रादुष्कृत्य 'उवदंसित्तए'त्ति उपदर्शयितुं, न शक्नुयात्–न समर्थः स्यात्, 'अयण्ण'मित्यादि दृष्टान्तोपनय एवं, यथा–गन्धपुद्गलानामतिसूक्ष्मत्वेन अमूर्त्तकल्पत्वात् कुवलयास्थिकमात्रमप्युपदर्शयितुं न शक्यते तथा सर्वजीवानां सुखदुःखमपि, 'जीवे णं भंते ! जीवे' (सू. २५५) इहैकेन जीवशब्देन 'जीव एव गृह्यते, द्वितीयेन च चैतन्यमित्यतः प्रश्नः, उत्तरं पुनर्जीवचैतन्ययोर्मिथोऽविनाभूतत्वात् जीवश्चैतन्यमेव चैतन्यमपि जीव एवेत्येवमर्थो गृह्यते, नारकादिषु पदेषु एवं—जीवे णं भंते !

६ शतके १०उद्दे०

अथ शतक-६ उद्देशक : ९ समाप्तः, अथ शतक-६ उद्देशक : १० आरब्धः



श्रीभग० लघुवृत्तौ

नेरइए नेरइए णं जीवे'त्ति नारकादिषु पदेषु पुनर्जीवत्वमव्यभिचारि जीवेषु तु नारकादित्वं व्यभिचारि इत्यत आह–'जीवे पुण सिय नेरइए सिय अनेरइए' इति, जीवाधिकारादिदमाह–'जीवति भंते ! जीवे'त्ति जीवति–प्राणान् धारयति यः स जीवः, उत यो जीवः स जीवति इति प्रश्नः, उत्तरं तु यो जीवति स तावन्नियमाज्जीवः, अजीवस्य आयुष्कर्माभावेन जीवनाभावात्, जीवस्तु स्याज्जीवति स्यान्न जीवति, सिद्धस्य जीवनाभावाद् अशरीरत्वेनेति, 'जीवति भंते ! नेरइए'त्ति नारकादिस्तु नियमाज्जीवति, संसारिणः सर्वस्य प्राणधारणधर्मकत्वात्, जीवतीति पुनः स्यान्नारकादिः स्यादनारकादिः, प्राणधारणस्य सर्वेषां सद्भावादिति। 'आहच्च सायं'ति (सू. २५६) कदाचित् सातां–वेदनां, कथमिति चेत्, उच्यते—'उववाएण व सायं णेरइओ देवकम्मुणा वावि।" 'आहच्च असायंती'ति देवा आहननप्रियविप्रयोगादिष्वसातां वेदनां वेदयन्ति, 'वेमायाए'त्ति विविधया मात्रया, कदाचित् सातां कदाचिदसातामित्यर्थः। 'अत्तमायाए'त्ति (सू. २५७) यान् पुद्गलान् आत्मना आदाय–गृहीत्वा 'आयसरीर'त्ति स्वपुरवगाढक्षेत्रावस्थितानिति, 'अणंतर'त्ति स्वपुःक्षेत्रापेक्षयाऽनन्तरक्षेत्रावगाढानिति, 'परंपर'न्ति आत्मक्षेत्राद्यत्परं क्षेत्रं तत्रावगाढानिति। 'आयाणेहिं'ति (सू. २५८) आदानैः–इन्द्रियैः 'जीवाण य सुहदुक्खं'ति (*५२) दशमोद्देशकसङ्ग्रहगाथा गतार्था ॥ दशमोद्देशकविवरणम् ॥

इति श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यशतार्थिश्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्तहंसगणिशिष्यश्रीदानशेखरगणिसमुद्धृतायां भगवतीलघुवृत्तौ षष्ठशतविवरणं सम्पूर्णम् ॥

****

६ शतके १०उद्दे०

॥१००॥

अथ **शतक**-६ **उद्देशक** : १० समाप्तः, तत् समाप्ते **शतक**-१० अपि परिसमाप्तं

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ सप्तमशतं व्याख्यायते–तत्र दशोद्देशकादिसङ्ग्रहगाथामाह–'आहार'त्ति(*५३)आहारकानाहारकव्यक्तिरूपः१ विरतिः–प्रत्याख्यानार्थः२,'थावर'त्ति वनस्पतिवक्तव्यतार्थः३,'जीव'त्ति संसारिजीवप्रज्ञापनार्थः४,'पक्खि'त्ति खचरजीवयोनिवक्तव्यतार्थः ५,आयुष्कवक्तव्यतार्थः६,'अणगार'त्ति अनगारवक्तव्यतार्थः७,'छउमत्थ'त्ति छद्मस्थमनुष्यवक्तव्यतार्थः८,'असंवुड'त्ति असंवृतानगारवक्तव्यतार्थः ९ 'अण्णउत्थि'त्ति कालोदायिप्रभृतिपरतीर्थिकवक्तव्यतार्थः १०॥ 'कं समयं'ति(सू.२५९)परभवं गच्छन् कस्मिन् समये अनाहारकः स्यादिति प्रश्नः, उत्तरन्तु–जीवो यदा ऋजुगत्योत्पादस्थानं गच्छेत् तदा परभवायुषः प्रथमसमये आहारकः स्यात्,यदा विग्रहगत्या गच्छति तदा प्रथमसमये वक्रेणानाहारकः स्यात्, उत्पत्तिस्थानानवाप्तौ तदाहरणीयपुद्गलानामभावाद्,अत आह–'पढमे समए सिय अणाहारए'त्ति यदा तु एकेन वक्रेण द्वाभ्यां समयाभ्यामुत्पद्यते तदा प्रथमेऽनाहारको द्वितीये त्वाहारकः,यदा तु वक्रद्वयेन त्रिभिस्समयैरुत्पद्यते तदा प्रथमे द्वितीये त्वनाहारकः,यदा तु वक्रत्रयेण चतुर्भिस्समयैरुत्पद्यते तदाऽऽद्यसमयत्रये अनाहारकः,चतुर्थे नियमादाहारक इतिकृत्वा 'तइयसमए सिये'त्याधुक्तं,वक्रत्रयमित्थं स्यात्–नाड्या बहिर्विदिक्ष्ववस्थितस्य यस्याधोलोकादूर्ध्वलोके उत्पादो नाड्या बहिरेव दिशि स्यात् सोऽवश्यमेकेन समयेन विश्रेणितः समश्रेणिं प्रतिपद्यते,द्वितीयेन नाडिं प्रविशति, तृतीयेनोर्ध्वलोकं गच्छेत्,चतुर्थेन लोकनाडीतो निर्गत्योत्पत्तिस्थान उत्पद्यते, इह चाद्यसमयत्रये वक्रत्रयं ज्ञेयं,समश्रेण्यैव गमनात्,अन्ये त्वाहुः–वक्रचतुष्कमपि स्यात्, यदा हि विदिशो विदिश्येवोत्पद्यते, तत्र समयत्रयं प्राग्वत्, चतुर्थसमये तु नाड्यितो निर्गत्य समश्रेणिं प्रतिपद्यते, पञ्चमेनोत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति, तत्राद्यसमयचतुष्के वक्रचतुष्कं स्यात् तत्रानाहारक इति, इदं च सूत्रे न दर्शितं, प्रायेणेत्थमनुत्पत्तेरिति, 'एवं दंडओ'त्ति अमुना प्रकारेण चतुर्विंशतिदण्डको वाच्यः, तत्र जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पूर्वोक्त-

७ शतके १ उद्देशः

अथ **शतक** ७ आरभ्यते

शतक-७, उद्देशक : १ आरब्धः

भावनयैव चतुर्थे समये नियमादाहारक इति वाच्यं, शेषेषु पदेषु तृतीयसमये नियमादाहारक इति, तत्र यो नारकादिस्त्रसः त्रसेष्वेवोत्पद्यते तस्य नाड्या बहिस्तादागमनं गमनं च नास्तीति तृतीयसमये नियमादाहारकत्वं, तथाहि–यो मत्स्यादिर्भरतस्य पूर्वभागादैरवतपश्चिमभागस्याधो नरके उत्पद्यते स ह्येकेन समयेन भरतस्य पूर्वभागात् पश्चिमभागं याति, द्वितीयेन तु ऐरवतपश्चिमभागं, ततस्तृतीये नरक इति, अत्र चाद्ययोरनाहारकस्तृतीये त्वाहारकः, एतदेव दर्शयति–'**जीवा य एगिंदिया य चउत्थे समये सेसा तइए समये**'त्ति, '**कं समयं सव्वप्पाहारए**'त्ति कस्मिन् समये सर्वाल्पः–सर्वस्तोक आहारो यस्य स सर्वाल्पाहारः स एव सर्वाल्पाहारकः स्यात्, '**चरमसमयभवत्थे**'त्ति चरमसमये भवस्थ–जीवितस्य तिष्ठति यः स चरमभवस्थः, आयुश्चरमसमये इत्यर्थः, इदानीं प्रदेशानां संहृतत्वेनाल्पेषु शरीरावयवेषु स्थितत्वात् सर्वाल्पाहारतेति। '**सुपइट्ठग**'त्ति (सू. २६०) सुप्रतिष्ठकं–शरावत्रिकं तच्चेहोपरिस्थापितकलशादिकं ग्राह्यं, तद्वत् संस्थितो लोकः, '**जाव**'त्ति यावत्करणात् '**मज्झे संखित्ते उप्पिं विसाले अहे पलियंकसंठाणसंठिए, मज्झे वरवइरविग्गहिए**'त्ति दृश्यं, व्याख्या प्राग्वत्, '**सामाइयकडस्स**'त्ति(सू.२६१) कृतसामायिकस्य श्रमणोपाश्रये–साधुसतावासीनस्य–तिष्ठतः साम्परायिकी क्रिया स्यात्, विशेषणद्वययोगे पुनरैर्यापथिकी युक्ता, निरुद्धकषायत्वादित्याशङ्क्या अतोऽयं प्रश्नः, उत्तरन्तु–'**आया अहिगरणी वट्टइ**' आत्मा जीवः, अधिकरणानि–हलशकटादीनि कषायाश्रयभूतानि यस्य सन्ति सोऽधिकरणी, यतश्च '**आयाहिगरणवत्तियं**'ति आत्मनोऽधिकरणानि आत्माधिकरणानि, तान्येव प्रत्ययः-कारणं यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययं साम्परायिकी क्रिया इति ॥ '**नो खलु**'त्ति(सू. २६२)न खल्वसौ तस्य त्रसप्राणस्य अतिपाताय–वधाय आवर्त्तते इति न सङ्कल्पवधोऽसौ, सङ्कल्पवधादेव निवृत्तोऽसाविति नासावतिचरति व्रतं।

॥१०१॥

'किं चयइ'त्ति (सू. २६३) किं ददातीत्यर्थः 'जीवियं वम(चय)इ'त्ति जीवितमिव ददात्यन्नं 'दुच्चयं'ति दुस्त्यजं दानं ददाति, त्यागस्य दुष्करत्वाद्, आह–'दुक्करं'ति दुष्करं करोति, अथवा किं त्यजति, जीवितमिव जीवितं–कर्मणो दीर्घां स्थितिं,'दुच्चयं'ति दुष्टं चयं–कर्मद्रव्यसञ्चयं,'दुक्करं'ति दुष्करमपूर्वकरणतो ग्रन्थिभेदं 'दुल्लहं'ति दुर्लभम्–अनिवृत्तिकरणं लभते, 'बोहिं'ति बोधिं–सम्यग्दर्शनं बुध्यते ,दानविशेषस्य बोधिकारणत्वं,यदाह–'अणुकम्पऽकामनिज्जरबालतवे दाणविणयविब्भंगे । संजोगविप्पओगे वसणूसवइड्ढिसक्कारे ॥१॥ केई तेणेव भवेण निव्वुया सव्वकम्मउम्मुक्का । केई तइयभवेणं, सिज्झिस्संति जिणसगासे ॥२॥" 'गइ'त्ति गतिः प्रज्ञायते–अभ्युपगम्यते 'निस्संगयाए'त्ति निःसङ्गतया कर्ममलापगमेन 'निरंग'त्ति नीरागतया मोहापगमेन 'गइपरिणामेणं'ति गतिस्वभावतया अलाबुद्रव्यस्येव 'बंधण'त्ति बन्धनच्छेदनेन एरण्डफलस्येव 'नीरंधणयाए' कर्मेन्धनविमोचनेन धूमस्येव, 'पुव्वप्पओगेण'त्ति सकर्मतायां गतिपरिणामवत्त्वेन बाणस्येवेति, 'निरुवहतं' वाद्यनुपहतं दर्भैस्समूलैः कुशैर्निर्मूलैर्दर्भैरिति, 'भूइं भूइं'ति भूयो भूयः 'अथाहं'ति इह मकारौ प्राकृतप्रभवौ अतः अस्ताधे अतः अतारे, अतः अपौरुषेये–अपुरुषप्रमाणे 'कलसिंबलि'त्ति कलायाख्यधान्यफलिका, सिंबलि–वृक्षविशेषः, 'एगतमन्तं गच्छइ'त्ति एक इत्येवमन्तो–निश्चयो यत्रासौ एकान्त एक इत्यर्थः अतस्तं अन्तं–भूभागं गच्छति, 'वीससाए'त्ति विश्रसया–स्वभावेन निर्व्याघातेन कटाद्याच्छादनाभावात् ॥ 'दुक्खी भंते'त्ति (सू. २६५) दुःखहेतुत्वाद्दुःखं–कर्म तद्वान् जीवो दुःखी भदन्त ! दुःखेन कर्मणा स्पृष्टो–बद्धः 'नो अदुक्खी'त्ति नो–नैव अदुःखी–अकर्मा दुःखेन स्पृष्टः, सिद्धस्यापि तत्प्रसङ्गात्, एवं पञ्च दण्डका ज्ञेयाः, दुःखी दुःखेन स्पृष्टः १ 'दुक्खी दुक्खं परियायइ'त्ति दुःखी–कर्मवान् दुःखं–कर्म पर्याददाति–सामस्त्येनोपादत्ते, निधत्तादिकं करोतीत्यर्थः२ उदी-

श्रीभग० लघुवृत्तौ

रेइ ३ वेएइ ४ निज्जरेइ ५' उदीरणावेदननिर्जरणानि प्राग् व्याख्यातानि, 'अणाउत्तं'ति (सू. २६६) अनायुक्तं–अनुपयोगं अयतनयेत्यर्थः, 'वोच्छिण्ण'त्ति अनुदिताः स्युरिति। 'सइंगाल'त्ति (सू. २६७) चारित्रेंधनमङ्गारमिव यः कुर्यात्, भोजनविषयरागाग्निः सोऽङ्गार एवोच्यते, तेन सह यद्विद्यते पानकादि तत् साङ्गारं तस्य,'सधूमस्स'त्ति चारित्रेंधनधूमहेतुत्वात्, धूमोद्वेषः, तेन सह यद् भक्तादि तत् सधूमं, 'मुच्छिय'त्ति मोहवान् दोषानभिज्ञानात् 'गिद्धे'त्ति तद्विशेषाकाङ्क्षावान् 'गढिए'त्ति तद्गतस्नेहतन्तुसन्दर्भितः 'अज्झोववे'त्ति अध्युपपन्नः–तदेकाग्रतां गत आहारयति। 'महया अप्पत्तियं'ति महदप्रीतिकं 'कोहकिलामं'ति क्रोधात् क्लमः–शरीरायासः क्रोधक्लमस्तं क्रोधक्लमं 'गुणुप्पायणाहेउं'ति गुणोत्पादनहेतुकं 'अण्णदव्वेणं'ति रसविशेषोत्पादनाय, संयोज्येत्यर्थः, 'वीइं'ति वीतो—गतः अङ्गारो यस्मात्तद्वीताङ्गारं। 'खित्ताइक्कं'ति (सू. २६८) क्षेत्रं–सूर्यतापक्षेत्रं, दिनमित्यर्थः, 'अणुग्ग'त्ति अनुद्गते सूर्ये अशनादि लात्वा उद्गते रवौ भुङ्क्ते, तदतिक्रान्तं यत्तत् क्षेत्रातिक्रान्तं तस्य 'कालाइक्कं'ति कालं–दिनप्रहरत्रयलक्षणं,शेषं तथैव,'मग्गाइक्कं'ति अर्द्धयोजनातिक्रान्तस्य 'पमाणाइक्कं'ति द्वात्रिंशत्कवललक्षणं प्रमाणं तदतिक्रान्तस्य, 'उवायणावित्त'त्ति उपादापय्य, प्रापय्येत्यर्थः, 'अद्धजोयणमेराए वीइक्कमावइत्त'त्ति अर्द्धयोजनमर्यादायाः परतो व्यतिक्रमय्य, नीत्वेत्यर्थः,'कुक्कुडिअंडगं'त्ति कुक्कुड्यण्डकस्य प्रमाणं येषां अथवा कुटीव–कुटीरकमिव जीवस्याश्रयत्वात् कुटी–शरीरं कुत्सिता अशुचिप्रायत्वात् कुटी कुक्कुटी तस्या अण्डकमिवाण्डकं उदरपूरकत्वादाहारः कुक्कुट्यण्डकं तस्य प्रमाणतो मात्रा–द्वात्रिंशत्तमांशरूपा येषां ते कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्राः अतस्तेषां, अयं अभिप्रायः–यावान् यस्य नरस्याहारस्तस्याहारस्य द्वात्रिंशत्तमो भागस्तत्पुरुषापेक्षया कवलः,इदमेव कवलमानमाश्रित्य प्रसिद्धकवलचतुःषष्ट्यादिमानाहारस्यापि पुरुषस्य द्वात्रिंशतां

७ शतके १ उद्देशः

।१०२।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२५९-३०८] + गाथा: दीप अनुक्रम [३२७-३८०]

कवलैः प्रमाणप्राप्ततोपपन्ना स्यात्, न हि स्वभोजनस्यार्द्धं भुक्तवतः प्रमाणप्राप्तत्वमुपपद्यते, 'अवड्ढोमोयरिय'त्ति अवमस्य–ऊनस्योदरस्य करणमवमोदरिका, अपकृष्टं किञ्चिदूनमर्द्धं यस्यां सा अपार्द्धा, द्वात्रिंशत्कवलापेक्षया द्वादशानामपार्द्धरूपत्वात्, अपार्द्धा चासाववमोदरिका चेति समासः, एवं धर्मधर्मिणोरभेदादपार्द्धावमोदरिकः साधुः स्यात्, एवं ज्ञेयं, 'दुभागपत्ते'त्ति द्विभागः–अर्द्धं तत्प्राप्तो द्विभागप्राप्तः आहारः स्यात् इति गम्यं,'ओमोयरिय'त्ति अवमोदरिकः साधुरिति ज्ञेयं 'पगाम'त्ति प्रकामं, अत्यर्थं रसभोगीति। 'सत्थाइय'त्ति (सू. २६९) शस्त्राद्–अग्नेरतीतं–उत्तीर्णं शस्त्रातीतं पृथुकादि 'सत्थपरि'त्ति वर्णाद्यन्यथाकरणेनाचित्तीकृतस्य 'एसिय'त्ति एषणीयस्य गवेषणा विशुद्धस्य 'वेसिय'त्ति व्येषितस्य ग्रहणैषणाग्रासैषणाविशोधितस्य, अथवा वेषो–मुनिरूपो वेषः स हेतुर्लाभे यस्य तद्वेषिकं, 'सामुदाणि'त्ति भिक्षारूपस्य, 'निक्खित्तत्त'त्ति त्यक्तशस्त्रमुशलः, 'ववगय'त्ति व्यपगतपुष्पमालाचन्दनानुलेपनः, 'ववगयचुयचत्तदेहं'ति व्यपगताः—स्वाश्रयपृथग्भूताः कृम्यादयः च्युता–मृताः स्वतः परतो वा पृथ्व्यादयः, 'चइय'त्ति त्याजिता भोज्यद्रव्यादायकेन 'चत्त'त्ति स्वयमेव दायकेन भक्ष्यद्रव्यात् त्यक्ता देहा–अभेदविवक्षया देहिनो यस्मात् स तमाहारं जीवैर्विप्पजढं रहितमिति, अकयं अकृतं साध्वर्थं, अकारितं दायकेनेति, विशेषणद्वयेनानाधाकर्मिक उपात्तः, असङ्कल्पितं साध्वर्थं, अणाहूयं न विद्यते आह्वानं–आमन्त्रणं नित्यं मद्गृहे पोषमात्रमन्नं ग्राह्यमिति,'अकीय'न्ति न क्रीतकृतं, क्रयेण–मूल्येन साध्वर्थं न कृतं, अनुद्दिट्ठं 'नवकोडि'त्ति इह कोटयो–विभागाः,ताश्चेमाः–न जीवं हन्ति न घातयति घ्नन्तं नानुमन्यते ३, एवं न पचति ३ न क्रीणाति ३ एवंरूप ९ कोटिपरिशुद्धं, दशदोषविप्रमुक्तं, दोषाः शङ्कितम्रक्षितादयः, 'संकियमक्खिय निक्खित्ते'त्यादि,'उग्गम'त्ति उद्गमश्च आधाकर्मादिदोषाः १६ उत्पादनादोषाः १६'धाई दूई निमित्ते'इत्यादि,

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एतद्विषया एषणा पिण्डविशुद्धिस्तया शुद्धं 'असुरस्सुरं अचवचव'मिति द्वावेतावनुकरणशब्दौ,अदुयं अद्रुतं अविलम्बितं–नातिमन्दं 'अपरिसाडि'त्ति अनवयवोज्झनं 'अक्खोवंजण'त्ति अक्षोपाञ्जनं–शकटधूर्म्रक्षणं व्रणानुलेपनं च–व्रणौषधं च अक्षोपाञ्जनव्रणानुलेपने ते इव विवक्षितार्थसिद्धेः रसादिनिरभिष्वंगतया अक्षोपाञ्जनव्रणानुलेपनभूतोऽस्तं,'संयमजायं'ति संयमयात्रा–संयमानुपालनं सैव मात्रा–आलम्बनसमूहांशः संयमयात्रामात्रा तदर्थं वृत्तिः–प्रवृत्तिर्यत्राहारे स संयमयात्रामात्रावृत्तिकस्तं, संयमभारवहनार्थितायै इति ॥ **सप्तमशते प्रथम उद्देशकः** ॥

'पच्चक्खायं'ति (सू. २७०) सर्वेभ्यः सत्त्वादिभ्यश्चतुर्भ्यः प्रत्याख्यातं–प्रत्याख्यानं कृतं मयेति वदतस्तस्य नरस्य 'सुपच्च'त्ति सुप्रत्याख्यातमिति सुष्ठु प्रत्याख्यानं कृतं स्यात्, नो–नैव दुष्प्रत्याख्यातमिति, 'सिय सुप्पच्चक्खायं' सिय दुप्पच्चक्खायं इति प्रतिपाद्य यत् प्रथमं दुष्प्रत्याख्यातत्ववर्णनं कृतं तद्यथासङ्ख्यन्यायत्यागेन यथासन्नतान्यायमङ्गीकृत्येत्ति द्रष्टव्यं 'णो एवं अभिसम'त्ति नो–नैव 'एवं'ति वक्ष्यमाणप्रकारेण अभिसमन्वागतं–अवगतं स्यात्, 'नो सुप्पच्चक्खायं'ति ज्ञानाभावेन यथावदपरिपालनात् सुप्रत्याख्यातत्वाभावः,'तिविहं तिविहेणं'ति त्रिविधं–कृतकारितानुमतिभेदभिन्नं योगमाश्रित्य त्रिविधेन–मनोवाक्कायलक्षणेन करणेन,'असंजय'त्ति संयतो–वधादिपरिहारप्रयतः विरतो—वधादेर्निवृत्तः प्रतिहतानि—अतीतकालसम्बन्धीनि निन्दातः प्रत्याख्यातानि च–अनागतप्रत्याख्यानेन पापकर्माणि येन स तथा, संयतादिपदानां कर्म्मधारयः, ततस्तन्निषेधादसंयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, 'सकिरिए'त्ति कायिक्यादिक्रियः, 'असंवुडे'त्ति असंवृताश्रवद्वारः, 'एगंतदंडे'त्ति एकान्तेन–सर्वथा परान् दण्डयति यस्स एकान्तदण्डः, एकान्तबालः, सर्वथा बालिशः, अज्ञ इत्यर्थः, 'मूलगुणे'त्ति(सू. २७१) प्राणा-

७ शतके २ उद्देशः

॥१०३॥

अत्र **शतक-७ उद्देशक** : १ समाप्तः, अथ **शतक-७ उद्देशक** : २ आरभ्यते

तिपातादिविरमणादयः ५, उत्तरगुणाः–पिण्डविशुद्ध्यादयः, **'देसमूलगुण'**त्ति स्थूलप्राणातिपातादयः, सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानं साधूनां देशमूलगुणप्रत्याख्यानं श्राद्धानां, **'अणागय'गाह** (*५४) त्ति, पर्युषणादावाचार्यादिवैयावृत्त्यकरणमनागतमित्यर्थः, आह च–**'होही पज्जोसवणे'**त्यादि, एवमतिक्रान्तं स्यात्,उक्तं च–"पज्जोसवणाइ तवो"त्ति ॥१॥"सो दाइ तव्वोकम्म०॥२॥"-मित्यादि, **'कोडी'**त्ति कोटीसहितं मीलितप्रत्याख्यानद्वयकोटि, चतुर्थादि कृत्वाऽनन्तरमेव चतुर्थादिकरणमित्यर्थः,आह च–पट्ठ-वणओ य दिवसो०'त्ति ॥१॥ **'नियंटियं'**ति नियन्त्रितं–नितरां यन्त्रितं–बद्धं प्रतिज्ञातदिनादौ ग्लानत्वाद्यन्तरायभावेऽपि नियमात् कर्त्तव्यमिति हृदयं, यदाह–'मासे मासे य तवो०'त्ति ॥१॥ 'एयं पच्चक्खाणं०'ति ॥२॥" **'साकार'**त्ति आक्रियन्ते इत्याकाराः–प्रत्याख्यानापवादहेतवो महत्तराकारादयः, सहाकारैर्वर्त्तत इति साकारं, अविद्यमानाकारं अनाकारं,**'परिमाणकडं'**ति दत्त्यादिभिः कृतपरिमाणं परिमाणकृतं, आह च–'दत्तीहि व कवलेहि व०'त्ति ॥१॥ **'णिरवसेसं'**ति निरवशेषं समग्राशनादिविषयं, आह च–'सव्वं असणं सव्वं च पाणगं०' ति॥१॥ **'संकेयं चेव'**त्ति सङ्केतः–चिह्नं, सङ्केतयुक्तत्वात् सङ्केतमङ्गुष्ठादि, यदाह–'अंगुट्ठमुट्ठि गंठी०'ति ॥१॥" अद्धा–कालस्तस्याः प्रत्याख्यानं पौरुष्यादिकालस्य नियमनं,आह–**'अद्धापच्चक्खाणं'**ति ॥१॥" उक्तमिति दश-विधप्रत्याख्यानं **'अपच्छिम'**त्ति अपश्चिमा मरणं प्रतीतं, यद्यपि प्रतिक्षणमावीचीमरणमस्ति तथापि तन्न गृह्यते, किं तर्हि ?, विव-क्षितं सर्वायुष्कक्षयलक्षणमिति, मरणमेवान्तो मरणान्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी, संल्लिख्यते–कृशीक्रियते अनया शरीरकषायादि इति संलेखना–तपोविशेषलक्षणा, तस्या जोषणं–सेवनं तस्याराधना—अखण्डकालकरणं, तद्भवाऽपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोष-णाराधनता, इह च सप्त दिग्व्रतादयो देशोत्तरगुणाः, संलेखना तु भजनया, तथाहि–सा देशोत्तरगुणवतो देशोत्तरगुणः, आव-

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ऽयके तथाभिधानात्, इतरस्य तु सर्वोत्तरगुणः, साकारानाकारादिप्रत्याख्यानरूपत्वात्, इति ॥ **'पंचिंदियतिरिक्खजोणिय'त्ति** (सू. २७२) मनुष्या नार्यश्च मूलदेशगुणप्रत्याख्यानिनः अप्रत्याख्यानिनश्च, नवरं पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो देशत एव मूलगुणप्रत्याख्यानिनः, सर्वविरतेस्तेषामभावात्, इह चोद्यं गाथया–"तिरियाणं चारित्तं निवारियं अहव तो पुणो तेसिं। सुव्वइ बहुयाणं चिय महव्वयारोवणं समए ॥ १ ॥" परिहारोऽपि गाथयैव "ण महव्वयसब्भावेऽवि चरणपरिणामसंभवो तेसिं। ण बहुगुणाणंपि जहा केवलसंभूइपरिणामो ॥२॥" अथ मूलगुणप्रत्याख्यानादिवतामल्पत्वादि चिन्तयति–**'सव्वत्थोवा जीवा मूलगुण'त्ति** देशतः सर्वतो वा ये मूलगुणवन्तस्ते स्तोकाः, देशसर्वाभ्यामुत्तरगुणवतामसङ्ख्येयगुणत्वात्, इह च सर्वविरतेषु ये उत्तरगुणवन्तस्तेऽवश्यं मूलगुणवन्तः,देशमूलगुणवन्तस्तु स्यादुत्तरगुणवन्तः स्यात्तद्विकलाः, य एव च तद्विकलास्त एवेह मूलगुणवन्तो ग्राह्याः, ते चेतरेभ्यः स्तोका एव, बहुतरयतीनां दशविधप्रत्याख्यानयुक्तत्वात्, तेऽपि च मूलगुणेभ्यः सङ्ख्यातगुणा एव नासङ्ख्यातगुणाः, सर्वयतीनामपि सङ्ख्यातत्वात्, देशविरतेषु पुनर्मूलगुणवद्भ्यो भिन्ना अपि उत्तरगुणिनो लभ्यन्ते, ते च मधुमांसादिविचित्राभिग्रहवशाद्बहुतराः स्युरिति च कृत्वा देशविरतोत्तरगुणवतोऽधिकृत्योत्तरगुणवतां मूलगुणवद्भ्योऽसङ्ख्यातगुणत्वं स्याद् अत आह– **'उत्तरगुणपच्चक्खाणा असंखिज्जगुण'त्ति, 'अपच्चक्खाणी अणंतगुण'त्ति** मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च एव प्रत्याख्यानिनो अन्ये त्वप्रत्याख्यानिन एव, वनस्पतिप्रभृतिकत्वात्तेषामनन्तगुणत्वमिति, मनुष्यसूत्रे **'अपच्चक्खाणी असंखिज्जगुण'त्ति** यदुक्तं तत् सम्मूर्च्छिमग्रहणेनावसेयं, इतरेषां सङ्ख्यातत्वात्, **'एवं अप्पाबहुगाणि तिण्णिवि जहा पढमिल्लए दंडए'त्ति** तत्रैकं जीवानामिदमेव, द्वितीयं पञ्चेन्द्रियतिरश्चां, तृतीयं तु मनुष्याणां, एतानि च यथा निर्विशेषेण मूलगुणादिप्रतिबद्धे दण्डके उक्तानि

७ शतके २ उद्देशः

॥१०४॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एवमिह त्रीण्यपि वाच्यानि, विशेषमाह–'नवरं' इत्यादि, 'पंचिंदिया तिरिक्खजोणिया मणुस्सा य एवं चेव'त्ति यथा जीवाः सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान्यादय उक्ताः एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च वाच्याः, इह च पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चोऽपि सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः स्युरित्येवमवसेयं, देशविरतानां लेशतः सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानस्याभिमतत्वादिति। मूलगुणप्रत्याख्यानिप्रभृतयश्च संयतादयः स्युरिति संयतादिसूत्रं 'तिन्निवि'त्ति जीवास्त्रिविधा अपीत्यर्थः, 'एवं जहेवे'त्यादि, एवं–अनेनैवाभिलापेन यथैव प्रज्ञापनायां तथैव सूत्रमिदमध्येयं, तच्चैवम्–नेरइया णं भंते! किं संजया १ असंजया २ संजयासंजया ३ ?, गो०! नो संजया असंजया नो संजयासंजया'इत्यादि, 'अप्पे'त्यादि, अल्पबहुत्वं संयतानां तथैव यथा प्रज्ञापनोक्तं,'तिण्णिवि'त्ति जीवानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च, तत्र सर्वस्तोकाः संयता जीवाः, संयतासंयता असङ्ख्येयगुणाः, असंयता अनन्तगुणाः, पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्तु सर्वस्तोकाः संयतासंयताः, असंयता असङ्ख्येयगुणाः, मनुष्यास्तु सर्वस्तोकाः संयताः संयतासंयताः सङ्ख्येयगुणाः, असंयता असङ्ख्येयगुणा इति। संयतादयस्तु प्रत्याख्यानादिमत्त्वे सति स्युरिति प्रत्याख्यानादिसूत्रं, ननु षष्ठशते चतुर्थोद्देशके प्रत्याख्यानादयः प्ररूपिता इति किं पुनस्तत्प्ररूपणेन ?, सत्यमेतत्, किन्त्वल्पबहुत्वचिन्तारहितास्तत्र प्ररूपिताः, इह तु तद्युक्ताः सम्बन्धान्तरद्वारायाताश्चेति ॥ जीवाधिकारात्तच्छाश्वतत्वसूत्राणि–'दव्वट्ठयाए'त्ति जीवद्रव्यत्वेनेत्यर्थः,'भावट्ठयाए'त्ति नारकादिपर्यायत्वेनेति ॥ **सप्तमशते द्वितीयोद्देशकविवरणम्** ॥

'पाउसे'त्ति (सू. २७४) प्रावृडादौ बहुत्वाज्जलस्नेहस्य महाहारतोक्ता, प्रावृट् च श्रावणादि वर्षारात्रोऽश्वयुजादिः 'सरदे'त्ति शरद् मार्गशीर्षादिः, तत्र चाल्पाहाराः स्युरिति, ग्रीष्मे सर्वाल्पाहारतोक्तेः, अत एव शेषे स्वल्पाहारता क्रमेण ज्ञेया, 'हरियगरे-

७ शतके २ उद्देशः

अत्र **शतक-७ उद्देशक** : २ समाप्तः, अथ **शतक-७ उद्देशक** : ३ आरभ्यते

श्रीभग० लघुवृत्तौ

रिज्जमाण'त्ति हरितकाश्च–नीलकाः रेरिज्यमाना–देदीप्यमानाः **'सिरीए'** श्रिया वनलक्ष्म्या **'उसिणजोणिय'**त्ति उष्णमेव योनिर्येषां ते उष्णयोनिकाः॥**'मूला मूलजीव'**त्ति (सू. २७५) मूलानि मूलजीवैः स्पृष्टानि–व्याप्तानि,**'जाव'** यावत्करणात् 'खंधा खंधजीवफुडा, एवं तया साला पवाला पुप्फा फला' इत्यादि दृश्यं, **'जइ णं'**ति यदि भदन्त ! मूलानि मूलादिजीवैः स्पृष्टानि तदा **'कम्ह'**त्ति कस्मात्–केन हेतुना वनस्पतय आहारयन्ति ?, आहारस्य भूमिगतत्वात्, अत्रोत्तरं–मूलानि मूलजीवस्पृष्टानि, केवलं पृथ्वीप्रतिबद्धानि,**'तम्ह'**त्ति तस्मात् प्रतिबन्धात् पृथ्वीरसं मूलजीवा आहारयन्ति, कन्दाः कन्दजीवस्पृष्टाः केवलं मूलजीवप्रतिबद्धाः, तस्मात् मूलजीवोपात्तं पृथ्वीरसमाहारयन्तीति, एवं स्कन्धादिष्वपि वाच्यं॥ **'आलुए'**त्ति (सू. २७६) एतेऽनन्तकायभेदा लोकरूढिगम्याः, **'तहप्पगार'**त्ति तथाप्रकारा–आलुकादिसदृशाः, **'विविहसत्त'**त्ति विविधा–बहुप्रकारा वर्णादिभेदात् सत्त्वा येषां ते विविधसत्त्वास्ते तथा, अथवा विविधा–विचित्रकर्मतया अनेकविधाः सत्त्वा येषु ते तथा॥ **'सिय भंते ! कण्हलेसे नेरइए'** इत्यादि (सू. २७७)**'ठिइं पडुच्च'**त्ति, अत्रेयं भावना–सप्तमपृथिवीनारकः कृष्णलेश्यस्तस्य स्वस्थितौ बहुक्षपितायां तच्छेषे वर्त्तमाने पञ्चमपृथिव्यां सप्तदशसागरस्थितिर्नारको नीललेश्यस्समुत्पन्नस्तमपेक्ष्य स कृष्णलेश्योऽल्पकर्मा व्यपदिश्यते, एवमुत्तरसूत्राण्यपि भावनीयानि, **'जोइसियस्स'**त्ति एकस्या एव तेजोलेश्यायास्तस्य सद्भावात् संयोगो नास्तीति। सलेश्यजीवाश्च वेदनावन्तः स्युरिति वेदनासूत्राणि **'कम्म वेयण'**त्ति (सू. २७८) उदयप्राप्तं कर्म वेदना,धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षणात्,**'नोकम्मं णिज्जरइ'**ति कर्माभावो निर्जरा, तस्या एवंस्वरूपत्वादिति **'नोकम्मं णिज्जरिंसु'**त्ति वेदितरसं कर्म नोकर्म्म तन्निर्जरितवन्तः, कर्मभूतस्य कर्मणो निर्जरणासम्भवादिति, **'अव्वोच्छित्तिनयट्ठाए'**त्ति (सू. २७९) अव्यवच्छित्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तिनयस्तस्यार्थोऽ-

७ शतके ३ उद्देशः

॥१०५॥

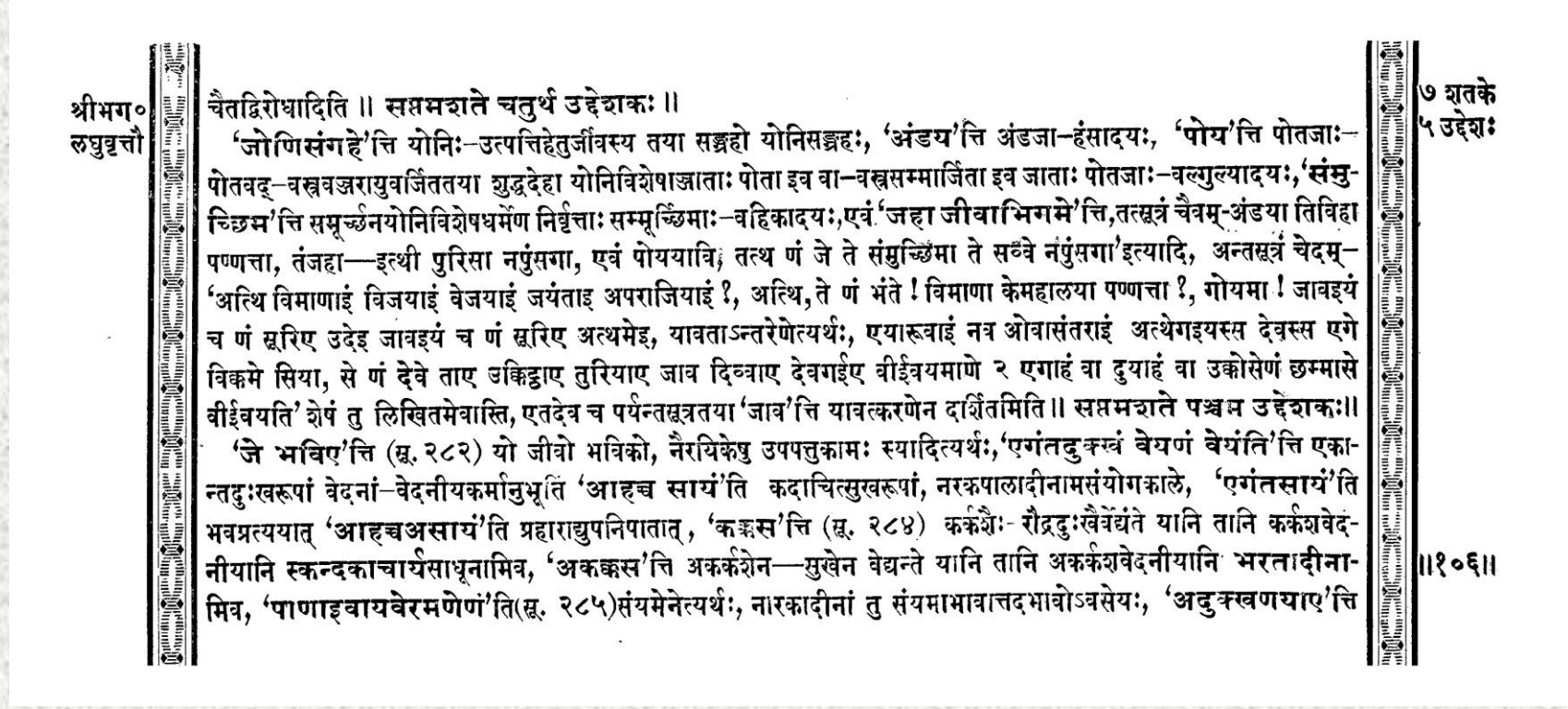
श्रीभग० लघुवृत्तौ

व्यवच्छित्तिनयार्थस्तद्भावस्तत्ता तया अव्यवच्छित्तिनयार्थतया, द्रव्यमाश्रित्य शाश्वता इति, 'वोच्छित्तिनय'त्ति व्यवच्छित्तिप्रधानो यो नयस्तस्यार्थो यः पर्यायलक्षणस्तस्य यो भावः सा व्यवच्छित्तिनयार्थता तया पर्यायानाश्रित्याशाश्वता नारका इति॥ सप्तमशते तृतीय उद्देशकः॥

'एते जहा जीवाभिगमे'त्ति (सू. २८१) एवं च तत्सूत्रं–पुढविकाइया जाव तसकाइया, से किं तं पुढविकाइया ?, पुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता, तं०–सुहुमपुढविकाइया बादरपुढविका०'इत्यादि, अंतः पुनरस्य एवं 'एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ, तंजहा–सम्मत्तकिरियं मिच्छत्तकिरियं वा' अत एवोक्तम्–'जाव कम्मत्ते'त्यादि, वाचनान्तरे त्विदं दृश्यते–जीवा छव्विह पुढवी जीवाणं ठिइ भवठिई काए। निल्लेवण अणगारो किरिया सम्मत्तमिच्छत्ते ॥५५*॥त्यादि, तत्र च षड्विधा जीवा दर्शिता एव, 'पुढवि'त्ति षड्विधा बादरपृथ्वी श्लक्ष्णा १ शुद्धा २ वालुका ३ मनःशिला ४ शर्करा ५ खरपृथ्वो ६ भेदात्, एषामेव पृथ्वीभेदजीवानां स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तिका जघन्या यथायोगं द्वाविंशतिसहस्रान्ता वाच्या, तथा नारकादिषु भवस्थितिर्वाच्या, सा च सामान्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तादिका त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता, तथा कायस्थितिर्वाच्या, सा च जीवस्य जीवकाये सर्वाद्धमित्यादिका, तथा निर्लेपना वाच्या, सा चैवम्–प्रत्युत्पन्नपृथिवीकायिकाः समयापहारेण जघन्यपदेऽसङ्ख्याताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते, एवमुत्कृष्टपदेऽपि, किन्तु जघन्यपदादुत्कृष्टपदमसङ्ख्येयगुणमित्यादि॥ 'अणगार'त्ति अनगारवक्तव्यता वाच्या, सा चेयम्–अविशुद्धलेश्योऽनगारः असमवहतेनात्मना अविशुद्धलेश्यं देवं देवीमनगारं च जानाति, नायमर्थः'इत्यादि'किरिया सम्मत्तमिच्छत्ते'ति एवं दृश्यम्–अन्ययूथिका एवमाख्यान्ति–एको जीव एकेन समयेन द्वे क्रिये कुर्यात्–सम्यक्त्वक्रियां च मिथ्यात्वक्रियां चेति, मिथ्या

७ शतके ४ उद्देशः

अत्र **शतक-७ उद्देशक** : ३ समाप्तः, अथ **शतक-७ उद्देशक** : ४ आरभ्यते



श्रीभग० लघुवृत्तौ

चैतद्विरोधादिति ॥ सप्तमशते चतुर्थ उद्देशकः ॥

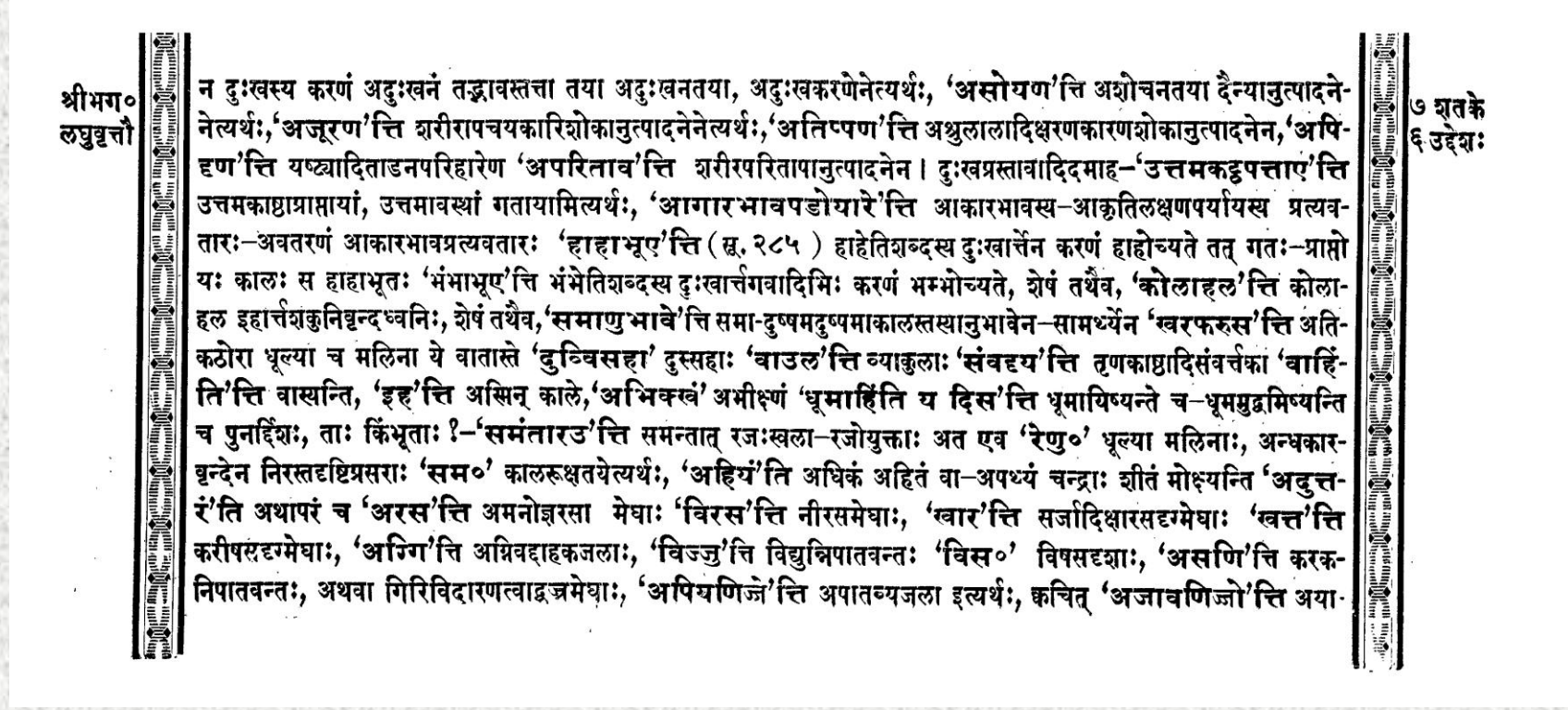
'जोणिसंगहे'त्ति योनिः–उत्पत्तिहेतुर्जीवस्य तया सङ्ग्रहो योनिसङ्ग्रहः, 'अंडय'त्ति अंडजा–हंसादयः, 'पोय'त्ति पोतजाः–पोतवद्–वस्त्रवज्जरायुवर्जिततया शुद्धदेहा योनिविशेषाज्जाताः पोता इव वा–वस्त्रसम्मार्जिता इव जाताः पोतजाः–वल्गुल्यादयः,'संमुच्छिम'त्ति समूर्च्छनयोनिविशेषधर्मेण निर्वृत्ताः सम्मूर्च्छिमाः–वहिकादयः,एवं 'जहा जीवाभिगमे'त्ति,तत्सूत्रं चैवम्-अंडया तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—इत्थी पुरिसा नपुंसगा, एवं पोययावि; तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे नपुंसगा'इत्यादि, अन्तसूत्रं चेदम्–'अत्थि विमाणाइं विजयाइं वेजयाइं जयंताइ अपराजियाइं ?, अत्थि,ते णं भंते ! विमाणा केमहालया पण्णत्ता ?, गोयमा ! जावइयं च णं सूरिए उदेइ जावइयं च णं सूरिए अत्थमेइ, यावताऽन्तरेणेत्यर्थः, एयारूवाइं नव ओवासंतराइं अत्थेगइयस्स देवस्स एगे विक्कमे सिया, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए जाव दिव्वाए देवगईए वीईवयमाणे २ एगाहं वा दुयाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे वीईवयति' शेषं तु लिखितमेवास्ति, एतदेव च पर्यन्तसूत्रतया 'जाव'त्ति यावत्करणेन दर्शितमिति ॥ सप्तमशते पञ्चम उद्देशकः॥

'जे भविए'त्ति (सू. २८२) यो जीवो भविको, नैरयिकेषु उपपत्तुकामः स्यादित्यर्थः,'एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति'त्ति एकान्तदुःखरूपां वेदनां–वेदनीयकर्मानुभूतिं 'आहच्च सायं'ति कदाचित्सुखरूपां, नरकपालादीनामसंयोगकाले, 'एगंतसायं'ति भवप्रत्ययात् 'आहच्चसायं'ति प्रहाराद्युपनिपातात्, 'कक्कस'त्ति (सू. २८४) कर्कशैः- रौद्रदुःखैर्वेद्यंते यानि तानि कर्कशवेदनीयानि स्कन्दकाचार्यसाधूनामिव, 'अकक्कस'त्ति अकर्कशेन—सुखेन वेद्यन्ते यानि तानि अकर्कशवेदनीयानि भरतादीनामिव, 'पाणाइवायवेरमणेणं'ति(सू. २८५)संयमेनेत्यर्थः, नारकादीनां तु संयमाभावात्तदभावोऽवसेयः, 'अदुक्खणयाए'त्ति

७ शतके ५ उद्देशः

॥१०६॥

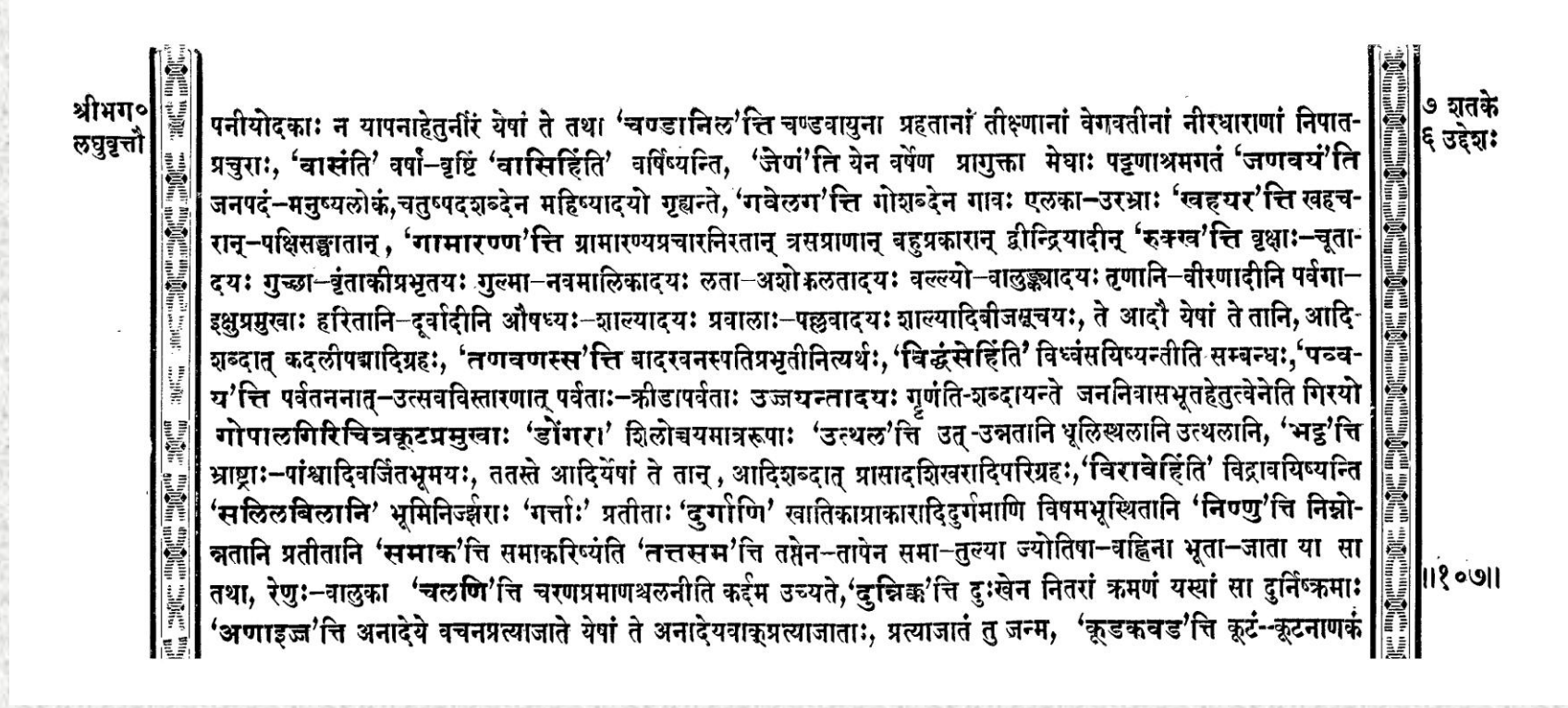
अत्र शतक-७ उद्देशक : ४ समाप्तः, अत्र शतक-७ उद्देशक : ५ आरब्धः एवं समाप्तः, अथ शतक-७ उद्देशक : ६ आरभ्यते



श्रीभग० लघुवृत्तौ

न दुःखस्य करणं अदुःखनं तद्भावस्तत्ता तया अदुःखनतया, अदुःखकरणेनेत्यर्थः, 'असोयण'त्ति अशोचनतया दैन्यानुत्पादनेनेत्यर्थः,'अजूरण'त्ति शरीरापचयकारिशोकानुत्पादनेनेत्यर्थः,'अतिप्पण'त्ति अश्रुलालादिक्षरणकारणशोकानुत्पादनेन,'अपिट्टण'त्ति यष्ट्यादिताडनपरिहारेण 'अपरिताव'त्ति शरीरपरितापानुत्पादनेन। दुःखप्रस्तावादिदमाह–'उत्तमकट्ठपत्ताए'त्ति उत्तमकाष्ठाप्राप्तायां, उत्तमावस्थां गतायामित्यर्थः, 'आगारभावपडोयारे'त्ति आकारभावस्य–आकृतिलक्षणपर्यायस्य प्रत्यवतारः–अवतरणं आकारभावप्रत्यवतारः 'हाहाभूए'त्ति (सू. २८५) हाहेतिशब्दस्य दुःखार्त्तेन करणं हाहोच्यते तत् गतः–प्राप्तो यः कालः स हाहाभूतः 'भंभाभूए'त्ति भंभेतिशब्दस्य दुःखार्त्तगवादिभिः करणं भम्भोच्यते, शेषं तथैव, 'कोलाहल'त्ति कोलाहल इहार्त्तशकुनिवृन्दध्वनिः, शेषं तथैव,'समाणुभावे'त्ति समा-दुष्षमदुष्षमाकालस्तस्यानुभावेन–सामर्थ्येन 'खरफरुस'त्ति अतिकठोरा धूल्या च मलिना ये वातास्ते 'दुव्विसहा' दुस्सहाः 'वाउल'त्ति व्याकुलाः 'संवट्टय'त्ति तृणकाष्ठादिसंवर्त्तका 'वाहिंति'त्ति वास्यन्ति, 'इह'त्ति अस्मिन् काले,'अभिक्खं' अभीक्ष्णं 'धूमाहिंति य दिस'त्ति धूमायिष्यन्ते च–धूममुद्गमिष्यन्ति च पुनर्दिशः, ताः किंभूताः ?–'समंतारउ'त्ति समन्तात् रजःखला–रजोयुक्ताः अत एव 'रेणु०' धूल्या मलिनाः, अन्धकारवृन्देन निरस्तदृष्टिप्रसराः 'सम०' कालरूक्षतयेत्यर्थः, 'अहियं'ति अधिकं अहितं वा–अपथ्यं चन्द्राः शीतं मोक्ष्यन्ति 'अदुत्तरं'ति अथापरं च 'अरस'त्ति अमनोज्ञरसा मेघाः 'विरस'त्ति नीरसमेघाः, 'खार'त्ति सर्जादिक्षारसदृग्मेघाः 'खत्त'त्ति करीषसदृग्मेघाः, 'अग्गि'त्ति अग्निवद्दाहकजलाः, 'विज्जु'त्ति विद्युन्निपातवन्तः 'विस०' विषसदृशाः, 'असणि'त्ति करकनिपातवन्तः, अथवा गिरिविदारणत्वाद्वज्रमेघाः, 'अपियणिज्जे'त्ति अपातव्यजला इत्यर्थः, क्वचित् 'अजावणिज्जो'त्ति अया-

७ शतके ६ उद्देशः



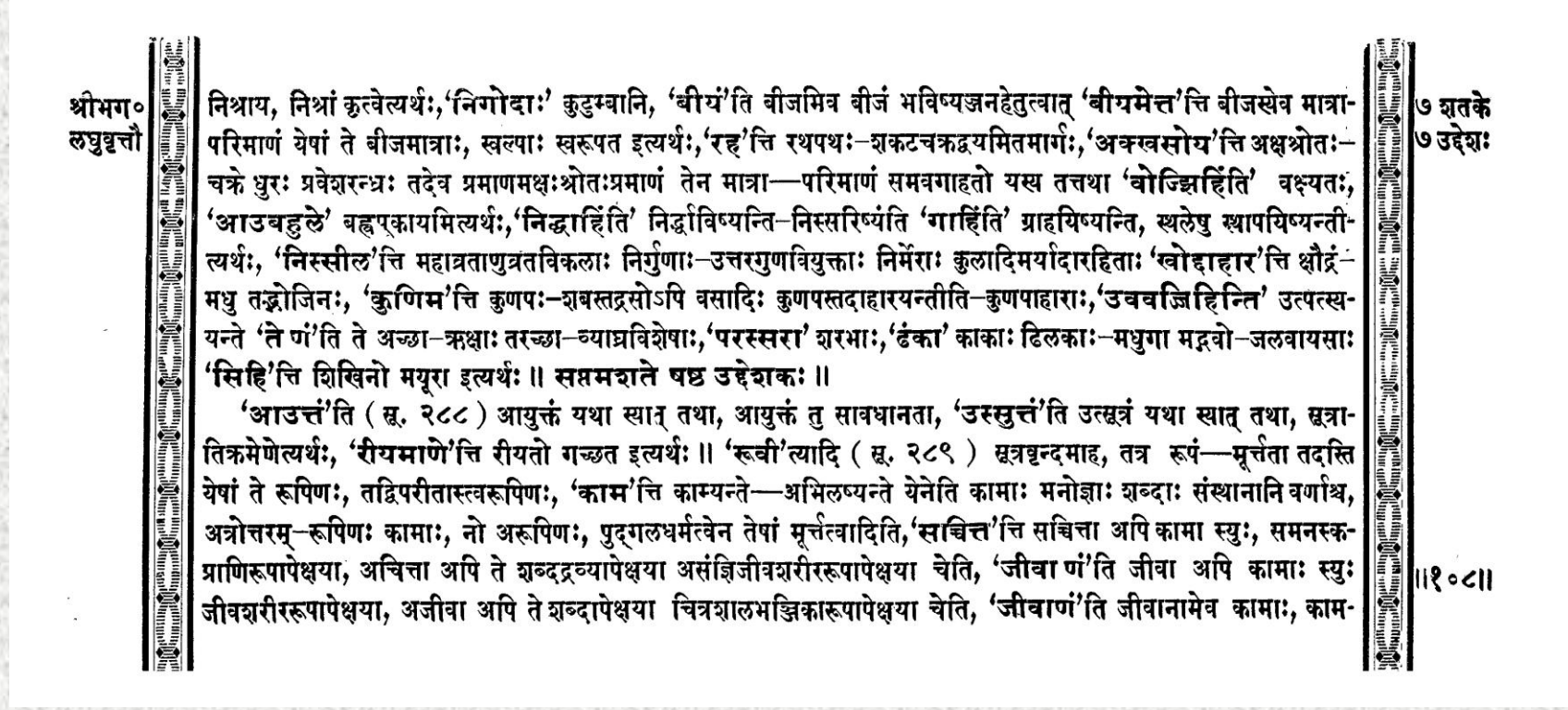
श्रीभग० लघुवृत्तौ

पनीयोदकाः न यापनाहेतुनीरं येषां ते तथा 'चण्डानिल'त्ति चण्डवायुना प्रहतानां तीक्ष्णानां वेगवतीनां नीरधाराणां निपात-प्रचुराः, 'वासंति' वर्षां–वृष्टिं 'वासिहिंति' वर्षिष्यन्ति, 'जेणं'ति येन वर्षेण प्रागुक्ता मेघाः पट्टणाश्रमगतं 'जणवयं'ति जनपदं–मनुष्यलोकं,चतुष्पदशब्देन महिष्यादयो गृह्यन्ते, 'गवेलग'त्ति गोशब्देन गावः एलका–उरभ्राः 'खहयर'त्ति खहच-रान्–पक्षिसङ्घातान्, 'गामारण्ण'त्ति ग्रामारण्यप्रचारनिरतान् त्रसप्राणान् बहुप्रकारान् द्वीन्द्रियादीन् 'रुक्ख'त्ति वृक्षाः–चूता-दयः गुच्छा–वृंताकीप्रभृतयः गुल्मा–नवमालिकादयः लता–अशोकलतादयः वल्ल्यो–वालुङ्क्यादयः तृणानि–वीरणादीनि पर्वगा–इक्षुप्रमुखाः हरितानि–दूर्वादीनि औषध्यः–शाल्यादयः प्रवालाः–पल्लवादयः शाल्यादिबीजमूलचयः, ते आदौ येषां ते तानि, आदि-शब्दात् कदलीपद्मादिग्रहः, 'तणवणस्स'त्ति बादरवनस्पतिप्रभृतीनित्यर्थः, 'विद्धंसेहिंति' विध्वंसयिष्यन्तीति सम्बन्धः,'पव्व-य'त्ति पर्वतननात्–उत्सवविस्तारणात् पर्वताः–क्रीडापर्वताः उज्जयन्तादयः गृणंति-शब्दायन्ते जननिवासभूतहेतुत्वेनेति गिरयो गोपालगिरिचित्रकूटप्रमुखाः 'डोंगर।' शिलोच्चयमात्ररूपाः 'उत्थल'त्ति उत्-उन्नतानि धूलिस्थलानि उत्थलानि, 'भट्ठ'त्ति भ्राष्ट्राः–पांश्वादिवर्जितभूमयः, ततस्ते आदियेंषां ते तान्, आदिशब्दात् प्रासादशिखरादिपरिग्रहः,'विरावेहिंति' विद्रावयिष्यन्ति 'सलिलबिलानि' भूमिनिर्झराः 'गर्त्ताः' प्रतीताः 'दुर्गाणि' खातिकाप्राकारादिदुर्गमाणि विषमभूस्थितानि 'निण्णु'त्ति निम्नो-नतानि प्रतीतानि 'समाक'त्ति समाकरिष्यंति 'तत्तसम'त्ति तप्तेन–तापेन समा–तुल्या ज्योतिषा–वह्निना भूता–जाता या सा तथा, रेणुः–वालुका 'चलणि'त्ति चरणप्रमाणश्चलनीति कर्दम उच्यते,'दुन्निक्क'त्ति दुःखेन नितरां क्रमणं यस्यां सा दुर्निष्क्रमाः 'अणाइज्ज'त्ति अनादेये वचनप्रत्याजाते येषां ते अनादेयवाक्प्रत्याजाताः, प्रत्याजातं तु जन्म, 'कूडकवड'त्ति कूटं–कूटनाणकं

७ शतके ६ उद्देशः

॥१०७॥

कपटं–वञ्चनाय यद्वेषान्तरादिकरणं'गुरुनिओग'त्ति गुरुषु–मात्रादिषु नियोगेन–अवश्यंतया यो विनयस्तेन रहिताः,'खरफरुस'त्ति खरपरुषाः स्पर्शतोऽतीवकठोरा 'श्यामवर्णा'धूमवर्णाः 'फुट्ट'त्ति विकीर्णकेशाः 'बहुण्हारु'त्ति बहुस्नायुभिः संपिनद्धं–सम्बद्धं दुर्दर्शनीयं रूपं येषां ते तथा, 'संकुडिय'त्ति सङ्कुचितं वलीलक्षणतरङ्गैः परिवेष्टितमङ्गं येषां ते तथा, के इवेत्याह–'जरापरिणय'त्ति जरापरिगतस्थविरनरा इव, प्रविरला दन्तविरलत्वेन परिशटिता च दन्तश्रेणिर्येषां ते तथा विकरालतुच्छदशनश्रेणिमुखाः, 'वंकवली'त्ति वंकं–वक्रं वलिभिः विकृतं–विकरालं भेषणं–भयकृन्मुखं येषां ते तथा,'कच्छु'त्ति कच्छुः–पामा तया 'कसर'त्ति कर्शैः–खसरैरभिभूता––व्याप्ता ये ते 'खरनख'त्ति खरतीक्ष्णनखानां कण्डूयनेन 'विक'त्ति विकृताकृतिव्रणा तनुर्येषां ते तथा, 'ददूकिटिभ'त्ति दर्द्रूकिटिभसिध्मानि क्षुद्रकुष्ठविशेषास्तैः स्फुटिताः–परुषा च्छविः–वपुस्त्वक् येषां ते तथा, 'चित्तलंग'त्ति चित्राङ्गाः, 'टोल'त्ति टोलगतयो–विषमगतयो यद्वा विषमाकृतयः, 'विसम'न्ति विषमाणि दीर्घह्रस्वादिना सन्धिरूपाणि बन्धनानि येषां ते तथा,'उक्कुडुय'त्ति उत्कुटुकानि–असम्बद्धानि अस्थिकानि-कीकसानि येषां ते तथा 'विभक्ता' भोजनविशेषरहिताः दुर्बलाः–कुत्सितसंहननाः कुप्रमाणाः–प्रमाणहीनाः असंस्थिताः–कुसंस्थानाः–सनाकुशयाः कुभोजिनः खलती-स्खलन्ती विह्वला गतिर्येषां ते 'विगयचिट्ठ'त्ति विकृतचेष्टा नष्टतेजसश्च, 'सीय'त्ति शीतोष्णखरपरुषवातेन 'विज्झडिय'त्ति व्याप्तं मलिनं च पांशुरूपेण रजसा 'उग्गुंडिय'त्ति उद्गुण्डितं–उद्धूलितं अङ्गोपाङ्गं येषां ते तथा,'उस्सण्णं'ति प्रायः 'धम्मसण्ण'त्ति धर्मश्रद्धा,'रयणि' रत्नेः–हस्तस्य प्रमाणं चतुर्विंशत्यङ्गुलमानं तेन मात्रा–परिमाणं येषां ते तथा, 'सोलसवासाइ'ति षोडशविंशतिवर्षपरमायुषः,'पुत्त'त्ति पुत्रनप्तृपरिवारप्रणयबहुलाः, अनेनाल्पायुष्टत्वेऽपि बह्वपत्यता तेषामुक्ता, अल्पेनापि कालेन यौवनसद्भावादिति, 'निस्साए'त्ति



श्रीभग० लघुवृत्तौ

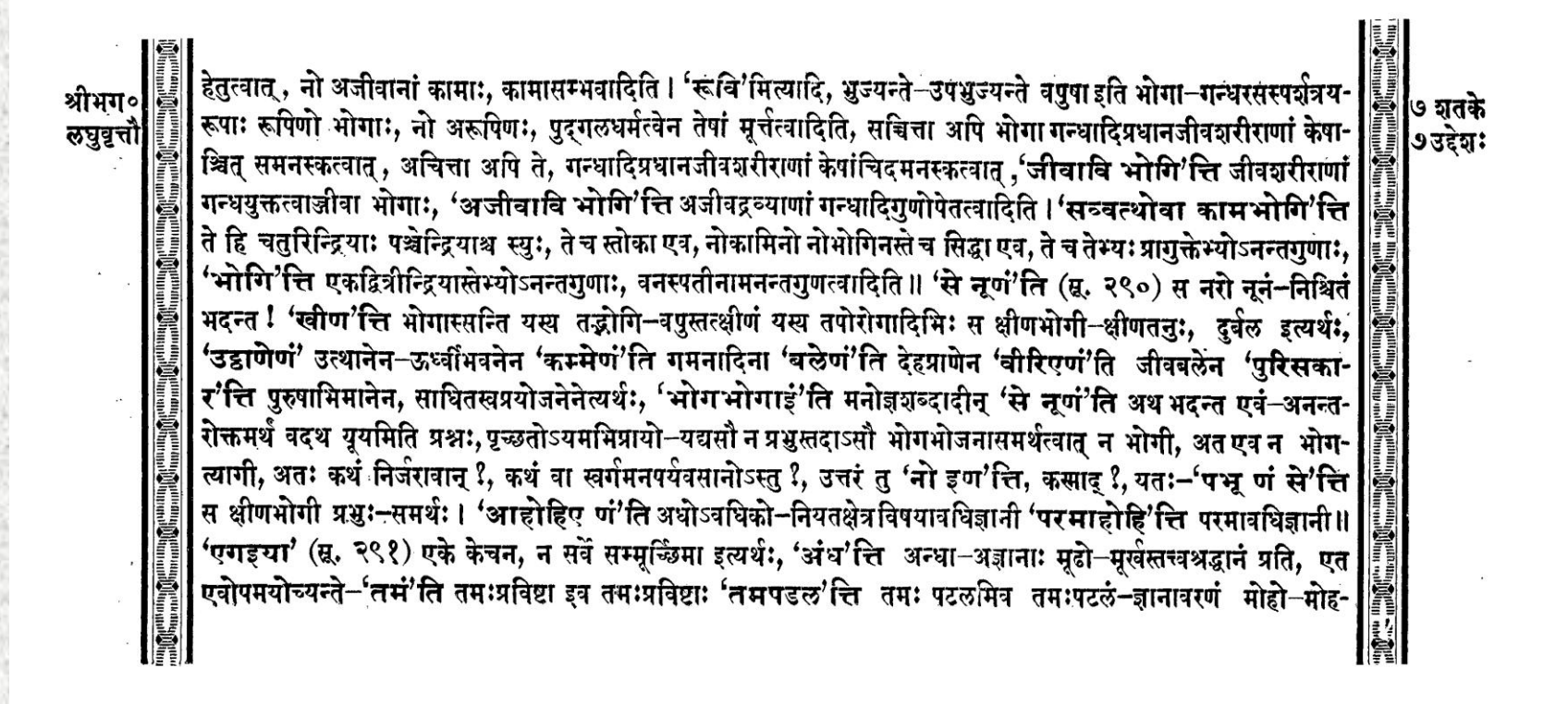
निश्राय, निश्रां कृत्वेत्यर्थः,'निगोदाः' कुटुम्बानि, 'बीयं'ति बीजमिव बीजं भविष्यज्जनहेतुत्वात् 'बीयमेत्त'त्ति बीजमेव मात्रा-परिमाणं येषां ते बीजमात्राः, स्वल्पाः स्वरूपत इत्यर्थः,'रह'त्ति रथपथः–शकटचक्रद्वयमितमार्गः,'अक्खसोय'त्ति अक्षश्रोतः–चक्रे धुरः प्रवेशरन्ध्रः तदेव प्रमाणमक्षःश्रोतःप्रमाणं तेन मात्रा—परिमाणं समवगाहतो यस्य तत्तथा 'वोज्झिहिंति' वक्ष्यतः, 'आउबहुले' बह्वप्कायमित्यर्थः,'निद्धाहिंति' निर्द्धाविष्यन्ति–निस्सरिष्यंति 'गाहिंति' ग्राहयिष्यन्ति, स्थलेषु स्थापयिष्यन्ती-त्यर्थः, 'निस्सील'त्ति महाव्रताणुव्रतविकलाः निर्गुणाः–उत्तरगुणवियुक्ताः निर्मेराः कुलादिमर्यादारहिताः 'खोद्दाहार'त्ति क्षौद्रं–मधु तद्भोजिनः, 'कुणिम'त्ति कुणपः–शबस्तद्रसोऽपि वसादिः कुणपस्तदाहारयन्तीति–कुणपाहाराः,'उववज्जिहिन्ति' उत्पत्स्य-यन्ते 'ते णं'ति ते अच्छा–ऋक्षाः तरच्छा–व्याघ्रविशेषाः,'परस्सरा' शरभाः,'ढंका' काकाः ढिलकाः–मधुगा मद्गवो–जलवायसाः 'सिहि'त्ति शिखिनो मयूरा इत्यर्थः ॥ **सप्तमशते षष्ठ उद्देशकः** ॥

'आउत्तं'ति (सू. २८८) आयुक्तं यथा स्यात् तथा, आयुक्तं तु सावधानता, 'उस्सुत्तं'ति उत्सूत्रं यथा स्यात् तथा, सूत्रा-तिक्रमेणेत्यर्थः, 'रीयमाणे'त्ति रीयतो गच्छत इत्यर्थः ॥ 'रूवी'त्यादि (सू. २८९) सूत्रवृन्दमाह, तत्र रूपं—मूर्त्तता तदस्ति येषां ते रूपिणः, तद्विपरीतास्त्वरूपिणः, 'काम'त्ति काम्यन्ते—अभिलष्यन्ते येनेति कामाः मनोज्ञाः शब्दाः संस्थानानि वर्णाश्च, अत्रोत्तरम्–रूपिणः कामाः, नो अरूपिणः, पुद्गलधर्मत्वेन तेषां मूर्त्तत्वादिति,'सचित्त'त्ति सचित्ता अपि कामा स्युः, समनस्क-प्राणिरूपापेक्षया, अचित्ता अपि ते शब्दद्रव्यापेक्षया असंज्ञिजीवशरीररूपापेक्षया चेति, 'जीवा णं'ति जीवा अपि कामाः स्युः जीवशरीररूपापेक्षया, अजीवा अपि ते शब्दापेक्षया चित्रशालभञ्जिकारूपापेक्षया चेति, 'जीवाणं'ति जीवानामेव कामाः, काम-

७ शतके ७ उद्देशः

॥१०८॥

अत्र **शतक-७ उद्देशक** : ६ समाप्तः, अथ **शतक-७ उद्देशक** : ७ आरभ्यते



श्रीभग० लघुवृत्तौ

हेतुत्वात्, नो अजीवानां कामाः, कामासम्भवादिति। 'रूवि'मित्यादि, भुज्यन्ते–उपभुज्यन्ते वपुषा इति भोगा–गन्धरसस्पर्शत्रय-रूपाः रूपिणो भोगाः, नो अरूपिणः, पुद्गलधर्मत्वेन तेषां मूर्त्तत्वादिति, सचित्ता अपि भोगा गन्धादिप्रधानजीवशरीराणां केषा-श्चित् समनस्कत्वात्, अचित्ता अपि ते, गन्धादिप्रधानजीवशरीराणां केषांचिदमनस्कत्वात्, **'जीवावि भोगि'त्ति** जीवशरीराणां गन्धयुक्तत्वाज्जीवा भोगाः, **'अजीवावि भोगि'त्ति** अजीवद्रव्याणां गन्धादिगुणोपेतत्वादिति। **'सव्वत्थोवा कामभोगि'त्ति** ते हि चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च स्युः, ते च स्तोका एव, नोकामिनो नोभोगिनस्ते च सिद्धा एव, ते च तेभ्यः प्रागुक्तेभ्योऽनन्तगुणाः, **'भोगि'त्ति** एकद्वित्रीन्द्रियास्तेभ्योऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तगुणत्वादिति॥ **'से नूणं'ति** (सू. २९०) स नरो नूनं–निश्चितं भदन्त! **'खीण'त्ति** भोगास्सन्ति यस्य तद्भोगि–वपुस्तत्क्षीणं यस्य तपोरोगादिभिः स क्षीणभोगी–क्षीणतनुः, दुर्बल इत्यर्थः, **'उट्ठाणेणं'** उत्थानेन–ऊर्ध्वीभवनेन **'कम्मेणं'ति** गमनादिना **'बलेणं'ति** देहप्राणेन **'वीरिएणं'ति** जीवबलेन **'पुरिसकार'त्ति** पुरुषाभिमानेन, साधितस्वप्रयोजनेनेत्यर्थः, **'भोगभोगाइं'ति** मनोज्ञशब्दादीन् **'से नूणं'ति** अथ भदन्त एवं–अनन्तरोक्तमर्थं वदथ यूयमिति प्रश्नः, पृच्छतोऽयमभिप्रायो–यद्यसौ न प्रभुस्तदाऽसौ भोगभोजनासमर्थत्वात् न भोगी, अत एव न भोग-त्यागी, अतः कथं निर्जरावान्?, कथं वा स्वर्गमनपर्यवसानोऽस्तु?, उत्तरं तु **'नो इण'त्ति**, कस्माद्?, यतः–**'पभू णं से'त्ति** स क्षीणभोगी प्रभुः–समर्थः। **'आहोहिए णं'ति** अधोऽवधिको–नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानी **'परमाहोहि'त्ति** परमावधिज्ञानी॥ **'एगइया'** (सू. २९१) एके केचन, न सर्वे सम्मूर्च्छिमा इत्यर्थः, **'अंध'त्ति** अन्धा–अज्ञानाः मूढो–मूर्खस्तत्त्वश्रद्धानं प्रति, एत एवोपमयोच्यन्ते–**'तमं'ति** तमःप्रविष्टा इव तमःप्रविष्टाः **'तमपडल'त्ति** तमः पटलमिव तमःपटलं–ज्ञानावरणं मोहो–मोह-

७ शतके ७ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२५९-३०८] + गाथा: दीप अनुक्रम [३२७-३८०]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नीयं तदेव जालं मोहजालं ताभ्यां प्रतिच्छन्ना–आच्छादिता ये ते तथा, 'अकाम'त्ति अकामो–वेदनानुभवे अनिच्छा अमनस्कत्वात् स एव निकरणं–कारणं यत्र तदकामनिकरणं–अज्ञानप्रत्ययमिति यथा स्यात्तथैव, वेदनां सुखदुःखरूपां वेदनं वा संवेदनमनुभवन्तीत्यादि,'अत्थी'त्यादि, अस्त्ययं पक्षो यदुत 'पभूवि'त्ति प्रभुरपि–संज्ञित्वेन यथा तद्रूपवेदनादिज्ञाने समर्थोऽपि, आस्तामसंज्ञित्वेनाप्रभुरित्यपिशब्दार्थः, अकामनिकरणं अनिच्छाप्रत्ययमनाभोगात् यथा स्यादेवं वेदनां वेदयन्तीति प्रश्नः, उत्तरं तु 'जे णं'ति यः प्राणी संज्ञित्वेनोपायसद्भावेन च हेयादीनां हानादौ समर्थोऽपि 'नो पहु'त्ति न प्रभुः–समर्थः विना प्रदीपेनान्धकारे रूपाणि 'पासित्तए'त्ति द्रष्टुं एषोऽकामप्रत्ययं वेदनां वेदयतीति सम्बन्धः,'पुरओ'त्ति पुरतः 'अणिज्झाएत्ताणं'ति अनिध्याय–चक्षुरव्यापार्य 'पासि'त्ति द्रष्टुं 'मग्गउ'त्ति मार्गतः–पृष्ठतः 'अणवयक्खित्ताणं'ति अनवेक्ष्य–पश्चाद्भागमनवलोक्येति, 'पभूवि'त्ति प्रभुरपि संज्ञित्वेन रूपदर्शनसमर्थोऽपि 'पकामनिकरणं'ति प्रकामः–ईच्छितार्थप्राप्तितः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽभिलाषः स एव निकरणं यथा स्यादेवं वेदनां वेदयन्तीति प्रश्नः, उत्तरं तु 'जे णं'ति यो न प्रभुः समुद्रस्य पारं गन्तुं तद्गतद्रव्यप्राप्त्यर्थित्वे सत्यपि तथाविधशक्तिवैकल्याद्, अत एव च यो न प्रभुः–समर्थः समुद्रस्य पारंगतानि रूपाणि द्रष्टुं स तद्गताभिलाषातिरेकात् प्रकामनिकरणं वेदनां वेदयन्तीति ॥ **सप्तमशते सप्तम उद्देशकः** ॥

'एवं जहा रायप्पसेणइज्जे'त्ति (सू. २९३) तत् सूत्रं चेदम्–'समे चेव जीवे, से नूणं भंते ! हत्थीउ कुंथू अप्पकम्मतराए चेव अप्पकिरियतराए चेव अप्पासवतराए चेव, कुंथूओ हत्थी महाकम्मतराए चेव ३ ?, हंता ! गोयमा !, कम्हा णं भंते ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे ?, गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओ लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा निवाया निवाय-

७ शतके ८ उद्देशः

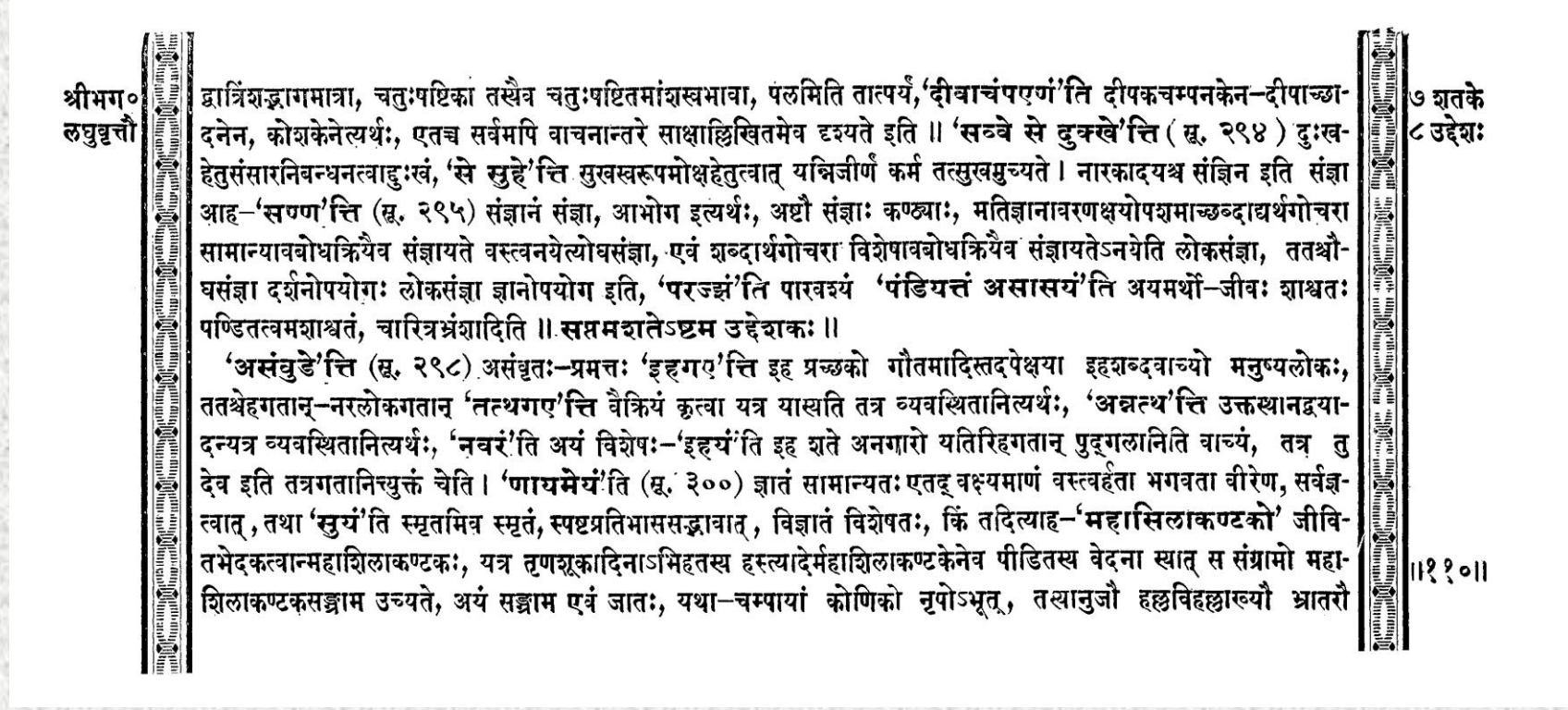
॥१०९॥

	अत्र **शतक-७ उद्देशक** : ७ समाप्तः, अथ **शतक-७ उद्देशक** : ८ आरभ्यते

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गंभीरा, अहे णं केइ पुरिसे पईवं च जोइं च गहाय तं कूडागारसालं अंतो २ अणुपविसइ २ तीसे कूडागारसालाए सव्वओ समंता घणनिचियनिरंतरनिच्छिड्डाइं दुवारवयणाइं पिहेइ, तीसे बहुमज्झदेसभाए तं पईवं पलीवेज्जा, से य पदीवे कूडागारसालमंतो ओभासेइ उज्जोएइ तवेइ पभासेइ, नो चेव णं कूडागारसालाए बाहिं, तए णं से पुरिसे तं पईवं इड्डरेणं पिहेइ, तएणं से पईवे इड्डरस्स अंतो ओभासेइ ४, नो चेव णं इड्डरस्स बाहिं, एवं गो०! कलिंजएणं गंडवाणियाए पच्छिपिडएणं आढएणं अद्धाढएणं पत्थएणं कुडवेणं अद्धकुडवेणं चउभाइयाए अट्ठभाइयाए सोलसियाए बत्तीसियाए चउसट्ठियाए, तए णं से पुरिसे तं पदीवं दीवाचंपणएणं पिहेइ, तएणं से पदीवे तं दीवाचंपणयं अंतो ओहासेइ ४, नो चेव णं दीवाचंपणयस्स बाहिं, एवं चउसट्ठियाए बाहिं जाव नो चेव णं कूडागारसालाए बाहिं, एवामेव गोयमा! जीवे जारिसयं पुव्वकम्मनिबद्धं बोंदिं निव्वत्तेइ तं असंखिज्जेहिं जीवपदेसेहिं सचित्तीकरेइ' शेषं तु लिखितमेवास्ति, अस्यायमर्थः–कूटाकारेण–शिखराकृत्या युक्ता शाला कूटाकारशाला 'दुहओ लित्ता' अंतर्बहिश्च गोमयादिलिप्ता 'गुत्ता' प्राकाराद्यावृत्ता 'गुत्तदुवारा' कपाटादियुक्तद्वारा 'निवाता निवायगंभीरा' निवातविशालेत्यर्थः, 'जोइओ'त्ति ज्योतिषः, अग्नेरित्यर्थः,'घणनिचिय'त्ति घननिचितानि कपाटादिद्वारपिधानानां द्वारशाखादिषु गाढनियोजनेन निचितानि निरन्तरं कपाटान्तराभावात् निश्छिद्राणि 'इड्डरेणं'ति गर्त्तादंचनकेन 'गोकलिंजएणं'ति गोभक्तार्थं वंशभाजनविशेषेण, डल्लकेनेत्यर्थः, 'गंडवाणियाए'त्ति गंडपाणिका वंशभाजनविशेष एव यो गण्डेन–हस्तेन गृह्यते डल्लाउ लघुतरः 'पिच्छिपिडएणं'ति पिच्छिकालक्षणपिटकेन, आढकादीनि प्रतीतानि,'चउब्भाइय'त्ति घटकस्य रसमानविशेषस्य चतुर्थभागमात्रो मानविशेषः, 'अट्ठभाइय'त्ति तस्यैवाष्टभागमानविशेष एव, 'सोलसिय'त्ति षोडशभागमाना 'बत्तीसिय'त्ति तस्यैव

७ शतके ८ उद्देशः



श्रीभग० लघुवृत्तौ

द्वात्रिंशद्भागमात्रा, चतुःषष्टिका तस्यैव चतुःषष्टितमांशस्वभावा, पलमिति तात्पर्यं,'दीवाचंपएणं'ति दीपकचम्पनकेन–दीपाच्छादनेन, कोशकेनेत्यर्थः, एतच्च सर्वमपि वाचनान्तरे साक्षाल्लिखितमेव दृश्यते इति ॥ **'सव्वे से दुक्खे'त्ति** (सू. २९४) दुःखहेतुसंसारनिबन्धनत्वाद्दुःखं, **'से सुहे'त्ति** सुखस्वरूपमोक्षहेतुत्वात् यन्निर्जीर्णं कर्म तत्सुखमुच्यते । नारकादयश्च संज्ञिन इति संज्ञा आह–**'सण्ण'त्ति** (सू. २९५) संज्ञानं संज्ञा, आभोग इत्यर्थः, अष्टौ संज्ञाः कण्ड्याः, मतिज्ञानावरणक्षयोपशमाच्छब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रियैव संज्ञायते वस्त्वनयेत्योघसंज्ञा, एवं शब्दार्थगोचरा विशेषावबोधक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति लोकसंज्ञा, ततश्चौघसंज्ञा दर्शनोपयोगः लोकसंज्ञा ज्ञानोपयोग इति, **'परज्झं'ति** पारवश्यं **'पंडियत्तं असासयं'ति** अयमर्थो–जीवः शाश्वतः पण्डितत्वमशाश्वतं, चारित्रभ्रंशादिति ॥ **सप्तमशतेऽष्टम उद्देशकः** ॥

'असंवुडे'त्ति (सू. २९८) असंवृतः–प्रमत्तः **'इहगए'त्ति** इह प्रच्छको गौतमादिस्तदपेक्षया इहशब्दवाच्यो मनुष्यलोकः, ततश्चेहगतान्–नरलोकगतान् **'तत्थगए'त्ति** वैक्रियं कृत्वा यत्र यास्यति तत्र व्यवस्थितानित्यर्थः, **'अन्नत्थ'त्ति** उक्तस्थानद्वयादन्यत्र व्यवस्थितानित्यर्थः, **'नवरं'ति** अयं विशेषः–**'इहयं'ति** इह शते अनगारो यतिरिहगतान् पुद्गलानिति वाच्यं, तत्र तु देव इति तत्रगतानित्युक्तं चेति । **'णायमेयं'ति** (सू. ३००) ज्ञातं सामान्यतः एतद् वक्ष्यमाणं वस्त्वर्हता भगवता वीरेण, सर्वज्ञत्वात्, तथा **'सुयं'ति** स्मृतमिव स्मृतं, स्पष्टप्रतिभाससद्भावात्, विज्ञातं विशेषतः, किं तदित्याह–**'महासिलाकण्टको'** जीवितभेदकत्वान्महाशिलाकण्टकः, यत्र तृणशूकादिनाऽभिहतस्य हस्त्यादेर्महाशिलाकण्टकेनेव पीडितस्य वेदना स्यात् स संग्रामो महाशिलाकण्टकसङ्ग्राम उच्यते, अयं सङ्ग्राम एवं जातः, यथा–चम्पायां कोणिको नृपोऽभूत्, तस्यानुजौ हल्लविहल्लाख्यौ भ्रातरौ

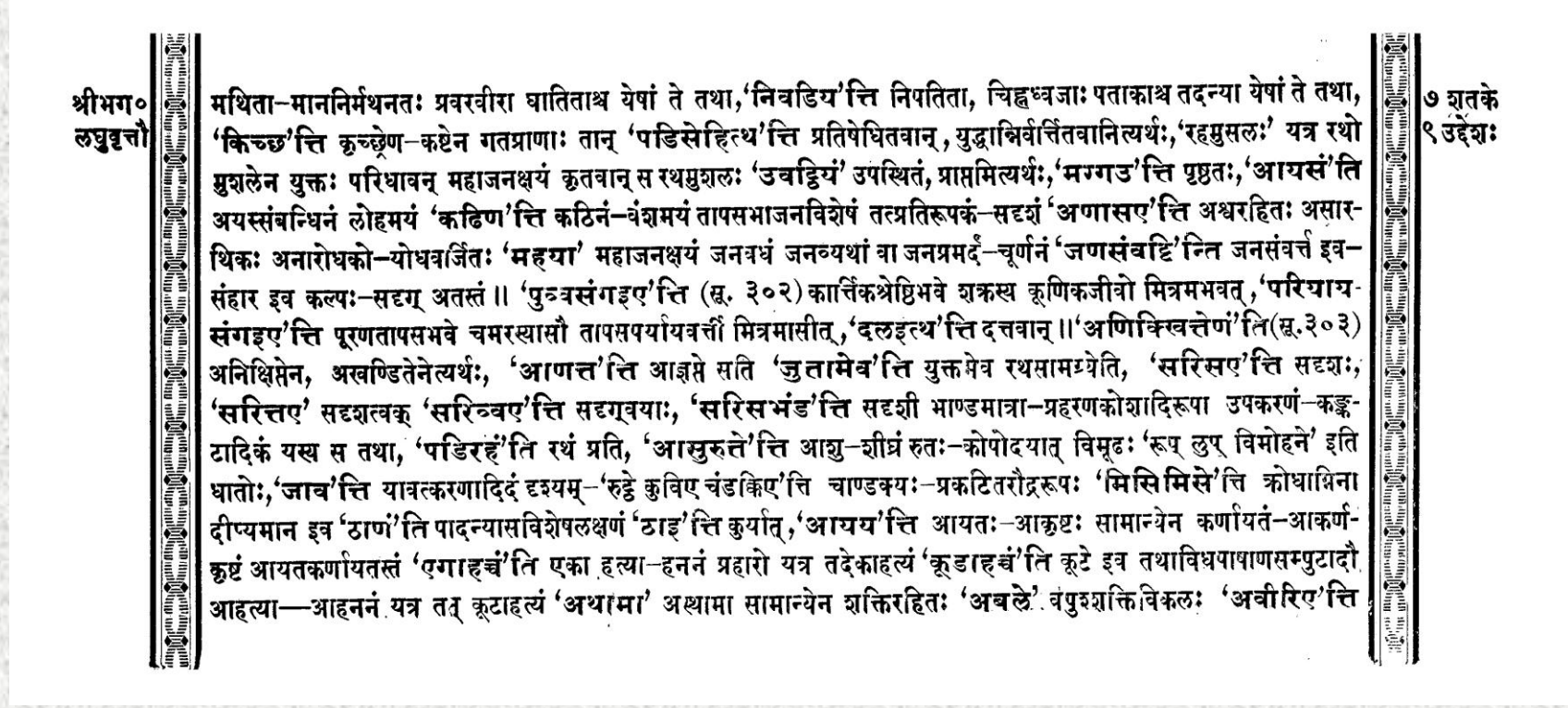
७ शतके ८ उद्देशः

॥११०॥

अत्र **शतक-७ उद्देशक** : ८ समाप्तः, अथ **शतक-७ उद्देशक** : ९ आरभ्यते

सेचनाख्यगन्धगजे समारूढौ दिव्यकुण्डलदिव्यवस्त्रालङ्कृतौ दृष्ट्वा कूणिकराजपत्नी पद्मावती मत्सराद्दन्तिनोऽपहाराय तं प्रेरितवती, तेन तौ तं याचितौ, तौ च तद्भयाद्वैशालीनगर्यां निजमातामहचेटकराज्ञोऽन्तिकं सगजौ सान्तःपुरपरिच्छदौ गतवन्तौ, कूणिकेन च दूतप्रेषणतो मार्गितौ, न च तेन प्रेषितौ, ततः कूणिकेन भणितं–यदि न प्रेषयसि तौ तदा युद्धसज्जो भव, तेनापि भणितं–एष सज्जोऽस्मि, ततः कूणिकेन कालादयो दश स्वकीयभिन्नमातृकाः भ्रातरो राजानश्चेटकेन सह सङ्ग्रामायाहूताः, तत्रैकैकस्य त्रीणि गजानां सहस्राणि, एवं रथानामश्वानां, नराणां च प्रत्येकं तिस्रः कोटयः, कूणिकस्याप्येवमेव, एनं व्यतिकरं मत्वा चेटकेनापि अष्टादश गणराजा मीलिताः, तेषां चेटकस्य चैवमेव प्रत्येकं गजादिपरिमाणं, मिथो युद्धं लग्नं, चेटकराजश्च प्रतिपन्नप्रतिज्ञतया दिनमध्ये एकमेव शरं मुञ्चति, अमोघबाणश्च सः, तत्र कूणिकसैन्ये गरुडव्यूहः चेटकानीके शकटव्यूहो विरचितः, ततश्च कूणिकस्य कालो दण्डनायको युद्ध्यमानस्तावद् गतो यावच्चेटकः, ततस्तेनैकशरपातेनासौ निपातितः, भग्नं च कूणिकबलं, गते च द्वे अपि बले निज २ स्थानं, एवं च दशसु दिनेषु चेटकेन विनाशिता दशापि कालादयः, एकादशे दिने चेटकजयार्थं देवताराधनाय कूणिकोऽष्टमभक्तं जग्राह, ततः शक्रचमरावागतौ, शक्रो बभाषे–चेटकः श्राद्ध इत्यहं न तं प्रति प्रहरामि, नवरं भवन्तं संरक्षामि, ततोऽसौ तद्रक्षार्थं वज्रसदृशं अभेद्यकवचं कृतवान्, चमरस्तु द्वौ संग्रामौ विकुर्वितवान्–महाशिलाकण्टकं रथमुशलं चेति ॥'जइत्थ'त्ति(सू. ३०१) जितवान्, 'पराजइत्थ'त्ति पराजितवान्, हारितवानित्यर्थः, 'वज्जी'वज्री–शक्रः, 'विदेह'त्ति कूणिकः, एतावेव तत्र जेतारौ, नान्यः कश्चित्,'मल्लइ'त्ति मल्लकिनामानो नव राजानः'कासीकोसल'त्ति काशी–वाराणसी तत्सम्बन्धिनः आद्या नव कोशला–अयोध्या, तद्वासिनो भूपा इत्यर्थः, नव द्वितीयाः,'गणरायाणो'त्ति कार्ये समुत्पन्ने ये गणं कुर्वन्ति ते गणराजाः, सामन्ता इत्यर्थः,

ते च चेटकराजस्य साहाय्याय गणं कृतवन्त इति, 'उदाइ'त्ति उदायिनामानं 'पडिकप्पेह' सन्नद्धं कुरुत,'पच्चप्पिणह' प्रत्यर्पयत, निवेदयत इत्यर्थः, 'हट्ठतुट्ठचित्त'त्ति हृष्टं–विस्मितं तुष्टं–तोषवत् चित्तं–मनो यथा स्यात्, 'छेयारिउवएस'त्ति छेको–निपुणो य आचार्यः–शिल्पोपदेशदाता तदुपदेशाद्या मतिकल्पना—विकल्पाकृतिभेदास्तैस्सुनिपुणैः, एवं भीमं दुष्प्रधर्षं सङ्ग्रामिकं, रणे योग्यमित्यर्थः, 'अउज्झं'ति अयोध्यं 'कयबलि'त्ति कृतबलिकर्मा गृहदेवतानां,'कयकोउय'त्ति कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव दुःस्वप्नादिव्यपोहायावश्यं कर्त्तव्यत्वात् प्रायश्चित्तानि तत्तथा, तत्र कौतुकानि मषीपुण्ड्रादीनि मङ्गलानि–सिद्धार्थकादीनि, 'सन्नद्ध'त्ति सन्नद्धः संनहनिकया, तथा बद्धः कसाबन्धनतो, वर्मितो वर्म्मतया कृतोऽङ्गे निवेशनात् कवचः—ङ्कटो येन स तथा, ततः कर्मधारयः, 'उप्पीडिय'त्ति उत्पीडिता– गुणसारणेन दृढीकृता शरासनपट्टिका—धनुर्दण्डा येन स तथा, उत्पीडिता वा बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका–बाहुपट्टो येन स तथा,'पिणद्ध'त्ति पिनद्धं–परिहितं ग्रैवेयकं–ग्रीवाऽऽभरणं येन स तथा,'चिंधपट्टो' योधचिह्नपट्टः 'गहियाउह'त्ति गृहीतानि आयुधानि–शस्त्राणि प्रहरणाय–परेषां प्रहारदानाय येन सः, अथवा आयुधानि-अक्षेप्यशस्त्राणि खड्गादीनि प्रहरणानि तु–क्षेप्यशस्त्राणि नाराचादीनि येन स तथा,'सकोरेंट'त्ति सह कोरण्टकाख्यैः कुसुमगुच्छैः–माल्यदामभिः–पुष्पमालाभिर्यत्तत्तथा तेन ध्रियमाणेन,'भंगल'त्ति मङ्गलो–माङ्गल्यो जयशब्दः कृतो–जनैर्विहितः आलोके–दर्शने यस्य स तथा, 'हारोत्थय'त्ति हारावस्तृतेन–हारावच्छादनेन सुष्ठु कृतरतिकं वक्षः–उरो यस्य स तथा,'महयाभड'त्ति महाभटानां 'चडगर'त्ति देशीशब्देन विस्तारवत्सङ्घेन परिवृत इत्यर्थः, 'ओयाए'त्ति उपयातः, उपागतः इत्यर्थः,'अभिज्ज'त्ति परशस्त्रागम्यमिति कवचं 'वइर'त्ति वज्रसमं 'पराजिणित्तए' पराजयितुं,परानभिभवितुमित्यर्थः,'हयमहिय'त्ति हताः–प्रहारदानतः ॥१११॥



श्रीभग० लघुवृत्तौ

मथिता–माननिर्मथनतः प्रवरवीरा घातिताश्च येषां ते तथा,'निवडिय'त्ति निपतिता, चिह्नध्वजाः पताकाश्च तदन्या येषां ते तथा, 'किच्छ'त्ति कृच्छ्रेण–कष्टेन गतप्राणाः तान् 'पडिसेहित्थ'त्ति प्रतिषेधितवान्, युद्धान्निर्वर्त्तितवानित्यर्थः,'रहमुसलः' यत्र रथो मुशलेन युक्तः परिधावन् महाजनक्षयं कृतवान् स रथमुशलः 'उवट्ठियं' उपस्थितं, प्राप्तमित्यर्थः,'मग्गउ'त्ति पृष्ठतः,'आयसं'ति अयस्संबन्धिनं लोहमयं 'कढिण'त्ति कठिनं–वंशमयं तापसभाजनविशेषं तत्प्रतिरूपकं–सदृशं 'अणासए'त्ति अश्वरहितः असारथिकः अनारोधको–योधवर्जितः 'महया' महाजनक्षयं जनवधं जनव्यथां वा जनप्रमर्दं–चूर्णनं 'जणसंवट्टि'न्ति जनसंवर्त्त इव–संहार इव कल्पः–सदृग् अतस्तं ॥ 'पुव्वसंगइए'त्ति (सू. ३०२) कार्त्तिकश्रेष्ठिभवे शक्रस्य कूणिकजीवो मित्रमभवत्,'परियायसंगइए'त्ति पूरणतापसभवे चमरस्यासौ तापसपर्यायवर्त्ती मित्रमासीत्,'दलइत्थ'त्ति दत्तवान् ॥'अणिक्खित्तेणं'ति(सू.३०३) अनिक्षिप्तेन, अखण्डितेनेत्यर्थः, 'आणत्त'त्ति आज्ञप्ते सति 'जुत्तामेव'त्ति युक्तमेव रथसामग्र्येति, 'सरिसए'त्ति सदृशः, 'सरित्तए' सदृशत्वक् 'सरिव्वए'त्ति सदृग्वयाः, 'सरिसभंड'त्ति सदृशी भाण्डमात्रा–प्रहरणकोशादिरूपा उपकरणं–कङ्कटादिकं यस्य स तथा, 'पडिरहं'ति रथं प्रति, 'आसुरुत्ते'त्ति आशु–शीघ्रं रुतः–कोपोदयात् विमूढः 'रूप् लुप् विमोहने' इति धातोः,'जाव'त्ति यावत्करणादिदं दृश्यम्–'रुट्ठे कुविए चंडक्किए'त्ति चाण्डक्यः–प्रकटितरौद्ररूपः 'मिसिमिसे'त्ति क्रोधाग्निना दीप्यमान इव 'ठाणं'ति पादन्यासविशेषलक्षणं 'ठाइ'त्ति कुर्यात्,'आयय'त्ति आयतः–आकृष्टः सामान्येन कर्णायतं–आकर्णकृष्टं आयतकर्णायतस्तं 'एगाहच्चं'ति एका हत्या–हननं प्रहारो यत्र तदेकाहत्यं 'कूडाहच्चं'ति कूट इव तथाविधपाषाणसम्पुटादौ आहत्या—आहननं यत्र तत् कूटाहत्यं 'अथामा' अस्थामा सामान्येन शक्तिरहितः 'अबले' वपुश्शक्तिविकलः 'अवीरिए'त्ति

७ शतके ९ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

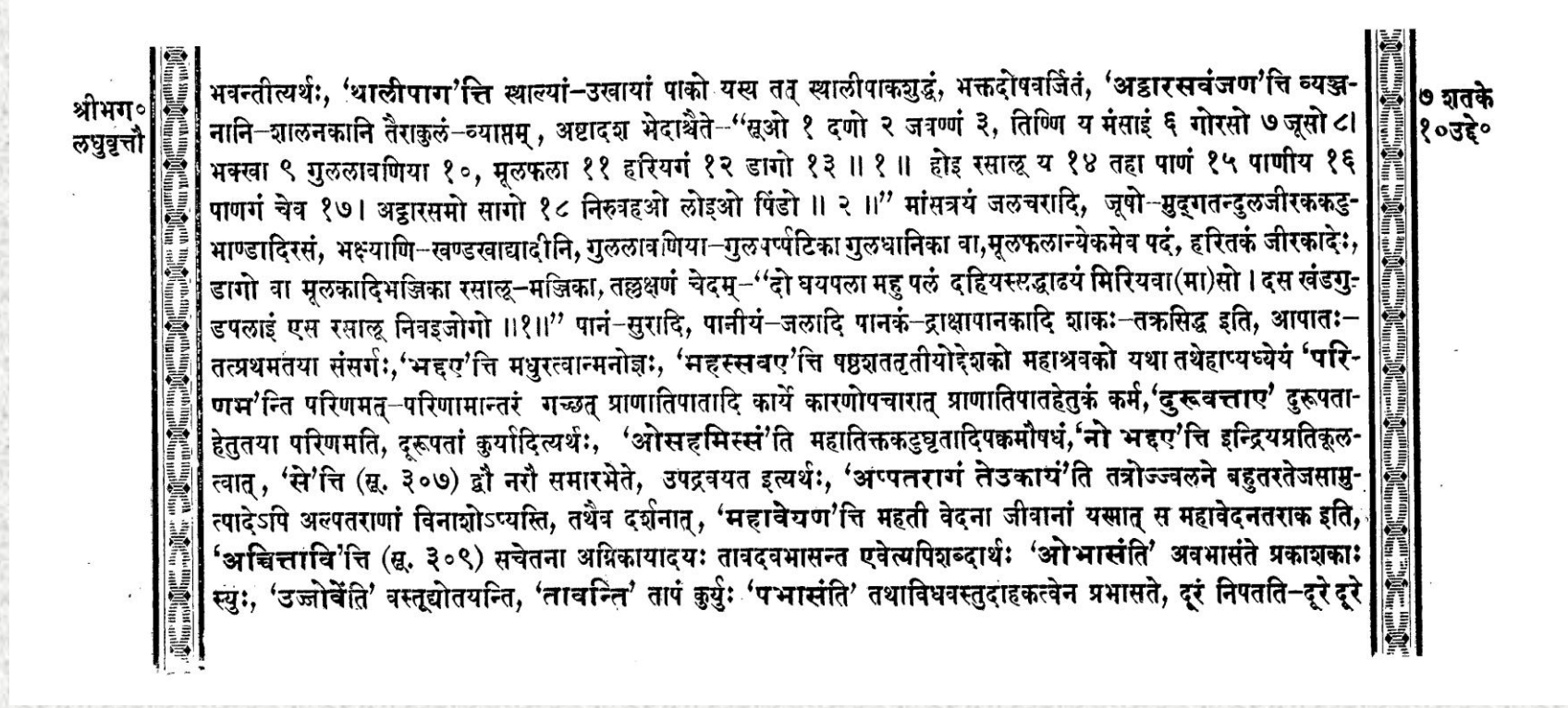
प्रत सूत्रांक [२५९-३०८] + गाथा: दीप अनुक्रम [३२७-३८०]

मानसशक्तिशून्यः 'अपुरिसत्त'त्ति पुरुषकारः–पुरुषाभिमानः स एव कृतप्रयोजनः पराक्रमः,'अधारणिज्ज'ंति आत्मनो धरणं कर्तुमशक्यं इतिकृत्वा 'एगंत'ंति एकान्तं–विजनं अन्तं–भूमिभागं,'सीलाइं'ति फलानपेक्षाः क्रियाप्रवृत्तयः शुभाः 'वयाइं' अणुव्रतादीनि 'वेरमणाइं'ति रागविरतयः गीतं–गानं गन्धर्वं मुरुजादिसहितं तल्लक्षणो निनादः, 'कालमासे'त्ति मरणमासे, कालदिने इति द्रष्टव्यं, (सू. ३०४) महाविदेहे सेत्स्यति ॥ सप्तमशते नवमः ॥

'एगयउ'त्ति (सू. ३०५) एकतस्समुपागतानां, स्थानान्तरेभ्य एकत्र मिलितानां, 'संनिवि'त्ति सन्निविष्टानां उत्कटुकत्वात् 'सन्निस'त्ति सङ्गततया निषण्णानां, सुखासीनानामित्यर्थः, 'अत्थिकाए'त्ति प्रदेशराशीन् 'अजीवकाए'त्ति अजीवा--अचेतनाश्च ते कायाश्च–राशयः अजीवकायास्तान् अरूविकायं अमूर्त्तमिति भावः,'जीवकायं'ति जीवनं जीवो–ज्ञानाद्युपयोगस्तत्प्रधानः कायो जीवकायस्तं, 'से कहमेयं'ति अथ कथमेतद् अस्तिकायवस्तु मन्ये एवं–अमुना अचेतनादिविभागेन तेषां समुल्लाप इति स्यात् 'अविप्पकड'त्ति इयं कथा अस्तिकायवक्तव्यतारूपा न विशेषेण प्रकटा प्रतीता–अविप्रकटा,'अविउप्पकड'त्ति पाठान्तरे अविद्वत्प्रकृता–अविज्ञप्रस्तुता, अथवा न विशेषतः उत् प्राबल्यतश्च प्रकटा अव्युत्प्रकटा,'तं चेयस'त्ति तत् तस्मात् चेतसा–मनसा 'वेदस'त्ति पाठान्तरे वेदसा–ज्ञानेन 'एयमट्ठं' अमुमस्तिकायस्वरूपमर्थं 'पच्चुविक्खह'त्ति प्रत्युत्प्रेक्षध्वं, पर्यालोचयतेति,'एयंसि णं'ति एतस्मिन्–उक्तरूपेऽस्तिकाये 'चक्किय'त्ति शक्नुयात् कश्चित्, 'एयंसि'ति अयमस्य भावार्थः-जीवसम्बन्धीनि पापकर्माणि अशुभविपाकदायीनि पुद्गलास्तिकाये न स्युः, अचेतनत्वेन अनुभववर्जितत्वात्तस्य, जीवास्तिकाये तानि तथा स्युरनुभवयुक्तत्वात् तस्येति, 'अत्थि णं'ति (सू.३०६) अस्तीदं वस्तु 'जीवाणं'ति जीवानां पापानि कर्माणि पापफलविपाकसंयुक्तानि 'कज्जंति'त्ति

॥११२॥

अत्र शतक-७ उद्देशक : ९ समाप्तः, अथ शतक-७ उद्देशक : १० आरभ्यते



श्रीभग० लघुवृत्तौ

भवन्तीत्यर्थः, 'थालीपाग'त्ति स्थाल्यां–उखायां पाको यस्य तत् स्थालीपाकशुद्धं, भक्तदोषवर्जितं, 'अट्ठारसवंजण'त्ति व्यञ्जनानि–शालनकानि तैराकुलं–व्याप्तम्, अष्टादश भेदाश्चैते–"सूओ १ दणो २ जवण्णं ३, तिण्णि य मंसाइं ६ गोरसो ७ जूसो ८। भक्खा ९ गुललावणिया १०, मूलफला ११ हरियगं १२ डागो १३ ॥ १ ॥ होइ रसालू य १४ तहा पाणं १५ पाणीय १६ पाणगं चेव १७। अट्ठारसमो सागो १८ निरुवहओ लोइओ पिंडो ॥ २ ॥" मांसत्रयं जलचरादि, जूषो–मुद्गतन्दुलजीरककटुभाण्डादिरसं, भक्ष्याणि–खण्डखाद्यादीनि, गुललावणिया–गुलपर्पटिका गुलधानिका वा, मूलफलान्येकमेव पदं, हरितकं जीरकादेः, डागो वा मूलकादिभञ्जिका रसालू–मञ्जिका, तल्लक्षणं चेदम्–"दो घयपला महु पलं दहियस्सद्धाढयं मिरियवा(मा)सो। दस खंडगुडपलाइं एस रसालू निवइजोगो ॥१॥" पानं–सुरादि, पानीयं–जलादि पानकं–द्राक्षापानकादि शाकः–तक्रसिद्ध इति, आपातः–तत्प्रथमतया संसर्गः, 'भद्दए'त्ति मधुरत्वान्मनोज्ञः, 'महस्सवए'त्ति षष्ठशततृतीयोद्देशको महाश्रवको यथा तथेहाप्यध्येयं 'परिणम'न्ति परिणमत्–परिणामान्तरं गच्छत् प्राणातिपातादि कार्ये कारणोपचारात् प्राणातिपातहेतुकं कर्म, 'दुरूवत्ताए' दुरूपताहेतुतया परिणमति, दूरूपतां कुर्यादित्यर्थः, 'ओसहमिस्सं'ति महातिक्तकटुघृतादिपक्कमौषधं, 'नो भद्दए'त्ति इन्द्रियप्रतिकूलत्वात्, 'से'त्ति (सू. ३०७) द्वौ नरौ समारभेते, उपद्रवयत इत्यर्थः, 'अप्पतरागं तेउकायं'ति तत्रोज्ज्वलने बहुतरतेजसामुत्पादेऽपि अल्पतराणां विनाशोऽप्यस्ति, तथैव दर्शनात्, 'महावेयण'त्ति महती वेदना जीवानां यस्मात् स महावेदनतराक इति, 'अचित्तावि'त्ति (सू. ३०९) सचेतना अग्निकायादयः तावदवभासन्त एवेत्यपिशब्दार्थः 'ओभासंति' अवभासंते प्रकाशकाः स्युः, 'उज्जोवेंति' वस्तूद्योतयन्ति, 'तावन्ति' तापं कुर्युः 'पभासंति' तथाविधवस्तुदाहकत्वेन प्रभासते, दूरं निपतति–दूरे दूरे

७ शतके १०उद्दे०

	अत्र अन्तिम पंक्तौ सूत्र ३०८ एव वर्तते, मूल संपादने यत् (सू. ३०९) मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: संभाव्यते

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गत्वा दूरे निपतंतीत्यर्थः, 'देसगय'त्ति अभिप्रेतस्य गन्तव्यस्य क्रमशतादेः देशे—तदर्द्धादौ, गमनस्वभावेऽपि देशे तदर्द्धादौ निपततीत्यर्थः ॥ सप्तमशते दशम उद्देशकः ॥

इतिश्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यशतार्थिश्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्तहंसगणिशिष्य-श्रीदानशेखरगणिसमुद्धृतायां भगवतीलघुवृत्तौ सप्तमशतविवरणं सम्पूर्णम् ॥

८ शतके १ उद्देशः

अथाष्टमं शतकं

'पुग्गल'त्ति (*५७) पुद्गलपरिणामार्थः १ 'आसिविस'त्ति आशीविषादिविषयः २ 'रुक्ख'त्ति सङ्ख्यातजीवादिवृक्षरूपः ३ 'किरिय'त्ति क्रियारूपः ४ 'आजीव'त्ति आजीविकवक्तव्यतारूपः ५, 'फासुग'त्ति प्रासुकदानादिरूपः ६ 'अदत्त'त्ति अदत्तादानरूपः ७ 'पडिणीय'त्ति प्रत्यनीकतार्थरूपः ८ 'बंध'त्ति प्रयोगबन्धादिरूपः ९ देशाराधनादिरूपः १० इत्योघतः सङ्ग्रहगाथा उक्ता। 'पओगपरिणय'त्ति (सू. ३०९) जीवव्यापारेण शरीरादिप्रयोगपरिणताः १ 'मीसा परिणता' (सू. ३१०) प्रयोगविस्रसाभ्यां परिणताः, प्रयोगपरिणाममत्यजन्तो विश्रसया स्वभावान्तरमापादिताः मुक्तकलेवरादिरूपाः २, अथवा औदारिकादिवर्गणारूपा विश्रसया कृतास्सन्तो ये जीवप्रयोगेणैकेन्द्रियादिवपुःप्रभृतिपरिणामान्तरमापादिताः ते मिश्रपरिणताः, ननु प्रयोगपरिणामोऽप्येवमेव ततः क एषां विशेषः ?, सत्यं, किन्तु प्रयोगपरिणतेषु विस्रसा सत्यपि न विवक्षिता इति, 'विस्ससा-परिणय'त्ति (सू. ३११) स्वभावपरिणताः ॥ अथ 'पओगपरिणया ण'मित्यादिना (सू. ३१२) ग्रन्थेन नवभिर्दण्डकैः प्रयोग-

॥११३॥

अत्र **शतक-७ उद्देशक** : १० समाप्तः, तत् समाप्ते **शतक-१०** अपि परि समाप्तं

अथ **शतक** ८ आरब्धं

अत्र **शतक-८ उद्देशक** : १ आरभ्यते

परिणतपुद्गलान्निरूपयति, तत्र च 'एगिंदिए'त्यादि, एकेन्द्रियादिसर्वार्थसिद्धदेवान्तजीवभेदविशेषितप्रयोगपरिणतानां पुद्गलानां प्रथमो दण्डकः, तत्र च 'आउकाइएगिंदिय एवं चेव'त्ति पृथिवीवदप्कायप्रयोगपरिणता वाच्या इत्यर्थः, एवं 'दुपओ'त्ति पृथिव्यप्कायप्रयोगपरिणतेष्विव द्विपदो भेदः सूक्ष्मबादरविधानाभ्यां कृतस्तेजस्कायादिषु वाच्यः,'अणेगविह'त्ति पुलाककृमिकादिभेदत्वात् द्वीन्द्रियाणामनेकविधाः, त्रीन्द्रियप्रयोगपरिणता अपि एवमनेकविधाः कुन्थुपिपीलिकादिभेदात्, एवं चतुरिन्द्रिया मक्षिकामशकादयोऽनेकविधाः, एवं सर्वेऽपि वाच्याः १, अथैकेन्द्रियादिसर्वार्थसिद्धदेवान्तः पर्याप्तकापर्याप्तकविशेषणो द्वितीयो दण्डकः प्रारभ्यते, तत्र–'एक्केक्के'त्यादि, एकैकस्मिन् काये सूक्ष्मबादरभेदा द्विविधाः पुद्गला वाच्याः, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकायपर्याप्तकभेदात् पुनर्द्विधा वाच्या इत्यर्थः २, 'जे पज्जत्तसुहुमपुढवी'त्यादि, औदारिकादिवपुर्विशेषणस्तृतीयो दण्डकः, तत्र च 'ओरालियतेयाकम्मसरीरपओग'त्ति औदारिकतैजसकार्मणवपुषां यः प्रयोगस्तेन परिणता ये ते तथा, पृथिव्यादीनां हि एतदेव वपुस्त्रयं स्यादितिकृत्वा तत्प्रयोगपरिणता एव ते स्युः, 'जे पज्जत्ता बायर'त्ति बादरपर्याप्तकवायूनां त्वाहारकवर्जवपुश्चतुष्टयं स्यात्, एवं 'गब्भवक्कंतियअपज्जत्तग'त्ति वैक्रियाहारकशरीराभावाद् गर्भव्युत्क्रान्तिका अपि अपर्याप्तका नरास्त्रिशरीरा एवेति ३, अथ सर्वजीवेन्द्रियविशेषणश्चतुर्थो दण्डकः४,'जे अपज्जत्तसुहुमपुढवी'त्यादिः, औदारिकादिशरीरस्पर्शादीन्द्रियार्थः पञ्चमः,'एवं चेव'त्ति एवमेव सर्वैकेन्द्रियजीवेषु 'चउक्कएणं'ति सूक्ष्म १ बादर २ पर्याप्तक ३ अपर्याप्तक ४ चतुष्कभेदेन भावात्, अथ सर्वजीववर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानवाच्यः षष्ठः, एवमौदारिकादिशरीरवर्णादिभावविशेषणस्सप्तमः, इन्द्रियवर्णादिविशेषणोऽष्टमः, शरीरेन्द्रियवर्णादिविशेषणो नवमः, मिश्रपरिणतेष्वप्येत एव नव दण्डका वाच्याः। 'एवं जहा पण्णवणाए'त्ति, तत्रैवमिदं सूत्रम्–

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'जे रसपरिणया ते पंचविहा, तंजहा–तित्तरसपरिणया कडुयरस० कसाय० अंबिल० महुररसपरिणया, जे फासपरिणया ते अट्ठविहा पण्णत्ता, तंजहा–कक्खडफासपरिणया एवं मउय० गुरुय० लहुय० सीय० उसिण० सिणिद्ध० लुक्खफासपरिणया'इत्यादि ॥ अथैकं पुद्गलद्रव्यमाश्रित्य परिमाणं चिन्तयन्नाह–'एगे'इत्यादि,'मणप्पओ'त्ति मनस्तया परिणतं 'वइप्पओ'त्ति भाषाद्रव्यं काययोगेन गृहीत्वा वाग्योगेन सृज्यमानं वाक्प्रयोगपरिणतं, 'कायप्पओ'त्ति औदारिकादिकाययोगेन गृहीतमौदारिकादिवर्गणाद्रव्यमौदारिकादिकायतया परिणतं कायप्रयोगपरिणतं, 'सच्चमणे'त्ति सद्भूतार्थचिन्तनहेतोर्मनसः प्रयोगः सत्यमनःप्रयोगः, एवमन्येऽपि, नवरं मृषा–असद्भूतोऽर्थः, सत्यामृषा–मिश्रो, यथा पञ्चसु दारकेषु जातेषु दश दारका जाता इति,सत्यमृषाविपरीता असत्यामृषा, तत्स्वरूपमिदं–यथा देहीति, 'आरंभसच्च'त्ति आरम्भो–जीवोपघातः तत्सत्कं सत्यमारंभसत्यं तद्विषयो मनःप्रयोगस्तेन परिणतं यत्तत्तथा, एवमुत्तरत्रापि, अनारम्भो–जीवदया, 'सारंभ'त्ति संरम्भो–वधसङ्कल्पः, समारम्भस्तु परिताप इति, 'ओरालिय'त्ति औदारिकशरीरकायप्रयोगः स पर्याप्तकस्यैव वेदितव्यः तेन यत्परिणतं तत्तथा, 'ओरालियमीस'त्ति औदारिकमुत्पत्तिकालेऽसम्पूर्णं सत् मिश्रं कार्मणेनेत्यौदारिकमिश्रं तल्लक्षणं शरीरं औदारिकमिश्रशरीरं तदेव कायः तस्य यः प्रयोगस्तेन परिणतं यत्तथा, अयं पुनरपर्याप्तकस्यैव, यदुक्तम्–"जोएण कम्मएणं आहारेई अणंतरं जीवो। तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥१॥" एवं तावत्कार्मणेनौदारिकवपुषो मिश्रता, उत्पत्तिमाश्रित्य तस्य प्रधानत्वात्, यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिसम्पन्नो नरः १ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः २ पर्याप्तबादरवायुकायिको वा ३ वैक्रियं कुर्यात् तदौदारिककाययोग एव वर्त्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियवपुर्योग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा यावद्वैक्रियवपुःपर्याप्त्यां पर्याप्तिं व्रजेत् तावद्वैक्रियेणौदारिकवपुषो

८ शतके १ उद्देशः

॥११४॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३०९-३१४] + गाथा:

दीप अनुक्रम [३८१-३८७]

मिश्रता, प्रारम्भकत्वेन तस्य प्रधानत्वाद्, एवमाहारकेणाप्यौदारिकशरीरस्य मिश्रता वेदितव्या,'वेउव्विय'त्ति वैक्रियवपुःकाय-प्रयोगो वैक्रियपर्याप्तकस्येति 'वेउव्वियमीस'त्ति वैक्रियमिश्रवपुःकायप्रयोगो देवनारकेषूत्पद्यमानस्यापर्याप्तकस्य, मिश्रता चेह वैक्रि-यशरीरस्य कार्मणेनैव, लब्धिवैक्रियपरित्यागे त्वौदारिकप्रवेशाद्वायामौदारिकोपादनाय प्रवृत्तेर्वैक्रियप्राधान्यादौदारिकेणापि वैक्रि-यस्य मिश्रतेति,'आहारग'त्ति आहारकशरीरकायप्रयोग आहारकवपुर्निर्वृत्तौ सत्यां, तदा तस्यैव प्राधान्यात्,'आहारगमीस'त्ति आहारकस्यौदारिकेण मिश्रतायां, सा चाहारकत्यागेनौदारिकग्रहणाभिमुखस्य, एतदुक्तं स्यात्–यदाऽऽहारकशरीरीभूत्वा कृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदा आहारकस्य प्राधान्यादौदारिकप्रवेशं प्रति व्यापारभावान्न परित्यजति यावत् सर्वथैवाहारकं तावदौ-दारिकेण सह मिश्रतेति, ननु तत्तेन न सर्वथा मुक्तं, पूर्वनिर्वर्त्तितं तिष्ठत्येव तत्कथं गृह्णाति ?, सत्यं, तिष्ठति तत्, तथाऽप्यौदारि-कशरीरोपादानार्थं प्रवृत्त इति गृह्णात्येवेत्युच्यते,'कम्मासरीर'त्ति इह कार्मणशरीरकायप्रयोगो विग्रहे, समुद्घातगतस्य च केवलिनः तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु स्याद्, उक्तञ्च–"कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये चे"ति, एवं प्रज्ञापनाटीकानुसारेणौदा-रिकशरीरकायप्रयोगादीनां व्याख्या, शतकटीकानुसारतः पुनर्मिश्रकायप्रयोगाणामेवं–औदारिकमिश्र औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्रं दधि नो दधितया नापि गुडतया व्यपदिश्यते, तत्त्वाभ्यामपरिपूर्णत्वात्, एवमौदारिकं मिश्रं कार्म-णेन नौदारिकतया नापि कार्मणतया व्यपदेष्टुं शक्यमपरिपूर्णत्वादिति तस्यौदारिकमिश्रव्यपदेशः, एवं वैक्रियाहारकमिश्रावपीति,'नवरं बायरवाउक्काइय'त्ति यथौदारिकशरीरकायप्रयोगपरिणते सूक्ष्मपृथ्वीकायिकादि प्रतीत्य आलापकोऽधीतः तथौदा-रिकमिश्रशरीरकायप्रयोगपरिणतेऽपि वाच्यः, नवरमयं विशेषः–तत्र सर्वेऽपि सूक्ष्मपृथ्वीकायिकादयः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणा अधीताः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

इह तु बादरवायुकायिका गर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याश्च पर्याप्तकविशेषणा अध्येतव्याः, शेषास्त्वपर्याप्तकविशेषणा एव, यतः— बादरवायुकायिकादीनां पर्याप्तावस्थायामपि वैक्रियारंभणत औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगो लभ्यते,शेषाणां पुनरपर्याप्तकावस्थायामेवेति। 'जहा ओगाहणसंठाणे'त्ति प्रज्ञापनाया एकविंशतितमपदे, तत्रेदं सूत्रम्—'जइ वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरकायप्पओगपरिणए किं सुहुमवाउकाइयएगिंदिय जाव परिणए बायरवाउकाइयएगिंदियजाव परिणए ?, गोयमा ! नो सुहुम जाव परिणए, बायर जाव परिणए'इत्यादि, 'एवं जहा ओगाहणसंठाणे'त्ति तत्रेदं सूत्रम्—गोयमा ! नो अमणुस्साहारगसरीरकायप्पओगपरिणए, मणुस्साहारगसरीरकायप्पओगपरिणए'इत्यादि,'एवं ओगाह'त्ति,'कम्मस्स भेओ'त्ति,स चायं भेदः—'वेंदियकम्मासरीरकायप्पओगपरिणए, एवं तेंदिय० चउरिंदिय०' इत्यादि ॥ अथ द्रव्यद्वयं चिन्तयन्नाह—'दो भंते'इत्यादि (सू. ३१३) इह प्रयोगपरिणतादिपदत्रये एकत्वे त्रयो विकल्पाः, द्विकयोगेऽपि त्रय एव, एवं जाताः षट्, एवं मनःप्रयोगादित्रयेऽपि षट्, सत्यमनःप्रयोगपरिणतादीनि तु चत्वारि पदानि, तेष्वेकत्वे चत्वारः, द्विकयोगे तु षट्, एवं सर्वेऽपि दश, आरम्भसत्यमनःप्रयोगपरिणतादीनि षट् पदानि, तेष्वेकत्वे षट्, द्विकयोगे तु पञ्चदश, सर्वेऽप्येकविंशतिः, सूत्रे च 'अहवेगे आरंभसच्चमणप्पओगपरिणए'इत्यादिनेह द्विकयोगप्रथम एव भङ्गको दर्शितः, शेषांस्तदन्यपदसम्भवांश्चातिदेशेन दर्शयतोक्तम्—'एवं एएणं गमेणं'ति एवमेतेन गमेन आरम्भसत्यमनःप्रयोगादिपदप्रदर्शितेन द्विकसंयोगेन नेतव्यं समस्तं द्रव्यद्वयसूत्रं द्विकसंयोगस्य चैकत्वविकल्पाभिधानपूर्वकत्वादेकत्वविकल्पैश्चेति दृश्यं, तत्र च यत्रारम्भसत्यमनःप्रयोगादिपदसमूहे यावन्तो द्विकसंयोगात्पद्यंते सर्वे ते तत्र वाच्याः, तत्रारम्भसत्यमनःप्रयोगादिषु दर्शिता एव, आरम्भादिपदषट्कविशेषितेषु पुनरित्थमेव, त्रिषु मृषामनःप्रयोगादिषु चतुर्षु च सत्यवाक्प्र-

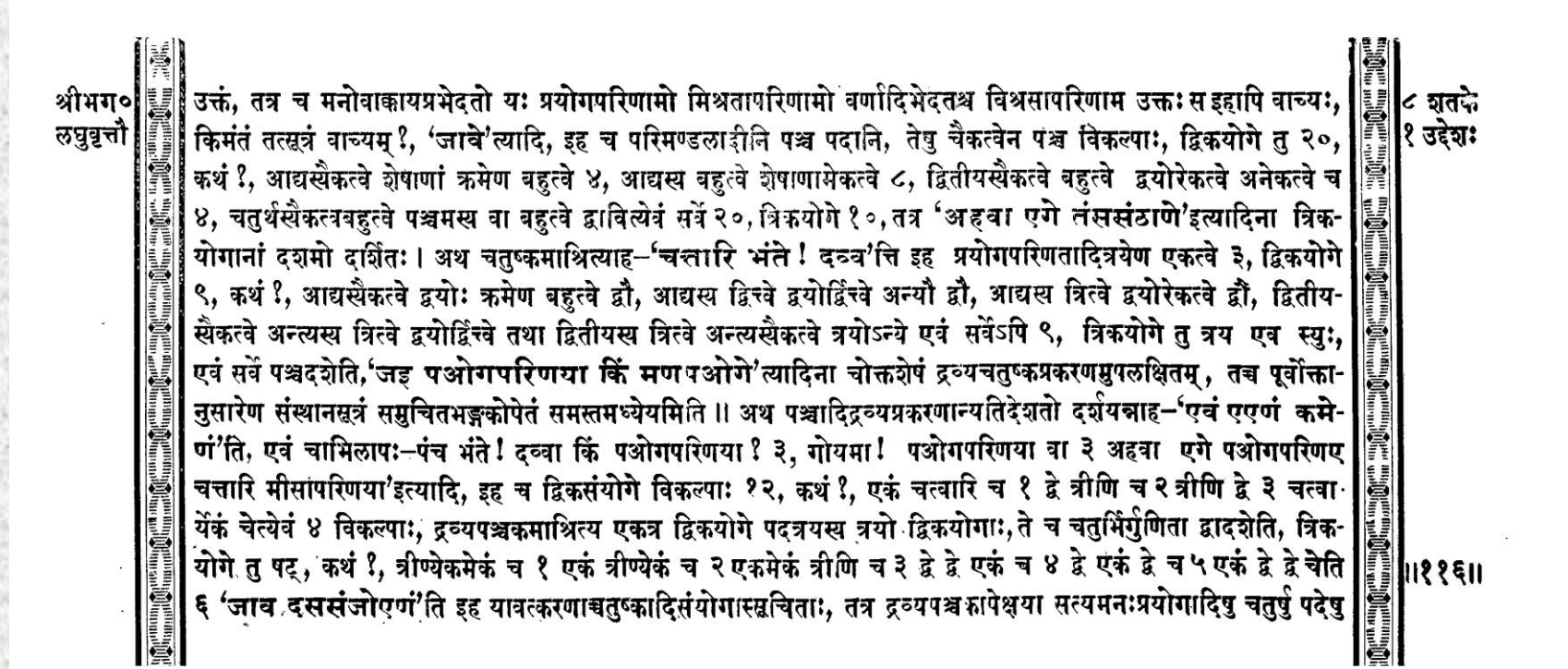
८ शतके १ उद्देशः

॥११५॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

योगादिषु प्रत्येकमेकत्वे षड् विकल्पाः, द्विकसंयोगे तु १५ प्रत्येकं, एवं सर्वेष्वपि एकविंशतिः, औदारिकादिशरीरकायप्रयोगादिषु सप्तसु पदेषु एकत्वे सप्त, द्विकसंयोगे तु एकविंशतिः, एवं सर्वे जाता अष्टाविंशतिः, एवमेकेन्द्रियादिपृथ्वीप्रभृतिपञ्चपदैः पूर्वोक्तक्रमेण औदारिकादिकायप्रयोगपरिणतद्रव्यद्वयं प्रपञ्चनीयं, कियदूरं?, यावत्सर्वार्थसिद्धाः, एतच्चैवं-'जइ सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववाइयकप्पाईयवेमाणियदेवपंचिंदियकम्मासरीरकायप्पओगपरिणया किं पज्जत्तसव्वट्ठसिद्ध जाव परिणया अपज्जत्तसव्वट्ठ जाव परिणया?,गोयमा! पज्जत्तसव्वट्ठजावपरिणया वा, अहवेगे पज्जत्तसव्वट्ठजाव परिणए अहवेगे अपज्जत्तसव्वट्ठ जाव परिणए'त्ति,'एवं बीससापरिणयावि'त्ति प्रयोगपरिणतद्रव्यद्वयवत् प्रत्येकविकल्पैर्द्विकसंयोगैश्च विश्रसापरिणतेऽपि द्रव्ये वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानेषु पञ्चादिभेदेषु वाच्यं, कियदूरं यावदित्याह–'अहवेगे'इत्यादि, अयं च पञ्चभेदसंस्थानस्य दशानां द्विकसंयोगानां दशम इति ॥ अथ द्रव्यत्रयं चिन्तयन्नाह–'तिण्णि भंते! दव्व'त्ति इह प्रयोगपरिणतादिपदत्रये एकत्वे त्रयो विकल्पाः, द्विकयोगे तु षट्, कथं?, आद्यस्यैकत्वे शेषयोः क्रमेण द्वित्वे द्वौ, तथाऽऽद्यस्य द्वित्वे शेषयोः क्रमादेकत्वेऽन्यौ द्वौ, तथा द्वितीयस्यैकत्वे तृतीयस्य च द्वित्वेऽन्यः, तथा द्वितीयस्य द्वित्वे तृतीयस्यैकत्वे अन्य इत्येवं षट्, त्रिकयोगे एक एव, जातास्सर्वे दश, एवं मनःप्रयोगादिपदत्रयेऽपि, अत एवाह–'एक्कसंजोगो'इत्यादि, सत्यमनःप्रयोगादिषु चैकत्वे चत्वारः, द्विकयोगे तु द्वादश, कथं?, आद्यस्यैकत्वेन शेषाणां त्रयाणां क्रमादनेकत्वेन त्रयो लब्धाः, पुनरन्ये त्रय आद्यस्य बहुत्वेन शेषाणामेकत्वेन, तथा द्वितीयस्यैकत्वेन शेषयोः क्रमादनेकत्वेन द्वौ, पुनर्द्वितीयस्य बहुत्वेन शेषयोरेकत्वेन द्वावेव, तृतीयचतुर्थयोरेकत्वबहुत्वाभ्यामेकः, पुनस्तद्विपर्ययेणैकः, एवं द्वादश, त्रिकयोगे चत्वारः सर्वेऽपि २० 'एवं दुयासंजोग'इत्यादि 'एत्थवि तहेव'त्ति अत्रापि द्रव्यत्रयाधिकारे तथैव वाच्यं सूत्रं यथा द्रव्यद्वयाधिकारे

८ शतके १ उद्देशः



श्रीभग० लघुवृत्तौ

उक्तं, तत्र च मनोवाक्कायप्रभेदतो यः प्रयोगपरिणामो मिश्रतापरिणामो वर्णादिभेदतश्च विश्रसापरिणाम उक्तः स इहापि वाच्यः, किमंतं तत्सूत्रं वाच्यम्?, 'जावे'त्यादि, इह च परिमण्डलादीनि पञ्च पदानि, तेषु चैकत्वेन पञ्च विकल्पाः, द्विकयोगे तु २०, कथं?, आद्यस्यैकत्वे शेषाणां क्रमेण बहुत्वे ४, आद्यस्य बहुत्वे शेषाणामेकत्वे ८, द्वितीयस्यैकत्वे बहुत्वे द्वयोरेकत्वे अनेकत्वे च ४, चतुर्थस्यैकत्वबहुत्वे पञ्चमस्य वा बहुत्वे द्वावित्येवं सर्वे २०, त्रिकयोगे १०, तत्र 'अहवा एगे तंससंठाणे'इत्यादिना त्रिकयोगानां दशमो दर्शितः। अथ चतुष्कमाश्रित्याह–'चत्तारि भंते! दव्व'त्ति इह प्रयोगपरिणतादित्रयेण एकत्वे ३, द्विकयोगे ९, कथं?, आद्यस्यैकत्वे द्वयोः क्रमेण बहुत्वे द्वौ, आद्यस्य द्वित्वे द्वयोर्द्वित्वे अन्यौ द्वौ, आद्यस्य त्रित्वे द्वयोरेकत्वे द्वौ, द्वितीयस्यैकत्वे अन्त्यस्य त्रित्वे द्वयोर्द्वित्वे तथा द्वितीयस्य त्रित्वे अन्त्यस्यैकत्वे त्रयोऽन्ये एवं सर्वेऽपि ९, त्रिकयोगे तु त्रय एव स्युः, एवं सर्वे पञ्चदशेति,'जइ पओगपरिणया किं मणपओगे'त्यादिना चोक्तशेषं द्रव्यचतुष्कप्रकरणमुपलक्षितम्, तच्च पूर्वोक्तानुसारेण संस्थानसूत्रं समुचितभङ्गकोपेतं समस्तमध्येयमिति॥ अथ पञ्चादिद्रव्यप्रकरणान्यतिदेशतो दर्शयन्नाह–'एवं एएणं कमेणं'ति, एवं चाभिलापः–पंच भंते! दव्वा किं पओगपरिणया? ३, गोयमा! पओगपरिणया वा ३ अहवा एगे पओगपरिणए चत्तारि मीसापरिणया'इत्यादि, इह च द्विकसंयोगे विकल्पाः १२, कथं?, एकं चत्वारि च १ द्वे त्रीणि च २ त्रीणि द्वे ३ चत्वार्येकं चेत्येवं ४ विकल्पाः, द्रव्यपञ्चकमाश्रित्य एकत्र द्विकयोगे पदत्रयस्य त्रयो द्विकयोगाः, ते च चतुर्भिर्गुणिता द्वादशेति, त्रिकयोगे तु षट्, कथं?, त्रीण्येकमेकं च १ एकं त्रीण्येकं च २ एकमेकं त्रीणि च ३ द्वे द्वे एकं च ४ द्वे एकं द्वे च ५ एकं द्वे द्वे चेति ६ 'जाव दससंजोएणं'ति इह यावत्करणाच्चतुष्कादिसंयोगास्सूचिताः, तत्र द्रव्यपञ्चकापेक्षया सत्यमनःप्रयोगादिषु चतुर्षु पदेषु

८ शतके १ उद्देशः

॥११६॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३०९-३१४] + गाथा: दीप अनुक्रम [३८१-३८७]

द्विकत्रिकचतुष्कसंयोगाः स्युः, तत्र द्विकसंयोगाः २४, कथं ?, चतुर्णां पदानां षट् द्विकसंयोगाः, तत्रैकैकस्मिन् प्रागुक्तक्रमेण ४ विकल्पाः, षण्णां चतुर्भिर्गुणने २४, त्रिकसंयोगा अपि २४, कथं ?, चतुर्णां पदानां त्रिकसंयोगाः ४, एकैकस्मिंश्च प्रागुक्तरीत्या षड् विकल्पाः, चतुर्णां षड्भिर्गुणने २४, चतुष्कसंयोगे तु ४, कथं ?, आदौ द्वे त्रिषु चैकैकं १ द्वितीयस्थाने द्वे शेषेषु चैकैकं २ तृतीयस्थाने द्वे शेषेषु चैकैकं ३ चतुर्थे द्वे शेषेषु चैकैकं ४ एवं चत्वार इति, एकेन्द्रियादिषु पञ्चपदेषु द्विकत्रिकचतुष्कपञ्चकसंयोगाः स्युः, तत्र द्विकसंयोगे ४० विकल्पाः, कथं ?, पञ्चानां पदानां दश द्विकसंयोगाः, एकैकस्मिंश्च द्विकसंयोगे प्रागुक्तरीत्या ४ विकल्पाः, दशानां चतुर्भिर्गुणने चत्वारिंशत्, त्रिकसंयोगे तु षष्टिः, कथं ?, पञ्चानां पदानां दश त्रिकसंयोगाः, एकैकस्मिन् त्रिकसंयोगे प्रागुक्तरीत्या ६ विकल्पाः, दशानां च षड्भिर्गुणने षष्टिरिति, चतुष्कसंयोगाः २०, कथं ?, पञ्चानां पदानां चतुष्कसंयोगे ५ विकल्पाः, एकैकस्मिंश्च प्रागुक्तरीत्या ४ विकल्पाः, पञ्चानां चतुर्भिर्गुणने २०, पञ्चकसंयोग एक एव, एवं षट्कादिसंयोगा अपि वाच्याः, नवरं षट्कसंयोगा आरम्भसत्यमनःप्रयोगादिषु स्यात्, सप्तकसंयोगस्त्वौदारिककायादिप्रयोगमाश्रित्य, अष्टकसंयोगस्तु व्यन्तरभेदान्, नवकसंयोगो ग्रैवेयकदेवभेदान्, दशकसंयोगस्तु भवनपतिदेवभेदानाश्रित्य वैक्रियशरीरकायप्रयोगापेक्षया समवसेयः, एकादशसंयोगः शून्यः नारकादिपदेषु तस्यासम्भवात्, द्वादशसंयोगः कल्पोपपन्नदेवभेदानाश्रित्य वैक्रियशरीरकायप्रयोगापेक्षया चेति, **'पवेसणाए'**त्ति नवमशततृतीयोद्देशके गाङ्गेयाभिधानानगारकृतनरकादिगतिप्रवेशनविचारे, कियन्ति तदनुसारेण द्रव्याणि वाच्यानीत्याह–**'जाव असंखेज्ज'**त्ति असङ्ख्यातान्तनारकादिवक्तव्यताश्रयं हि तत्सूत्रं, इह यो विशेषस्तमाह–**'अणंते'**त्यादि ॥ अथैषामेवाल्पबहुत्वमाह–**'सव्वत्थोव'**त्ति (सू. ३१४) कायादिरूपतया जीवपुद्गलसंबन्धकालस्य स्तोकत्वात्, **'मीसाप० अणंत-**

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गुण'त्ति कायादिप्रयोगपरिणतेभ्यः सकाशात् मिश्रकपरिणता अनन्तगुणाः, यतः प्रयोगकृतमाकारमपरित्यजन्तो विश्रसया ये परिणामान्तरमुपागता मुक्तकलेवराद्यवयवरूपास्तेऽनन्तानन्ताः, विश्रसापरिणतास्तु तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः, परमाण्वादीनां जीवाग्रहणयोग्यानामप्यनन्तत्वादिति ॥ **अष्टमशते प्रथमोद्देशकविवरणम्** ॥

'आसीविस'त्ति (सू. ३१५) आशीविषा–दंष्ट्राविषाः, **'जाइआसी'**त्ति जात्या–जन्मना आशीविषाः, **'कम्मआसी'**ति कर्मणा–क्रियया शापादिनोपघातकरणेनाशीविषाः कर्माशीविषाः, तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च कर्माशीविषाः, पर्याप्तका एव, एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणतः खल्वाशीविषाः स्युः, शापप्रदानेनैव व्यापादयन्तीत्यर्थः, एते चाशीविषलब्धिसद्भावाः सहस्रारान्तदेवेष्वेवोत्पद्यंते, देवास्त्वेत एव ये देवत्वेनोत्पन्नाः ते पर्याप्तकावस्थायामनुभूतभावतया कर्माशीविषाः, उक्तं च भाष्यकारेण–"आसी दाढा तग्गय महाविसाऽऽसीविसा भवे दुविहा। ते कम्मजाइभेएण णेगहा चउविहविगप्पा ॥१॥" **'केवइए विसए'**त्ति कियान् विषयो–गोचरो, विषयेति गम्यं, **'अद्धभरह'**त्ति अर्द्धभरतस्य यत् प्रमाणं सातिरेकत्रिषष्ट्यधिकयोजनशतद्वयलक्षणं तदेव मात्रा–प्रमाणं यस्यां सा तथा, **'बोंदि'**त्ति तनुं विषेण निजाशीप्रभवेन **'विसपरि'**त्ति विषपरिगतां **'विसट्टमाणि'**न्ति विकसन्तीं **'करित्तए'** कर्तुं, **'विसट्ठयाए'**त्ति विषमेवार्थो विषार्थस्तद्भावस्तत्ता तया विषार्थतया, विषत्वस्य तस्यां वा, **'नो चेव'**त्ति नैवेत्यर्थः, **'संपत्तीए'** सम्पत्त्या एवंविधबोन्दिसम्प्राप्तिद्वारेण, **'करेंसु'**त्ति अकार्षुः, वृश्चिका इति गम्यते, **'समयखेत्तं'**ति समयक्षेत्रं **'एवं जहा वेउव्वियसरीरस्स भेदो'**त्ति यथा वैक्रियं भणता जीवभेदो भणितः तथेहापि वाच्योऽसाविति–त्यर्थः, स चायं–गोयमा! नो संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खासीविसे, जइ गब्भ-

८ शतके २ उद्दे० ॥११७॥

अत्र **शतक-८ उद्देशक** : १ समाप्तः, अत्र **शतक-८ उद्देशक** : २ आरभ्यते

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० विसे किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० विसे असंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्ख० विसे ?, गो०! संखिज्जवासाउय जाव कम्मासीविसे जइ संखिज्ज जाव कम्मासीविसे किं पज्जत्तसंखेज्ज जाव कम्मासीविसे अपज्जत्तसंखेज्ज जाव कम्मासीविसे ?, गो०! शेषं लिखितमेवास्ते ॥ 'दस ट्ठाणाइं'ति (सू. ३१६) दश स्थानानि–वस्तूनि, गुणपर्यायाश्रितत्वात्, छद्मस्थ इहावध्यादिज्ञानरहितो गृह्यते, अन्यथा अमूर्त्तत्वेन धर्मास्तिकायादीनजानन्नपि परमाण्वादि जानात्येवासौ, मूर्त्तत्वात् तस्य, समस्तमूर्त्तविषयत्वाच्चावधिविशेषस्य, 'सव्वभावेणं'ति इत्युक्तं, ततश्च तत्कथञ्चिज्जानन्नपि अनन्तपर्यायतया न जानातीति, सत्यं, परं दशेति सङ्ख्यानियमो व्यर्थः स्यात्, बहूनामपि घटादीनामर्थानामकेवलिना सर्वपर्यायतया ज्ञातुमशक्यत्वात्, सर्वभावेन च साक्षात्करणं चक्षुःप्रत्यक्षेणेति हृदयं, श्रुतज्ञानादिना त्वसाक्षात्कारेण जानात्यपि, 'जीवं'ति अशरीरप्रतिबद्धं–देहमुक्तं, सिद्धमित्यर्थः, 'सव्वभावेणं'ति केवलज्ञानेनेति हृदयं ॥'आभिणिबोहिय'त्ति (सू. ३१७) अर्थाभिमुखोऽपि पर्यायरूपत्वात् नियतोऽसंशयरूपत्वाद् बोधो–ज्ञानमभिनिबोधः स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकं, 'उग्गहे'त्ति अव इति–प्रथमतो वस्तुग्रहणमवग्रहः, 'ईह'त्ति सदर्थविशेषालोचनमीहा, 'अवाय'त्ति प्रक्रान्तार्थविनिश्चयोऽवायः, अवगतार्थविशेषधरणं धारणा ४, 'जहे'ति यथा 'राजप्रश्नीये' ज्ञानानां भेदो–विचारो भणितः तथेहापि भणितव्यः, स चैवम्–'से किं तं उग्गहे पण्णत्ते ?, उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं०–अत्थोवग्गहे वंजणोव०'इत्यादि, 'विभंगनाणे'त्ति विरुद्धा भङ्गा—विकल्पा यस्मिन् तद्विभङ्गज्ञानं, 'वंजणोवग्गहे'त्ति व्यज्यतेऽर्थोऽनेन दीपेनेव घट इति व्यञ्जनं, तच्चोपकरणेन्द्रियं तेनावग्रहो व्यञ्जनावग्रहः, 'जहा आभिणि'त्ति यथा मतिज्ञानं तथा मत्यज्ञानमप्यध्येयं, तच्चैवम्–'से किं तं वंजणावग्गहे ?, २ चउव्विहे पं०, तं० सोइंदियवं० जिब्भि-

८ शतके २ उद्दे०

श्रीभग० लघुवृत्तौ

दियवं० घाणिंदियवं० फासिंदियवंजणुग्गहे 'एगट्ठियवज्जं'ति इहापि आभिणिबोहियनाणे अगिण्हणयाए अवधारणाए अवलंबणयाए मेहाए'इत्यादिपदानि पञ्चैकार्थिकान्यवग्रहादीनामधीतानि, मत्यज्ञाने तु न तान्यध्येयानि इति भावः, **'जाव नोइंदियधारणा'**त्ति इदमन्त्यपदं यावदित्यर्थः,**'जं इमं अण्णाणिएहिं'** यदिदं मत्यज्ञानिकैः,अत आह–**'मिच्छादिट्ठीहिं'**ति मिथ्यादृष्टिभिः **'जहा नंदीए'**त्ति तत्रैतत्सूत्रं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं, तं०–भारहं रामायण'मित्यादि, **'संगोवंग'**त्ति इहाङ्गानि–शिक्षादीनि षट् उपाङ्गानि–तद्व्याख्यारूपाणि,**'गामसंठिए'**त्ति ग्रामालम्बनत्वात् ग्रामाकारमेव, एवमन्यान्यपि **'वाससंठिए'** भरतादिवर्षाकारं **'वासहर'**त्ति हिमवदादिवर्षधरपर्वताकारं **'पसय'**त्ति पसय आटव्यो द्विखुरश्चतुष्पदविशेषः, एवं विविधसंस्थानसंस्थितमिति, **'अत्थेगइया एगनाणी'** केवलज्ञानीति, **'नेरइयाणं'**ति **'तिन्नाणी'**ति सम्यग्दृष्टिनारकाणां भवप्रत्ययमवधिज्ञानमस्तीतिकृत्वा नियमात् त्रिज्ञानिनः, 'अन्नाणी ते अत्थेगइया दुअन्नाणी'ति, कथं स्यात् ?, असंज्ञिनस्संतो ये नारकेषूत्पद्यन्ते तेषामपर्याप्तावस्थायां विभङ्गाभावादाद्यमेवाज्ञानद्वयमस्ति, ततो द्व्यज्ञानिनः, ये तु मिथ्यादृशः संज्ञिभ्य उत्पद्यते तेषां भवप्रत्ययविभङ्गे सति ते त्र्यज्ञानिनः, **'बेइंदियाणं'**ति द्वीन्द्रियाः केचित् ज्ञानिनः सास्वादनसम्यग्दर्शनभावादपर्याप्तकावस्थायां स्युरित्युच्यते **'नाणी'**ति ॥ अथ गत्यादि २० द्वारगाथाद्वयमाह–"गइ १ इंदिए य २ काए ३ सुहुमे ४ पज्जत्तए ५ भवत्थे य ६ । भवसिद्धिए य ७ सन्नी ८ लद्धी ९ उवओग १० जोगे य ११ ॥ १ ॥ लेसा १२ कसाय १३ वेयण १४ आहारे १५ नाणगोयरे १६ काले १७ । अंतर १८ अप्पाबहुयं १९ पज्जवा २० चेव दाराइं ॥२॥" **"निरयगइ"**त्ति(सू.३१८)निरये गतिर्येषां ते निरयगतिकास्तेषां, इह च सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयो वा ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा ये पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्येभ्यो नरके उत्पत्तुकामा अन्तरगतौ वर्त्तन्ते ते निरयगतिका विव-

८ शतके १ उद्दे० ॥११८॥

क्षिताः, एतत्प्रयोजनत्वाद् गतिग्रहणस्येति, **'तिन्नि नाणाइं नियम'**त्ति अवधेर्भवप्रत्ययेनान्तरगतावपि भावात्, **'तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए'**त्ति असंज्ञिनां नरके गच्छतां द्वे अज्ञाने, अपर्याप्तकत्वे विभङ्गाभावात्, संज्ञिनां मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्यज्ञानानि भवप्रत्ययविभङ्गसद्भावात् अतस्त्रीण्यज्ञानानि भजनयेत्युच्यते, **'तिरियगइयाणं'**ति तिर्यग्गतिकानां तदपान्तरालवर्त्तिनां **'दो नाण'**त्ति सम्यग्दृष्टयोऽवधिज्ञाने पतित एव तिर्यक्षु गच्छन्ति तेन तेषां द्वे एव ज्ञाने **'दो अन्नाणे'**त्ति मिथ्यादृष्टयो विभङ्गज्ञाने पतित एव तिर्यक्षु गच्छन्ति तेन तेषां द्वे अज्ञाने, **'मणुस्सगइयाणं'**ति **'तिण्णि नाणाइं भयणाए'**त्ति मनुष्यगतौ गच्छन्तः केचिज्ज्ञानिनोऽवधिज्ञानेन सहैव गच्छन्ति, तीर्थकरवत्, केचिच्च तद्विमुच्येति, तेषां त्रीणि वा द्वे वा ज्ञाने स्यातामिति, ये पुनरज्ञानिनो मनुष्यगतावुत्पत्तुकामास्तेषां पतित एव विभङ्गे तत्रोत्पत्तिः स्यात् अत उक्तम्–**'दो अन्नाणाइं नियम'**त्ति, **'देवगइय'**त्ति देवगतौ ये ज्ञानिनो यातुकामास्तेषामवधिर्भवप्रत्ययो देवायुःप्रथमसमय एवोत्पद्यते अतस्तेषां नारकाणामिवोच्यते **'तिन्नि नाणाइं नियम'**त्ति, ये त्वज्ञानिनस्तेऽसंज्ञिभ्य उत्पद्यमाना द्व्यज्ञानिनः, अपर्याप्तकत्वे विभङ्गाभावात्, संज्ञिभ्य उत्पद्यमानास्तु त्र्यज्ञानिनो, भवप्रत्ययविभङ्गसद्भावात्, अतस्तेषां नारकाणामिवोच्यते **'तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए'** **'जहा सिद्ध'**त्ति यथा सिद्धाः केवलज्ञानिन एव, एवं सिद्धिगतिका अपि वाच्या इति भावः, यद्यपि सिद्धानां सिद्धगतिकानां चान्तरगत्यभावान्न विशेषोऽस्ति तथापि इह गतिद्वारबलायातत्वात्ते दर्शिताः, **'सइंदिया णं भंते'**त्ति सेन्द्रिया–इन्द्रियोपयोगवन्तः, ते च ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, ज्ञानिनां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, स्यात् द्वे स्यात् त्रीणि स्यात् चत्वारि, केवलज्ञानं नास्ति तेषां, अनिन्द्रियज्ञानत्वात्तस्य, द्व्यादिभावो ज्ञानानां लब्ध्यपेक्षया, उपयोगापेक्षया तु सर्वेषामेकदैकमेव ज्ञानं, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव, स्यात् द्वे स्यात् त्रीणि

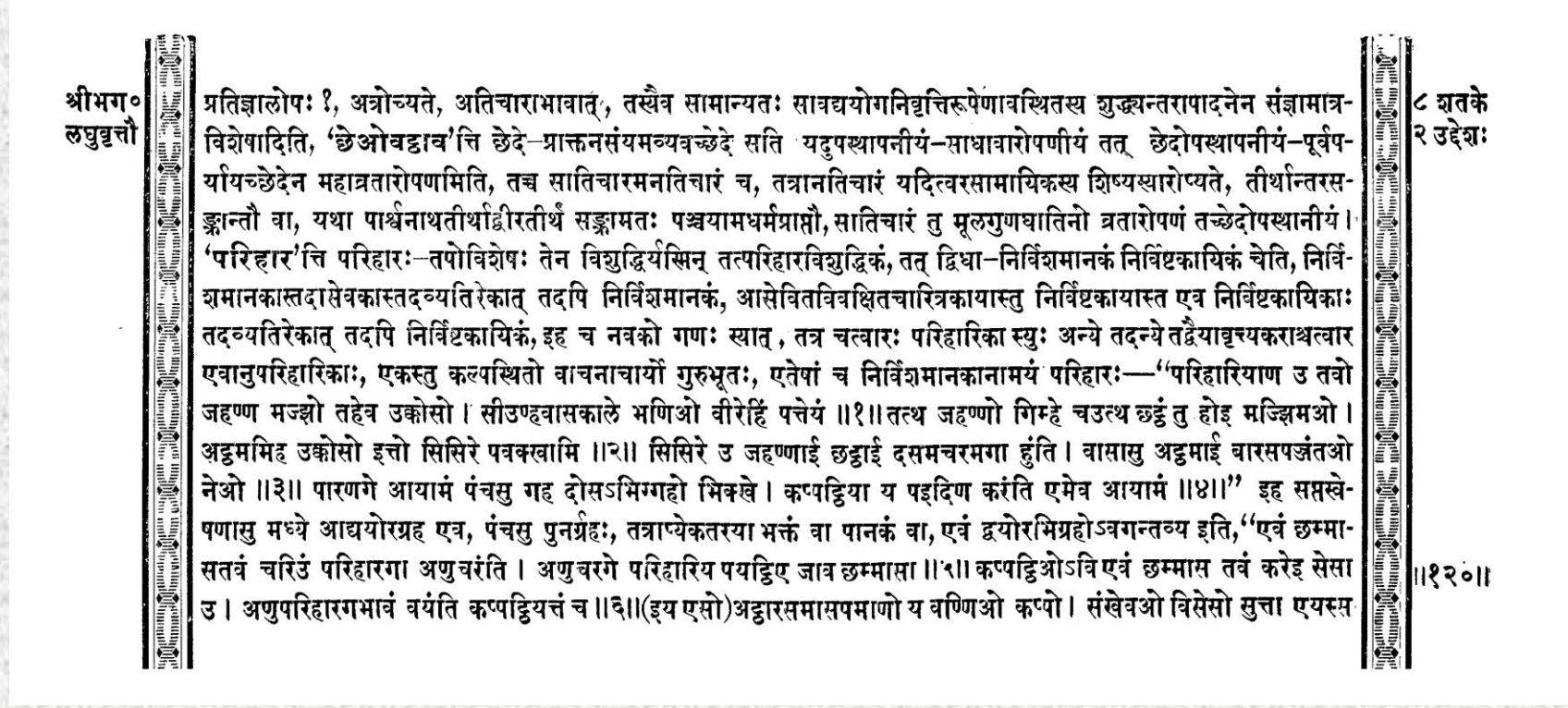
श्रीभग० लघुवृत्तौ

इति, 'जहा पुढविकाइय'त्ति एकेन्द्रिया मिथ्यादृष्टित्वादज्ञानिनस्ते च द्व्यज्ञाना एवेत्यर्थः,'बेंदिये'त्यादि, एषां द्वे ज्ञाने सास्वादनस्तेषूत्पद्यते इतिकृत्वा, सास्वादनश्चोत्कृष्टतः षडावलिकामानः, अतो द्वे ज्ञाने तेषु लभ्येते, 'अणिंदि'त्ति अनिन्द्रियाः–केवलिनः 'सकाइया णं'ति सह कायेन–औदारिकादिशरीरेण पृथ्व्यादिषट्कायान्यतरेण वा ये ते सकायिकाः, ते च केवलिनोऽपि स्युरिति सकायिकानां सम्यग्दृशां पञ्च ज्ञानानि, मिथ्यादृशां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनया स्युरिति, अकायिकास्सिद्धा एवेति। सूक्ष्मद्वारे 'जहा पुढवि'त्ति द्व्यज्ञानिनः सूक्ष्माः, मिथ्यादृक्त्वात्, 'जहा सकाइ'त्ति बादराः केवलिनोऽपि स्युरिति ते सकायिकवद् भजनया पञ्चज्ञानिनः त्र्यज्ञानिनश्च वाच्याः। पर्याप्तकद्वारे चतुर्विंशतिदण्डके पर्याप्तकनारकाणां त्रीण्यज्ञानानि नियमात्, अपर्याप्तकानामेवासंज्ञिनारकाणां विभङ्गाभाव इति पर्याप्तावस्थायां तेषामज्ञानत्रयमेवेति 'एवं जाव चउरिंदिय'त्ति द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तका द्व्यज्ञानिन एवेत्यर्थः, 'पज्जत्ता णं भंते! पंचिंदियतिरिक्ख'त्ति पर्याप्तकपञ्चेन्द्रियतिरश्चामवधिर्विभङ्गो वा केषांचित् स्यात् केषांचिन्नेति त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानानि वा द्वे ज्ञाने अज्ञाने वा तेषां स्यातामिति,'बेंदियाणं दो नाण'त्ति अपर्याप्तकद्वीन्द्रियादीनां केषांचित्सास्वादनसम्यग्दर्शनसद्भावात् द्वे ज्ञाने, केषांचित्तु तदभावात् द्वे अज्ञाने, अपर्याप्तकनराणां सम्यग्दृशामवधिभावे ज्ञानत्रयं यथा तीर्थकृतां, तदभावे तु द्वे ज्ञाने, मिथ्यादृशां तु द्वे अज्ञाने, तेषामपर्याप्तकत्वे विभङ्गाभावात्, अत एवोक्तम्– 'तिन्नि नाणाइं भयणाए दोण्णि अण्णाणा नियम'त्ति,'वाणमंतर'त्ति व्यन्तरा अपर्याप्तका नारका इव त्रिज्ञानाः त्र्यज्ञाना वा वाच्याः, तेष्वसंज्ञिभ्य उत्पद्यमानानामपर्याप्तकानां विभङ्गाभावात्, शेषाणां चावधेर्विभङ्गस्य च भावादिति, 'जोइसिय'त्ति एतेषु संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते, तेषामपर्याप्तकत्वेऽपि भवप्रत्ययस्यावधेर्विभङ्गस्य वाऽवश्यंभावात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानानि वा स्युरिति।

८ शतके २ उद्देशः

॥११९॥

भवस्थद्वारे 'निरयभवत्थाणं'ति निरयभवे तिष्ठन्तीति निरयभवस्थाः–प्राप्तोत्पत्तिस्थानाः, ते च यथा निरयगतिकास्त्रिज्ञाना द्व्यज्ञानाश्चोक्तास्तथा वाच्या इति। भव्यद्वारे 'जहा सकाइय'त्ति भवसिद्धिकाः केवलिनोऽपि ते सकायिकवद् भजनया पञ्चज्ञानाः, तथा यावत् सम्यक्त्वं न प्रतिपन्नास्तावद् भजनयैव त्र्यज्ञानाश्च वाच्या इति, अभवसिद्धिकानां त्वज्ञानत्रयं भजनया स्यात्, सदा मिथ्यादृष्टित्वात्तेषां, अत उक्तम्–'नो नाणी, अन्नाणी'त्यादि। संज्ञिद्वारे 'जहा सइंदिय'त्ति ज्ञानानि चत्वारि भजनया, अज्ञानानि च त्रीणि तथैव,'असन्नी जहा बेंदिय'त्ति अपर्याप्तकत्वे ज्ञानद्वयमपि सास्वादनतया स्यात्, पर्याप्तत्वेऽज्ञानद्वयमेवेति। लब्धिद्वारे 'कइविहाणं'ति (सू. ३१९) तत्र लब्धिः–आत्मनो ज्ञानादिगुणानां तत्कर्मक्षयापादितो लाभः, स च दशधा, ज्ञानपञ्चकस्य ज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमाभ्यां लब्धिर्ज्ञानलब्धिः, एवमन्यत्रापि, नवरं दर्शनं रुचिरूप आत्मपरिणामः, चरित्रं–चारित्रमोहनीयकर्मक्षयक्षयोपशमोपशमजो वा जीवपरिणामः, तथा चरित्रं च तदचरित्रं च चरित्राचरित्रं–संयमासंयमः, तच्चाप्रत्याख्यानकषायक्षयोपशमजो जीवपरिणामः, दानादिलब्धयः पञ्चान्तरायक्षयक्षयोपशमजाः, 'इंदियलद्धि'त्ति स्पर्शनाद्येकेन्द्रियादि इन्द्रियलब्धिमतिज्ञानावरणक्षयक्ष योपशमजा पञ्चान्तरायक्षयक्षयोपशमजा,'सम्मद्दंसणलद्धी'त्ति इह सम्यग्दर्शनं मिथ्यात्वमोहनीयकर्माणुवेदनो १ पशम २ क्षय ३ समुत्थ आत्मपरिणामः, मिथ्यादर्शनं त्वशुद्धमिथ्यात्वदलिकोदयसमुत्थजीवपरिणामः, 'सामाइयचरित्तलद्धि'त्ति सावद्ययोगविरतिरूपं सामायिकचारित्रं तल्लब्धिः, सामायिकचारित्रं द्विधा–इत्वरं यावत्कथिकं च, इत्वरं अल्पकालं, तच्च भरतैरावतप्रथमान्तिमजिनतीर्थेष्वनारोपितव्रतस्य शैक्षकस्येति, यावत्कथिकं तु यावज्जीविकं, तच्च विदेहमध्यमजिनतीर्थगतसाधूनामवसेयं, तेषामुपस्थापनाभावात्, नन्वितरस्यापि यावज्जीवतया प्रतिज्ञानात् तस्यैवोपस्थापनायां परित्यागात् कथं न



श्रीभग० लघुवृत्तौ

प्रतिज्ञालोपः ?, अत्रोच्यते, अतिचाराभावात्, तस्यैव सामान्यतः सावद्ययोगनिवृत्तिरूपेणावस्थितस्य शुद्ध्यन्तरापादनेन संज्ञामात्र-विशेषादिति, 'छेओवट्ठाव'त्ति छेदे–प्राक्तनसंयमव्यवच्छेदे सति यदुपस्थापनीयं–साधावारोपणीयं तत् छेदोपस्थापनीयं–पूर्वपर्यायच्छेदेन महाव्रतारोपणमिति, तच्च सातिचारमनतिचारं च, तत्रानतिचारं यदित्वरसामायिकस्य शिष्यस्यारोप्यते, तीर्थान्तरसङ्क्रान्तौ वा, यथा पार्श्वनाथतीर्थाद्वीरतीर्थं सङ्क्रामतः पञ्चयामधर्मप्राप्तौ, सातिचारं तु मूलगुणघातिनो व्रतारोपणं तच्छेदोपस्थानीयं। 'परिहार'त्ति परिहारः–तपोविशेषः तेन विशुद्धिर्यस्मिन् तत्परिहारविशुद्धिकं, तत् द्विधा–निर्विशमानकं निर्विष्टकायिकं चेति, निर्विशमानकास्तदासेवकास्तदव्यतिरेकात् तदपि निर्विशमानकं, आसेवितविवक्षितचारित्रकायास्तु निर्विष्टकायास्त एव निर्विष्टकायिकाः तदव्यतिरेकात् तदपि निर्विष्टकायिकं, इह च नवको गणः स्यात्, तत्र चत्वारः परिहारिका स्युः अन्ये तदन्ये तद्वैयावृत्यकराश्चत्वार एवानुपरिहारिकाः, एकस्तु कल्पस्थितो वाचनाचार्यो गुरुभूतः, एतेषां च निर्विशमानकानामयं परिहारः—"परिहारियाण उ तवो जहण्ण मज्झो तहेव उक्कोसो। सीउण्हवासकाले भणिओ वीरेहिं पत्तेयं ॥१॥ तत्थ जहण्णो गिम्हे चउत्थ छट्ठं तु होइ मज्झिमओ। अट्ठममिह उक्कोसो इत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥२॥ सिसिरे उ जहण्णाई छट्ठाई दसमचरमगा हुंति। वाससु अट्ठमाई बारसपज्जंतओ नेओ ॥३॥ पारणगे आयामं पंचसु गह दोसऽभिग्गहो भिक्खे। कप्पट्ठिया य पइदिण करंति एमेव आयामं ॥४॥" इह सप्तसु षणासु मध्ये आद्ययोरग्रह एव, पंचसु पुनर्ग्रहः, तत्राप्येकतरया भक्तं वा पानकं वा, एवं द्वयोरभिग्रहोऽवगन्तव्य इति, "एवं छम्मासतवं चरिउं परिहारगा अणुचरंति। अणुचरगे परिहारिय पयट्ठिए जाव छम्मासा ॥५॥ कप्पट्ठिओऽवि एवं छम्मास तवं करेइ सेसा उ। अणुपरिहारगभावं वयंति कप्पट्ठियत्तं च ॥६॥(इय एसो)अट्ठारसमासपमाणो य वण्णिओ कप्पो। संखेवओ विसेसो सुत्ता एयस्स

८ शतके २ उद्देशः

॥१२०॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नायव्वो ॥७॥ कप्पसम्मत्तीइ तयं जिणकप्पं वा उविंति गच्छं वा । पडिवज्जमाणगा पुण जिणस्सगासे पवज्जंति ॥८॥ तित्थयरसमीवासेवगस्स पासेऽवि नेव अन्नस्स । एएसिं जं चरणं परिहारविसुद्धियं तं तु ॥९॥' अन्यैस्तु व्याख्यातम्–परिहारतो मासिक चतुर्लघ्वादि तपश्चरति यः तस्य परिहारचरित्रलब्धिः स्यात्, इदं च परिहारतपो यथा स्यात् तथोच्यते–"णवमस्स तइय वत्थुं जहण्ण उक्कोस ऊणगा दस उ । सुत्तत्थमिग्गहा पुण दव्वाइ तवो रयणमाई ॥१॥" अयमर्थः–जघन्यतो यस्य नवमपूर्वतृतीयं वस्तु यावद्भवति, उत्कर्षतस्तु दश पूर्वाणि न्यूनानि सूत्रतोऽर्थतश्च स्युः, द्रव्यादयश्चाभिग्रहाः, रत्नावल्यादि तपः, तस्य परिहारतपो दीयते, तद्दाने च निरुपसर्गार्थं कायोत्सर्गो विधीयते, शुभे क्षणे तत्प्रतिपत्तिः, गुरुस्तं ब्रूते–यथाऽहं तव वाचनाचार्यः अयं गीतार्थसाधुस्सहायस्ते, शेषसाधवोऽपि वाच्याः, यथा–'एस तवं पडिवज्जइ न कंचि आलवइ मा य आलवह । अत्तट्ठचिंतगस्सा वाघाओ भे ण कायव्वो' ॥१॥ तथा कथमहमिहालापादिरहितस्सन् तपः करिष्यामि एवं बिभ्यतस्तस्य भयापहारः कार्यः, कल्पस्थितस्य तस्यैतत्कुर्यात्—किइकम्मं च पडिच्छइ परिण्ण पडिपुच्छयंपि सो देइ । सोवि य गुरुमुवचिट्ठइ, उदन्तमवि पुच्छिओ कहइ ॥ २ ॥ इह परिण्णा–परिज्ञा प्रत्याख्यानं, प्रतिपृच्छा त्वालापकः, यदा स ग्लानीभूत उत्थानादिकर्तुकामोऽस्मि (इति ब्रूते) ततोऽनुपरिहारिकस्तूष्णीक एव तदभिप्रेतं सर्वमपि कुर्यात्, आह च–"उट्ठेज्ज निसीइज्जा भिक्खं हिंडेज्ज भंडगं पेहे । कुवियपियबंधवस्स व करेइ इयरोऽवि तुसिणीओ ॥३॥" तपश्च तस्य ग्रीष्मशिशिरवर्षासु जघन्यादिभेदेन चतुर्थादिद्वादशान्तं प्रागुक्तमेवेति, उक्तः परिहारतपोविधिः। **'सुहुमसंपराय'न्ति** संपरैति संसारमेभिरिति सम्परायाः, सूक्ष्मा–लोभांशावशेषरूपाः सम्पराया यत्र तत्सूक्ष्मसम्परायं, एतदपि द्विधा–विशुद्ध्यमानकं संक्लिश्यमानकं चेति, तत्र विशुद्ध्यमानकं क्षपकोपशमश्रेणिमारूढस्य स्यात्, सङ्क्लिश्यमानकं तु उपशमश्रे-

८ शतके २ उद्देशः

णीतः प्रच्यवमानस्येति,'अहक्खायचरित्त'न्ति यथा–येन प्रकारेणाख्यातं–अभिहितं अकषायतयेति तथैव यत् तत् यथाख्यातं, तदपि द्विधा–उपशमक्षपकश्रेणिभेदात्, शेषं तथैव, 'चरित्ताचरित्ते'त्ति 'एगागारा' मूलोत्तरगुणादीनां तद्भेदानामविवक्षणाद् द्वितीयकषायक्षयोपशमलभ्यपरिणाममात्रस्यैव विवक्षणाच्चरित्राचरित्रलब्धेरेकाकारत्वमवसेयं,एवं दानादिलब्धीनामेकाकारत्वं भेदानामविवक्षणात्, 'बालवीरिय'त्ति बालस्य–असंयतस्य यद्वीर्यमसंयमयोगप्रवृत्तिहेतुभूतं तस्य या लब्धिश्चारित्रमोहोदयाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च सा तथा, एवमन्येऽपि यथायोगं वाच्ये, नवरं पण्डितः–संयतः बालपण्डितः–संयतासंयतः श्राद्धः। 'तस्स अलद्धियाणं'ति तस्य–ज्ञानस्य अलब्धिकाः, ज्ञानलब्धिरहिता इत्यर्थः,'आभिणिबोहियनाणे'त्यादि, आभिनिबोधिकज्ञानलब्धिकानां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलिनो नास्ति आभिनिबोधिकज्ञानमिति। मतिज्ञानस्यालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते केवलिनस्ते चैकज्ञानिन एव, ये त्वज्ञानिनस्ते अज्ञानद्वयवन्तः अज्ञानत्रयवन्तो वा, एवं श्रुतेऽपि, 'ओहिणाणलद्धि'त्ति अवधिज्ञानलब्धिकास्त्रिज्ञानाः केवलमनःपर्यायाभावे, चतुर्ज्ञाना वा केवलाभावात्, अवधिज्ञानस्यालब्धिका ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञानिनो मतिश्रुतभावात्, त्रिज्ञाना वा मतिश्रुतमनःपर्यायभावात्, एकज्ञाना वा केवलभावात्, ये त्वज्ञानिनस्ते द्व्यज्ञाना वा मत्यज्ञानश्रुताज्ञानभावात्, त्र्यज्ञाना वा विभङ्गभावात्,'मणपज्जव'त्ति मनःपर्यवज्ञानलब्धिकास्त्रिज्ञानाः, अवधिकेवलाभावात्, चतुर्ज्ञाना वा, केवलाभावात्, मनःपर्यवज्ञानालब्धिकास्त्रिज्ञाना अवधिकेवलाभावात्, अलब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्ते द्विज्ञानाः, आद्यद्वयभावात्, त्रिज्ञाना वा आद्यत्रयभावात्, एकज्ञाना वा केवलभावात्, ये त्वज्ञानिनस्ते द्व्यज्ञाना आद्याज्ञानद्वयभावात्, त्र्यज्ञाना वा अज्ञानत्रयभावात्, 'केवलनाण'त्ति केवलज्ञानलब्धिकाः केवलज्ञानिन एव, केवलज्ञानालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषामाद्यं ज्ञानद्वयं, त्रयं मतिश्रुत-

॥१२१॥

मनःपर्यायज्ञानानि वा केवलज्ञानवर्जानि चत्वारि वा ज्ञानानि स्युः, ये त्वज्ञानिनस्तेषामाद्यमज्ञानद्वयं तत्त्रयं वा स्याद्, एवं भजना अवसेयेति। 'अन्नाणलद्धियाणं'ति अज्ञानलब्धिका अज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनया, द्वे अज्ञाने त्रीण्यज्ञानानि वा, अज्ञानालब्धिकास्तु ज्ञानिनः, तेषां च पञ्च ज्ञानानि भजनया पूर्वोपदर्शितया वाच्यानि,'जहा अन्नाणे'त्यादि, यथा अज्ञानलब्धिकानां त्रीण्यज्ञानानि भजनयोक्तानि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानलब्धिकानामपि तानि तथैव, तथा अज्ञानालब्धिकानां पञ्च ज्ञानानि भजनयोक्तानि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानालब्धिकानामपि पञ्च ज्ञानानि भजनयैव वाच्यानि, विभङ्गज्ञानलब्धिकानां त्रीण्यज्ञानानि नियमात्, तदलब्धिकानां पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां च द्वे अज्ञाने नियमादिति। 'दंसणलद्धि'त्ति दर्शनलब्धिकाः, श्रद्धानमात्रलब्धिका इत्यर्थः, ते च सम्यक्श्रद्धानवन्तो ज्ञानिनस्तदितरे त्वज्ञानिनः, तत्र ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनयैवेति,'तस्स अलद्धिया नत्थि'त्ति तस्य–दर्शनस्य येषामलब्धिस्ते न संत्येव, सर्वजीवानां रुचिमात्रस्यास्तित्वादिति,'सम्मदंसणलद्धि'त्ति सम्यग्दर्शनलब्धिकानां 'तस्स अलद्धि'त्ति तस्यालब्धिकानां–सम्यग्दर्शनस्यालब्धिमतां मिथ्यादृष्टीनां मिश्रदृष्टीनां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया, यतो मिश्रदृष्टीनामप्यज्ञानमेव, तात्त्विकसद्बोधाहेतुत्वान्मिश्रस्येति, 'मिच्छादंसणलद्धि'त्ति मिथ्यादृशां,'तस्स अलद्धि'त्ति तस्यालब्धिकानां मिथ्यादर्शनालब्धिमतां सम्यग्दृशां मिश्रदृष्टीनां च क्रमात् पञ्च ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि च भजनयेति, 'चरित्तलद्धि'त्ति चरित्रलब्धिका ज्ञानिन एव, तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, यतः केवल्यपि चारित्री, चरित्रालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषां मनःपर्यववर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया स्युः, कथं ?, असंयतत्वे आद्यं ज्ञानद्वयं तत्त्रयं वा, सिद्धत्वे च केवलज्ञानं, सिद्धानामपि चारित्रलब्धिशून्यत्वाद्, यतस्ते 'नो चारित्रिणो नो अचारित्रिण' इति, ये त्वज्ञानिनस्तेषां

श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्रीण्यज्ञानानि भजनया,'सामाइय'त्ति सामायिकचारित्रलब्धिका ज्ञानिन एव, तेषां च केवलवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया, सामायिकचारित्रालब्धिकास्तु ये ज्ञानिनस्तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, छेदोपस्थापनीयादिभावेन सिद्धत्वेन वा, ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनया, एवं छेदोपस्थापनीयादिष्वपि वाच्यं, एतदेवाह–'एवं'ति तत्र छेदोपस्थापनीयादिचारित्रत्रयलब्धयो ज्ञानिन एव, तेषां चाद्यानि चत्वारि ज्ञानानि भजनया, ये त्वज्ञानिनस्तेषामज्ञानत्रयं भजनयैव, यथाख्यातचारित्रलब्धिकानां तु विशेषोऽस्ति अतस्तद्दर्शनायाह–'नवरमहक्खाय'त्ति सामायिकादिचारित्रचतुष्टयलब्धिमतां छद्मस्थत्वेन चत्वार्येव ज्ञानानि भजनया, यथाख्यातचारित्रलब्धिमतां छद्मस्थेतरभावेन पञ्चापि भजनया स्युरिति तेषां तथैव तान्युक्तानि, 'चरित्ताचरित्ते'त्ति 'तस्स अलद्धि'त्ति चारित्राचारित्रालब्धिकाः श्रावकादन्ये, ते च ये ज्ञानिनस्तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव, 'दाणलद्धि'त्ति दानान्तरायक्षयक्षयोपशमाद् दाने दातव्ये लब्धिर्येषां ते दानलब्धिकाः, ते ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ये ज्ञानिनस्तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, केवलिनामपि दानलब्धियुक्तत्वात्, ये त्वज्ञानिनस्तेषां त्रीण्यज्ञानानि भजनयैव, दानालब्धिकास्सिद्धास्ते दानान्तरायक्षयेऽपि दातव्याभावात् सम्प्रदानासत्त्वात् दानप्रयोजनाभावाच्च दानालब्धय उक्ताः, ते च नियमात् केवलज्ञानिन इति, 'एवं'ति लाभभोगोपभोगवीर्यलब्धय एवं ज्ञेयाः, तदलब्धयः सिद्धानामेवोक्तन्यायादवसेयाः, ननु दानाद्यन्तरायक्षयात् केवलिनां दानादयः कस्मान्न स्युः ?, उच्यते, प्रयोजनाभावात्, कृतकृत्यास्ते भगवन्तः, 'बालवीरिय'त्ति बालवीर्यलब्धयोऽसंयताः तेषां ज्ञानिनां त्रीणि ज्ञानानि, अज्ञानिनां च त्रीण्यज्ञानानि भजनया, तदलब्धिकास्तु संयतासंयताः संयताश्च ते च ज्ञानिन एव, तेषां पञ्च ज्ञानानि भजनया, 'पंडियवीरिय'त्ति 'तस्स अलद्धि'त्ति असंयतानां संयतासंयतानां सिद्धानां चेत्यर्थः, तत्रासंयतानामाद्यं

८ शतके २ उद्देशः

॥१२२॥

ज्ञानत्रयं अज्ञानत्रयं च भजनया, संयतासंयतानां तु ज्ञानत्रयं भजनयैव स्यात्, सिद्धानां तु केवलज्ञानमेव,'मणपज्जव'त्ति मनः-पर्यायज्ञानं तु पण्डितवीर्यवतामेव स्यात्, नान्येषां, अत उक्तम्–मनःपर्यायवर्जानि, सिद्धानां च वीर्यालब्धिकत्वं पण्डितवीर्यवाच्य-प्रत्युपेक्षणादिअनुष्ठाने प्रवृत्त्यभावात्,'बालपंडिए'त्ति 'तस्स अलद्धि'त्ति अश्रावकाणामिति, 'इंदियलद्धि'त्ति इन्द्रियलब्धिका ये ज्ञानिनस्तेषां चत्वारि ज्ञानानि भजनया, केवलं तु नास्ति तेषां, केवलिनामिन्द्रियोपयोगाभावात्, ये त्वज्ञानिनस्तेषामज्ञानत्रयं भजनयैव, इन्द्रियालब्धिकाः केवलिन एव, तेषामेवेन्द्रियोपयोगाभावात्,'तस्स लद्धि'त्ति श्रोत्रेन्द्रियलब्धिका इन्द्रियलब्धिकव-द्वाच्याः, ते च ये ज्ञानिनस्ते अकेवलित्वादाद्यज्ञानचतुष्टयवन्तो भजनया, अज्ञानिनस्तु भजनया द्व्यज्ञानाः, श्रोत्रेन्द्रियालब्धिका ये ज्ञानिनस्ते आद्यद्विज्ञानिनः, ते चापर्याप्तकाः सास्वादनसम्यग्दर्शनिनो विकलेन्द्रियाः, एकज्ञानिनः केवलज्ञानिनः, ते हि श्रोत्रे-न्द्रियालब्धिका इन्द्रियोपयोगाभावात्, ये त्वज्ञानिनस्ते चाद्याज्ञानद्वयवन्तः,'चक्खिंदिय'त्ति अयमर्थः–यथा श्रोत्रेन्द्रियलब्धि-मतां भजनया चत्वारि ज्ञानानि त्रीणि वा तदलब्धिकानां द्वे ज्ञाने अज्ञाने वा एकं च ज्ञानमुक्तं एवं चक्षुर्घ्राणलब्धिकानां तदल-ब्धिकानां च वाच्यं, तत्र चक्षुर्घ्राणलब्धिकाश्च ये पञ्चेन्द्रियास्तेषां केवलवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि त्रीणि वा भजनया, ये तु विक-लेन्द्रियाश्चक्षुर्घ्राणलब्धिकास्तेषां सास्वादनसम्यग्दर्शनभावे आद्यज्ञानद्वयं, तदभावे त्वाद्यमज्ञानद्वयं, चक्षुर्घ्राणेन्द्रियालब्धिका यथा-योगं त्रिद्व्येकेन्द्रियाः केवलिनश्च, तत्र त्रीन्द्रियादीनां सास्वादनसद्भावे आद्ये ज्ञाने, तदभावे आद्ये अज्ञाने, केवलिनामेकं केवल-ज्ञानं,'जिब्भिंदिय'त्ति,'तस्स अलद्धिया' जिह्वालब्धिवर्जितास्ते केवलिन एकेन्द्रियाश्च, ये अज्ञानिनस्ते नियमात् द्व्यज्ञानिनः,एके-न्द्रियाणां सास्वादनभावतोऽपि सम्यग्दर्शनासद्भावाद्विभङ्गाभावाच्चेति, 'फासिंदिय'त्ति स्पर्शनेन्द्रियलब्धिकाः केवलवर्जज्ञानच-

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तुष्कवन्तो भजनया, तथैव द्वयज्ञानिनो वा त्र्यज्ञानिनो वा, स्पर्शनेन्द्रियालब्धिकास्तु केवलिन एव, इन्द्रियलब्ध्यलब्धिमन्तोऽप्येवंविधा एव 'जहा इंदिय'त्ति यथा इन्द्रियलब्धिका अलब्धिका वा, उपयोगद्वारे **'सागारोवउत्त'**त्ति(सू. ३२०)आकारो–विशेषस्तेन यो बोधस्स साकारो–विशेषग्राहको बोधस्तेनोपयुक्ताः—तत्संवेदका ये ते साकारोपयुक्ताः ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ज्ञानिनां पञ्च ज्ञानानि भजनया, स्यात् द्वे स्यात्रीणि स्याच्चत्वारि स्यादेकं, यच्च स्याद् द्वे इत्युच्यते तल्लब्धिमात्रमङ्गीकृत्य, उपयोगापेक्षया एकदा एकमेव ज्ञानमज्ञानं च, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनया, **'आभिणि'**त्ति **'ओहिनाणे'**त्ति अवधिज्ञानसाकारोपयुक्ताः, यथा तल्लब्धिकाः प्रागुक्ताः, स्यात् त्रिज्ञानिनो मतिश्रुतावधियोगात्, स्याच्चतुर्ज्ञानिनो मतिश्रुतावधिमनःपर्यवाभिसम्बन्धात् तथा वाच्याः,**'मणपज्जव'**त्ति मनःपर्यवज्ञानसाकारोपयुक्ता यथा मनःपर्यवलब्धिकाः प्रागुक्ताः, स्यान्त्रिज्ञानिनो मतिश्रुतमनःपर्यवयोगात्, स्याच्चतुर्ज्ञानिनः केवलवर्जज्ञानयोगात्,**'अणागारोवउत्त'**त्ति न विद्यते आकारो यत्र तदनाकारं–दर्शनं तत्रोपयुक्ता ये ते ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च, तत्र ज्ञानलब्ध्यपेक्षया पञ्च ज्ञानानि भजनया, अज्ञानिनां तु त्रीण्यज्ञानानि भजनया,**'एवं'**ति यथा अनाकारोपयुक्ता ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चोक्ता एवं चक्षुर्दर्शनाद्युपयुक्ता अपि, **'नवरं'**ति विशेषः पुनरयं—चक्षुर्दर्शनेतरोपयुक्ताः केवलिनो न स्युः, तेषां चत्वारि ज्ञानानि भजनयेति, **'ओहिदंसणअणागारो'**त्ति अज्ञाना(अनाकारा)धिकारेऽवधिविभङ्गसाधारणत्वं, यतः–"सागारा, ओहिविभंगा जहण्णगा तुल्ला" इत्युक्तेः अवधिदर्शनयुक्ता अज्ञानिन उच्यन्ते। योगद्वारे **'सजोगिणं'**ति, **'जहा सकाइय'**त्ति प्रागुक्तकायद्वारे यथा सकायिका भजनया पञ्चज्ञानाऽज्ञयज्ञानाश्च उक्तास्तथा सयोगा अपि वाच्याः, एवं मनोयोग्यादयोऽपि, केवलिनोऽपि मनोयोगादीनां भावात् तथा मनोयोगित्वादिमतां मिथ्यादृशामज्ञानत्रयभावाच्च, **'अजोगी'**ति

८ शतके २ उद्देशः

॥१२३॥

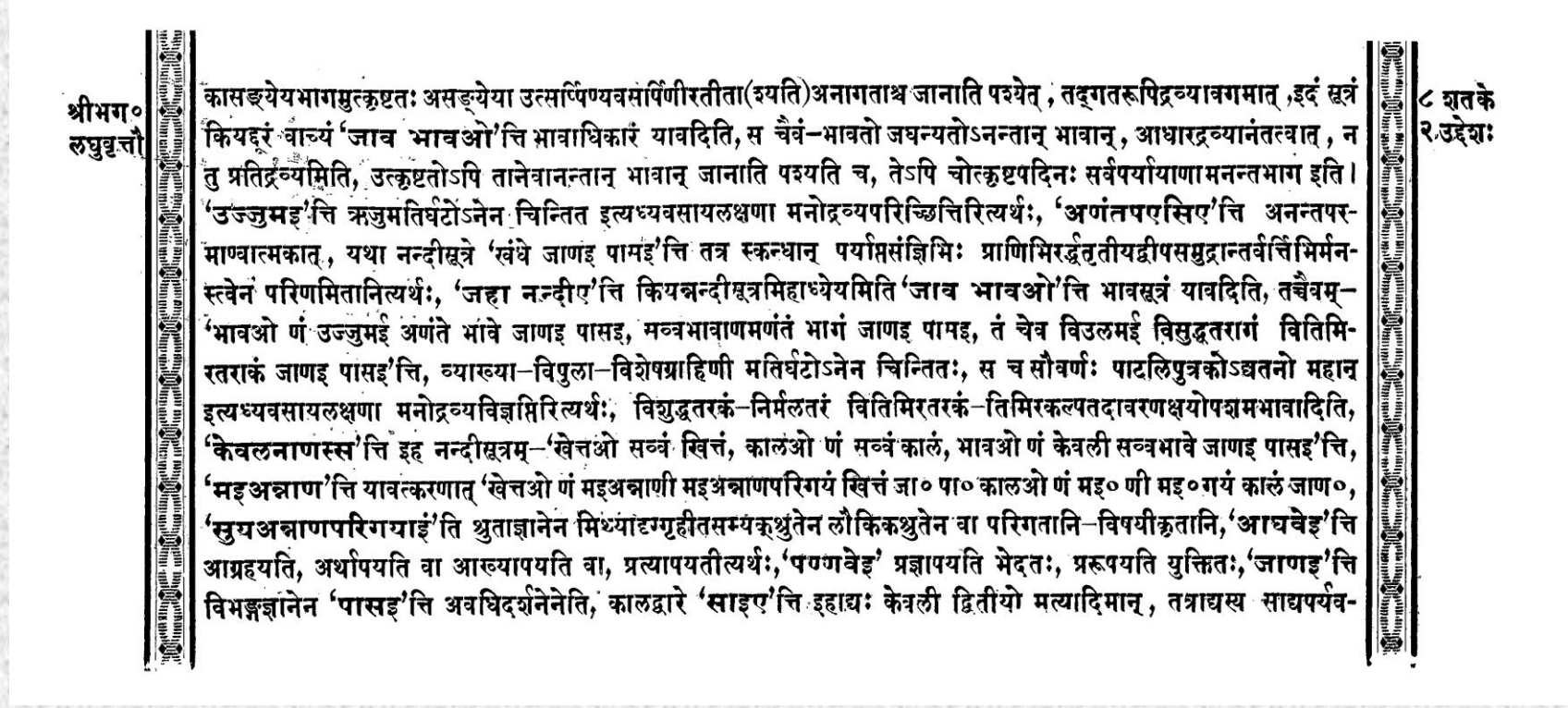
अयोगिनः केवलिन इति। 'जहा सकाइय'त्ति सलेश्याः सकायिकवद् भजनया पञ्चज्ञानाः त्र्यज्ञानाश्च वाच्याः, केवलिनोऽपि शुक्ललेश्यासम्भवेन सलेश्यत्वात्, 'कण्हलेस'त्ति कृष्णलेश्याश्चतुर्ज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनश्च भजनया, 'सुक्कलेसा जहा सलेस'त्ति पञ्चज्ञानिनो भजनया त्र्यज्ञानिनश्चेति,'जहा सिद्ध'त्ति एकज्ञानिन इति। कषायद्वारे 'सकसाइ'त्ति केवलवर्जचतुर्ज्ञानिनो भजनयाऽज्ञानिनश्च, 'अकसाईणं'ति अकषायिणां पञ्च ज्ञानानि भजनया, कथं ?, उच्यते छद्मस्थवीतरागः केवली वा अकषायः, तत्र च छद्मस्थवीतरागस्याद्यज्ञानचतुष्कं भजनया स्यात्, केवलिनस्तु पंचममिति। वेदद्वारे 'सवेयग'त्ति सवेदकाः सेन्द्रियवद्भजनया केवलवर्जचतुर्ज्ञानिनस्त्र्यज्ञानिनश्च वाच्याः,'अवेदग'त्ति अवेदका अकषायिवद्भजनया पञ्चज्ञाना वाच्याः, ततोऽनिवृत्तिबादरादयोऽवेदकास्स्युः,तेषु च छद्मस्थानां चत्वारि ज्ञानानि भजनया केवलिनां तु पञ्चममिति। आहारकद्वारे 'आहारग'त्ति सकषाया भजनया चतुर्ज्ञानास्त्र्यज्ञानाश्चोक्ताः, आहारका अप्येवमेव, नवरमाहारकाणां केवलमप्यस्ति, केवलिन आहारकत्वादिति, 'अणाहारग'त्ति मनःपर्यवज्ञानमाहारकाणामेव, आद्यं पुनर्ज्ञानत्रयं च विग्रहे, केवलं वा केवलिसमुद्घातशैलेशीसिद्धावस्थास्वनाहारकाणामपि स्यादत उक्तम्–'मणपज्जवे'त्यादि। आएसेणं'ति (सू. ३२२) आदेशः–प्रकारः सामान्यविशेषरूपः, तत्र चादेशेन–ओघतो द्रव्यमात्रतया, नतु तद्गतसर्वविशेषापेक्षयेति भावः, अथवा आदेशेन श्रुतपरिकर्मिततया सर्वद्रव्याणि–धर्मास्तिकायादीनि जानाति अवायधारणापेक्षयाऽवबुद्ध्यते, ज्ञानस्यावायधारणारूपत्वात्, 'पासइ'त्ति पश्यति अवग्रहेहापेक्षया अवबुद्ध्यते, यतः अवग्रहेयोर्दर्शनत्वं, आह भाष्यकारः–"णाणमवायधिईओ दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ। तह तत्तरुई सम्मं रोइज्जइ जेण तं नाणं ॥१॥ जं सामन्नग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं।" अवग्रहेहे च सामान्यरूपे, अवायधारणे च विशेषरूपे, 'खेत्तओ'त्ति सर्वं क्षेत्रं

श्रीभग० लघुवृत्तौ

लोकालोकरूपं, एवं कालतो भावतश्चेति, आह च भाष्यकारः–'आएसुत्ति पगारो ओघादेसेण सव्वदव्वाइं। धम्मत्थिकाइयाइं जाणइ न उ सव्वभावेणं ॥१॥ खित्तं लोगालोगं कालं सव्वद्धमहव तिविहंपि। पंचोदइयाईए भावे जा णेयमेवइयं ॥२॥' 'उवउत्ते'त्ति भावश्रुतोपयुक्तः,'जाणइ'त्ति जानाति विशेषतोऽवगच्छति, श्रुतज्ञानस्य तत्स्वरूपत्वात्,'पासइ'त्ति पश्यति च श्रुतानुवर्त्तिना मानसेन अचक्षुर्दर्शनरूपेण सर्वद्रव्याणि, अथवा पश्यत्यभिन्नदशपूर्वधरादिः श्रुतकेवली, तदारतस्तु भजना, सा पुनर्मतिविशेषतो ज्ञातव्येति, ननु 'भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वभावे जाणइ'त्ति यदुक्तमिह तत् 'सुए चरित्ते ण पज्जवा सव्वे' इत्यनेन सह कथं न विरुध्यते?, उच्यते, इह सूत्रे सर्वकथनेन पंचौदयिकादयो भावा गृह्यन्ते, तांश्च सर्वान् जातितो जानाति, 'रूविदव्वाइं'ति रूपिद्रव्याणि पुद्गलद्रव्याणि, तानि च जघन्यतोऽनन्तानि तैजसभाषाद्रव्याणामपान्तरालवर्त्तीनि, यदुक्तं—'तेयाभासादव्वाण अंतराइत्थ लहइ पट्ठवओ'त्ति, उत्कृष्टतस्तु सर्वबादरसूक्ष्मभेदभिन्नानि जानाति विशेषाकारेण, ज्ञानत्वात् तस्य, पश्यति सामान्यतः, अवधिज्ञानिनोऽवधिदर्शनस्यावश्यंभावात्, नन्वादौ दर्शनं ततो ज्ञानमिति क्रमस्तत्किमर्थमेनंत्यक्त्वा प्राग्जानातीत्युक्तं, अत्रोच्यते, इहावधिज्ञानाधिकारात् प्राधान्यख्यापनार्थमादौ जानातीत्युक्तं, अवधिदर्शनस्यावधिविभङ्गसाधारणत्वेनाप्रधानत्वात् पश्चात् पश्यतीति, अथवा सर्वा एव लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्य उत्पद्यन्ते, लब्धिश्चावधिज्ञानमिति साकारोपयोगोपयुक्तस्यावधिज्ञानलब्धिः स्यात् इत्येतस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं साकारोपयोगाभिधायकं जानातीति प्रागुक्तं, ततः क्रमेणोपयोगप्रवृत्तेः पश्यतीति, 'जहा नंदीए' तत्रेदं सूत्रम्–'खेत्तओ णं ओहिनाणी जहण्णेणं अंगुलस्सासंखेज्जभागं० जाणइ पासइ'त्ति, व्याख्या पुनरेवं–क्षेत्रतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागमुत्कृष्टतोऽसङ्ख्येयान्यलोके शक्तिमपेक्ष्य लोकमितानि खण्डानि जानाति पश्यति, कालतो जघन्यमावलि-

८ शतके २ उद्देशः

॥१२४॥

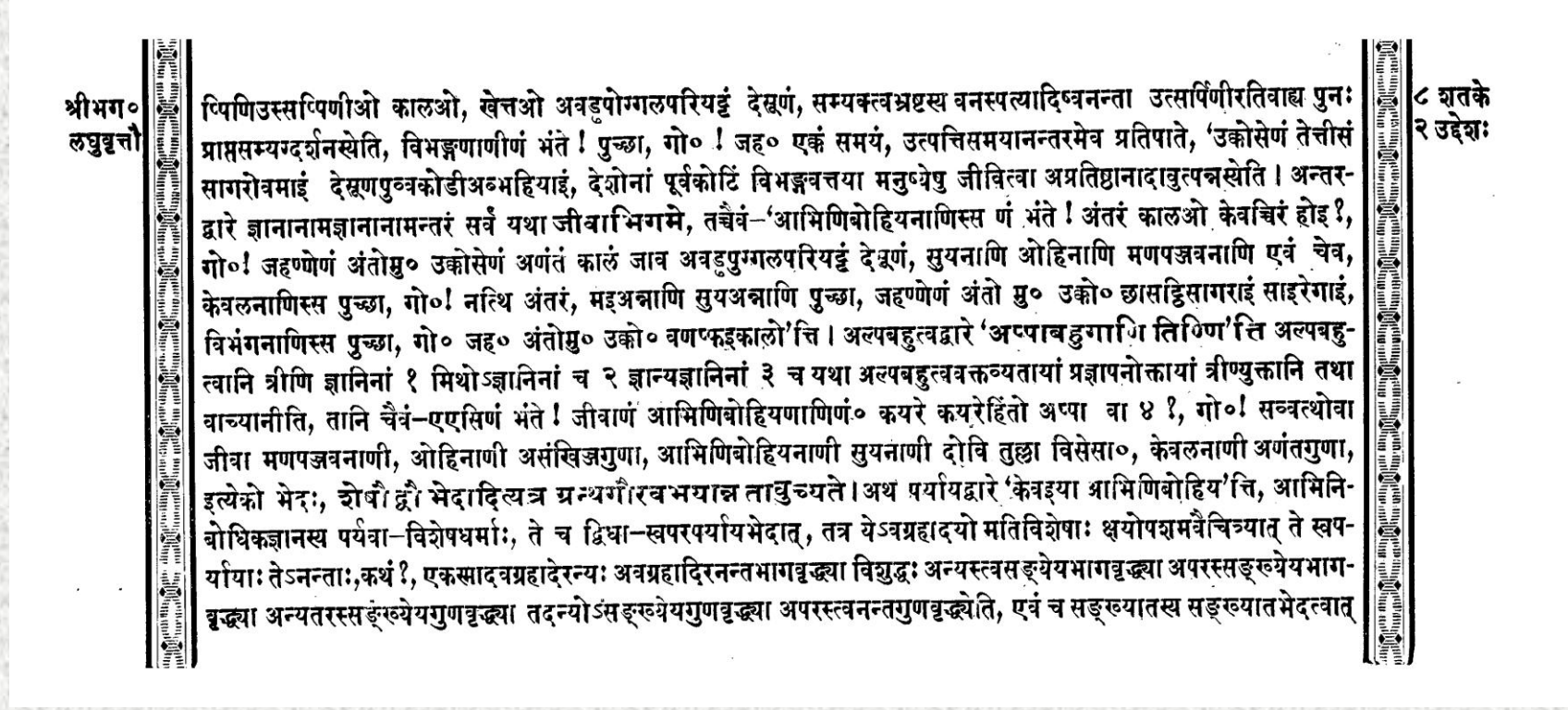


श्रीभग० लघुवृत्तौ

कासङ्ख्येयभागमुत्कृष्टतः असङ्ख्येया उत्सर्प्पिण्यवसर्पिणीरतीता(श्यति)अनागताश्च जानाति पश्येत्, तद्गतरूपिद्रव्यावगमात्, इदं सूत्रं कियद्दूरं वाच्यं 'जाव भावओ'त्ति भावाधिकारं यावदिति, स चैवं–भावतो जघन्यतोऽनन्तान् भावान्, आधारद्रव्यानंतत्वात्, न तु प्रतिद्रव्यमिति, उत्कृष्टतोऽपि तानेवानन्तान् भावान् जानाति पश्यति च, तेऽपि चोत्कृष्टपदिनः सर्वपर्यायाणामनन्तभाग इति। 'उज्जुमइ'त्ति ऋजुमतिर्घटोऽनेन चिन्तित इत्यध्यवसायलक्षणा मनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः, 'अणंतपएसिए'त्ति अनन्तपरमाण्वात्मकात्, यथा नन्दीसूत्रे 'खंधे जाणइ पासइ'त्ति तत्र स्कन्धान् पर्याप्तसंज्ञिभिः प्राणिभिरर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्तिभिर्मनस्त्वेन परिणमितानित्यर्थः, 'जहा नन्दीए'त्ति कियन्नन्दीसूत्रमिहाध्येयमिति 'जाव भावओ'त्ति भावसूत्रं यावदिति, तचैवम्–'भावओ णं उज्जुमई अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणमणंतं भागं जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई विसुद्धतरागं वितिमिरतराकं जाणइ पासइ'त्ति, व्याख्या–विपुला–विशेषग्राहिणी मतिर्घटोऽनेन चिन्तितः, स च सौवर्णः पाटलिपुत्रकोऽद्यतनो महान् इत्यध्यवसायलक्षणा मनोद्रव्यविज्ञप्तिरित्यर्थः, विशुद्धतरकं–निर्मलतरं वितिमिरतरकं–तिमिरकल्पतदावरणक्षयोपशमभावादिति, 'केवलनाणस्स'त्ति इह नन्दीसूत्रम्–'खेत्तओ सव्वं खित्तं, कालओ णं सव्वं कालं, भावओ णं केवली सव्वभावे जाणइ पासइ'त्ति, 'मइअन्नाण'त्ति यावत्करणात् 'खेत्तओ णं मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगयं खित्तं जा० पा० कालओ णं मइ० णी मइ०गयं कालं जाण०, 'सुयअन्नाणपरिगयाइं'ति श्रुताज्ञानेन मिथ्यादृग्गृहीतसम्यक्श्रुतेन लौकिकश्रुतेन वा परिगतानि–विषयीकृतानि, 'आघवेइ'त्ति आग्रहयति, अर्थापयति वा आख्यापयति वा, प्रत्यापयतीत्यर्थः, 'पण्णवेइ' प्रज्ञापयति भेदतः, प्ररूपयति युक्तितः, 'जाणइ'त्ति विभङ्गज्ञानेन 'पासइ'त्ति अवधिदर्शनेनेति, कालद्वारे 'साइए'त्ति इहाद्यः केवली द्वितीयो मत्यादिमान्, तत्राद्यस्य साद्यपर्यव-

८ शतके २ उद्देशः

सितेतिशब्दतः कालः प्रतीयत इति द्वितीयस्यैव जघन्येतरभेदमाह–'तत्थ णं जे साइए'त्ति 'अंतोमुहुत्तं'ति आद्यज्ञानद्वयमाश्रित्योक्तं, तस्यैव जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रत्वात्, 'छावट्ठिं सागरोवमाइं'ति यदुक्तं तदाद्यज्ञानत्रयमाश्रित्य, तस्यैवोत्कर्षेणैतावत्येव स्थितिः 'दो वारे विजयाइसु' इति वचनात्, 'नाणीआभिणिबोहिय'त्ति ज्ञान्याभिनिबोधिकज्ञानिश्रुतज्ञानिअवधिज्ञानिमनःपर्यायज्ञानिकेवलज्ञानिअज्ञानिमत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिविभङ्गज्ञानिनां 'दसण्हं'ति दशानां भेदानां 'संचिट्ठण'त्ति अवस्थितिकालो यथा प्रज्ञापनाष्टादशपदे कायस्थितौ अभिहितस्तथा वाच्यः, तत्र ज्ञानिनां पूर्वमुक्त एवावस्थितिकालः, यच्च प्रागुक्तस्य पुनर्भणनं तदेकप्रकरणपतितत्वात् इति ज्ञेयं, आद्यज्ञानद्वयस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टं तु साधिकानि ६६ सागराणि, अवधिज्ञानेऽप्येवं, नवरं जघन्यतो विशेषः, स चायं–ओहिनाणी जहण्णेणमेक्कं समयं, कथं ?, यदा विभंगज्ञानी सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तत्प्रथमसमय एव विभङ्गमवधिज्ञानं जातं, तत्क्षणमेव तदवधिज्ञानं प्रतिपतति तदा एकं समयमवधिरित्युक्तः,'मणपज्जवणाणीणं भंते ! पुच्छा जहण्णेणमेक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी'ति, कथं ?, संयतस्याप्रमत्ततायां वर्त्तमानस्य मनःपर्यायज्ञानमुत्पन्नं तत उत्पत्तिसमयसमनन्तरमेव विनष्टं इत्येकं समयं, तथा चरणकाल उत्कृष्टो देशोना पूर्वकोटी तत्प्रतिपत्तिसमनन्तरमेव यदा मनःपर्यवज्ञानमुत्पन्नं आजन्म स्थितं तदा मनःपर्यायज्ञानस्योत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी स्यादिति, 'केवलनाणीणं पुच्छा, गोयमा ! साइए अपज्जवसिए, अन्नाणी १ मइअ० २ सुयअण्णाणीणं ३ पुच्छा, गो० ! एए तिण्णिवि तिविहे पण्णत्ते, तंजहा–अणाइए अपज्जवसिए १ अभव्यानां, अणाइए सपज्जवसिए २ भव्यानां, साइए सपज्जवसिए ३ सम्यक्त्वभ्रष्टानां, 'तत्थ णं जे से साइए सपज्जवसिए से जहण्णेणमंतोमुहुत्तं, सम्यक्त्वपतितस्य अन्तर्मुहूर्त्तोपरि सम्यक्त्वप्रतिपत्तौ, उक्कोसेणमणंतं कालं अणंता ओस-



श्रीभग० लघुवृत्तौ

प्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं, सम्यक्त्वभ्रष्टस्य वनस्पत्यादिष्वनन्ता उत्सर्पिणीरतिवाह्य पुनः प्राप्तसम्यग्दर्शनस्येति, विभङ्गज्ञाणाणिं भंते ! पुच्छा, गो० ! जह० एक्कं समयं, उत्पत्तिसमयानन्तरमेव प्रतिपाते, 'उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणपुव्वकोडीअब्भहियाइं, देशोनां पूर्वकोटिं विभङ्गवत्तया मनुष्येषु जीवित्वा अप्रतिष्ठानादावुत्पन्नस्येति । अन्तर-द्वारे ज्ञानानामज्ञानानामन्तरं सर्वं यथा जीवाभिगमे, तच्चैवं–'आभिणिबोहियनाणिस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ ?, गो०! जहण्णेणं अंतोमु० उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढपुग्गलपरियट्टं देसूणं, सुयनाणि ओहिनाणि मणपज्जवनाणि एवं चेव, केवलनाणिस्स पुच्छा, गो०! नत्थि अंतरं, मइअन्नाणि सुयअन्नाणि पुच्छा, जहण्णेणं अंतो मु० उक्को० छासट्ठिसागराइं साइरेगाइं, विभंगनाणिस्स पुच्छा, गो० जह० अंतोमु० उक्को० वणप्फइकालो'त्ति । अल्पबहुत्वद्वारे 'अप्पाबहुगाणि तिण्णि'त्ति अल्पबहु-त्वानि त्रीणि ज्ञानिनां १ मिथोऽज्ञानिनां च २ ज्ञान्यज्ञानिनां ३ च यथा अल्पबहुत्ववक्तव्यतायां प्रज्ञापनोक्तायां त्रीण्युक्तानि तथा वाच्यानीति, तानि चैवं–एएसिणं भंते ! जीवाणं आभिणिबोहियणाणिणं० कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?, गो०! सव्वत्थोवा जीवा मणपज्जवनाणी, ओहिनाणी असंखिज्जगुणा, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी दोवि तुल्ला विसेसा०, केवलनाणी अणंतगुणा, इत्येको भेदः, शेषौ द्वौ भेदादित्यत्र ग्रन्थगौरवभयान्न तावुच्यते। अथ पर्यायद्वारे 'केवइया आभिणिबोहिय'त्ति, आभिनि-बोधिकज्ञानस्य पर्यवा–विशेषधर्माः, ते च द्विधा–स्वपरपर्यायभेदात्, तत्र येऽवग्रहादयो मतिविशेषाः क्षयोपशमवैचित्र्यात् ते स्व-पर्यायाः तेऽनन्ताः,कथं ?, एकस्मादवग्रहादेरन्यः अवग्रहादिरनन्तभागवृद्ध्या विशुद्धः अन्यस्त्वसङ्ख्येयभागवृद्ध्या अपरस्त्वसङ्ख्येयभाग-वृद्ध्या अन्यतरस्त्वसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या तदन्योऽसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या अपरस्त्वनन्तगुणवृद्ध्येति, एवं च सङ्ख्यातस्य सङ्ख्यातभेदत्वात्

८ शतके २ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

असङ्ख्यातस्यासङ्ख्यातभेदत्वात् अनन्तस्य अनन्तभेदत्वाच्चानन्ता विशेषाः स्युरिति, अथवा तज्ज्ञेयस्यानन्तत्वात् प्रतिज्ञेयं च तस्य भिद्यमानत्वात्, अथ चैतत् ज्ञानमविभागपरिच्छेदैर्बुद्ध्या परिच्छिद्यमानमनन्तखण्डं स्यादित्येवमनन्ता इति, तथा ये पदार्थान्तरपर्यायाः ते तस्य परपर्यायाः, ते च स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः, परेषामनन्तगुणत्वादिति, ननु यदि ते परपर्यायास्तदा तस्येति न व्यपदेष्टुं युक्तं, परसम्बन्धित्वात्, अथ तस्य ते तदा न परपर्यायास्ते व्यपदेष्टव्याः, स्वसम्बन्धित्वादिति, अत्रोच्यते–यस्मात् तत्रासम्बद्धास्ते तस्मादेषां परपर्यायव्यपदेशः, यस्माच्च ते(त्यागेन)परिच्छिद्यमानत्वेन च तस्मिन्नुपयुज्यन्ते तस्मात्तस्य पर्यवा इति व्यपदिश्यन्ते, यथा असम्बद्धमपि धनं स्वधनं इति, उपयुज्यमानत्वात्, आह च–'जइ ते परपज्जाया न तस्स ? अह तस्स न परपज्जाया । आचार्यः प्राह–जं तम्मि असंबद्धा तो परपज्जायववदेसो ॥१॥ चायसपज्जायविसेसणाइणा तस्स जमुवजुज्जंति । सधणमिवासंबद्धं हवंति ते पज्जवा तस्स ॥२॥" **'केवइया णं सुयनाणपज्जव'त्ति, 'एवं चेव'** श्रुतज्ञानपर्यायाः प्रज्ञप्ताः, ते तथैव द्विधा, तत्र स्वपर्याया ये श्रुतज्ञानस्य स्वगताक्षरश्रुतादयो भेदास्तेऽप्यनन्ताः, क्षयोपशमवैचित्र्यस्य पदार्थानां चानन्त्याभ्यां श्रुतानुसारिणां बोधानामनन्तत्वादिति, अविभागपरिच्छेदानंत्याच्च, परपर्यायास्त्वनन्ताः सर्वभावानां प्रतीता एव, अथवा श्रुतग्रन्थानुसारिज्ञानं श्रुतज्ञानं, श्रुतग्रन्थश्चाक्षरात्मकः अक्षराणि चाकारादीनि तेषामेकैकमक्षरं यथायोगमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदान् सानुनासिकनिरनुनासिकभेदादल्पप्रयत्नमहाप्रयत्नभेदात् संयुक्तासंयुक्तद्रव्यादिसंयोगभेदादभिधेयानन्त्याच्च भिद्यमानमनन्तभेदं स्यात्, ते च तस्य स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्चानन्ता एव, एवमनन्तपर्यायं तत्, आह च–'एक्केक्कमक्खरं पुण सपरपज्जायभेयओ भिन्नं । तं सव्वदव्वपज्जायरासिमाणं मुणेयव्वं ॥१॥ जे लहइ केवलो से सवण्णसहिओ य पज्जवेऽगारो । ते तस्स सपज्जाया सेसा परपज्जवा तस्स ॥२॥"त्ति, एव-

८ शतके २ उद्देशः

॥१२६॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मक्षरात्मकत्वेनाक्षरपर्यायोपेतत्वादनन्ताः श्रुतज्ञानपर्याया इति,'जाव'त्ति यावत्करणादिदं दृश्यं,'केवइया ओहिनाणपज्जवा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता, केवइया भंते ! मणपज्जवनाणपज्जवा पण्णत्ता ?, गो०! अणंता, केवइया केवलनाणपज्जवा पं०?, गो०! अणंता' तत्रावधिज्ञानस्वपर्याया येऽवधिज्ञानभेदाः, भवप्रत्ययक्षयोपशमभेदात्, नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपतत्स्वामिभेदात् असङ्ख्यातभेदतद्विषयक्षेत्रकालभेदादनन्ततद्विषयद्रव्यपर्यायभेदादविभागपरिच्छेदाच्च, ते चैवमनन्ता इति, मनःपर्यायकेवलज्ञानस्वपर्यायाः परिच्छेदापेक्षया अविभागपलिच्छेदापेक्षया चेति, एवं मत्यज्ञानादित्रयमभ्यूह्यमिति, अथ पर्यवाल्पबहुत्वमाह, इह स्वपर्यायापेक्षयैवैषामल्पबहुत्वमवसेयं, स्वपरपर्यायापेक्षया सर्वेषां तुल्यपर्यायत्वादिति, तत्र सर्वस्तोका मनःपर्यायज्ञानपर्यायाः, तस्य मनोमात्रविषयत्वात्, तेभ्योऽवधिज्ञानस्य अनन्तगुणाः,द्रव्यपर्यायतोऽनन्तगुणविषयत्वात्,तेभ्यः श्रुतज्ञानपर्याया अनन्तगुणाः, तस्य रूप्यरूपिद्रव्यविषयत्वेनानन्तगुणविषयत्वात्, ततोऽप्याभिनिबोधिकज्ञानपर्याया अनन्तगुणाः, तस्याभिलाप्यानभिलाप्यद्रव्यादिविषयत्वेनानन्तगुणविषयत्वात्, ततः केवलज्ञानपर्याया अनन्तगुणास्सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वात् तस्येति, अज्ञानसूत्रेऽप्यल्पबहुत्वं सूत्रानुसारेणोहनीयं, मिश्रसूत्रे स्तोका मनःपर्यायपर्यवाः, इहोपपत्तिः प्राग्वत्, तेभ्यो विभङ्गपर्यवा अनन्तगुणाः, मनःपर्यायापेक्षया विभङ्गस्य बहुतमविषयत्वात्, तथाहि–विभङ्गज्ञानं ऊर्ध्वाधः उपरिमग्रैवेयकादारभ्य सप्तमपृथिव्यन्तक्षेत्रे तिर्यक् चासङ्ख्यातद्वीपसमुद्ररूपे यानि रूपिद्रव्याणि तानि कानिचिज्जानाति कांश्चित्पर्यायांश्च, तानि च मनःपर्यायापेक्षयाऽनन्तगुणानि, तेभ्योऽवधिपर्याया अनन्तगुणाः, अवधेः सकलरूपिद्रव्यप्रतिद्रव्यासङ्ख्यातपर्यायत्वेन विभङ्गापेक्षया अनन्तगुणविषयत्वात्, तेभ्योऽपि श्रुताज्ञानपर्यवा अनन्तगुणाः, श्रुताज्ञानस्य श्रुतज्ञानवदोघादेशेन समस्तमूर्त्तामूर्त्तद्रव्यासर्वपर्यायविषयत्वेनावधिज्ञानापेक्षया अनन्तगुणविषयत्वात्, तेभ्यः श्रुतज्ञा-

८ शतके २ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३२३-३३०] + गाथा: दीप अनुक्रम [३९७-४०४]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नपर्यवा विशेषाधिकाः, केषाञ्चित् श्रुताज्ञानाविषयीकृतपर्यायाणां विषयीकरणाद्, यतो ज्ञानत्वेन स्पष्टा अवभासन्ते, तेभ्योऽपि मत्यज्ञानपर्याया अनन्तगुणाः, यतः श्रुतज्ञानमभिलाप्यवस्तुविषयमेव, मत्यज्ञानं तु तदनन्तगुणानभिलाप्यवस्तुविषयमपीति, ततोऽपि मतिज्ञानपर्यवा विशेषाधिकाः, केषाञ्चिदपि मत्यज्ञानाविषयीकृतभावानां विषयीकरणात्, तद्धि मत्यज्ञानापेक्षया स्फुटतरमिति, ततोऽपि केवलज्ञानपर्यवा अनन्तगुणाः, सर्वाद्धाभाविनां समस्तद्रव्यपर्यायाणामनन्यसाधारणावभासेनावभासनादिति ॥

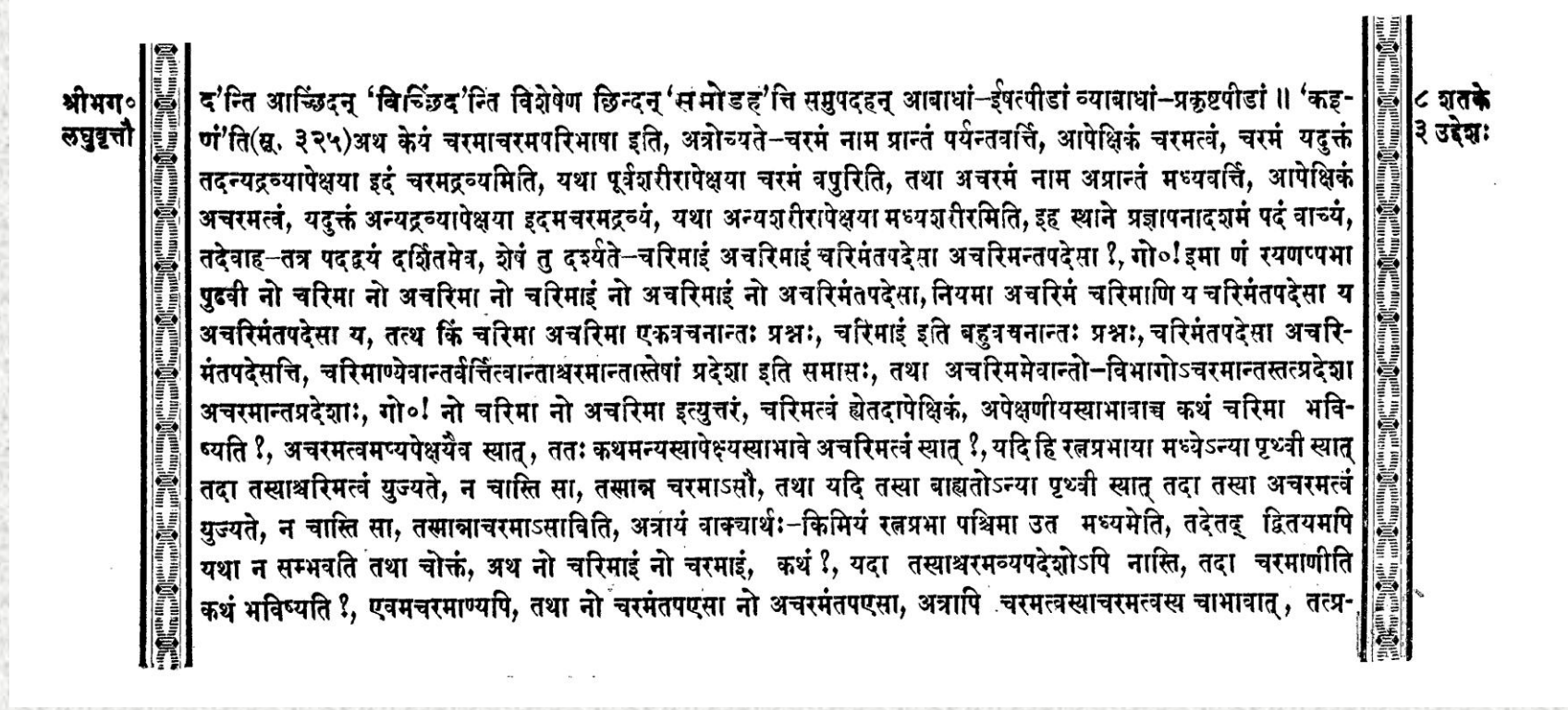
॥ अष्टमशते द्वितीयः ॥

'संखिज्जजीविय'त्ति (सू. ३२३) सङ्ख्यातजीविकाः, एवमन्यदपि पदद्वयं, 'जहा पण्णवणाए'त्ति यथा प्रज्ञापनायां तथाऽत्र वाच्यं, तदेतत्–ताले तमाले तक्कलि तेतलि साले य सालकल्लाणे। सरले जावइ केयइ, कंदलि तह चम्मरुक्खे य ॥१॥ चूयरुक्खहिंगुरुक्खे लविंगरुक्खे य होइ बोद्धव्वे। पूयफले खज्जूरी बोद्धव्वा नालिएरी य ॥ २ ॥ 'जे यावण्णे'त्ति ये चान्ये तथाप्रकाराः वृक्षविशेषास्ते सङ्ख्यातजीविकाः, 'एगट्ठिय'त्ति एकमस्थिकं—मध्ये बीजं येषां ते एकास्थिकाः, 'बहु'त्ति बहूनि बीजानि येषां ते बहुबीजकाः, निम्बाम्रजम्बुइत्याद्येकास्थिकाः यथा प्रज्ञापनायां प्रथमपदे, 'से किं तं बहुबीयगा ?, २ अणेगविहा पं० तं०–अत्थियतिंदु कविट्ठे अंबाडग माउलिंग बिल्ले य। आमलग फणस दाडिम आसाढे ऊंबर वडे य ॥१॥'इत्यादि। (सू.३२४) कूर्म्माः–कच्छपाः, कूर्म्मावलिका गोधा तदावलिका वा, 'जे अंतर'त्ति यान्यन्तरालानि 'तेऽवि य णं'ति तान्यपि च णं वाक्यालङ्कारे, 'तेहिं'ति तैः जीवप्रदेशैः स्पृष्टानि–व्याप्तानि 'कलिंचेण'त्ति क्षुद्रकाष्ठरूपेण वा 'आमुस'न्ति आमृशन्–ईषत् स्पृशन् 'संमुस'न्ति संमृशन्–सामस्त्येन स्पृशन् 'आलिह'न्ति आलिखन्–ईषत् सकृद्वा कर्षन् 'विलिह'न्ति विलिखन् विशेषेण कर्षन् 'अच्छि-

८ शतके ३ उद्देशः

॥१२७॥

अत्र शतक-८ उद्देशक : २ समाप्तः, अत्र शतक-८ उद्देशक : ३ आरभ्यते



श्रीभग० लघुवृत्तौ

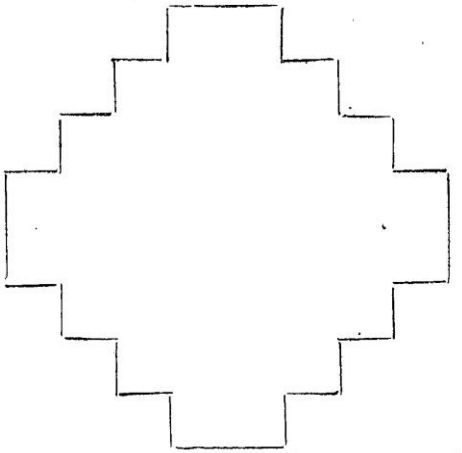
द'न्ति आच्छिदन् 'विच्छिद'न्ति विशेषेण छिन्दन् 'समोडह'त्ति समुपदहन् आबाधां–ईषत्पीडां व्याबाधां–प्रकृष्टपीडां ॥ 'कह-णं'ति(सू. ३२५)अथ केयं चरमाचरमपरिभाषा इति, अत्रोच्यते–चरमं नाम प्रान्तं पर्यन्तवर्त्ति, आपेक्षिकं चरमत्वं, चरमं यदुक्तं तदन्यद्रव्यापेक्षया इदं चरमद्रव्यमिति, यथा पूर्वशरीरापेक्षया चरमं वपुरिति, तथा अचरमं नाम अप्रान्तं मध्यवर्त्ति, आपेक्षिकं अचरमत्वं, यदुक्तं अन्यद्रव्यापेक्षया इदमचरमद्रव्यं, यथा अन्यशरीरापेक्षया मध्यशरीरमिति, इह स्थाने प्रज्ञापनादशमं पदं वाच्यं, तदेवाह–तत्र पदद्वयं दर्शितमेव, शेषं तु दर्श्यते–चरिमाइं अचरिमाइं चरिमंतपदेसा अचरिमन्तपदेसा ?, गो०! इमा णं रयणप्पभा पुढवी नो चरिमा नो अचरिमा नो चरिमाइं नो अचरिमाइं नो अचरिमंतपदेसा, नियमा अचरिमं चरिमाणि य चरिमंतपदेसा य अचरिमंतपदेसा य, तत्थ किं चरिमा अचरिमा एकवचनान्तः प्रश्नः, चरिमाइं इति बहुवचनान्तः प्रश्नः, चरिमंतपदेसा अचरि-मंतपदेसत्ति, चरिमाण्येवान्तर्वर्त्तित्वान्ताश्चरमान्तास्तेषां प्रदेशा इति समासः, तथा अचरिममेवान्तो–विभागोऽचरमान्तस्तत्प्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाः, गो०! नो चरिमा नो अचरिमा इत्युत्तरं, चरिमत्वं ह्येतदापेक्षिकं, अपेक्षणीयस्याभावाच्च कथं चरिमा भवि-ष्यति ?, अचरमत्वमप्यपेक्षयैव स्यात्, ततः कथमन्यस्यापेक्ष्यस्याभावे अचरिमत्वं स्यात् ?, यदि हि रत्नप्रभाया मध्येऽन्या पृथ्वी स्यात् तदा तस्याश्चरिमत्वं युज्यते, न चास्ति सा, तस्मान्न चरमाऽसौ, तथा यदि तस्या बाह्यतोऽन्या पृथ्वी स्यात् तदा तस्या अचरमत्वं युज्यते, न चास्ति सा, तस्मान्नाचरमाऽसाविति, अत्रायं वाक्यार्थः–किमियं रत्नप्रभा पश्चिमा उत मध्यमेति, तदेतद् द्वितयमपि यथा न सम्भवति तथा चोक्तं, अथ नो चरिमाइं नो चरमाइं, कथं ?, यदा तस्याश्चरमव्यपदेशोऽपि नास्ति, तदा चरमाणीति कथं भविष्यति ?, एवमचरमाण्यपि, तथा नो चरमंतपएसा नो अचरमंतपएसा, अत्रापि चरमत्वस्याचरमत्वस्य चाभावात्, तत्प्र-

८ शतके ३ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३२३-३३०] + गाथा: दीप अनुक्रम [३९७-४०४]

देशकल्पनाया अप्यभाव एव, अत उक्तम्–'नो चरमांतप्रदेशा नो अचरमांतप्रदेशा रत्नप्रभे'ति, तर्हि किं?, नियमात् निश्चयेन अचरिमं चरमानि च, एतदुक्तं स्यात्–अवश्यतयेयं केवलभङ्गवाच्या न स्यात्, अवयवावयविरूपतया असङ्ख्येयप्रदेशावगाढत्वाद्यथोक्तनिर्वचनविषयैव, तथाहि–रत्नप्रभा तावदनेन प्रकारेण व्यवस्थिता इति, तत्स्थापना विनेयजनानुग्रहाय लिख्यते, एवमवस्थितायां यानि प्रान्तेषु व्यवस्थितानि तदध्यासितक्षेत्रखण्डानि तानि तथाविधवियुक्तत्वाच्चरमाणि, यत्पुनर्विशिष्टैकपरिणामं मध्ये महत् रत्न प्रभाक्रान्तं क्षेत्रखण्डं तदपि तथाविधपरिणामयुक्तत्वादचरमं, तदुभयसमुदायरूपा चेयं, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, प्रदेशपरिकल्पनायां तु चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाश्च, कथं?, ये बाह्यखण्डप्रदेशाः ते चरमान्तप्रदेशाः, ये च मध्यप्रदेशास्ते अचरमान्तप्रदेशा इति, अनेन चैकान्तदुर्णयनिरासप्रधानेन निर्वचनसूत्रेणावयवावयविरूपं वस्त्वित्याह, तयोश्च भेदाभेद इति, एवं शर्करादिष्वपि, अथ कियद् दूरं तद्वाच्यमित्याह–'जाव'त्ति ये वैमानिकभवसम्भवं स्पर्शनं न लप्स्यन्ते पुनस्तत्रानुत्पादेन मुक्तिगमनात् ते वैमानिकस्पर्शनमपेक्ष्य चरमाः, ये तु पुनर्लप्स्यन्ते तेऽचरमा इति ॥ अष्टमशते तृतीयः॥



'किरियापयं'ति (सू. ३२६) एवं क्रियापदं प्रज्ञापनाद्वाविंशतितमं पदं वाच्यं, 'जाव'त्ति इह गाथे—"मिच्छाऽपच्चक्खाणे

॥१२८॥

अत्र शतक-८ उद्देशक : ३ समाप्तः, अत्र शतक-८ उद्देशक : ४ आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३२३-३३०] + गाथा: दीप अनुक्रम [३९७-४०४]

परिग्गहाऽऽरंभमायकिरियाओ। कमसो मिच्छाअविरयमीसपमत्तऽप्पमत्ताणं ॥१॥ मिच्छत्तवत्तियाउ मिच्छद्दिट्ठीण ते भवे थोवा। सेसाणं एक्केक्को वड्ढइ रासी तओ अहिय ॥२॥" त्ति, अन्तिमसूत्रमिदम्–'आरंभियाणं परिग्गहियाणं अप्पच्चक्खाणकिरियाणं मायावत्तियाणं मिच्छादंसणवत्तियाणं कयरे २ हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा मिच्छादंसणवत्तिया, मिथ्यादृशामेव तद्भावात्, 'अपच्च० किरिया विसेसाहिया' मिथ्यादृशामविरतसम्यग्दृशां च तासां भावात्, परिग्गहिया विसे०, देशविरतानां प्रागुक्तानां च तासां भावात्, आरंभिया विसेसा०, प्रागुक्तानां प्रमत्तसंयतानां च तासां भावात्, मायावत्तिया विसे०, पूर्वोक्तानामप्रमत्तसंयतानां च तद्भावात्, एतदन्तं सूत्रं वाच्यमिति ॥ **अष्टमशते चतुर्थोद्देशकः** ॥

'रायगिहे' त्ति गौतमो भगवन्तमेवमवादीत् 'आजीविया णं' ति (सू. ३२७) आजीविका गोशालकशिष्या भदन्त! स्थविरान् निर्ग्रन्थान् भवतः एवं–वक्ष्यमाणप्रकारमवादिषुः, यच्च ते तान् प्रत्यवादिषुस्तद्गौतमः स्वयमेव पृच्छन्नाह–'सामाइयकडस्स' त्ति कृतसामायिकस्य प्रतिपन्नाद्यशिक्षाव्रतस्य, श्रमणोपाश्रये हि श्राद्धः सामायिकं प्रतिपद्यते, अतः 'समणोवस्सए' श्रमणोपाश्रये 'अच्छमाणस्स' आसीनस्य 'केइ' कश्चित् 'भंडं' ति वस्त्रादिकं वस्तु गृहवर्त्ति साधूपाश्रयवर्त्ति वा 'अवहरेज्ज' अपहरेत् 'सेणं' ति स श्रमणोपासकः 'तं भंडं' ति तदपहृतं भाण्डं 'अणुगवेसे' त्ति सामायिकसमाप्त्यनन्तरं गवेषयन् 'सभंडं' ति स्वभाण्डं 'परागयं' ति परकीयं वा, पृच्छतोऽयमभिप्रायः–स्वसम्बन्धित्वात् स्वकीयं, सामायिकप्रतिपत्तौ च परिग्रहस्य प्रत्याख्यातत्वादस्वकीयं अतः प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–'सभंडं' ति स्वकीयं भाण्डं, नो परकीयं, 'तेहिं सील' त्ति शीलव्रतानि–अणुव्रतानि गुणव्रतानि विरमणानि–रागादिविरतयः प्रत्याख्यानं–नमस्कारसहितादि पौषधोपवासाश्चेति शीलव्रतादिभिः, इह च शीलव्रतादीनां ग्रहणेऽपि

अत्र **शतक-८ उद्देशक** : ४ समाप्तः, अत्र **शतक-८ उद्देशक** : ५ आरभ्यते

सावद्ययोगविरत्या विरमणशब्दोपात्तया प्रयोजनं, तस्या एव परिग्रहस्यापरिग्रहताहेतुभूतत्वेन भाण्डस्याभाण्डताभवनहेतुत्वादिति, 'से भंडे'त्ति तदपहृतं भाण्डं अभाण्डं स्याद्,असंव्यवहार्यत्वात्,'से केणं'ति अथ केन 'खाइणं'ति पुनः 'अट्ठेण' अर्थेन–हेतुना 'तस्स णं एवं'ति तस्य एवं मनःपरिणामः स्यात् 'नो मे हिरण्णे'त्ति हिरण्यादिपरिग्रहस्य द्विविधत्रिविधेन प्रत्याख्यातत्वात्, 'नो मे'त्ति धनं गच्छणियमादि (गवादि धान्यं व्रीह्यादि) रत्नानि–कर्केतनादीनि मणयः–चन्द्रकान्तादयः शिलाप्रवालानि–विद्रुमाणि रक्तरत्नानि–पद्मरागादीनि, 'संत'न्ति सद्–विद्यमानं सारं–प्रधानं 'सावएज्जं' स्वापतेयं द्रव्यं 'ममत्त'त्ति ममत्वभावः पुनः–हिरण्यादिविषये ममतापरिणामोऽपरिज्ञातो–न प्रत्याख्यातः स्यात्, अनुमतेरप्रत्याख्यातत्वात्, ममत्वभावस्य चानुमतिरूपत्वात्,'केई जायं चरिज्ज'त्ति कश्चिद् उपपतिस्तस्य श्राद्धस्य जायां पत्नीं चरेत्–सेवेत,'सुण्ह'त्ति स्नुषां–पुत्रभार्यां,'पिज्जबंधणे'त्ति प्रेम एव बन्धनं तत् पुनस्से–तस्य श्राद्धस्य न व्यवच्छिन्नं स्यात्, अनुमतेरप्रत्याख्यानात्, प्रेमानुबन्धस्यानुमतिरूपत्वात्,'समणोवासगस्स'त्ति (सू. ३२८) तृतीयार्थत्वात् षष्ठ्याः श्रमणोपासकेन, सम्बन्धमात्रविवक्षया वा षष्ठ्येयं, 'पुव्वामेव'त्ति प्राक्काल एव–सम्यक्त्वप्रतिपत्तिसमनन्तरमेव 'अपच्चक्खाए'त्ति न प्रत्याख्यातस्स्यात्, तदा देशविरतेरज्ञातत्वात्, ततश्च 'से णं'ति सः–श्राद्धश्चेत् प्राणातिपातविरतिकाले 'पच्चक्खाइ'त्ति प्रत्याचक्षाणः, प्राणातिपातमिति गम्यते, किं कुर्यादिति प्रश्नः?, 'तीतं'ति तीतम्–अतीतकालकृतं प्राणातिपातं प्रतिक्रामति, ततो निन्दाद्वारेण निवर्त्तते इत्यर्थः, 'पडुप्प'त्ति प्रत्युत्पन्नं–वर्त्तमानकालीनं प्राणातिपातं संवृणोति, न करोतीत्यर्थः, अनागतं–भविष्यत्कालविषयं प्रत्याख्याति–न करिष्यामीति प्रतिजानीते,'तिविहं तिविहेणं'ति इह नव विकल्पाः, तत्र गाथा–तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिण्णि-

३	३	३	२	२	२	१	१	१
३	२	१	३	२	१	३	२	१
१	३	३	३	९	९	३	९	९

॥१२९॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

किका हवंति जोगेसु। तिदुइकं तिदुइकं तिदुइकं चेव करणाइं॥१॥' एषु विकल्पेषु एकादयो विकल्पा लभ्यन्ते, आह–"एगो तिन्नि य तियगा दो नवगा तहय तिन्नि नव नव य। भंगनवगस्स एवं भंगा एगूणपन्नासं॥२॥" स्थापना चेयम्॥ तत्र **'तिविहं तिविहेणं'**ति त्रिविधं करणकारणानुमतिभेदात्, प्राणातिपातमिति गम्यते, त्रिविधेन मनोवाक्कायलक्षणेन करणेन प्रतिक्रामति–ततो निन्दनेन निवर्त्तते इति,**'तिविहं दुविहेणं'**ति त्रिविधं करणादिभेदात् द्विविधेन करणेन मनःप्रभृत्येकतरवर्जितेन द्वयेन, **'तिविहं एग-विहेणं'**ति त्रिविधं तथैव एकविधेन मनःप्रभृत्येकतमेन करणेन, **'दुविहं तिविहेणं'**ति द्विविधं कृतादीनामन्यतमद्वयरूपयोगं त्रिविधेन मनःप्रभृतिकरणेन, एवमन्येऽपि, त्रिविधं त्रिविधेनेत्येको विकल्पः, द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु त्रयस्त्रयः, पञ्चमषष्ठयोर्नव नव, सप्तमे त्रयः, अष्टमनवमयोर्नव नव, एवं सर्वे एकोनपञ्चाशत्, **'सीयालं भंगसयं'**ति अतीतानागतवर्त्तमानकालैस्त्रिगुणीकरणे सप्तचत्वारिंशदधिकं भङ्गशतं स्यात्,**'एए खलु'**त्ति एते खलु–एत एव दृश्यमाना निर्ग्रन्थसत्का इति **'नो खलु'**त्ति नैव **'आजी-विकसमयस्स'**त्ति॥ (सू. ३२९) आजीविकसमयस्य गोशालकसिद्धान्तस्यायमर्थः–इदमभिधेयमिति, **'अक्खीणपरिभोइणो सव्वसत्त'**त्ति अक्षीणायुष्कं–अप्रासुकं परिभुञ्जन्त इत्येवंशीला अक्षीणपरिभोजिनः सर्वसत्त्वा असंयताः सर्वप्राणिनः, यद्येवं ततः किमाह–**'से'**त्ति ततः **हंता**–हत्वा लगुडादिना, छित्त्वा–असिना द्विधा कृत्वा, भित्त्वा–शूलादिना भिन्नं कृत्वा, लुम्पा–पक्ष्मादि-लोपनेन, विलुप्य–त्वचो विलोपनेन,अपद्रव्य–विनाश्याहारमाहारयन्ति,**'तत्थ'**त्ति तत्र असंयतसत्त्ववर्गहननादिदोषपरायणे **'दुवा-लस'**त्ति द्वादश विशेषानुष्ठानत्वात् परिगणिताः, आनन्दादिश्राद्धवत्, अन्यथा बहवस्ते,**'एवं ताले'**त्ति तालाख्यादयोऽपि **'अरि-हंतदेवयाग'**त्ति गोशालके कल्पनयार्हत्त्वात् **'पंचफलपडि०'** फलपञ्चकान्निवृत्ताः **'सयरेहि'**न्ति फलविशेषैः **'पिलंखूहिं'**

८ शतके ५ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पुरुषैः 'अणालंछिएहिं' अवर्द्धितकैः, अखण्डैरित्यर्थः, 'अनक्क'त्ति अनक्कमिन्नैः—अनस्तितैः 'गोणेहिं'ति गोणैः—वृषभैरिति 'छेत्तेहिं'ति क्षेत्रैरिति, 'एएवि ताव'त्ति एतेऽपि तावत् विशिष्टयोग्यताविकलाः एवमिच्छन्ति—अमुना प्रकारेण वाञ्छन्ति, धर्म-मिति गम्यम्, 'किमंग पुण'त्ति किं पुनर्ये श्रमणोपासका इमे? ते नेच्छन्तीति गम्यम्, इच्छन्त्येवेति, विशिष्टदेवगुरुप्रवचनस-माश्रितत्वात् तेषां, 'कम्मादाणाणि' कर्म्माणि च तानि आदानानि च—कर्म्महेतव इति, 'केसवाणिज्जे'त्ति केशवजीवानां गोमहिषीस्त्रीप्रभृतीनां विक्रयः, 'निल्लंछण'न्ति वर्द्धितककरणं निर्लाञ्छनकर्म्म, 'इच्चेए'त्ति इत्येवंप्रकाराः एते निर्ग्रन्थसत्काः 'सुक्क'त्ति शुक्लाः—अभिन्नवृत्ताः अमत्सरिणः कृतज्ञाः सदारम्भिणो हितानुबन्धाश्च 'सुक्काभिजाए'त्ति शुक्लाभिजाताः शुक्ल-प्रधानाः ॥ (सू० ३३०) ॥ अष्टमशते पञ्चमः ॥

८ शतके ५-६ उ०

'किं कज्जइ'त्ति (सू० ३३१) किं फलं स्यादित्यर्थः, 'एगंतसो'त्ति एकान्तेन 'नत्थि य से'त्ति नास्ति चैतत् 'से' तस्य पापकर्म क्रियते—स्यात्, 'बहुतरियाए'त्ति पापकर्मापेक्षया 'अप्पतराए'त्ति अल्पतरं निर्जरापेक्षया, अयमर्थो—गुणवत्पात्राया-प्रासुकाशनादिदाने चारित्रोपष्टम्भो जीवोपघातो वा व्यवहारतस्तच्चारित्रबाधा च स्यात्, ततश्चारित्रोपष्टम्भात् निर्जरा जीवघातादेस्तु पापकर्म, तद्वस्तुहेतुसामर्थ्यात्, पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पापं स्यात्, असंस्तरणादिकारणत एवाप्रासु-कादिदानेन बह्वी निर्जरा स्यात्, नाकारणे, यदुक्तम्—"संथरणंमि असुद्धं दोण्हवि गिण्हंतदिंतयाणऽहियं। आउरदिट्ठंतेणं तं चेव हियं असंथरणे ॥१॥" अन्ये त्वाहुः—अकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदानेन परिणामवशाद्बहुतरा निर्जरा स्यात्, अल्पतरं पापकर्मेति, निर्विशेषणत्वात् सूत्रस्य, परिणामस्य च प्रमाणत्वात्, आह च—"परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडगझरियसाराणं।

॥१३०॥

	अत्र शतक-८ उद्देशक : ५ समाप्तः, अत्र शतक-८ उद्देशक : ६ आरभ्यते

परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥१॥" यच्चोच्यते–'संथरणम्मि असुद्धं'ति, अशुद्धं द्वयोरपि दातृगृहीत्रोरहितायेति तद् ग्राहकस्य व्यवहारतः संयमविराधना(त्)दायकस्य च लुब्धकदृष्टान्तभावितत्वेन वा ददतः शुभाल्पायुष्कतानिमित्तत्वात्, शुभमपि चायुरल्पमहितं विवक्षया, शुभाल्पायुष्कतानिमित्तत्वं च अप्रासुकादिदानस्याल्पायुष्कताफलप्रतिपादकसूत्रे प्राक् चर्चितं, यत् पुनरिह तत्त्वं तत् केवलिगम्यमिति ॥ तृतीयसूत्रे 'असंजये'त्यादिना अगुणवान् पात्रविशेष उक्तः, 'फासुएण अफासुएण'त्ति प्रासुकाप्रासुकादेर्दानस्य पापकर्मफलता निर्जराया अभावश्चोक्तः, असंयमोपष्टम्भस्योभयत्र तुल्यत्वात्, यश्च प्रासुकादौ जीवघाताभावेन अप्रासुकादौ जीवघातसद्भावेन विशेषः सोऽत्र न विवक्षितः, पापकर्मणो निर्जराऽभावस्यैव विवक्षितत्वादिति, सूत्रत्रयेणापि चानेन मोक्षार्थमेव दानं यत् तच्चिन्तितं, यत्पुनरनुकम्पादानं औचित्यदानं च न ते चिन्तिते, निर्जरायास्तत्रानपेक्षणीयत्वात्, अनुकम्पौचित्ययोरपेक्षणीयत्वाच्चेति, उक्तं च–"मोक्खत्थं जं दाणं तं पइ एसो विही समक्खाओ। अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं ॥१॥ति'॥ दानाधिकारादेवेदमाह–**'निग्गंत्थे गाहावइकुलं'**ति(सू. ३३२) गृहपतिकुलं–गृहिगृहं **'पिंडवाय'**त्ति पिण्डस्य भोजनस्य पातः–पात्रे ग्रहः पात्रे गृहस्थान्निपतनं तत्र प्रतिज्ञानं पिण्डपातप्रतिज्ञा तया, पिण्डस्य पातो मम पात्रे भवत्विति बुद्धिरित्यर्थः, **'उवनिमंतिज्ज'**त्ति उपनिमन्त्रयेत्, भिक्षो! गृहाणेदं पिण्डद्वयमित्यभिदध्यादित्यर्थः,**'से य'**त्ति स साधुस्तं पिण्डं **'थेरा य से'**त्ति स्थविराश्च तस्य अनुगवेषयितव्याः स्युरिति, **'दावए'**त्ति दद्याद् दापयेद्वा अदत्तादानप्रसङ्गात्, गृहिणा विवक्षितस्थविरेभ्य एव पिण्डो दत्तो, नान्यस्मै, एकान्ते–जनरहिते **'अणावाए'** अनापाते जनसम्पातरहिते ॥ **निग्गंथेण ये'**त्यादि (सू. ३३३) स्थविरनिर्ग्रन्थं कञ्चित्पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टमुपनिमन्त्रयेत्, तेन निर्ग्रन्थेन **'अकिच्चठाणे'**त्ति अकृत्यस्थानं–मूलगुणविपरीतो कार्य-

विशेषः, 'तस्स णं'ति तस्य साधोः सञ्जातानुतापस्य 'एवं हवइ' एवं प्रकारं मनस्स्यात् 'एयस्स ठाणस्स'त्ति विभक्तिपरिणामात् एतत्स्थानं अनन्तरं 'से किंचि तं' आलोचयामि–स्थापनाचार्यनिवेदनेन, प्रतिक्रमामि मिथ्यादुष्कृतदानेन, निन्दामि स्वसमक्षं, गर्हे–गुरुसमक्षं, विउट्टामि–वित्रोटयामि तदनुबन्धं छिनद्मि, विशोधयामि प्रायश्चित्तपङ्कं प्रायश्चित्ताभ्युपगमेन, अकरणतया अभ्युपतिष्ठामि, अभ्युत्थितो भवामीत्यर्थः, 'अमुहा सिय'त्ति अमुखा–निर्वाचः स्युरिति 'आराहए'त्ति आराधकः शुद्ध इति,आलोचनापरिणतौ सत्यां तदप्राप्तावप्याराधकत्वं, यतः–"आलोयणापरिणओ सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासे । जो मरइ अंतरचिय तहावि सुद्धत्ति भावाओ ॥१॥"त्ति, स्थविरात्मभेदेन द्वे अमुखसूत्रे द्वे कालगतसूत्रे, एवं चत्वारि असम्प्राप्तिसूत्राणि, सम्प्राप्तिसूत्राण्यपि ४, एवमष्टौ पिण्डपातार्थं गृहिगृहे प्रविष्टस्य, एवं विचारभूम्यादावष्टौ, ग्रामगमनेऽप्यष्टौ, एवमेतानि २४ सूत्राणि,साध्व्या अपि ज्ञेयानि, अनालोचित एव कथमाराधक इत्याशङ्क्यायामुत्तरं (दृष्टान्तं) चाह–'तणसुयं व'त्ति तृणाग्रं वा 'छिज्जमाणे छिण्णे'त्ति क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदेन प्रतिक्षणं निष्पत्तेः छिन्नमिति उच्यते, एवमसावालोचनापरिणतौ सत्यां आराधनाप्रवृत्तः आराधक एवेति, 'तंतुग्गयं'ति तन्त्रोद्गतं तुरिवेमादेः उत्तीर्णमात्रं, 'मंजिट्ठादोणीए'त्ति मञ्जिष्ठाद्रोण्यां, भाजने इत्यर्थः॥ आराधको दीपदीप्यते इति दीपस्वरूपं निरूपयन्नाह–'झियायमाणस्स'त्ति (सू. ३३४) ध्मायतो ध्मायमानस्य वा, ज्वलत इत्यर्थः,'पदीवे'त्ति प्रदीपो दीपवर्त्तिसमुदायः 'झियाइ' ध्मायति ध्मायते वा ज्वलति 'लट्ठि'त्ति दीपयष्टिः 'वत्ति'त्ति दशा 'दीवचंपए'त्ति दीपस्थगनकं 'जोइ'त्ति अग्निः॥ ज्वलनाधिकारादिदमाह–'कुड्ड'त्ति भित्तयः 'कडम'त्ति वट्टिकाः 'धारण'त्ति बलहरणाधारभूते स्थूणे 'बलहरण'त्ति धारणयोरुपरिवर्त्ति तिर्यगायतकाष्ठं(लोके)मोभ इति,'वंस'त्ति-वंशाः छिच्चराधाराः लोके छप्पराधारा इति 'मल्ल'त्ति

॥१३१॥

कुड्यावष्टम्भस्थाणवः बलहरणाश्रितानि वा, ऊर्ध्वायतानि काष्ठानि वा,'वग्ग'त्ति वल्का वंशादिबन्धनभूता वटादित्वचः 'छित्त-र'त्ति वंशादिमयानि छादनाधारभूतानि कलिंजानि, 'छाणे'त्ति छादनं दर्भादिमयं कुटीरमिति ॥ 'ओरालियसरीराओ'त्ति (सू. ३३५) औदारिकादिशरीरात्–परकीयमौदारिकवपुराश्रित्य कतिक्रियो जीव इति प्रश्नः,उत्तरं 'सिय तिकिरिए'त्ति यदैको जीवोऽन्यस्य पृथ्व्यादेः सम्बन्ध्यौदारिकं शरीरमाश्रित्य कायं व्यापारयति तदा त्रिक्रियः, कायिक्यधिकरणीप्राद्वेषिकाणां भावाद्, एतासां च मिथोऽविनाभावात् स्यात् त्रिक्रिय इत्युक्तं, न पुनः स्यादेकक्रियः स्याद् द्विक्रिय इति, अविनाभावश्च तासामेव–अधि-कृतक्रिया ह्यवीतरागस्यैव, नेतरस्य, तथाविधकर्मबन्धहेतुत्वात्, अवीतरागकायस्य चाधिकरणत्वेन प्रद्वेषान्वितत्वेन च कायक्रि-यासद्भावे इतरयोरवश्यंभावः, इतरभावे च कायकीसद्भावः, उक्तं च प्रज्ञापनायामिहार्थे–जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया नियमा किरिया कज्जइ, जस्स अहिगरिणिया किरिया कज्जइ तस्सवि काइया किरिया नियमा कज्जई'त्यादि, तथाऽऽद्यक्रियात्रयसद्भावे उत्तरं क्रियाद्वयं भजनया स्यात्, यदाह–"जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ"इत्यादि, ततश्च यदा जीवः कायव्यापारेणाद्यक्रियात्रय एव वर्त्तते नतु परितापयति न चातिपातयति तदा त्रिक्रिय एव स्यात्, अत उक्तं–स्यात् त्रिक्रिय इति, यदा तु परितापयति तदा चतुष्क्रियः, आद्यक्रियात्रयस्यावश्यंभावात्, उक्तं च–'जस्स परियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया नियमा कज्जइ'इत्यादि, अत एवाह–'सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए'त्ति, तथा सिय अकिरिए'त्ति वीतरागावस्थामाश्रित्य, तस्यां हि वीतरागत्वादेव न सन्त्यधिकृतक्रिया इति,'नेर-इए ण'मिति नारको यस्मादौदारिकवपुर्व(ष्म)न्तं पृथिव्यादिकं स्पृशति परितापयति विनाशयति च तस्मादौदारिकात् स्यात्

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३३१-३४३] + गाथा: दीप अनुक्रम [४०५-४२१]

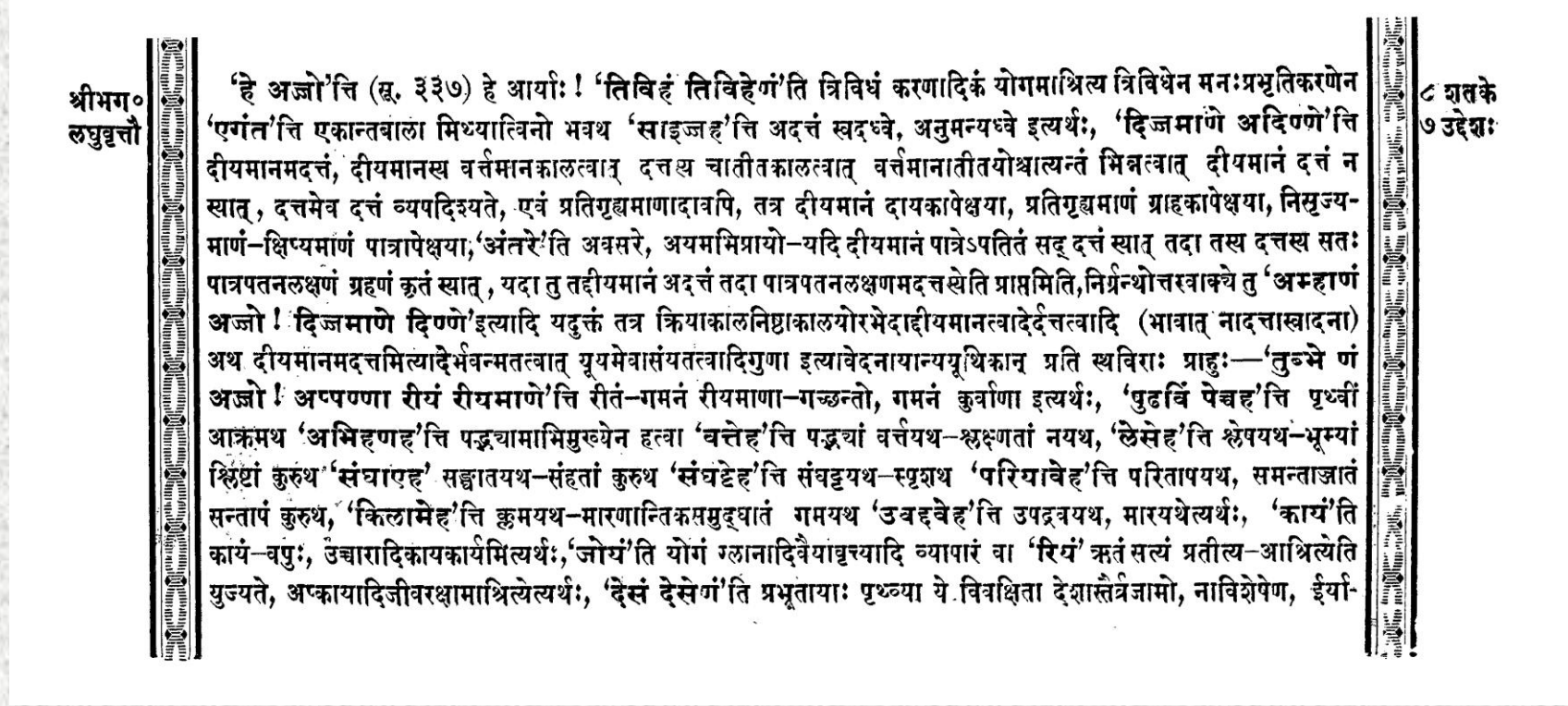
श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्रिक्रियः, अक्रियस्त्वयं न स्यात्, अवीतरागत्वेन क्रियाणामवश्यंभावित्वात्, 'एवं चेव'त्ति स्यात्रिक्रिय इत्यादि सर्वेष्वसुरादिपदेषु वाच्यमिति, 'मणुस्से जहा जीवे'त्ति जीवपदे इव मनुष्यपदे अक्रियत्वमपि वाच्यमित्यर्थः, जीवपदे मनुष्यसिद्धापेक्षयैवाक्रियत्वस्याधीतत्वात्, 'ओरालियसरीरेहिंतो'त्ति औदारिकशरीरेभ्य इत्येवं बहुत्वापेक्षोऽयमपरो दण्डकः, एवमेतौ जीवस्यैकत्वेन द्वौ दण्डकावेवमेव बहुत्वेनापरौ द्वौ, एवं औदारिकशरीरापेक्षया चत्वारो दण्डका इति, 'जीवे णं'ति जीवः परकीयं वैक्रियवपुराश्रित्य कतिक्रियः ?, उच्यते, स्यात् त्रिक्रियः स्यात् चतुष्क्रियः, पञ्चक्रियश्चेह नोच्यते, प्राणातिपातस्य वैक्रियवपुषः कर्तुमशक्यत्वात्, अविरतिमात्रस्येह विवक्षितत्वात्, अत एवोक्तं 'पंचकिरिया न भण्णइ एवं जहा वेउव्वियं तहा आहारगंपि तेयगंपि कम्मगंपि भाणियव्वं'ति अनेनाहारकादिवपुस्त्रयमप्याश्रित्य दण्डकचतुष्टयेन नैरयिकादिजीवानां त्रिक्रियत्वं चतुष्क्रियत्वं चोक्तं, पञ्चक्रियत्वं तु निवारितं, मारयितुमशक्यत्वात् तस्य वपुस्त्रयस्येति, अथ नारकस्याधोलोकवर्त्तित्वाद् आहारकस्य नरक्षेत्रवर्त्तित्वेन तत्क्रियाणामविषयत्वात् कथं आहारकवपुराश्रित्य नारकः स्यात् त्रिक्रियः स्यात् चतुष्क्रिय इति, अत्रोच्यते, यावत् तत्पूर्ववपुरव्युत्सृष्टं जीवनिर्वर्त्तितपरिणामं न त्यजति तावत्पूर्वभावप्रज्ञापनानयमतेन निर्वर्त्तकजीवस्यैवेति व्यपदिश्यते, घृतघटन्यायेनेति, अतो नारकपूर्वभवदेहो नारकस्यैव, तद्देशेन च मनुष्यलोकवर्त्तिना अस्थ्यादिरूपेण यदाहारकशरीरं स्पृश्यते परिताप्यते वा तदाहारकदेहान्नारकस्त्रिक्रियश्चतुक्रियश्चेति, कायिकीभावे इतरयोरवश्यंभावात् परितापनिकीभावे चाद्यत्रयस्यावश्यं भावादिति, एवमिहान्यदपि विषममवगन्तव्यमिति, यच्च तैजसकार्मणवपुरपेक्षया जीवानां परितापकत्वं तदौदारिकाद्याश्रितत्वेन तयोरवसेयं, स्वरूपेण तयोः परितापयितुमशक्यत्वादिति ॥ अष्टमशते षष्ठः ॥

८ शतके ६ उद्देशः

॥१३२॥

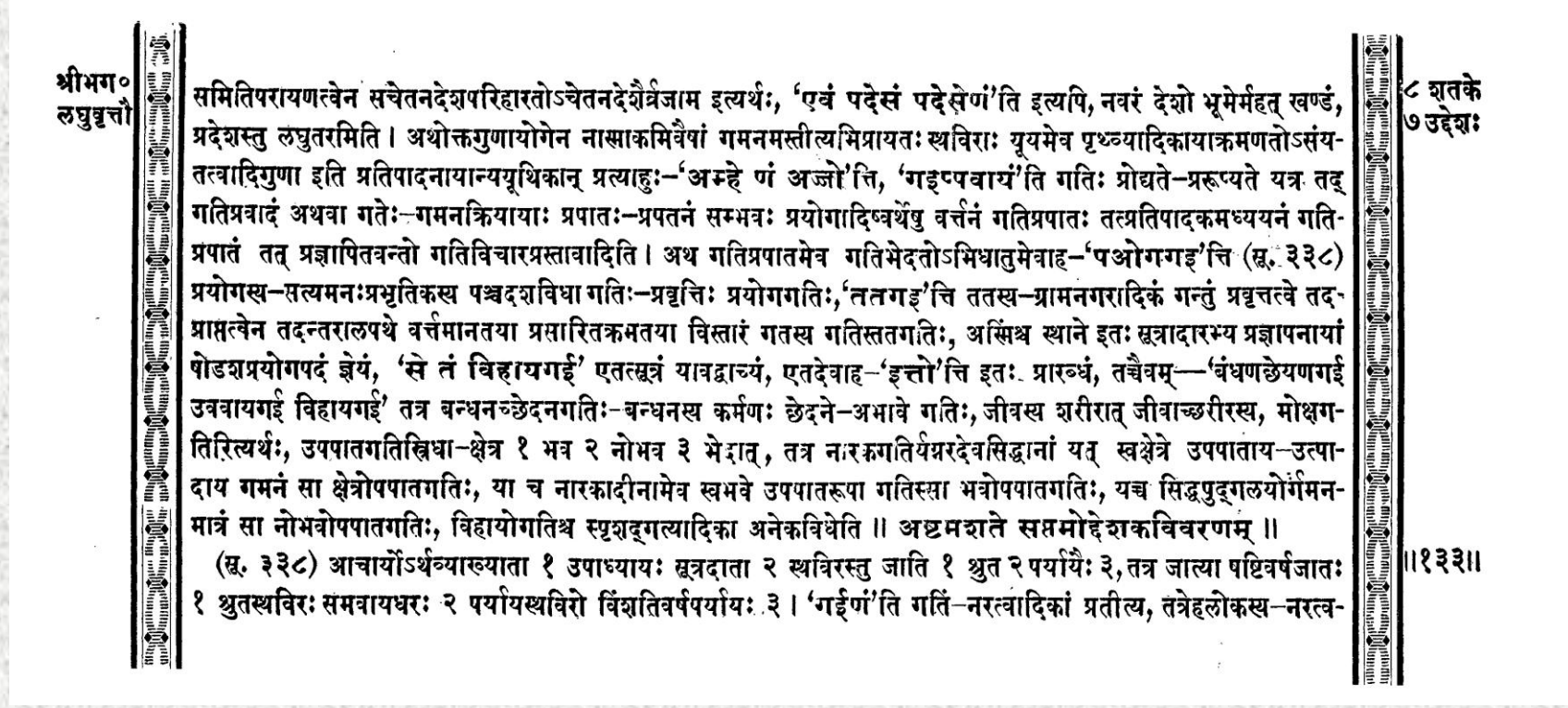
अत्र शतक-८ उद्देशक : ६ समाप्तः,



श्रीभग० लघुवृत्तौ

'हे अज्जो'त्ति (सू. ३३७) हे आर्याः ! 'तिविहं तिविहेणं'ति त्रिविधं करणादिकं योगमाश्रित्य त्रिविधेन मनःप्रभृतिकरणेन 'एगंत'त्ति एकान्तबाला मिथ्यात्विनो भवथ 'साइज्जह'त्ति अदत्तं स्वदध्वे, अनुमन्यध्वे इत्यर्थः, 'दिज्जमाणे अदिण्णे'त्ति दीयमानमदत्तं, दीयमानस्य वर्त्तमानकालत्वात् दत्तस्य चातीतकालत्वात् वर्त्तमानातीतयोश्चात्यन्तं भिन्नत्वात् दीयमानं दत्तं न स्यात्, दत्तमेव दत्तं व्यपदिश्यते, एवं प्रतिगृह्यमाणादावपि, तत्र दीयमानं दायकापेक्षया, प्रतिगृह्यमाणं ग्राहकापेक्षया, निसृज्यमाणं–क्षिप्यमाणं पात्रापेक्षया,'अंतरे'ति अवसरे, अयमभिप्रायो–यदि दीयमानं पात्रेऽपतितं सद् दत्तं स्यात् तदा तस्य दत्तस्य सतः पात्रपतनलक्षणं ग्रहणं कृतं स्यात्, यदा तु तद्दीयमानं अदत्तं तदा पात्रपतनलक्षणमदत्तस्येति प्राप्तमिति,निर्ग्रन्थोत्तरवाक्ये तु 'अम्हाणं अज्जो ! दिज्जमाणे दिण्णे'इत्यादि यदुक्तं तत्र क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदाद्दीयमानत्वादेर्दत्तत्वादि (भावात् नादत्तास्वादना) अथ दीयमानमदत्तमित्यादेर्भवन्मतत्वात् यूयमेवासंयतत्वादिगुणा इत्यावेदनायान्ययूथिकान् प्रति स्थविराः प्राहुः—'तुब्भे णं अज्जो ! अप्पणा रीयं रीयमाणे'त्ति रीतं–गमनं रीयमाणा–गच्छन्तो, गमनं कुर्वाणा इत्यर्थः, 'पुढविं पेच्चह'त्ति पृथ्वीं आक्रमथ 'अभिहणह'त्ति पद्भ्यामभिमुख्येन हत्वा 'वत्तेह'त्ति पद्भ्यां वर्त्तयथ–श्लक्ष्णतां नयथ, 'लेसेह'त्ति श्लेषयथ–भूम्यां श्लिष्टां कुरुथ 'संघाएह' सङ्घातयथ–संहतां कुरुथ 'संघट्टेह'त्ति संघट्टयथ–स्पृशथ 'परियावेह'त्ति परितापयथ, समन्ताज्जातं सन्तापं कुरुथ, 'किलामेह'त्ति क्लमयथ–मारणान्तिकसमुद्घातं गमयथ 'उवद्दवेह'त्ति उपद्रवयथ, मारयथेत्यर्थः, 'कायं'ति कायं–वपुः, उच्चारादिकायकार्यमित्यर्थः,'जोयं'ति योगं ग्लानादिवैयावृत्त्यादि व्यापारं वा 'रियं' ऋतं सत्यं प्रतीत्य–आश्रित्येति युज्यते, अप्कायादिजीवरक्षामाश्रित्येत्यर्थः, 'देसं देसेणं'ति प्रभूतायाः पृथ्व्या ये विवक्षिता देशास्तैर्व्रजामो, नाविशेषेण, ईर्या-

८ शतके ७ उद्देशः



श्रीभग० लघुवृत्तौ

समितिपरायणत्वेन सचेतनदेशपरिहारतोऽचेतनदेशैर्व्रजाम इत्यर्थः, 'एवं पदेसं पदेसेणं'ति इत्यपि, नवरं देशो भूमेर्महत् खण्डं, प्रदेशस्तु लघुतरमिति। अथोक्तगुणायोगेन नास्माकमिवैषां गमनमस्तीत्यभिप्रायतः स्थविराः यूयमेव पृथ्व्यादिकायाक्रमणतोऽसंयतत्वादिगुणा इति प्रतिपादनायान्ययूथिकान् प्रत्याहुः–'अम्हे णं अज्जो'त्ति, 'गइप्पवायं'ति गतिः प्रोद्यते–प्ररूप्यते यत्र तद् गतिप्रवादं अथवा गतेः–गमनक्रियायाः प्रपातः–प्रपतनं सम्भवः प्रयोगादिष्वर्थेषु वर्त्तनं गतिप्रपातः तत्प्रतिपादकमध्ययनं गतिप्रपातं तत् प्रज्ञापितवन्तो गतिविचारप्रस्तावादिति। अथ गतिप्रपातमेव गतिभेदतोऽभिधातुमेवाह–'पओगगइ'त्ति (सू. ३३८) प्रयोगस्य–सत्यमनःप्रभृतिकस्य पञ्चदशविधा गतिः–प्रवृत्तिः प्रयोगगतिः,'ततगइ'त्ति ततस्य–ग्रामनगरादिकं गन्तुं प्रवृत्तत्वे तदप्राप्तत्वेन तदन्तरालपथे वर्त्तमानतया प्रसारितक्रमतया विस्तारं गतस्य गतिस्ततगतिः, अस्मिंश्च स्थाने इतः सूत्रादारभ्य प्रज्ञापनायां षोडशप्रयोगपदं ज्ञेयं, 'से तं विहायगई' एतत्सूत्रं यावद्वाच्यं, एतदेवाह–'इत्तो'त्ति इतः प्रारब्धं, तच्चैवम्—'बंधणछेयणगई उववायगई विहायगई' तत्र बन्धनच्छेदनगतिः–बन्धनस्य कर्मणः छेदने–अभावे गतिः, जीवस्य शरीरात् जीवाच्छरीरस्य, मोक्षगतिरित्यर्थः, उपपातगतिस्त्रिधा–क्षेत्र १ भव २ नोभव ३ भेदात्, तत्र नारकगतिर्यग्नरदेवसिद्धानां यत् स्वक्षेत्रे उपपातायउत्पादाय गमनं सा क्षेत्रोपपातगतिः, या च नारकादीनामेव स्वभवे उपपातरूपा गतिस्सा भवोपपातगतिः, यच्च सिद्धपुद्गलयोर्गमनमात्रं सा नोभवोपपातगतिः, विहायोगतिश्च स्पृशद्गत्यादिका अनेकविधेति ॥ अष्टमशते सप्तमोद्देशकविवरणम् ॥

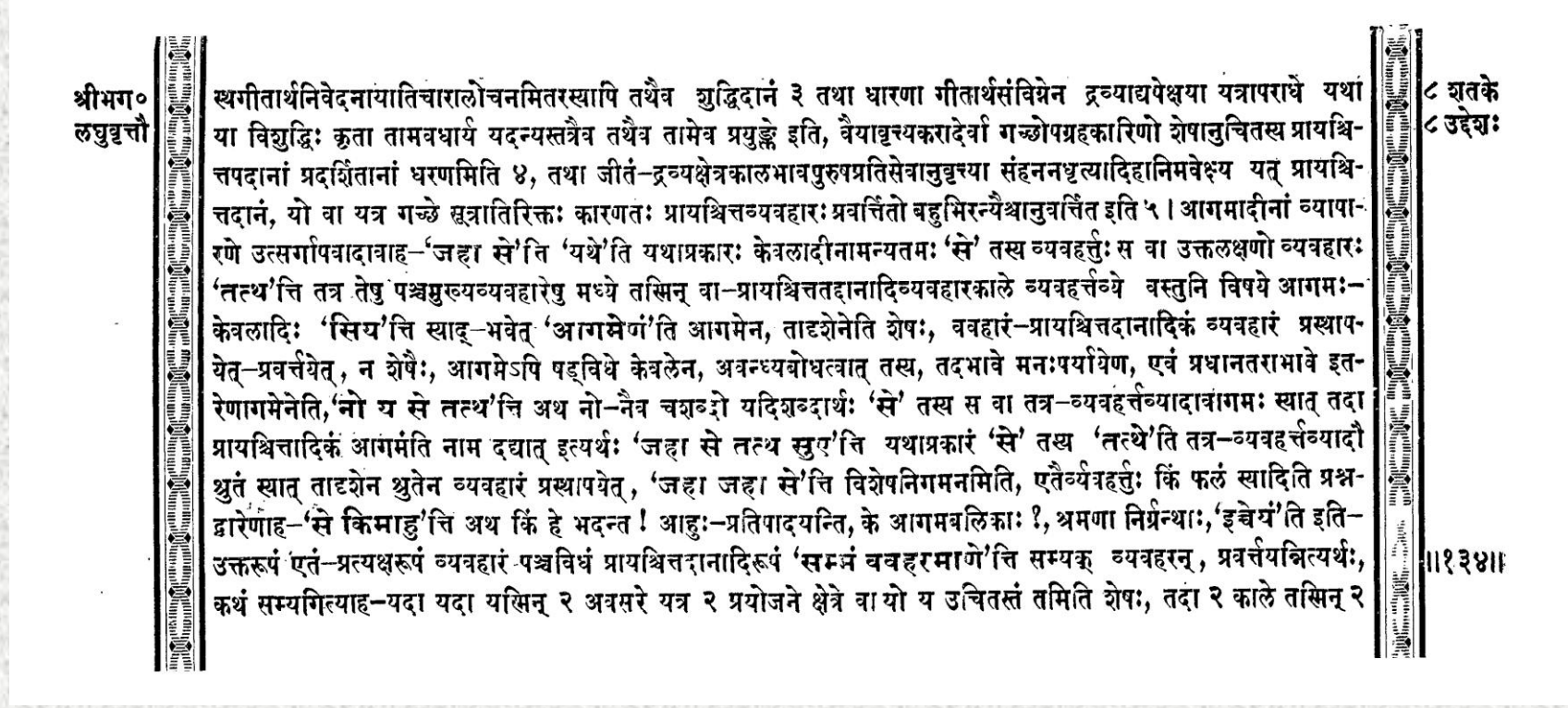
(सू. ३३८) आचार्योऽर्थव्याख्याता १ उपाध्यायः सूत्रदाता २ स्थविरस्तु जाति १ श्रुत २ पर्यायैः ३, तत्र जात्या षष्टिवर्षजातः १ श्रुतस्थविरः समवायधरः २ पर्यायस्थविरो विंशतिवर्षपर्यायः ३। 'गईणं'ति गतिं–नरत्वादिकां प्रतीत्य, तत्रेहलोकस्य–नरत्व-

८ शतके ७ उद्देशः

॥१३३॥

	अत्र शतक-८ उद्देशक : ७ समाप्तः, अत्र शतक-८ उद्देशक : ८ आरभ्यते

लक्षणस्य प्रत्यनीक इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारित्वात्, पञ्चाग्नितपस्वी चेहलोकप्रत्यनीकः, 'परलोकप्रत्यनीकः' परलोको—जन्मान्तरं तत्प्रत्यनीक इन्द्रियार्थतत्परो, राज्यादिलाभापेक्षयेत्यर्थः, द्विधालोकप्रत्यनीकश्च चौर्यादिभिरिन्द्रियार्थसाधनपरः। **'समूहं'**ति समूहं—साधुसमुदायं प्रतीत्य, तत्र कुलं चान्द्रादिकं, तत्समूहो गणः कोटिकादिः, तत्समूहस्संघः, प्रत्यनीकता चैतेषामवर्णवादादिभिरिति, कुलादिलक्षणं त्विदम्—"एत्थ कुलं विण्णेयं एगायरियस्स संतई जा उ। तिण्ह कुलाण मिहो पुण सावेक्खाणं गणो होइ ॥१॥ सव्वोऽवि नाणदंसणचरणगुणविभूसियाण समणाणं। समुदाओ पुण संघो गुणसमुदाओत्ति काऊणं ॥२॥" **'अणुकंपण्णं'**ति अनुकम्पा—भक्तपानादिभिरुपष्टम्भस्तां प्रतीत्य, तत्र तपस्वी—क्षपकः ग्लानो—रोगाद्यसमर्थः, शैक्षः—अभिनवदीक्षितः, एते ह्यनुपकम्पनीयाः स्युः, तदकरणाकारणाभ्यां प्रत्यनीकता चेति, **'सुयण्णं'**ति श्रुतं—सूत्रं व्याख्येयं अर्थः—तद्व्याख्यानं निर्युक्त्यादिः तदुभयं—एतद्द्वितयं चेति, तत्प्रत्यनीकता चैवम्—"काया वया य ते चिय ते चेव पमाय अप्पमाया य। मोक्खाहिगारियाणं जोइसजोणीहिं किं कज्जं? ॥१॥" इति दूषणोद्भावनं, **'भावण्णं'**ति भावः—पर्यायः, स च जीवाजीवगतः, तत्र जीवस्य प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति, तत्र प्रशस्तः क्षायिकादिः, अप्रशस्तो विवक्षयौदयिकः, क्षायिकादिः पुनर्ज्ञानादिरूपः अतो भावं—ज्ञानादिं प्रति प्रत्यनीकः, तेषां वितथप्ररूपणतो दूषणतो वा, यथा—"पागयसुत्तनिबद्धं, को वा जाणइ पणीय केणेयं?। किं वा चरणेणं तु दाणेण विणा उ हवउत्ति ॥१॥" **'ववहारे'**त्ति (सू. ३३९) व्यवहरणं व्यवहारः—मुमुक्षुप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः, **'आगम'**त्ति आगम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः—केवलमनःपर्यायावधिपूर्वचतुर्दशकनवकरूपः१ तथा श्रुतं—शेषमाचारप्रकल्पादि, नवादिपूर्वाणां च श्रुतत्वेऽपि अतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयित्वादागमव्यपदेशः केवलवदिति २ आज्ञा—यदगीतार्थस्य पुरतो गूढार्थपदैर्देशान्तर-



श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्थगीतार्थनिवेदनायातिचारालोचनमितरस्यापि तथैव शुद्धिदानं ३ तथा धारणा गीतार्थसंविग्नेन द्रव्याद्यपेक्षया यत्रापराधे यथा या विशुद्धिः कृता तामवधार्य यदन्यस्तत्रैव तथैव तामेव प्रयुङ्क्ते इति, वैयावृत्यकरादेर्वा गच्छोपग्रहकारिणो शेषानुचितस्य प्रायश्चित्तपदानां प्रदर्शितानां धरणमिति ४, तथा जीतं–द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषप्रतिसेवानुवृत्त्या संहननधृत्यादिहानिमवेक्ष्य यत् प्रायश्चित्तदानं, यो वा यत्र गच्छे सूत्रातिरिक्तः कारणतः प्रायश्चित्तव्यवहारः प्रवर्त्तितो बहुभिरन्यैश्चानुवर्त्तित इति ५। आगमादीनां व्यापारणे उत्सर्गापवादावाह–'जहा से'त्ति 'यथे'ति यथाप्रकारः केवलादीनामन्यतमः 'से' तस्य व्यवहर्त्तुः स वा उक्तलक्षणो व्यवहारः 'तत्थ'त्ति तत्र तेषु पञ्चप्रकारव्यवहारेषु मध्ये तस्मिन् वा–प्रायश्चित्ततदानादिव्यवहारकाले व्यवहर्त्तव्ये वस्तुनि विषये आगमः–केवलादिः 'सिय'त्ति स्याद्–भवेत् 'आगमेणं'ति आगमेन, तादृशेनेति शेषः, ववहारं–प्रायश्चित्तदानादिकं व्यवहारं प्रस्थापयेत्–प्रवर्त्तयेत्, न शेषैः, आगमेऽपि षड्विधे केवलेन, अवन्ध्यबोधत्वात् तस्य, तदभावे मनःपर्यायेण, एवं प्रधानतराभावे इतरेणागमेनेति,'नो य से तत्थ'त्ति अथ नो–नैव चशब्दो यदिशब्दार्थः 'से' तस्य स वा तत्र–व्यवहर्त्तव्यादावागमः स्यात् तदा प्रायश्चित्तादिकं आगमंति नाम दद्यात् इत्यर्थः 'जहा से तत्थ सुए'त्ति यथाप्रकारं 'से' तस्य 'तत्थे'ति तत्र–व्यवहर्त्तव्यादौ श्रुतं स्यात् तादृशेन श्रुतेन व्यवहारं प्रस्थापयेत्, 'जहा जहा से'त्ति विशेषनिगमनमिति, एतैर्व्यवहर्त्तुः किं फलं स्यादिति प्रश्नद्वारेणाह–'से किमाहु'त्ति अथ किं हे भदन्त! आहुः–प्रतिपादयन्ति, के आगमबलिकाः?, श्रमणा निर्ग्रन्थाः,'इच्चेयं'ति इति–उक्तरूपं एतं–प्रत्यक्षरूपं व्यवहारं पञ्चविधं प्रायश्चित्तदानादिरूपं 'सम्मं ववहरमाणे'त्ति सम्यक् व्यवहरन्, प्रवर्त्तयन्नित्यर्थः, कथं सम्यगित्याह–यदा यदा यस्मिन् २ अवसरे यत्र २ प्रयोजने क्षेत्रे वा यो य उचितस्तं तमिति शेषः, तदा २ काले तस्मिन् २

८ शतके ८ उद्देशः

॥१३४॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

८ शतके
८ उद्देशः

प्रयोजनादौ कथंभूतमित्याह–'अणिस्सिओवस्सियं'ति अनिश्रितैः–सर्वाशंसारहितैरुपाश्रितः-अंगीकृतोऽनिश्रितोपाश्रितस्तं, अथवा निश्रितं–रागः उपाश्रितं च द्वेषस्ते अथवा निश्रितं–आहारादिलिप्सा उपाश्रितं–शिष्यप्रतीच्छककुलाद्यपेक्षा ते न स्तः, सर्वथापेक्षया रहितत्वेन, यथावदित्यर्थः, तथेति क्रियाविशेषणं ॥ 'इरियावहियाबंध'त्ति ईर्या–गमनं तस्य पन्था ईर्यापथस्तत्र भवमैर्यापथिकं–केवलयोगप्रत्ययं कर्म तद्बन्धः, स चैकस्य वेदनीयस्य, 'संपराइ'त्ति संसारं पर्यटत्येभिरिति सम्परायाः–कषायाः तेषु भवं साम्परायिकं कर्म तद्बन्धस्साम्परायिकबन्धः, स चावीतरागगुणस्थानकेषु सर्वेषु, 'नो नेरइओ'त्ति मनुष्यस्यैव तद्बन्धः, यस्मादुपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनामेव तद्बन्धनमिति, 'पुव्वपडिवन्नए'त्ति पूर्वं–प्राक्काले प्रतिपन्नं ऐर्यापथिकबन्धकत्वं यैस्ते तान् तद्बन्धकत्वद्वितीयादिसमयवर्त्तिनः, ते च सदैव बहवः पुरुषाः स्त्रियश्च सन्ति, उभयेषां केवलिनां सदैव भावात्, अत उक्तं–'मणुस्सो मणुस्सी बंधति' 'पडिवज्जमाणए'त्ति प्रतिपद्यमानकान् ऐर्यापथिककर्मबन्धनप्रथमसमयवर्त्तिन इति, एतेषां च विरहसम्भवात् एकदा मनुष्यस्य स्त्रियाश्च एककयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारो विकल्पाः, द्विकयोगे तथैव चत्वारः, एवं सर्वेऽष्टौ, स्थापना चेयम् ॥ एतदेवाह–'मणुस्सो'वेत्यादि, एषां च पुंस्त्वादि तल्लिङ्गापेक्षया, नतु वेदापेक्षया, क्षीणोपशान्तवेदत्वात्, अथ वेदापेक्षं स्त्रीत्वाद्यधिकृत्याह–'तं भंते! किमिति त्यादिना च पदत्रयनिषेधेनावेदकः प्रश्नितः, उत्तरे तु षण्णां पदानां निषेधः, सप्तमपदोक्तस्तु व्यपगतच पूर्वं प्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकश्च स्युः, तत्र पूर्वप्रतिपन्नानां विगतवेदानां सदा बहुत्वभावात्, आह च–त्यादि, प्रतिपद्यमानकानां तु सामयिकत्वाद्विरहभावेनैकादिसम्भवात् विकल्पद्वयं, अत एवाह–'पडिव-

पु. १	पुं. स्त्री.	
स्त्री. १	११	
पु. २	१३	
स्त्री. २	३१	
एकव. योगाः ४	३३	
नो इत्थी'- वेदः, तत्र 'पुव्वपे'-	द्विक- योगाः४	

श्रीभग० लघुवृत्तौ

८ शतके
८ उद्देशः

ज्जमाणे'त्ति अपगतवेदमेवमपगतवेदांश्च, ऐर्यापथिकं बन्धमाश्रित्य स्त्रीत्वादि भूतभावापेक्षया विकल्पयन्नाह—'जइ भंते'त्ति, 'तं भंते'त्ति तदा भदन्त! तद्वा कर्म 'इत्थीपच्छाकडो'त्ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य स्त्रीत्वं पश्चात्कृतं–भूततां नीतं येनावेदके-

पुं न	पुं स्त्री
११	११
१३	१३
३१	३१
३३	३३

स्त्री पुं न
१ १ १
१ १ ३
१ ३ १
१ ३ ३
३ १ १
३ १ ३
३ ३ १
३ ३ ३

स्त्री. पुं. न.	स्त्री. पुं. न.	स्त्री. न.
१ १ १	३ ३ ३	१ १
		१ ३
		३ १
		३ ३

ऽ ऽ ऽ
ऽ ऽ ।
ऽ । ऽ
ऽ । ।
। ऽ ।
। । ऽ
। । ।

नासौ स्त्रीपश्चात्कृतः, एवमन्यावपि, इहैककयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां षड् विकल्पाः सूत्रोक्ता एव ज्ञेयाः, त्रिषु द्विकयोगेषु १२, त्रिकयोगेषु पुनस्तथैवाष्टौ, एते सर्वे २६, इयमेषां स्थापना, चतुर्भङ्गयाष्टभङ्गीनां प्रथमविकल्पाः सूत्रे दर्शिताः सर्वान्तिमाश्चेति। अथैर्यापथिककर्मबन्धमेव कालत्रयेणाह–'तं भंते'त्ति तदैर्यापथिकं कर्म बध्नीत–बद्धवान् १ बध्नाति २ भंत्स्यति वा ३ इत्येको भेदः, एवमन्येऽपि, स्थापना चेयम्, उत्तरं तु 'भवागरिस'त्ति अनेकत्र भवे उपशमादिश्रेणिप्राप्त्या आकर्षेणेर्यापथिककर्माणुग्रहणं भवाकर्षस्तं प्रतीत्य 'अत्थेगइए'त्ति अस्त्येको-भवत्येकः कश्चिज्जीवः प्रथमविकल्पिकः,तथाहि–पूर्वभवे उपशान्तमोहत्वे सत्यैर्यापथिकं कर्म बद्धवान् वर्त्तमानभवे च उपशान्तमोहत्वे बध्नाति अनागते च उपशान्तमोहत्वे भंत्स्यतीति १ द्वितीयस्तु यः पूर्वस्मिन् भवे उपशान्तमोहत्वं लब्धवान् वर्त्तमाने च क्षीणमोहत्वं संप्राप्तः स पूर्वं बद्धवान् वर्त्तमाने च बध्नाति, शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भंत्स्यतीति २ तृतीयः पूर्वजन्मनि उपशान्तमोहत्वे बद्धवान् तत्प्रतिपतितो न बध्नाति पुनर्यदोपशान्तमोहत्वं प्रतिपत्स्यते तदा भंत्स्यतीति ३ चतुर्थस्तु शैलेशीपूर्वकाले बद्धवान् शैलेश्यां च न बध्नाति न पुनर्भंत्स्यतीति ४ पञ्चमस्तु पूर्वजन्मनि नोपशान्तमोहत्वं लब्धवान् इति

॥१३५॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

न बद्धवान् अधुना लब्धमिति बध्नाति पुनरेष्यत्काले उपशान्तमोहा(द्य)वस्थायां भंत्स्यतीति ५ षष्ठश्च क्षीणमोहत्वादि न लब्धवान् इति न प्राग् बद्धवान् अधुना तु क्षीणमोहत्वं लब्धमिति बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भंत्स्यतीति ६ सप्तमः पुनर्भव्यस्य, स हि अनादिकाले न बद्धवान्, अधुनाऽपि कश्चिन्न बध्नाति, कालान्तरे तु भंत्स्यतीति ७, अष्टमोऽभव्यस्य ८, स प्रतीत एव। 'गहणागरिसे पडुच्च'त्ति एकस्मिन्नेव भवे ऐर्यापथिककर्मपुद्गलानां ग्रहणरूपो य आकर्षोऽसौ ग्रहणाकर्षः तं प्रतीत्य अस्त्येकः कश्चित् जीवः प्रथमवैकल्पिकः, तथाहि–उपशान्तमोहादिर्यदा ऐर्यापथिकं कर्म बद्ध्वा बध्नाति, तदा अतीतसमयापेक्षया बद्धवान् वर्त्तमानसमयापेक्षया च बध्नाति अनागतसमयापेक्षया च भंत्स्यतीति १ द्वितीयस्तु केवली, स ह्यतीतकाले बद्धवान् वर्त्तमाने च बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भंत्स्यतीति २ तृतीयस्तु उपशान्तमोहत्वे बद्धवान् (पतितो न बध्नाति)पुनस्तत्रैव भवे उपशमश्रेणिं प्रतिपद्य भंत्स्यतीति ३, एकभवे चोपशमश्रेणी द्विः प्राप्यत एवेति, तुर्यस्तु स सयोगित्वे बद्धवान् शैलेश्यवस्थायां न बध्नाति न भंत्स्यतीति ४, पञ्चमस्तु आयुषः पूर्वभागे उपशान्तमोहत्वादि न लब्धमिति न बद्धवान् अधुना तु लब्धमिति बध्नाति तदद्धाया एव चैष्यत्समयेषु पुनर्भन्त्स्यतीति ५, न लब्धमिति न बद्धवान्, तल्लाभसमये च बध्नाति, ततोऽनन्तरसमयेषु च भन्त्स्यत्येव, न तु न भन्त्स्यतीति वाच्यम्, समयमात्रस्य बन्धस्येहाभावात्, यस्तु मोहोपशमनिर्ग्रन्थस्य समयानन्तरमरणेनैर्यापथकर्मबन्धः समयमात्रः स्यात् नासौ षष्ठविकल्पहेतुः, तदनन्तरैर्यापथकर्मबन्धाभावस्य भवान्तरवर्त्तित्वात्, ग्रहणाकर्षस्येह च प्रक्रान्तत्वात्, यदि पुनः सयोगिचरमसमये बध्नाति, ततोऽनन्तरं न भन्त्स्यतीति विवक्ष्येत तदा यत् सयोगिचरमसमये बध्नातीति तद्बन्धपूर्वकमेव स्यात्, नाबन्धपूर्वकं, तत्पूर्वसमयेषु तस्य बन्धकत्वाद्, एवं च द्वितीयभङ्ग एव स्यात्, न पुनः षष्ठ इति ६, सप्तमो भव्यविशेषस्य ७, अष्टमस्त्वभव्यस्येति ८,

८ शतके ८ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

इह च भवाकर्षापेक्षेष्वष्टसु भङ्गकेषु 'बंधी बंधइ बंधिस्सइ' इत्यत्र प्रथमभङ्गे उपशान्तमोहः, 'बंधी बंधइ न बंधिस्सइ इति द्वितीये क्षीणमोहः, 'बंधी न बंधइ बंधिस्सइ' इति तृतीये उपशान्तमोहः, 'बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ' इति तुर्ये शैलेशीगतः 'न बंधी बंधइ बंधिस्सइ' इति पञ्चमे उपशान्तमोहः 'न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यत्र षष्ठे क्षीणमोहः 'न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ' इति सप्तमे भव्यः, 'न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यष्टमेऽभव्यः, ग्रहणकर्षापेक्षेषु पुनरेतेष्वेव प्रथमे उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा, द्वितीये तु केवली, तृतीये उपशान्तमोहः, चतुर्थे शैलेशीगतः, पञ्चमे उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा, षष्ठः शून्यः, सप्तमो भव्यो भाविमोहोपशमो भाविमोहक्षयो वा, अष्टमे त्वभव्य इति। अथैर्यापथिकबन्धमेव निरूपयन्नाह-'तं भंते'त्ति तदैर्यापथिकं कर्म 'साइयं सपज्जवसिय'-मित्यादि चतुर्भङ्गी, तत्रैर्यापथिककर्मणः प्रथम एव भङ्गे बन्धः, अन्येषु तदसम्भवादिति, 'तं भंते ! किं देसेणं'ति तदैर्यापथिकं कर्म देशेन-जीवदेशेन देशं-कर्मदेशं बध्नाति इत्यादि चतुर्भङ्गी, तत्र न देशेन कर्मणो देशः, सर्वं वा कर्म सर्वात्मना वा कर्मणो देशो बध्यते. किं तर्हि ?, सर्वात्मना सर्वं बध्यते, तथास्वभावत्वाज्जीवस्येति ॥ अथ साम्परायिकबन्धनिरूपणायाह-'संपराइयं' इत्यादि, 'किं नेरइओ'इत्यादयस्सप्त प्रश्नाः, उत्तराणि च सप्तैव, एतेषु च मनुष्यमानुषीवर्जाः पञ्च साम्परायिकबन्धका एव सकषायत्वात्, नरनार्यौ तु सकषायत्वे सति साम्परायिकं बध्नीतो, न पुनरन्यदिति। साम्परायिकबन्धमेव रुयाद्यपेक्षया प्राह-'तं भंते'त्ति इह रुयादयो विवक्षितैकत्वबहुत्वा ६ भेदाः सर्वदा साम्परायिकं बध्नन्ति, अपगतवेदश्च कदाचिदेव, तस्य कादाचित्कत्वात्, ततश्च रुयादयः केवला बध्नन्त्यपगतवेदयुक्ताश्च, ततश्च यदा अपगतवेदयुक्तास्तदोच्यन्ते, अथवैते रुयादयो बध्नन्ति अपगतवेदश्च, तस्यैकस्यापि सम्भवात्, अथवैते च रुयादयो बध्नन्त्यपगतवेदाश्च, तेषां बहूनामपि सम्भवात्, अपगतवेदश्च साम्परायिकबन्धको वेदत्रये

८ शतके ८ उद्देशः

॥१३६॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

उपशान्तमोहे क्षीणे वा यावद्यथाख्यातं न प्राप्नोति तावल्लभ्यत इति, इह च पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकविवक्षा न कृता, द्वयोरप्येकत्वबहुत्वयोर्भावेन निर्विशेषत्वात्, तथाहि–अपगतवेदत्वे साम्परायिकबन्धोऽल्पकालीन एव, तत्र च योऽपगतवेदत्वं प्रतिपन्नपूर्वः साम्परायिकं बध्नाति असावेकोऽनेको वा स्यात्, एवं प्रतिपद्यमानकोऽपीति। अथ साम्परायिककर्मबन्धनमेव कालत्रयेणाह–'तं भंते ! किं'मिति, इह प्रागुक्तेष्वष्टसु विकल्पेषु आद्याश्चत्वार एव सम्भवन्ति, नेतरे, जीवानां साम्परायिककर्मबन्धस्यानादित्वेन न बध्नीत्यस्यानुपपद्यमानत्वात्, तत्र प्रथमः सर्व एव संसारी यथाख्यातासम्प्रा(प्तः अप्रा)प्तोपशमक्षपकावसानः, स हि प्राग् बद्धवान् वर्त्तमानकाले बध्नात्यनागतकालापेक्षया तु भन्त्स्यति?, द्वितीयस्तु मोहक्षयात् पूर्वमतीतकालापेक्षया बद्धवान् वर्त्तमानकाले तु बध्नाति भाविमोहक्षयान्न भन्त्स्यति २, तृतीयश्च उपशान्तमोहत्वात् पूर्वं बद्धवान् उपशान्तमोहत्वे न बध्नाति तस्माच्युतः पुनर्भन्त्स्यतीति ३, चतुर्थश्च मोहक्षयात् पूर्वं साम्परायिकं कर्म बद्धवान् मोहक्षये तु न बध्नाति न च भन्त्स्यतीति ४। साम्परायिककर्मबन्धमाश्रित्याह–'त'मित्यादि,'साइयं सपज्जवसियं बंधइ'त्ति उपशान्तमोहाच्युतः पुनरुपशान्तमोहतां क्षीणमोहतां वा प्रतिपत्स्यमानः, 'अणाइयं वा सपज्जवसियं बंधइ'त्ति आदितः क्षपकापेक्षमिदं,'अणाइयमपज्जवसियं बंधइ'त्ति एतदभव्यापेक्षं,'नो चेव णं साइयं अपज्जवसियं बंधइ'त्ति सादिसाम्परायिकबन्धो हि मोहोपशमाच्च्युतस्यैव स्यात्, तस्यावश्यं मोक्षयायित्वात् साम्परायिकबन्धस्य व्यवच्छेदसम्भवः, ततश्च न सादिरपर्यवसानः साम्परायिकबन्धोऽस्तीति ॥'परीसह'त्ति(सू. ३४२)'परी'ति समन्तात् निर्जरार्थं साध्वादिभिः सह्यन्त इति परीषहाः,'दिगिंछा' बुभुक्षा १ अरतिः–संयमाधृतिस्तद्विपरीतेऽसंयमे रतिस्तत्परीषहः७, चर्या–ग्रामानुग्रामविहरणरूपा ९ नैषेधिकी–श्मशानादिस्वाध्यायभूमिः१० सत्कारो-वस्त्रादिपूजनं पुरस्कारः-अभ्युत्थानादिकरणम् १९ प्रज्ञा-

८ शतके
८ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्वयं विमर्शपूर्विका२०, मतिः ज्ञानं, तद्विपरीतमज्ञानं २१ दर्शनं–सम्यक्त्वं तदेव क्रियावादिप्रभृतिमतश्रवणेऽपि निश्चलचित्ततया धार्यमाणं दर्शनपरीषहः २२ इति। कियन्तोऽर्थतः कथिताः, 'समोयरंति' समवतरन्ति, समवतारं व्रजन्तीत्यर्थः, 'पंचेव'त्ति (*५८) क्षुत् १ पिपासा २ शीतो ३ ष्ण ४ दंशमशकाः ५, एतेषु पीडैव वेदनीयोत्था, तदधिसहनं तु चारित्रमोहनीयक्षयोपशमादिसम्भवं, अधिसहनस्य चारित्ररूपत्वादिति, 'दंसणपरीसहे'त्ति यतो दर्शनं तत्त्वश्रद्धानरूपं दर्शनमोहनीयस्य क्षयोपशमादौ स्यात्, उदये तु न स्यात्, अतस्तत्र दर्शनपरीषहः समवतरतीति, 'अरइ'त्ति गाथोक्ताः सप्तैते चारित्रमोहनीये समवतरन्ति, 'अलाभ'त्ति लाभान्तरायः, तदुदय एव लाभाभावात्, तदधिसहनं चारित्रमोहनीयक्षयोपशमे। अथ बन्धस्थानान्याश्रित्य परीषहानाह–'सत्तविह'त्ति सप्तविधबन्धकः–आयुर्वर्जशेषकर्मबन्धकः, 'जं समयं चरियापरी'ति तत्र चर्या–ग्रामादिषु संचरणं नैषेधिकी–ग्रामादिषु प्रतिपत्तिर्मासकल्पादेः स्वाध्यायादिनिमित्तं वा शय्यातो विविक्तोपाश्रये गत्वा निषदनं, 'छव्विहबंध'त्ति षड्विधबन्धकस्यायुर्मोहवर्जबन्धकस्य, सूक्ष्मलोभाणूनां वेदनात् सरागः अनुत्पन्नकेवलत्वात् छद्मस्थः, 'चोद्दस'त्ति अष्टानां मोहनीयसम्भवानां तस्य मोहाभावेनाभावात् द्वाविंशतेः शेषाः १४ परीषहाः, 'एगविहबंध'त्ति एकविधबन्धकस्य, वेदनीयबन्धकस्येत्यर्थः, कस्य तस्येत्याह— 'वीयरागछउमत्थस्स'त्ति उपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य वेति 'एवं'ति १४ प्रज्ञप्ताः, द्वादश पुनर्वेदयतीत्यर्थः, शीतोष्णयोश्चर्याशय्ययोश्च क्रमशो वेदनादिति॥ 'दूरे य मूले य'त्ति (सू. ३४३) दूरे च द्रष्टृस्थानापेक्षया व्यवहिते देशे मूले–आसन्ने द्रष्टुः प्रतीत्यपेक्षया रवी दृश्येते, द्रष्टा हि स्वरूपतो बहुभिर्योजनसहस्रैर्व्यवहितमुद्गमास्तमययोः सूर्यं पश्यति, आसन्नं पुनर्मन्यते, सद्भूतं विप्रकर्षे सन्तमपि न प्रतिपद्यते, 'मज्झंतिय'त्ति मध्यो—मध्यमोऽन्तो हि भागो नभसो दिनस्य वा मध्यांतः स यस्य मुहूर्त्त-

८ शतके ८ उद्देशः

॥१३७॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्थास्ति स मध्यान्तिकः स चासौ मुहूर्त्तश्चेति मध्यान्तिकमुहूर्त्तः, तत्र मूले–आसन्ने द्रष्टृस्थानापेक्षया देशे दूरे च–व्यवहिते देशे द्रष्टृप्रतीत्यपेक्षया रवौ दृश्येते, द्रष्टा हि मध्याह्ने उदयास्तमयदर्शनापेक्षया आसन्नं रविं पश्यति, योजनशताष्टकेनैव तदा तस्य व्यवहितत्वात्, मन्यते पुनरुदयास्तमयप्रतीत्यपेक्षया व्यवहितमिति। 'सव्वत्थ समा उच्चत्तेणं'ति समभूतलापेक्षया सर्वत्रोच्चत्वमष्टौ योजनशतानीतिकृत्वा, 'लेसापडिघाएणं'ति तेजसः प्रतिघातेन, दूरत्वात् तादृशस्य तदप्रसरणेनेत्यर्थः, लेश्याप्रतिघाते हि सुखदृश्यत्वेन दूरस्थोऽपि स्वरूपेण रविरासन्नप्रतीतिं जनयति, 'लेसाहितावेणं'ति तेजसोऽभितापेन, मध्याह्ने ह्यासन्नतरत्वात् सूर्यः प्रकर्षेण तपति, तेजःप्रतापेन दुर्दृश्यत्वेन प्रत्यासन्नोऽप्यसौ दूरप्रतीतिं जनयति, 'नो तीतं'ति अतीतक्षेत्रस्यातिक्रान्तत्वात् 'पडुप्पन्नं'ति प्रत्युपन्नं–वर्त्तमानं, गम्यमानमित्यर्थः,'अणागयं'ति अनागतं गमिष्यमाणमिति, इह यदाकाशखण्डं रविस्खतेजसा व्याप्नोति तत्क्षेत्रमुच्यते, 'ओभास'त्ति अवभासयतः–ईषदुद्योतयतः 'पुट्ठं'ति तेजसा स्पृष्टः,'जाव छद्दिसं'ति यावत्करणादिदं दृश्यम्–'तं भंते! किं ओगाढं ओभासेइ अणोगाढं?, गोयमा! ओगाढं, नो अणोगाढमिति, तं भंते! कइदिसं ओभासेइ?, गोयमा! इत्येतदंतमिति,'उज्जोवेंति' उद्योतयतः इति अर्थं द्योतयतः 'तवंति'त्ति तापयतः, उष्णरश्मित्वात् तयोः, भासंति–भासयतः–शोभयतः 'किरिया कज्जइ'त्ति क्रिया–अवभासरूपा 'कज्जइ'त्ति भवतीत्यर्थः,'पुट्ठ'त्ति तेजसा स्पृष्टा 'एगं जोयणसयं'ति ऊर्ध्वं स्वविमानोपरि योजनशतप्रमाणस्यैव तापक्षेत्रभावात्,'अहे तवयंति' कथं?, सूर्यादधोऽपि योजनशतेषु समभूतलं, समभूतलाच्चाधोलोकग्रामा योजनसहस्रे स्युः तांश्च यावद् द्योतनात्,'तिरियं'ति 'सीयालीसं'ति एतच्च सर्वोत्कृष्टदिवसे चक्षुःस्पर्शापेक्षया ज्ञेयमिति,'जहा जीवाभिगमे'त्ति तच्चेदम्–कप्पोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा विमाणोववण्णगा चारट्ठिइया गइरइया

८ शतके ८ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गइसमावण्णगा ?, गोयमा ! ते णं देवा उड्ढोववण्णगा, नो कप्पोववण्णगा, ज्योतिश्चक्रचरणोलक्षितक्षेत्रोत्पन्ना इत्यर्थः,'नो चारट्ठिइया' इह चारो–ज्योतिषामवस्थानकक्षेत्रं 'नो' नैव चारे स्थितिः—अवस्थितिर्येषां ते, अत एव 'गइसमावण्णगा'इत्यादि, 'जाव'त्ति यावत्करणादिदं ज्ञेयम्–'विमाणोववण्णगा चारोववण्णगा,(तं)ठाणे णं भंते ! केवइयं कालं विरहिए उववाएणं ?, गोयमा ! जहण्णेणमेगं समयं उक्कोसेणं छम्मासं''जहा जीवाभिगमे' तच्चेदम्–'जे चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवा णं भंते ! देवा(ते)किं उड्ढोववण्णगा'इत्यादि प्रश्नः, उत्तरं तु 'गोयमा ! ते णं देवा नो उड्ढोववण्णगा नो कप्पोवव०, विमाणोववण्णगा, नो चारोववण्णगा, चारठिइया, नो गइसमावण्णगा'इत्यादि ॥ अष्टमशतेऽष्टमोद्देशकविवरणम् ॥

'बंधे'त्ति (सू. ३४४) बन्धः–पुद्गलादिविषयस्सम्बन्धः 'पओग'त्ति जीवप्रयोगकृतः 'वीसस'त्ति विश्रसास्वभावसम्पन्नः, यथाऽऽसन्नन्यायमाश्रित्याह–'वीसस'त्ति (सू. ३४५)'धम्मत्थिकाय'त्ति धर्मास्तिकायस्यान्योऽन्यं प्रदेशानां मिथो योऽनादिको विश्रसाबन्धस्स तथा, एवमुत्तरत्रापि,'देसबंधे'त्ति देशतो–देशापेक्षया बन्धो देशबन्धः, यथा संकलिकाकटिकानां,'सव्वबंधे'त्ति सर्वतः–सर्वात्मना बन्धः सर्वबन्धो, यथा क्षीरनीरयोः, 'देसबंधे नो सव्वबंधे'त्ति धर्मास्तिकायस्य प्रदेशानां मिथः संस्पर्शेन व्यवस्थितत्वात् देशबन्ध एव, न पुनः सर्वबन्धः, तत्र ह्येकस्य प्रदेशस्य प्रदेशान्तरैः सर्वथा बन्धे मिथोऽन्तर्भावेनैकप्रदेशत्वमेव स्यात्, नासङ्ख्येयप्रदेशत्वमिति, 'सव्वद्धं'ति सर्वकालं, 'साइयवीससाबंधो'त्ति सादिको यो विश्रसाबन्धः स तथा,'बंधणपच्चइए'त्ति बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्–विवक्षितस्निग्धतादिको गुणः स चैव प्रत्ययो—हेतुर्यत्र स तथा, एवं 'भाजनप्रत्ययः' भाजनं–आधारः, 'परिणामप्रत्ययश्च' परिणामो–रूपान्तरगमनं 'जण्णं परमाणु'त्ति परमाणुपुद्गलः परमाणुरेव 'वेमायनिद्ध-

८ शतके ९ उद्देशः

॥१३८॥

अत्र **शतक-८ उद्देशक** : ८ समाप्तः, अत्र **शतक-८ उद्देशक** : ९ आरभ्यते

याए'त्ति विषमा मात्रा यस्यां सा विमात्रा सा चासौ स्निग्धता चेति विमात्रस्निग्धता तया, एवमन्यदपि पदद्वयं, इदमुक्तं स्यात्– "समनिद्धयाइ बंधो, न होइ समलुक्खयाइवि न होइ। वेमायनिद्धलुक्खत्तणेण बंधो य खंधाणं ॥१॥" अयमर्थः–समगुणस्निग्धस्य समगुणस्निग्धेन परमाणुकादिना बन्धो न स्यात्, एवं समगुणरूक्षस्यापि, यदा पुनर्विषमा–मात्रा तदा बन्धस्स्यात्, विषममात्रानिरूपणार्थमुच्यते–निद्धस्स निद्धेण दुयाहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण। निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहण्णवज्जो विसमो समो व ॥१॥"त्ति, 'असंखेज्ज'त्ति असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपं, 'जुण्णसुर'त्ति जीर्णसुरायाः स्त्यानभवनलक्षणो बन्धः, जीर्णगुडश्च, जीर्णतन्दुलानां च पिण्डीभवनरूपः॥ प्रयोगबंधः (सू. ३४६) स च जीवप्रदेशानामौदारिकादिपुद्गलानां वा 'अणाइए वा'इत्यादयो द्वितीयवर्जास्त्रयो भङ्गाः, तत्र प्रथमभङ्गोदाहरणमाह–'अणाइए अपज्जव'त्ति अस्य जीवस्यासङ्ख्येयप्रदेशस्याष्टौ ये मध्यप्रदेशास्तेषामनादिरपर्यवसितो बन्धः १, यदा लोकं व्याप्य तिष्ठति जीवः तदाप्यसौ तथैवेति, अन्येषां पुनर्जीवप्रदेशानां विपरिवर्त्तमानत्वात् नास्त्यनादिरपर्यवसितो बन्धः, तत्स्थापना, एतेषामुपरि अन्ये चत्वारः, एवमेतेऽष्टौ, एवं तावत्समुदायतोऽष्टानां बन्ध उक्तः, अथ तेष्वेकैकेनात्मप्रदेशेन सह यावतां मिथः संयोगो भवति तद्दर्शनायाह–'तत्थवि णं'ति तत्रापि– तेष्वष्टासु जीवप्रदेशेषु मध्ये त्रयाणां २ एकैकेन सहानादिरपर्यवसितो बन्धः, तथाहि–प्रागुक्तविधिनाऽवस्थितानामष्टानामुपरितनप्रतरस्य यः कश्चिद्विवक्षितस्तस्य द्वौ पार्श्ववर्त्तिनावेकश्चाधोवर्त्तीत्येते त्रयस्सम्बध्यंते, शेषास्त्वेक उपरितनस्त्रयश्चाधस्तना न सम्बध्यन्ते, व्यवहितत्वाद्, एवमधस्तनप्रतरापेक्षयाऽपीति चूर्णिकारव्याख्या,'सेसाणं साइए' शेषाणां मध्यमाष्टाभ्योऽन्येषां सादिर्विपरिवर्त्तमानत्वात्, एतेन नासौ प्रथमभङ्गः, अनादिसपर्यवसितस्त्वयं द्वितीयो नेह सम्भवति,अनादिसम्बद्धानामष्टानां जीवप्रदेशानाम-

श्रीभग० लघुवृत्तौ

परिवर्त्तमानत्वेन बन्धस्य सपर्यवसितत्वानुपपत्तेरिति, अथ तृतीयो भङ्गः प्रोच्यते–'तत्थ णं जे से साइए'त्ति सिद्धानां सादिरपर्यवसितो जीवप्रदेशबन्धः, शैलेश्यवस्थायां स्थापितप्रदेशानां सिद्धत्वेऽपि चलनाभावादिति, अथ चतुर्भङ्गीभेदत आह–'आलावणबंधे'त्ति आलाप्यते–आलीनं क्रियते एभिरिति आलापनानि–रज्ज्वादीनि तैस्तृणादिबन्धनमालापनबन्धः,'अल्लियावणबंधे'त्ति अल्लियावणं–द्रव्यस्य द्रव्यान्तरश्लेषादिना आलीनस्य करणं तद्रूपो यो बन्धः स तथा,'सरीरबंधे'त्ति समुद्घाते सति यो विस्तारितसङ्कोचितजीवप्रदेशबन्धविशेषात् तैजसादिवपुःप्रदेशानां बन्धविशेषः सः, शरीरिबन्ध इत्यन्ये, तत्र शरीरिणः समुद्घाते विक्षिप्तजीवप्रदेशानां सङ्कोचने यो बन्धस्स शरीरिबन्ध इति,'सरीरप्पओगबंध'त्ति शरीरस्य–औदारिकादेर्यः प्रयोगेण–वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितव्यापारेण बन्धः–तत्पुद्गलोपादानं शरीररूपस्य वा प्रयोगस्य बन्धस्स शरीरप्रयोगबन्धः, 'वेत्तलय'त्ति वेत्रलता–जलवंशकंबा 'वाग'त्ति वल्का'वरत्त'त्ति वरत्रा–चर्ममयी रज्जुः शनादिमयी वा वल्ली त्रपुष्यादिका कुशा–निर्मूला दर्भाः दर्भास्तु समूलाः आदिशब्दाच्चीवरादिग्रहः, अथ 'लेसणबंध'त्ति श्लेषणा–श्लेषद्रव्येण द्रव्ययोस्सम्बन्धनं तद्रूपो यो बन्धस्स तथा,'उच्चयबंधे'त्ति ऊर्ध्वं चयनं–राशीकरणं तद्रूपो बन्धः उच्चयबन्धः,'समुच्चय'त्ति सङ्गतः–उच्चयापेक्षया विशिष्टतरः उच्चयस्समुच्चयः स एव बन्धस्समुच्चयबन्धः,'साहणणाबंधे'त्ति संहननं–अवयवानां सङ्घातनं तद्रूपो यो बन्धः, दीर्घत्वादि च प्राकृतत्वात्, कुट्टिमानां–मणिभूमिकानां, 'सिलेस'त्ति श्लेषो–वज्रलेपः,'लक्ख'त्ति लाक्षा, जतुरित्यर्थः,'महुसित्थ'त्ति मधुसिक्थं–मीनं, आदिशब्दाद् गुग्गुलरालाखल्यादिग्रहः,'अवगररासीण'न्ति कचवरराशीनां 'उच्चएणं'ति ऊर्ध्वचयनेन 'अगडतलाये'त्यादि प्रायः प्राग्व्याख्यातमेव,'देससाहणण'त्ति देशेन देशस्य संहननलक्षणो बन्धः–सम्बन्धः, शकटाङ्गादीनामिवेति देशसंहननसम्बन्धः,'सव्व-

८ शतके ९ उद्देशः

॥१३९॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

साहणण'ति सर्व्वेण सर्वसंहननलक्षणो बन्धः,क्षीरनीरादीनामिवेति सर्वसंहननबन्धः,'सगड'त्ति गन्त्री 'रह'त्ति स्यन्दनः'जाण'त्ति यानं लघुगन्त्री 'जुग्ग'त्ति युग्यं गोल्लविषयप्रसिद्धं द्विकरप्रमाणवेदिकोपशोभितं जपानं 'गिल्लि'त्ति हस्तिन उपरि मनुष्यं गिलतीव कोल्लररूपा,'थिल्लि'त्ति अड्डपल्लाणं 'सीया' शिविका कूटाकारेणाच्छादितो जंपानविशेषः, 'संदमाणिय'त्ति पुरुषप्रमाणजम्पानविशेषः,'लोहि'त्ति मंडकादिपचनभाजनं लोहरडीति लोके 'लोहकडाह'त्ति प्रतीतं 'कडुच्छुय'त्ति परिवेषणपात्रं, लोके कडछीति, 'भंड'त्ति मृन्मयभाजनं,'मत्त'न्ति अमत्रं–भाजनविशेषस्ताम्रस्येति 'उवगरण'त्ति नानाविधं तदन्योपकरणं 'पुव्वप्पओगपच्चइए'त्ति पूर्वः प्राक्कालासेवितः प्रयोगः–जीवव्यापारो वेदनाकषायादिसमुद्घातरूपः प्रत्ययः–कारणं यत्र शरीरबन्धे स तथा स एव पूर्वप्रयोगप्रत्ययिकः,'पच्चुप्पन्नप्पओग'त्ति प्रत्युत्पन्नं–अप्राप्तपूर्वो,वर्त्तमान इत्यर्थः,प्रयोगः–केवलिसमुद्घातलक्षणव्यापारः प्रत्ययो यत्र स तथा स एव प्रत्युत्पन्नप्रत्ययिकः, 'तत्थ तत्थ'त्ति अनेन समुद्घातकरणक्षेत्राणां बाहुल्यमाह,'तेसु तेसु'त्ति अनेन समुद्घातकारणानां वेदनादीनां बाहुल्यमुक्तं, 'समोहन्नमाणाणं'ति समुद्घन्यमानानां–समुद्घातं शरीराद् बहिर्जीवप्रदेशप्रक्षेपलक्षणं गच्छतां 'जीवप्पदेसाणं'ति इह जीवप्रदेशानामित्युक्तावपि शरीरबन्धाधिकारात् 'तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश'इति न्यायेन जीवप्रदेशाश्रिततैजसकार्मणशरीरप्रदेशानामिति द्रष्टव्यं, शरीरबन्ध इत्यत्र तु पक्षे समुद्घातेन विक्षिप्य सङ्कोचितानामुपसर्जनीकृततैजसादिशरीरप्रदेशानां जीवप्रदेशानामिवेति,'बंधे'त्ति बन्धो–रचनाविशेषः,'जण्णं केवली'ति केवलिसमुद्घाते दण्ड १ कपाट-२ मथिकरणा ३ न्तरपूरण ४ लक्षणेन समुपहतस्य विस्तारितजीवप्रदेशस्य ततः–समुद्घातात् प्रतिनिवर्त्तमानस्य प्रदेशान् संहरतः, समुद्घातप्रतिनिवर्त्तमानत्वं च पञ्चमादिष्वनेकेषु समयेषु स्यादित्यतो विशेषमाह–'अंतरा मंथेवट्टमाणस्स'त्ति निवर्त्तनक्रियाया

८ शतके ९ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अन्तरे–मध्येऽवस्थितस्य, पञ्चमसमय इत्यर्थः, यद्यपि च षष्ठादिसमयेषु तैजसादिवपुस्सङ्घातस्समुत्पद्यते तथाप्यभूतपूर्वतया पञ्चमसमय एवासौ स्यात्, शेषेषु अनुभूतपूर्वतयेतिकृत्वा 'अन्तरा मंथे वट्टमाणस्से'त्युक्तमिति, '**तेयाकम्माणं बंधे**'त्ति तैजसकार्म्मणवपुर्बन्धसङ्घातः समुत्पद्यते, '**किं कारणं**'ति कुतो हेतोः ?, उच्यते–'**ताहे**'त्ति तदा समुद्घातनिवृत्तिकाले '**से**'त्ति तस्य केवलिनः प्रदेशा–जीवप्रदेशाः, '**एगत्तीगय**'त्ति एकत्वं गताः–सङ्घातमापन्नाः स्युः, तदनुवृत्त्या च तैजसादिशरीरप्रदेशानां बन्ध उत्पद्यत इति प्रकृतं, बन्धपक्षे तु '**तेयाकम्माणं बंधे समुप्पज्जइ**'त्ति तैजसकार्मणाश्रयभूतत्वात् तैजसकार्म्मणवपुःप्रदेशास्तेषां बन्धः समुत्पद्यत इति व्याख्येयमिति, '**वीरियसजोगसद्दव्वयाए**'त्ति वीर्यं–वीर्यान्तरायक्षयादिकृता शक्तिः योगा–मनःप्रभृतयः सह योगैर्वर्त्तत इति सयोगः सन्ति विद्यमानानि द्रव्याणि–तथाविधपुद्गला यस्य जीवस्यासौ सद्रव्यः, वीर्यप्रधानस्सयोगो वीर्यसयोगः स चासौ द्रव्यं चेति विग्रहस्तद्भावस्तत्ता तया वीर्यसयोगसद्रव्यतया–सवीर्यतया सयोगतया सद्रव्यतया च जीवस्य तथा '**पमायपच्चय**'त्ति प्रमादप्रत्ययात् प्रमादहेतोः तथा '**कम्मं च**'त्ति कर्म–चैकेन्द्रियजात्यादिकमुदयवर्त्ति '**जोगं च**'त्ति योगं च काययोगादिकं '**भवं च**'त्ति तिर्यग्भवादिकमनुभूयमानं '**आयुष्कं**' तिर्यगायुष्काद्युदयवर्त्तिं '**पडुच्च**'त्ति प्रतीत्य–आश्रित्य '**ओरालिय**'त्ति औदारिकवपुःप्रयोगसम्पादकं यन्नाम तस्य कर्म्मण उदयेनौदारिकवपुःप्रयोगबन्धः, स्यात् इति शेषः, एतानि वीर्यसयोगसद्रव्यतादीनि पदान्यौदारिकवपुःप्रयोगनामकर्मोदयस्य विशेषणतया व्याख्येयानि, '**एगिंदिये**'त्यादि '**एवं चेव**'त्यनेनाधिकृतसूत्रस्य पूर्वसूत्रसदृक्त्वाभिधानेऽपि 'ओरालियसरीरप्पओगनामए' इत्यत्र पदे 'एगिंदियओरालियसरीरप्पओगनामाए' इत्ययं विशेषो दृश्यः, एकेन्द्रियौदारिकवपुःप्रयोगबन्धस्येहाधिकृतत्वात्, एवमुत्तरत्रापि वाच्यमिति, '**देसबंधे सव्वबंधेऽवि**'त्ति तत्र यथाऽपूपः-

८ शतके ९ उद्देशः

॥१४०॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्नेहभृततप्ततापिकायां प्रक्षिप्तः प्रथमसमये घृतादि गृह्णात्येव, शेषेषु समयेषु गृह्णाति विसृजति च, एवमयं जीवः प्राक्तनं वपुस्त्यक्त्वा यदाऽन्यद् गृह्णाति तथा प्रथमसमये उत्पत्तिस्थानगतान् वपुर्योग्यपुद्गलान् गृह्णात्येव इत्ययं सर्वबन्धः, ततो द्वितीयादिषु समयेषु तान् गृह्णाति विसृजति च, एष देशे बन्धः, तेनौदारिकवपुषो देशबन्धस्सर्वबन्धश्चास्ति, सर्वबन्धे 'एकं समयं'ति अपूपदृष्टान्तेनैव तत्सर्वबन्धस्यैकसमयत्वात्,'देसबंधे'इत्यादि, तत्र यदा वायुर्मनुष्यादिर्वा वैक्रियं कृत्वा त्यक्त्वा च पुनरौदारिकस्य समयमेकं सर्वबन्धं कृत्वा पुनस्तस्य देशबन्धं कुर्वन्नेकसमयानन्तरं म्रियते तदा जघन्यत एकं समयं देशबन्धोऽस्य स्यादिति, 'उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं समऊणाइं'ति, कथं ?, यस्मादौदारिकशरीरिणां ३ पल्योपमानि उत्कृष्टा स्थितिः, तेषु च प्रथमसमये सर्वबन्धक इति समयन्यूनानि ३ पल्योपमानि उत्कर्षत औदारिकवपुषां देशबन्धकालः स्यात्,'एगिंदियओरालिए'त्यादि, देशबन्धे 'जहण्णेणं एक्कं समयं'ति, कथं ?, वायुरौदारिकशरीरी वैक्रियं वपुर्गतः,पुनरौदारिकप्रतिपत्तौ सर्वबन्धको भूत्वा देशबन्धकश्चैकं समयं भूत्वा मृत इत्येवमिति,'उक्कोसेण बावीस'मिति, एकेन्द्रियाणामुत्कर्षतो २२ वर्षसहस्राणि स्थितिः, तत्रासौ प्रथमसमये सर्वबन्धकः, शेषकालं देशबन्धकः, एवं समयोनानि २२ वर्षसहस्राण्येकेन्द्रियाणामुत्कर्षतो देशबन्धकाल इति, 'पुढविकाइए'त्यादि, 'देसबंधे जहण्णेणं खुड्डागं भवग्गह'न्ति, कथं ?, औदारिकशरीराणां क्षुल्लकभवग्रहणं जघन्यतो जीवितं, तच्च गाथाभिर्निरूप्यते–"दोण्णि सयाइं नियमा छप्पण्णाइं पमाणओ हुंति। आवलियपमाणेणं खुड्डागभवग्गहणमेयं ॥१॥ पण्णट्ठि सहस्साइं पंचेव सयाइं तहय छत्तीसा। खुड्डागभवग्गहणा हवंति अंतोमुहुत्तेणं ॥२॥ सत्तरस भवग्गहणा खुड्डागा हुंति आणुपाणंमि। तेरस चेव सयाइं पंचाणउयाइं अंसाणं ॥ ३ ॥" इहोक्तलक्षणस्य ६५५३६ मुहूर्त्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेः सहस्रत्रयसप्तत्रिंशच्छत-

८ शतके ९ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्रिसप्ततिलक्षणेन ३७७३ मुहूर्त्तगतोच्छ्वासराशिना भागे हृते यल्लब्धं तदेकत्रोच्छ्वासे क्षुल्लकभवग्रहणपरिमाणं स्यात्, अयमभिप्रायो-येषामंशानां त्रिभिस्सहस्रैः सप्तभिश्च त्रिसप्तत्यधिकशतैः क्षुल्लकभवग्रहणं स्यात् तेषामंशानां पञ्चनवत्यधिकानि त्रयोदशशतानि अष्टादशस्यापि क्षुल्लकभवग्रहणस्य तत्र स्युरिति, तत्र यः पृथिवीकायिकस्त्रिसमयेन विग्रहेणागतः स तृतीयसमयेन सर्वबन्धकः, शेषेषु देशबन्धको भूत्वा आक्षुल्लकभवग्रहणं मृतो, मृतस्सन् अविग्रहेणागतो यदा तदा सर्वबन्धकः स्यात्, एवं ये ते विग्रहसमयास्तैरूनं क्षुल्लकमित्युच्यते, 'उक्कोसेणं बावीस'मिति 'देसबंधो जेसिं नत्थि'त्ति अयमर्थः-अप्तेजोवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनं जघन्यतो देशबन्धः, यतस्तेषां वैक्रियवपुर्नास्ति, वैक्रियवपुषि हि सति एकसमयो जघन्यतः औदारिकदेशबन्धः प्रागुक्तयुक्त्या स्यादिति, 'उक्कोसेणं जा जस्से'ति तत्रापां वर्षसप्तसहस्राणि स्थितिरुत्कर्षतः, वह्नेरहोरात्राणि त्रीणि, वनस्पतीनां १० वर्षसहस्राः, द्वीन्द्रियाणां १२ वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणां ४९ दिनानि, चतुरिन्द्रियाणां ६ मासाः, तत एषामुत्कृष्टा स्थितिः सर्वबन्धसमयोना स्यादिति, 'जेसिं पुण'त्ति ते च वायवः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नराश्च, एषां जघन्यतो देशबन्ध एकं समयं, भावना प्रागिव, 'उक्कोसेणं'ति वायूनां ३ वर्षसहस्राण्युत्कर्षतः स्थितिः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्नराणां पल्योपमत्रयम्, इयं देशबन्धस्थितिरुत्कर्षतः सर्वबन्धसमयोना स्यादिति। उक्त औदारिकवपुःप्रयोगबन्धकालः, अथ तदन्तरमाह-'ओरालिय'त्ति सर्वबन्धान्तरं जघन्यतः क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनं, कथं?, त्रिसमयविग्रहेणौदारिकशरीरे आगतः, तत्र द्वौ समयावनाहारकः, तृतीयसमये सर्वबन्धकः, क्षुल्लकभवं च स्थित्वा मृत औदारिकशरीरिष्वेवोत्पन्नस्तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धकः, एवं च सर्वबन्धस्य सर्वबन्धस्य चान्तरं क्षुल्लकभवो विग्रहगतसमयत्रयोनः, 'उक्कोसेणं'ति उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागराणि पूर्वकोटिसमयाभ्यधिकानि सर्वबन्धान्तरं स्यात्,

८ शतके ९ उद्देशः

॥१४१॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

८ शतके ९ उद्देशः

कथं ?, मनुष्यादिष्वविग्रहेणागतः, तत्र प्रथमसमय एव सर्वबन्धको भूत्वा पूर्वकोटिं स्थित्वा ३३ सागरोपमाणि सर्वार्थसिद्धे नरके वा देवो नारको वा भूत्वा त्रिसमयेन विग्रहेणौदारिकशरीरी जातः, तत्र विग्रहस्य द्वौ समयावनाहारकः, तृतीयसमये सर्वबन्धक औदारिकशरीरस्य, एवं यौ तौ द्वावनाहारकसमयौ तयोरेकः पूर्वकोटिसर्वबन्धसमयस्थाने क्षिप्तः, ततः पूर्णा पूर्वकोटी जाता, एकः समयोऽधिकः, एवं सर्वबन्धस्य सर्वबन्धस्य चोत्कृष्टमन्तरं यथोक्तमानं स्यादिति,'देसबंधंतरं'ति देशबन्धस्यान्तरं जघन्येनैकं समयं,कथं ?, देशबन्धको मृतः सन् अविग्रहेणोत्पन्नः, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धकः, द्वितीयादिसमयेषु देशबन्धको जातः, तदेवं देशबन्धस्य देशबन्धस्य चान्तरं जघन्यत एकसमयः सर्वबन्धसंबन्धी स्यात्,'उक्कोसेणं'ति उत्कृष्टतः ३३ सागराणि त्रिसमयाधिकानि देशबन्धान्तरं स्यादिति, कथं ?, देशबन्धको मृतः ३३ सागरायुरुत्पन्नस्सर्वार्थसिद्धादौ, ततश्च्युत्वा त्रिसमयेन विग्रहेणौदारिकशरीरी जातः, तत्र विग्रहसमयद्वयेऽनाहारकः तृतीयसमये सर्वबन्धकः ततो देशबन्धकोऽजनि, एवमुत्कृष्टं देशबन्धस्य देशबन्धस्यान्तरं स्यादिति, सामान्यत औदारिकबन्धस्यान्तरमुक्तं, पुनर्विशेषतस्तदाह-'एगिंदियओरालियपुच्छ'त्ति एकेन्द्रियस्यौदारिकसर्वबन्धान्तरं जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनं, कथं ?, त्रिसमयविग्रहेण पृथ्व्यादिष्वागतः, तत्र विग्रहसमयद्वये अनाहारकः तृतीये सर्वबन्धकः,ततः क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनं स्थित्वा मृतः यदा अविग्रहेणोत्पद्य सर्वबन्धक एव स्यात् तदा यथोक्तं सर्वबन्धयोरन्तरं स्यात्, 'उक्कोसेणं'ति उत्कृष्टतस्सर्वबन्धान्तरं २२ वर्षसहस्राणि समयाधिकानि स्युः, कथं ?, अविग्रहेण पृथिवीकायिकेष्वागतः प्रथमसमये सर्वबन्धकः, ततो २२ वर्षसहस्राणि स्थित्वा समयोनानि त्रिसमयया विग्रहगत्या अन्येषु पृथ्व्यादिषूत्पन्नः, तत्र समयद्वयमनाहारको भूत्वा तृतीयसमये सर्वबन्धको जातः, अनाहारकसमययोश्चैको २२ वर्षसहस्रेषु समयोनेषु क्षिप्तस्तत्पूरणार्थं, ततो २२ वर्षसहस्रा-

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ण्येकसमयाधिकानि एकेन्द्रियाणां सर्वबन्धयोरुत्कृष्टमन्तरं स्यात्, 'देसबंधंतरं'ति तत्रैकेन्द्रियौदारिकदेशबन्धान्तरं जघन्येनैकं समयं, कथं ?, देशबन्धको मृत्वा अविग्रहेण सर्वबन्धको भूत्वा एकस्मिन् समये पुनर्देशबन्धक एव जातः, एवं देशबन्धयोर्जघन्यत एकस्समयोऽन्तरं स्यादिति, 'उ० अंतोमुहुत्तं'ति, कथं ?, वायुरौदारिकवपुषो देशबन्धकः सन् वैक्रियं गतस्तत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनरौदारिकवपुषस्सर्वबन्धको भूत्वा देशबन्धक एव जातः, एवं देशबन्धयोरुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमन्तरं, 'पुढविकाइए'त्ति 'देसबंधंतरं जहण्णेणमेक्कं समयमुक्कोसेणं तिन्नि समय'त्ति कथं ?, पृथिवीकायिको देशबन्धको मृतः सन् अविग्रहगत्या पृथिवीकायिकेष्वेवोत्पन्नः एकसमयं सर्वबन्धको भूत्वा पुनर्देशबन्धको जातः, एवमेकसमयो जघन्येन देशबन्धयोरन्तरं, तथा पृथ्वीकायिको देशबन्धको मृतस्सन् विग्रहगत्या त्रिसमयया तेष्वेवोत्पन्नः, तत्र समयद्वयमनाहारकस्तृतीयसमये सर्वबन्धको भूत्वा पुनर्देशबन्धको जातः, एवं समयत्रिकं देशबन्धयोरंतरमिति, नवरंकथनाद्यल्लब्धमतिदेशतस्सङ्क्षेपतस्तद् दर्श्यते—अप्कायिकानां जघन्येन सर्वबन्धान्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनं, उत्कृष्टं तु ७ वर्षसहस्राणि समयाधिकानि, देशबन्धान्तरं तु जघन्यमेकसमयः, उत्कृष्टं तु समयत्रिकं, एवं वायुवर्जानां तेजःप्रभृतीनामपि, नवरं सर्वबन्धान्तरमुत्कृष्टं निजनिजस्थितिसमयाधिका वाच्या, वायुबन्धान्तरं भेदेनाह—'वाउकाइयाणं'ति वायुकायिकानां उत्कर्षेण देशबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, कथं ?, वायुरौदारिकवपुषो देशबन्धकः सन् वैक्रियमन्तर्मुहूर्त्तं कृत्वा पुनरौदारिकसर्वबन्धसमनन्तरं औदारिकदेशबन्धं यदा कुर्यात् तदा यथोक्तमन्तरं स्यात्, 'पंचिंदिए'त्ति तत्र सर्वबन्धान्तरं जघन्यं भावितमेव, उत्कृष्टं तु भाव्यते—पञ्चेन्द्रियतिर्यग् अविग्रहेणोत्पन्नः, प्रथमसमये सर्वबन्धकः, ततस्समयोनां पूर्वकोटिं जीवित्वा त्रिसमयविग्रहेण तेष्वेवोत्पन्नः, तत्र द्वावनाहारकसमयौ तृतीयसमये सर्वबन्धको जातः, अनाहारकसमययोश्चैकः समयः

८ शतके ९ उद्देशः

॥१४२॥

समयोनायां पूर्वकोट्यां क्षिप्तस्तत्पूरणार्थं, एकस्त्वधिकः, एवं यथोक्तमन्तरं स्यात्, देशबन्धान्तरं तु यथैकेन्द्रियाणां, तच्चैवम्–जघन्यमेकस्सममयः, कथं ?, देशबन्धको मृतः सर्वबन्धसमयानन्तरं देशबन्धको जातः, एवमुत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तं, कथं ?, औदारिकशरीरी देशबन्धकः सन् वैक्रियं गतः, तत्रान्तर्मुहूर्तं स्थित्वा औदारिकशरीरी जातः, प्रथमसमये सर्वबन्धको द्वितीयादिषु देशबन्धकः, एवं देशबन्धयोरन्तरमन्तर्मुहूर्तं, एवं मनुष्याणां, एतदेवाह–'जहा पंचिंदिये'त्यादि॥ औदारिकबन्धान्तरं भेदान्तरेणाह–'एगिंदियत्ते'त्ति एकेन्द्रियत्वे 'नोएगिंदिय'त्ति द्वीन्द्रियत्वादौ, पुनरेकेन्द्रियत्वे सति यत्सर्वबन्धान्तरं तज्जघन्येन द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे त्रिसमयोने ?, कथं ?, एकेन्द्रियस्त्रिसमयविग्रहेणोत्पन्नः, तत्र समयद्वयमनाहारको भूत्वा तृतीयसमये सर्वबन्धं कृत्वा तदूनं क्षुल्लकभवग्रहणं जीवित्वा मृतः अनेकेन्द्रियेषु क्षुल्लकभवग्रहणमेव जीवित्वा मृतस्सन्नविग्रहेण पुनरेकेन्द्रियेष्वेवोत्पद्य सर्वबन्धको जातः, एवं सर्वबन्धयोरुक्तमन्तरं, 'उक्कोसेणं दो सागरोवमि'त्ति,'संखेज्जवाससमब्भहियाइं'ति, कथं ?, अविग्रहेणैकेन्द्रियस्समुत्पन्नः, प्रथमसमये सर्वबन्धको भूत्वा २२ वर्षसहस्राणि जीवित्वा मृतः त्रसकायिकेषूत्पन्नः, तत्र सङ्ख्यातवर्षाभ्यधिकसागरोपमसहस्रद्वयरूपामुत्कृष्टां त्रसकायिकस्थितिमतिवाह्य एकेन्द्रियेषूत्पद्य सर्वबन्धको जातः, एवं सर्वबन्धयोर्यथोक्तमन्तरं स्यादिति, सर्वबन्धसमयहीनैकेन्द्रियोत्कृष्टभवस्थितेस्त्रसकायिककायस्थितौ प्रक्षेपणेऽपि सङ्ख्यातस्थानानां सङ्ख्यातभेदत्वेन सङ्ख्यातवर्षाभ्यधिकत्वस्याव्याहतत्वादिति,'देसबंधंतरं जहण्णेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं'ति, कथं ?, एकेन्द्रियो देशबन्धकस्सन् मृत्वा द्वीन्द्रियादिषु क्षुल्लकभवग्रहणमनुभूयाविग्रहेणागत्य प्रथमसमये सर्वबन्धको भूत्वा द्वितीये देशबन्धकस्स्यात्, एवं देशबन्धान्तरं क्षुल्लकभवः सर्वबन्धसमयातिरिक्तः, 'उक्कोसेणं'ति सर्वबन्धान्तरभावनोक्तप्रकारेण भावनीयमिति। अथ पृथ्वीकायिकबन्धान्तरं चिन्तय-

श्रीभग० लघुवृत्तौ

८ शतके ९ उद्देशः

ह–'जीवस्स'त्ति, 'एवं चेव'त्तिकरणात् 'तिसमऊणाइं' इति दृश्यं, 'उक्कोसेणमणंतं कालं'ति इह कालानन्तत्वं वनस्पतिकायस्थितिकालापेक्षया, अनन्तकालमित्युक्तं तद्विभजनार्थमाह–'अणंताउ'त्ति अयमभिप्रायः–तस्यानन्तकालस्य समयेषु अवसर्पिणीसमयैरपह्रियमाणेषु अनन्ता अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यः स्युरिति 'कालओ'त्ति इदं कालापेक्षया मानं,'खेत्तओ'त्ति क्षेत्रापेक्षया पुनरिदं–'अणंता लोग'त्ति, अयमर्थः–तस्यानन्तकालस्य समयेषु लोकाकाशप्रदेशैरपह्रियमाणेषु अनन्ता लोकाः स्युः, अथ तत्र कियन्तः पुद्गलपरावर्त्ताः स्युरत आह–'असंखिज्ज'त्ति, पुद्गलपरावर्त्तलक्षणं सामान्येन पुनरिदं–दशभिः कोटाकोटीभिरवसर्पिणी, उत्सर्पिण्यप्येवमेव, ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योऽनन्ताः पुद्गलपरावर्त्ताः, एतद्विशेषलक्षणमिहैव वक्ष्यतीति, पुद्गलपरावर्त्तानामेवासङ्ख्यातत्वनियमनायाह–'आवलिए'त्ति असङ्ख्यातसमयसमुदाय आवलिकेति,'देसबंधंतरं'ति,कथं ?, पृथ्वीकायिको देशबन्धकः सन् मृतः, पृथ्वीकायिकेषु क्षुल्लकभवग्रहणं जीवित्वा मृतस्सन् पुनरविग्रहेण पृथ्वीष्वेवोत्पन्नस्तत्र सर्वबन्धसमयानन्तरं देशबन्धको जातः, एवं सर्वबन्धसमयेनाधिकमेकं क्षुल्लकभवग्रहणं देशबन्धयोरन्तरमिति,'वणस्सइकाइयाणं दुन्नि खुड्डाइं' वनस्पतिकायिकानां जघन्यतः सर्वबन्धांतरं द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे,'एवं चेव'त्तिकरणात् त्रिसमयोने इति दृश्यं, कथं ?, वनस्पतिकायिकस्त्रिसमयेन विग्रहेणोत्पन्नः, तत्र विग्रहस्य समयद्वयमनाहारकस्तृतीयसमये सर्वबन्धको भूत्वा क्षुल्लकभवं च जीवित्वा पुनः पृथिव्यादिषु क्षुल्लकभवमेव स्थित्वा पुनरविग्रहेण वनस्पतिष्वेवोत्पन्नः, प्रथमसमये सर्वबन्धकोऽसाविति सर्वबन्धयोस्त्रिसमयोने द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे अन्तरं भवतः,'उक्कोसेणं'ति अयं पृथिव्यादिषु कायस्थितिकालः,'एवं देसबंधंतरंपि'त्ति यथा पृथ्व्यादीनां देशबन्धान्तरं जघन्यमेवं वनस्पतेरपि, तच्च क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं, भावनाऽस्य प्राग्वत्, 'उक्कोसेणं पुढविकालो'त्ति उत्कर्षेण वन-

॥१४३॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्पतेर्देशबन्धान्तरं पृथ्वीकायस्थितिकालोऽसङ्ख्यातावसर्पिण्यादिरूप इति । अथौदारिकदेशबन्धकादीनामल्पत्वादिनिरूपणायाह– 'एएसिणं'ति तत्र सर्वस्तोकाः सर्वबन्धकाः, तेषामुत्पत्तिसमय एव भावात्, अबन्धका विशेषाधिकाः, यतो विग्रहगतौ सिद्धत्वादौ वा स्युः, ते च सर्वबन्धकापेक्षया विशेषाधिकाः, देशबन्धका असङ्ख्यातगुणाः, देशबन्धकालस्यासङ्ख्यातगुणत्वात्, एतत्सूत्रभावनामग्रे वक्ष्याम इति॥ अथ वैक्रियवपुःप्रयोगबन्धनिरूपणायाह–तत्र 'एगिंदियवेउव्विय'त्ति (सू. ३४७)वायुकायिकापेक्षमुक्तं,'पंचिंदिए'त्ति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यदेवनारकापेक्षमुक्तम्,'वेउव्वियजावबंध'त्ति इह यावत्करणात्,'पमायपच्चया कम्मं च जोगं च भवं चे'ति दृश्यं,'लद्धिं व'त्ति वैक्रियकरणलब्धिं वा प्रतीत्य, एतच्च वायुपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यानपेक्ष्योक्तं, तेन वायुकायादिसूत्रेषु लब्धिं वैक्रियवपुर्बन्धस्य प्रत्ययतया वक्ष्यति, नारकादिसूत्रेषु च तां त्यक्त्वा वीर्यसंयोगसद्रव्यतादीन् प्रत्ययतया वक्ष्यति, सर्वबन्धे 'जहण्णेणं समयं'ति,कथं ?, वैक्रियशरीरिवूत्पद्यमानो लब्धितो वा तत्कुर्वन् समयमेकं सर्वबन्धकः स्यात्, एवमेकं समयं सर्वबन्धकः,'उक्कोसेणं'ति 'दो समय'त्ति, कथं ?, वैक्रियतां प्रतिपद्यमान औदारिकशरीरी सर्वबन्धको भूत्वा मृतः पुनर्नारकत्वं देवत्वं वा यदा प्राप्नोति तदा प्रथमसमये वैक्रियस्य सर्वबन्धकः उत्कृष्टतः समयद्वयमिति, 'देसबंधे जहण्णेणं'त्ति, कथं ?, औदारिकशरीरी वैक्रियतां प्रतिपद्यमानः प्रथमसमये सर्वबन्धकः स्यात्, द्वितीयसमये देशबन्धको भूत्वा मृतः, एवं देशबन्धो जघन्यतः एकं समयमिति, 'उक्कोसेणं'ति, कथं ?, देवेषु नारकेषु वोत्कृष्टस्थितिवूत्पद्यमानः प्रथमसमये सर्वबन्धको वैक्रियशरीरस्य ततः परं देशबन्धकः तेन सर्वबन्धकसमयेनोनानि ३३ सागराणि उत्कर्षतो देशबन्ध इति।'आउकाइएत्ति,'देसबंधे'त्ति 'जहण्णेणं'त्ति एकं समयं, कथं ?, वायुरौदारिकशरीरीभवन् वैक्रियं गतः, ततः प्रथमसमये सर्वबन्धकः, द्वितीयसमये देशबन्धको

७ शतके ९ उद्देशः

अत्र **शतक**- ८ एव वर्तते, मूल संपादने यत् **शतक**- ७ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

श्रीभग० लघुवृत्तौ

भूत्वा मृतः, एवं जघन्येनैको देशबन्धकसमयः, 'उक्को० अंतोमुहुत्त'त्ति वैक्रियवपुषा स एव यदाऽन्तर्मुहूर्त्तमास्ते तदोत्कर्षतो देशबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तं, लब्धिवैक्रियशरीरिणो जीवतोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतो न वैक्रियशरीरावस्थानमस्ति, पुनरौदारिकवपुषोऽवश्यं प्रतिपत्तेरिति,'रयणप्पहे'त्ति 'दसवाससहस्साइं तिसमऊणा'इंति, कथं ?, त्रिसमयविग्रहेण रत्नप्रभायां जघन्यस्थितिर्नारक उत्पन्नस्तत्र समयद्वयमनाहारकस्तृतीयसमये सर्वबन्धक इति ततो देशबन्धको वैक्रियस्य, तदेवमाद्यसमयत्रयन्यूनं वर्षसहस्रदशकं जघन्यतो देशबन्धः,'उक्को० सममउणं'ति कथं ?, अविग्रहेण रत्नप्रभायामुत्कृष्टस्थितिर्नारक उत्पन्नस्तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धको वैक्रियस्य वपुषः, परं देशबन्धकः, तेन सर्वबन्धसमयेनोनं सागरोपममुत्कृष्टतो देशबन्धः,एवं सर्वत्र सर्वबन्धः समयं, देशबन्धश्च जघन्यो विग्रहसमयत्रयन्यूनस्वस्वजघन्यस्थितिप्रमाणो वाच्यः, सर्वबन्धसमयन्यूनोत्कृष्टस्थितिप्रमाण उत्कृष्टदेशबन्ध इति, एतदेवाह–'एवं जीवे'त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां वैक्रियसर्वबन्ध एकं समयं, देशबन्धस्तु जघन्यत एकं समयं, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तं, एतदेव स्पष्टयति–'पंचेंदिये'त्यादि, यच्च–"अंतोमुहुत्तं नरएसु, होइ चत्तारि तिरियमणुएसु । देवेसु अद्धमासो, उक्कोसविउव्वणाकालो ॥१॥" इति वचस्सामर्थ्यादन्तर्मुहूर्त्तचतुष्टयं तेषां देशबन्ध इत्युच्यते तन्मतान्तरमवसेयमिति॥ उक्तो वैक्रियवपुःप्रयोगकालः, अथ तस्यैवान्तरं निरूपयन्नाह–'वेउव्विए'त्ति सर्वबन्धको भूत्वा देशबन्धं च कृत्वा मृतः, ततः परमनन्तकालमौदारिकशरीरिषु वनस्पत्यादिषु स्थित्वा वैक्रियशरीरिषूत्पन्नः, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धको जातः, एवं सर्वबन्धयोर्यथोक्तमन्तरं स्यात्,'एवं देसबंधंतरंपि'त्ति जघन्येनैकसमयं उत्कर्षतोऽनन्तकालमिति,भावना चास्य प्रागुक्तानुसारेण ।'वाउकाइयवेउव्वियं'त्ति 'सव्वबंधंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं', कथं ?, वायुरौदारिकशरीरी वैक्रियमाश्रितः,तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धको भूत्वा मृतः पुनर्वायुरेव जातः,

८ शतके ९ उद्देशः

॥१४४॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तस्यापर्याप्तकस्य वैक्रियशक्तिर्न स्याद् अतोऽन्तर्मुहूर्त्तेनासौ पर्याप्तको भूत्वा वैक्रियं कुर्यात्, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धको जातः, एवं सर्वबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्त्तमिति, 'उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं'ति, कथं ?, वायुरौदारिकशरीरी वैक्रियं गतः, तत्प्रथमसमये च सर्वबन्धकस्ततो देशबन्धको भूत्वा मृतः, ततः परमौदारिकशरीरिषु वायुषु पल्योपमासंख्येयभागमतिवाह्यावश्यं वैक्रियं कुर्यात्, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धकः, एवं सर्वबन्धयोर्यथोक्तमन्तरं स्यात्, 'एवं देसबंधंतरंपि'त्ति अस्य भावना प्रागिवेति, 'तिरिक्खजोणियपंचिंदि'त्ति, कथं ?, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वैक्रियं गतः, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धकः, ततः परं देशबन्धकोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रं, तत औदारिकस्य सर्वबन्धको भूत्वा समयं देशबन्धको जातः, पुनरपि इयं श्रद्धोत्पन्ना, (ततो) वैक्रियं कुर्वतः प्रथमसमये सर्वबन्धः, एवं सर्वबन्धयोर्यथोक्तमन्तरं स्यात्,'उक्को० पुव्वकोडिपुहुत्तं'ति, कथं?, पूर्वकोट्यायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वेवोत्पन्नः, पूर्वजन्मना सह सप्ताष्टौ वा वारान्, ततः सप्तमे च भवे वैक्रियं गतः, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धं कृत्वा देशबन्धं कुर्याद्, एवं सर्वबन्धयोरुत्कृष्टयोर्यथोक्तमन्तरं स्यात्, 'एवं देसबंधंतरंपि'त्ति अस्य भावना सर्वबन्धान्तरोक्तानुसारेण कर्त्तव्येति, वैक्रियवपुर्बन्धान्तरमेव प्रकारान्तरेणाह–'जीवस्स णं भंते! रयण'त्ति,'जह० अंतोमुहुत्तं', कथं?, वायुर्वैक्रियवपुः श्रितः, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धको भूत्वा मृतः, ततः पृथिवीकायिकेषूत्पन्नः, तत्रापि क्षुल्लकभवमात्रं स्थित्वा पुनर्वायुर्जातः, तत्रापि कतिपयान् क्षुल्लकभवान् स्थित्वा वैक्रियं गतः, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धको जातः, ततो वैक्रियस्य सर्वबन्धयोरन्तरं बहवः क्षुल्लकभवाः, ते च बहवोऽप्यन्तर्मुहूर्त्ते, अन्तर्मुहूर्त्ते बहूनां क्षुल्लकभवानां प्रतिपादितत्वात्, ततस्सर्वबन्धान्तरं यथोक्तं स्यात्,'उक्को० अणंतकालं वणस्सइकालो'त्ति, कथं ?, वायुर्वैक्रियशरीरीभवन् मृतो वनस्पत्यादिष्वनन्तं कालं स्थित्वा वैक्रियवपुश्च यदा लप्स्यते तदा यथोक्त-

८ शतके ९ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मन्तरं भविष्यतीति,'एवं देसबंधंतरंपि'त्ति अस्य भावना प्रागुक्तानुसारेणेति,रत्नप्रभासूत्रे 'सर्वबंधंतरं'ति एतद् भाव्यते–रत्नप्रभानारको १० वर्षसहस्रस्थितिकः उत्पत्तौ सर्वबन्धकः तत उद्वृत्तस्तु गर्भजपञ्चेन्द्रियेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा रत्नप्रभायामुत्पन्नः, पुनः तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धक इत्युक्तं जघन्यमन्तरं सर्वबन्धयोरिति, अयं यदापि प्रथमोत्पत्तौ विग्रहेण त्रिसमयेनैवोत्पद्यते तदापि न दशवर्षसहस्राणि त्रिसमयन्यूनानि स्युः, अन्तर्मुहूर्त्तमध्यात् समयत्रयस्य तत्र क्षेपात्, न च तत्प्रक्षेपेऽप्यन्तर्मुहूर्त्तत्वव्याघातः, तस्यानेकभेदत्वादिति,'उक्को० वणस्सइकालो'त्ति, कथं ?,रत्नप्रभानारक उत्पत्तौ सर्वबन्धकः, तत उद्वृत्तश्चानन्तकालं वनस्पत्यादिषु स्थित्वा पुनस्तत्रैवोत्पद्यमानस्सर्वबन्धक इत्युत्कृष्टमन्तरमिति,'देसबंधं० जह० अंतोमुहुत्तं'ति, कथं ?, रत्नप्रभानारको देशबन्धकः सन् ततोऽन्तर्मुहूर्त्तायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया उत्पद्य मृत्वा च रत्नप्रभानारकतयोत्पन्नस्तत्र द्वितीयसमये देशबन्धकः,एवं जघन्यं देशबन्धान्तरमिति। 'उक्कोसेणं'ति इत्यादि भावना प्रागुक्तानुसारेणेति। 'एवं जाव'त्ति यावत्करणात् द्वितीयादिपृथिवीषु च जघन्या स्थितिः क्रमेणैकं त्रीणि सप्त दश सप्तदश द्वाविंशति[:त्रयस्त्रिंशच्च]सागरोपमाणीति,'जहा वाउकाइयाणं'ति जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतः पुनरनन्तकालमिति। असुरकुमारादयस्तु सहस्रारान्तदेवा उत्पत्तिसमये सर्वबन्धं कृत्वा स्वां जघन्यस्थितिमनुपाल्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तायुष्कत्वेनोत्पद्य मृत्वा च तेष्वेव सर्वबन्धका जाताः, एवं तेषां वैक्रियस्य जघन्यं सर्वबन्धान्तरं जघन्यातत्स्थितिरन्तर्मुहूर्त्ताधिका वाच्या, उत्कृष्टत्वेऽनन्तं कालं यथा रत्नप्रभानारकाणां, इत्येतदाह–असुरकुमारे'त्यादि, तत्र जघन्या स्थितिरसुरकुमारादीनां व्यन्तराणां च १० वर्षसहस्राणि ज्योतिष्काणां च पल्योपमाष्टभागः, सौधर्मादिषु तु 'पलियं अहियं दो सार साहिया सत्त दस य चोद्दस य'इत्यादि,'आणयदेवत्ते'त्ति सूत्रे 'सव्वबंधंतरं'ति एतद्भावना–आनतकल्पीयो देव उत्पत्तौ

८ शतके ९ उद्देशः

॥१४५॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सर्वबन्धकः, स चाष्टादश सागरोपमाणि तत्र स्थित्वा ततश्च्युतो वर्षपृथक्त्वं मनुष्येषु स्थित्वा पुनस्तत्रैवोत्पन्नः, प्रथमसमये चासौ सर्वबन्धकः इत्येवं सर्वबन्धान्तरं जघन्यमष्टादश सागराणि वर्षपृथक्त्वाधिकानीति, उत्कृष्टं त्वनन्तं कालं, कथं ?, स एव तस्माच्च्युतोऽनन्तं कालं वनस्पत्यादिषु स्थित्वा पुनस्तत्रैवोत्पन्नः प्रथमसमये सर्वबन्धक इत्येवं, **'देसबंधंतरं जह० वासपुहुत्तं'**ति, कथं ?, स एव च देशबन्धकः सन् च्युतो वर्षपृथक्त्वं मनुष्यत्वमनुभूय पुनस्तत्रैव गतः, तस्य सर्वबन्धानन्तरं देशबन्धः, एवं सूत्रोक्तमन्तरं स्यात्, इह यद्यपि समयाधिकं वर्षपृथक्त्वं स्यात् तथाप्येतस्य वर्षपृथक्त्वादनर्थान्तरत्वविवक्षया न भेदेन गणनमिति, एवं प्राणतारणाच्युतग्रैवेयकसूत्राणि नेयानि, अथ सनत्कुमारादिसहस्रारान्ता देवा जघन्येन नव दिनायुष्केभ्यः आनताद्यच्युतान्ता नवमासायुष्केभ्य उत्पद्यन्ते इति जीवसमासेऽभिधीयते, ततो जघन्यं तत्सर्वबन्धान्तरं तत्तदधिकं तत्तज्जघन्यस्थितिरूपं प्राप्नोति इति, सत्यमेतत्, केवलं मतान्तरमेवेदं। अनुत्तरविमानसूत्रे **'अणुत्तरोववाइयपुच्छा'** **'उक्कोसेणं'**ति उत्कृष्टं सर्वबन्धान्तरं देशबन्धान्तरं च सङ्ख्यातानि सागराणि, यतो नानन्तकालमनुत्तरविमानच्युतः संसरति, तानि च **जीवसमासमतेन** द्विसङ्ख्यानीति, अथ वैक्रियवपुर्देशबन्धकादीनामल्पत्वादि आह–**'एएसि'**न्ति, तत्र सर्वस्तोका वैक्रियसर्वबन्धकाः, तत्कालस्याल्पत्वात्, देशबन्धका असङ्ख्यातगुणाः, तत्कालस्य तदपेक्षयाऽसङ्ख्यातगुणत्वात्, अबन्धका अनन्तगुणाः, सिद्धानां वनस्पत्यादीनां च तदपेक्षया अनंतगुणत्वादिति ॥ अथाहारकशरीरप्रयोगबन्धमाश्रित्याह–**'एगागारे'**त्ति एकप्रकारो, नौदारिकादिबन्धवदेकेन्द्रियाद्यनेकप्रकार इत्यर्थः, **सव्वबंधे एकं समयं**, आद्यसमये एव सर्वबन्धभावात्, **'देसबंधं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्को० अंतोमुहुत्तं'**ति जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमात्रमेवाहारकशरीरी स्यात्, परत औदारिकशरीरस्यावश्यं ग्रहणात्, तत्र चान्तर्मुहूर्त्त आद्य-

८ शतके ९ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

समये सर्वबन्धक उत्तरकालं तु देशबन्धक इति। अथाहारकशरीरयोगबन्धान्तरमाह–'सव्वबंधंतरं जह० अंतोमुहुत्तं', कथं ?, मनुष्य आहारकशरीरं श्रितः तत्र प्रथमसमये च सर्वबन्धकः, तत्रान्तर्मुहूर्त्तमात्रं स्थित्वा औदारिकशरीरं गतः, तत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनरपि संशयाद्याहारकशरीरकरणकारणमुत्पन्नं, ततः पुनराहारकं शरीरं गृह्णाति, तत्र प्रथमसमये सर्वबन्धकः, एवं च सर्वबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, द्वयोरप्यन्तर्मुहूर्त्तयोरेकत्वविवक्षणादिति, 'उक्को० अणंतं कालं'ति, कथं ?, यतोऽनन्तकालादाहारकशरीरं पुनर्लभत इति, कालानन्त्यमेव विशेषेणाह–'अणंताओ ओस० कालओ, खेत्तओ अणंता लोग'त्ति एतद्व्याख्यानं प्राग्वत्। अथ तत्र पुद्गलपरावर्त्तमानं किं स्यादित्याह–'अवड्ढं'ति अपगतमर्द्धं अपार्द्धं, देशोनार्धमात्रमित्यर्थः, पुद्गलपरावर्त्तं प्रागुक्तरूपं अपार्द्धमप्यर्द्धतः पूर्णं स्यादत आह–'देसोन'मिति, 'एवं देसबंधान्तरंपि'त्ति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनं, भावना प्रागुक्तानुसारेणेति। अथाहारकदेशबन्धकादीनामल्पबहुत्वमाह–'सव्वत्थोव'त्ति तत्र सर्वस्तोका आहारकस्य सर्वबन्धकाः, तत्सर्वबन्धकालस्याल्पत्वात्, देशबंधकास्सङ्ख्यातगुणाः, तद्देशबन्धकालस्य बहुत्वात्, असङ्ख्यातगुणास्तु ते न स्युः, यतो मनुष्या अपि सङ्ख्याताः, किं पुनराहारकदेशबन्धका ?, अबन्धकास्तेऽनन्तगुणाः, आहारकवपुर्हि मनुष्याणां, तत्रापि संयतानां, तेषामपि केषांचिदेव कर्हिचिदेव कदाचिदेव स्यादिति, शेषकाले ते शेषसत्त्वाश्चाबन्धकाः, ततः सिद्धवनस्पत्यादीनामनन्तगुणत्वादनन्तगुणास्ते इति। अथ तैजसवपुःप्रयोगबन्धमाह–'नो सव्वबंधे'त्ति (सू.३४८) तैजसशरीरस्यानादित्वान्न सर्वबन्धोऽस्ति, तस्य प्रथमतः पुद्गलोपादानरूपत्वादिति, 'अणाइए अपज्जवसिए'त्ति तत्रायं तैजसवपुर्बन्धोऽनादिरपर्यवसितोऽभव्यानां अनादिसपर्यवसितो भव्यानामिति। तैजसवपुर्बन्धान्तरमाह–'अणाइयस्स'त्ति यतस्संसारस्थो जीवस्तैजसवपुर्बन्धेन द्वयरूपेणापि सदा

८ शतके ९ उद्देशः

॥१४६॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अविनिर्मुक्त एव स्यात्, तस्मात् द्वयरूपस्य नास्त्यन्तरमिति। एतदल्पबहुत्वमाह–'सव्वत्थोव'त्ति सर्वस्तोकास्तैजसवपुरबन्धकाः, सिद्धानामेव तदबन्धकत्वात्, देशबन्धका अनन्तगुणाः, तद्देशबन्धकानां सर्वसंसारिणां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वादिति। अथ कार्मणवपुःप्रयोगबन्धमाह–'नाणपडिणिययाए'त्ति (सू. ३४९) ज्ञानस्य–श्रुतादेस्तदभेदात् ज्ञानवतां या प्रत्यनीकता तया, 'नाणनिण्हवणयाए'त्ति ज्ञानस्य श्रुतवतां वा या निह्नवता–अपलपनं सा तयेति, 'नाणविसंवायण'त्ति ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा विसंवादनयोगोव्यभिचारदर्शनाय व्यापारो यस्स तेन, एतानि बाह्यकारणानि ज्ञानावरणीयकार्मणवपुर्बन्धे, अथ आन्तरं कारणमाह–'नाणावे'त्यादि, 'दंसणपडिणीययाए'त्ति दर्शनमिह चक्षुर्दर्शनादि, मोहनीयसूत्रे 'तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए'त्ति तीव्रमिथ्यात्वतयेति, 'तिव्वचरित्त'त्ति कषायव्यतिरिक्तं नोकषायलक्षणं चारित्रमोहनीयमिह ग्राह्यं, 'तिव्वकोहं'ति तीव्रक्रोधतया कषायचारित्रमोहनीयस्य प्रागुक्तत्वादिति, 'कुणिमाहारेणं' मांसभोजनेन 'माइल्ल'त्ति परवंचनमतितया 'नियडिल्ल'त्ति निकृतिर्वञ्चनार्थं चेष्टा, मायाप्रच्छादनार्थं मायान्तरमित्येके, अत्यादरकरणेन परवञ्चनमित्यन्ये, तद्वत्तयेति, 'पगइ'त्ति स्वभावतः परानुपघातितया 'साणुक्कोस'त्ति सानुकम्पतया 'कायउज्जु'त्ति कायर्जुकतया–परावंचनपरया कायचेष्टया 'भावज्जुय'त्ति भावर्ज्जुकतया-परावञ्चनपरमनःप्रवृत्त्येति, 'भासज्जुय'त्ति भाषर्ज्जुकतया–भाषार्जवेनेति, 'अविसंवायण'त्ति अविसंवादनयोगेन, कायर्जुकतादित्रयं वर्त्तमानकालाश्रयं अविसंवादनयोगस्त्वतीतवर्त्तमानकालद्वयाश्रयः, यो विशेषस्स उच्यते। 'सव्वत्थोवा जीवा आउयस्स कम्मस्स'त्ति (सू. ३५१) सर्वस्तोकत्वमेव आयुर्बन्धाद्धायाः स्तोकत्वात्, अबन्धाद्धायास्तु बहुगुणत्वात्, तदबन्धकास्सङ्ख्यातगुणाः, नन्वसङ्ख्यातगुणास्तदबन्धकाः कस्मान्नोक्ताः?, तदबन्धाद्धाया असङ्ख्यातजीवितानाश्रित्यासङ्ख्यातगुणत्वात्, उच्यते, इदमन-

८ शतके ९ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

८ शतके ९ उद्देशः

न्तकायिकानाश्रित्य सूत्रं, तत्रानन्तकायिकाः सङ्ख्यातगुणजीविता एव, ते चायुष्कस्याबन्धकाः, तद्देशबन्धकेभ्यस्सङ्ख्यातगुणा एव ते स्युः, यद्येवं तदबन्धकास्सिद्धादयस्तन्मध्ये क्षिप्यन्ते, तथापि तेभ्यस्सङ्ख्यातगुणा एव ते, सिद्धाद्यबन्धकानामनन्तानामप्यनन्तकायिकायुर्बन्धकापेक्षया अनन्तभागत्वादिति, ननु चेदायुषोऽबन्धकास्संतो बन्धकास्स्युः तदा कथं न तेषां सर्वबन्धसम्भवः?, उच्यते, नह्यायुःप्रकृतिरविद्यमाना सती तैर्निबध्यते औदारिकादिशरीरवदिति न सर्वबन्धसम्भवः ॥ प्रकारान्तरेणौदारिकादि चिन्तयन्नाह–'नो बंधए'त्ति न ह्येकसमये औदारिकवैक्रिययोर्बन्धो विद्यत इति हेतोर्न बन्धकः, एवमाहारकस्य, तैजसस्य पुनः सदाऽविरहितत्वात् बन्धको देशबन्धेन, सर्वबन्धश्च तस्य नास्त्येव, एवं कार्मणवपुषो वाच्यमिति, एवमौदारिकसर्वबन्धमाश्रित्य शेषाणां बन्धचिन्तनार्थोऽनन्तरं दण्डक उक्तः । अथौदारिकस्यैव देशबन्धमाश्रित्यान्यमाह–'जस्स ण'मित्यादि । अथ वैक्रियस्य सर्वबन्धमाश्रित्य शेषाणां बन्धचिन्तनार्थोऽन्यो दण्डकस्तत्र 'तेयगकम्मगस्स जहेवे'त्यादि, यथौदारिकशरीरसर्वबन्धकस्य तैजसकार्मणयोर्देशबन्धकत्वमुक्तमेवं वैक्रियशरीरसर्वबन्धकस्यापि तयोर्देशबन्धकत्वं वाच्यमिति भावः,वैक्रियदेशबन्धदण्डक आहारकस्य सर्वबन्धदेशबन्धकदण्डकद्वयं चेति त्रयं सुगममेव, तैजसदेशबन्धके तु बन्ध एव अबन्ध एव वा, तैजसदेशबन्धक औदारिकवपुषो बन्धकः स्यादबन्धको वा, तत्र विग्रहे वर्त्तमानः अबन्धकः अविग्रहस्थश्च बन्धकः, स चोत्पत्तिक्षेत्रप्राप्तिप्रथमसमये सर्वबन्धकः द्वितीयादौ तु देशबन्धक इति, एवं कार्मणशरीरदेशबन्धदण्डकेऽपि वाच्यमिति । अथौदारिकादिशरीरदेशबन्धकादीनामल्पबहुत्वमाह–तत्र सर्व स्तोका आहारकशरीरस्य सर्वबन्धकाः, यस्मात्ते चतुर्दशपूर्वधरास्तथाविधप्रयोजनवन्त एव कुर्वन्ति, सर्वबन्धकालश्च समयमेवेति, तस्यैव देशबन्धकाः सङ्ख्येयगुणाः, देशबन्धकालस्य बहुत्वात्, वैक्रियस्य सर्वबन्धका असङ्ख्येयगुणाः, तेषां तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणत्वात्, तस्यैव देशबन्धका

॥१४७॥

असङ्ख्येयगुणाः, सर्वबन्धाद्धापेक्षया देशबन्धाद्धाया असङ्ख्यातगुणत्वात्, अथवा सर्वबन्धकाः प्रतिपद्यमानकाः देशबन्धकास्तु पूर्वप्रतिपन्नाः, प्रतिपद्यमानकेभ्यश्च पूर्वप्रतिपन्नानां बहुत्वं, वैक्रियसर्वबन्धकेभ्यो देशबन्धकाः असङ्ख्येयगुणाः, तैजसकार्म्मणयोरबन्धका अनन्तगुणाः, यस्मात्ते सिद्धाः, ते च वैक्रियदेशबन्धकेभ्योऽनन्तगुणा एव, वनस्पतिवर्जसर्वजीवेभ्यः सिद्धानामनन्तगुणत्वादिति, औदारिकशरीरस्य सर्वबन्धका अनन्तगुणाः, ते च वनस्पतिप्रभृतीन् प्रतीत्य प्रत्येतव्याः, तस्यैवाबन्धका विशेषाधिकाः, एते हि विग्रहगतिसमापन्नाः समुद्घातगता वा स्युः, तत्र सिद्धादीनामत्यन्ताल्पत्वेनेहाविवक्षा, विग्रहगतिकाश्च वक्ष्यमाणन्यायेन सर्वबन्धकेभ्यो बहुतराः इति तेभ्यस्तदबन्धका विशेषाधिकाः, तस्यैव च औदारिकस्य देशबन्धका असङ्ख्यातगुणाः, विग्रहाद्धापेक्षया देशबन्धाद्धाया असङ्ख्यातगुणत्वात्, तैजसकार्मणयोर्देशबन्धका विशेषाधिकाः, यस्मात्सर्वेऽपि संसारिणस्तैजसकार्म्मणयोर्देशबन्धकाः स्युः, तत्र च ये विग्रहगतिका औदारिकदेशबन्धकवैक्रियादिबन्धकाश्च ते औदारिकदेशबन्धकेभ्योऽतिरिच्यन्त इति ते विशेषाधिकाः, वैक्रियशरीरस्याबन्धका विशेषाधिकाः, यस्माद्वैक्रियबन्धकाः प्रायो देवनारका एव, शेषास्तु तदबन्धकाः सिद्धाश्च, तत्र सिद्धास्तैजसादिदेशबन्धकेभ्योऽतिरिच्यते तेन ते विशेषाधिका उक्ताः, आहारकाबन्धका विशेषाधिकाः, यस्मान्मनुष्याणामेवाहारकशरीरं, वैक्रियं तु तदन्येषामपि, ततो वैक्रियबन्धकेभ्य आहारकबन्धकानां स्तोकत्वेन वैक्रियाबन्धकेभ्य आहारकाबन्धका विशेषाधिका इति, एतत्पूर्वाचार्यकृतगाथालिखनाभावाद् ग्रन्थगौरवभयाच्चैतद्यत्रकमप्यत्र न प्रस्तार्यते ॥ **अष्टमशते समाप्तो बन्धः। तत्समाप्तौ च सम्पूर्णं नवमोद्देशकविवरणम् ॥**

'रायगिहे'त्यादि तत्र 'सीलं सेयं सुयं सेयं' सीलं सेयं'ति (सू. ३५२) श्रुतशीलसंपन्ना नरा विचारयंतीति, 'एवं'ति

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एवं–लोकसिद्धन्यायेन खलु–निश्चयेन 'अण्णउत्थिय'त्ति इहान्यपूथिकाः केचित् क्रियामात्रादेवाभीष्टार्थसिद्धिमिच्छन्ति, न च किञ्चिदपि ज्ञानेन प्रयोजनं, निश्चेष्टत्वात्, घटादिकरणप्रवृत्तावाकाशादिपदार्थवत्, उच्यते चैवं–"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्। यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥१॥" तथाऽऽवश्यके च 'जहा खरो चंदणभारवाही'त्यादि १। अतस्ते प्ररूपयन्ति–शीलं श्रेयः, प्राणातिपातादिविरमणध्यानाध्ययनादिरूपा क्रियैव शीलं श्लाघ्यं, पुरुषार्थसाधकत्वात्, श्रेयं वा–श्रयणीयं पुरुषेण श्रेयोऽर्थिना, केचिदन्ये ज्ञानादेवेष्टसिद्धिमिच्छन्ति, न क्रियातः, ज्ञानवियुक्तस्य क्रियावतोऽपि फलसिद्ध्यदर्शनात्, यत उच्यते–विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता। मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥१॥" तथा दशवैकालिके च–'पढमं नाणं तओ दये'त्यादि, अतस्तयाहुः–श्रुतं–ज्ञानं श्रेयः–प्रधानं पुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वात्, न तु शीलं, अन्ये तु ज्ञानक्रियाभ्यां मिथो निरपेक्षाभ्यां फलमाहुः, ज्ञानं क्रियाशून्यमेव उपसर्जनीभूतक्रियं वा फलदं स्यात्, क्रियाऽपि ज्ञानशून्या उपसर्जनीभूतज्ञाना वा फलदा इति भावः, भणंति च–किञ्चिद्वेदमयं पात्रं, किञ्चित्पात्रं तपोमयम्। आगमिष्यति तत्पात्रं, यत्पात्रं तारयिष्यति ॥१॥ अतस्ते प्रोचुः–श्रुतं शीलं च द्वे अपि सफले, पुरुषस्य सिद्धिहेतुत्वात्, आहुर्जैना एवं 'नाणं पयासगं'मित्यादि, २ तपस्संयमौ च शीलमेवेति, तथा 'संजोगसिद्धीइ फलं वयंति'इत्यादि, द्वितीयव्याख्यानपक्षे मिथ्यात्वं, संयोगतः फलसिद्धेर्दृष्टत्वात्, एकैकस्य प्रधानतरविवक्षया अप्यसङ्गतत्वादिति, 'अहं पुण'त्ति अहं पुनर्गौतम! एवमाख्यामि यावत् प्ररूपयामि, श्रुतयुक्तं शीलं श्रेय एवं वाक्यशेषो दृश्यः, अथ कस्मादेवं?, अत्रोच्यते–'एव'मिति, एवं–वक्ष्यमाणन्यायेन 'पुरिस'त्ति पुरुषप्रकारः 'सीलवं असुयवं'ति कोऽर्थः 'उवरए'त्ति उपरतो–निवृत्तः स्वमत्या पापात् 'अविण्णाय'त्ति अविज्ञातधर्मा, भावतोऽनधिगतश्रुतज्ञानो,

८ शतके ९ उद्देशः

॥१४८॥

अत्र **शतक-८**, **उद्देशक** : १० एव वर्तते, मूल संपादने यत् **उद्देशक** : ९ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३५२-३५९] + गाथा: दीप अनुक्रम [४३०-४३७]

बालतपस्वीत्यर्थः, गीतार्थानिश्रिततपश्चरणनिरतोऽगीतार्थ इत्यन्ये, 'देसाराहए'त्ति स्तोकमंशं मोक्षस्याराधयतीत्यर्थः, सम्यग्ज्ञानरहितत्वात् क्रियापरत्वाच्चेति, 'असीलवं सुयवं'ति कोऽर्थः ? 'अणुवरए विण्णाय'त्ति पापादनिवृत्तो ज्ञातधर्मा च, अविरतसम्यग्दृष्टिरिति भावः। देसविराहए'त्ति देशं-स्तोकमंशं ज्ञानादित्रयरूपमोक्षस्य तृतीयभागरूपं चारित्रं विराधयतीत्यर्थः, शेषौ द्वौ भेदौ कण्ठ्यौ ॥ आराधनामेव भेदत आह-'कइविहा ण'मित्यादि(सू० ३५३)ज्ञानाराधना कालविनयाद्यनतिचारतया, दर्शनं-सम्यक्त्वं तस्याराधना निःशङ्कितत्वादिना, चारित्रं-सामायिकादि तदाराधना निरतिचारता, 'उक्कोसिय'त्ति उत्कृष्टा ज्ञानाराधना ज्ञानकृत्यानुष्ठाने प्रकृष्टप्रयत्नता, 'मज्झिम'त्ति तेष्वेव मध्यमप्रयत्नता 'जहण्ण'त्ति जघन्या तेष्वल्पतमप्रयत्नता, एवं दर्शनाराधना चारित्राराधनापि च,'जस्स णं'ति 'अजहण्णुक्कोसा व'त्ति अजघन्योत्कर्षा, मध्यमेत्यर्थः, उत्कृष्टज्ञानाराधनावतो द्वे आद्ये दर्शनाराधने भवतः, न पुनस्तृतीया, तथास्वभावत्वात्तस्या इति,'जस्स पुण'त्ति उत्कृष्टदर्शनाराधनावतो हि ज्ञानं प्रति त्रिप्रकारस्यापि प्रयत्नस्य सम्भवोऽस्तीति त्रिप्रकारापि तदाराधना भजनया भवति, उत्कृष्टज्ञानचारित्राराधनासंयोगसूत्रे उत्तरं-'जस्स णं भंते ! उक्कोसिया नाणाराहण'त्ति यस्योत्कृष्टा ज्ञानाराधना तस्य चारित्राराधना उत्कृष्टा मध्यमा वा स्यात्, उत्कृष्टज्ञानाराधनावतो हि चारित्रं प्रति नाल्पतमप्रयत्नता स्यात्, तत्स्वभावत्वात्तस्या इति, उत्कृष्टचारित्राराधनावतस्तु ज्ञानं प्रति प्रयत्नत्रयमपि भजनया स्यात् इत्येतदेवाह-'जहा उक्कोसिए'त्यादि, सूत्रे तूत्तरमिदम्-'जस्स उक्को० दंसणाराहण'त्ति यस्योत्कृष्टा-दर्शनाराधना तस्य चारित्राराधना त्रिधापि भजनया स्यात्, उत्कृष्टदर्शनाराधनावतो हि चारित्रं प्रति प्रयत्नस्य त्रिविधस्याप्यविरुद्धत्वात्, उत्कृष्टचारित्राराधना(वत)उत्कृष्टैव दर्शनाराधना, उत्कृष्टचारित्रस्योत्कृष्टदर्शनानुगतत्वादिति । अथाराधनाभेदफलान्याह-'तेणेव

अत्र शतक-८, उद्देशक : १० एव वर्तते, मूल संपादने यत् उद्देशक : ९ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

श्रीभग० लघुवृत्तौ

भवग्गहणेण'त्ति उत्कृष्टज्ञानाराधनया तेनैव भवेन सिध्यति, उत्कृष्ट(जघन्य)चारित्राराधनायाः सद्भावे,'कप्पोवएसु'त्ति कल्पोपगेषु–सौधर्मादिदेवलोकेषु उत्पद्यते मध्यमचारित्राराधनासद्भावे, 'कप्पातीएसु'त्ति कल्पातीतेषु ग्रैवेयकादिषु उत्पद्यते मध्यमोत्कृष्टचारित्राराधनासद्भावे,'उक्को० दंसणाराहण'त्ति इत्यत्र 'एवं चेव'त्तिकरणात् तद्भवसिद्ध्यादि दृश्यं, चारित्राराधनायाः तत्रोत्कृष्टाया मध्यमायाश्चोक्तत्वादिति,'उक्को० चारित्ताराहण'त्ति 'एवं चेव'त्ति करणात् तद्भवसिद्ध्यादि दृश्यं, केवलं तत्र 'अत्थेगइए कप्पोवगेसु वा' इत्यभिहितं तदिह न वाच्यं, उत्कृष्टचारित्राराधनावतः सौधर्मादिकल्पेष्वगमनात्, वाच्यं पुनः 'अत्थेगइए कप्पाईएसु उववज्जइ'त्ति सिद्धिगमनाभावे तस्यानुत्तरसुरेषु गमनादेवेति, मध्यमज्ञानाराधनासूत्रे मध्यमत्वं ज्ञानाराधनाया अधिकृतभव एव, निर्वाणभवे पुनरुत्कृष्टत्वमवश्यंभावि इति ज्ञेयं, निर्वाणान्यथानुपपत्तेः इति, 'दोच्चेणं'ति अधिकृतनरभवापेक्षया द्वितीयेन नरभवेन, 'तच्चं'ति अधिकृतनरभवग्रहणापेक्षया तृतीयं नरभवग्रहणं, एताश्चारित्राराधनायुता ज्ञानाद्याराधना इह विवक्षिताः, कथमन्यथा जघन्यज्ञानाराधनामाश्रित्य वक्ष्यति 'सत्तट्ठ भवग्गहणाइं'ति, यतश्चारित्राराधनाया एवेदं फलमुक्तं, यदाह–"अट्ठ भवा उ चरित्ते"त्याद्यावश्यके, श्रुतसम्यक्त्वदेशविरतिभवास्त्वसङ्ख्येया उक्ताः, तेन चारित्राराधनारहिता ज्ञानदर्शनाराधना असङ्ख्येयभविका अपि स्युरिति, न त्वष्टभविका एवेति ॥ 'वण्णपरिणामे'त्ति (सू. ३५४) यः पुद्गलो वर्णांतरत्यागाद्वर्णान्तरं यात्ययं वर्णपरिणामः, एवमन्यत्रापि,'परिमंडलसंठाणे'त्ति इह परिमण्डलसंस्थानं वलयाकारं यावत्करणात् 'वट्टसंठाणे तंससंठाणे चउरंससंठाणपरिणाम'त्ति दृश्यं ॥ 'एगे भंते ! पुग्गलत्थिकाए'त्ति (सू. ३५५) पुद्गलास्तिकायस्य–एकाणुकादिपुद्गलराशेः प्रदेशो–निरंशोऽंशः पुद्गलास्तिकायप्रदेशः परमाणुः द्रव्यं गुणपर्याययोगि, द्रव्यदेशो चाद्रव्यावयवः, एवमेकत्व-

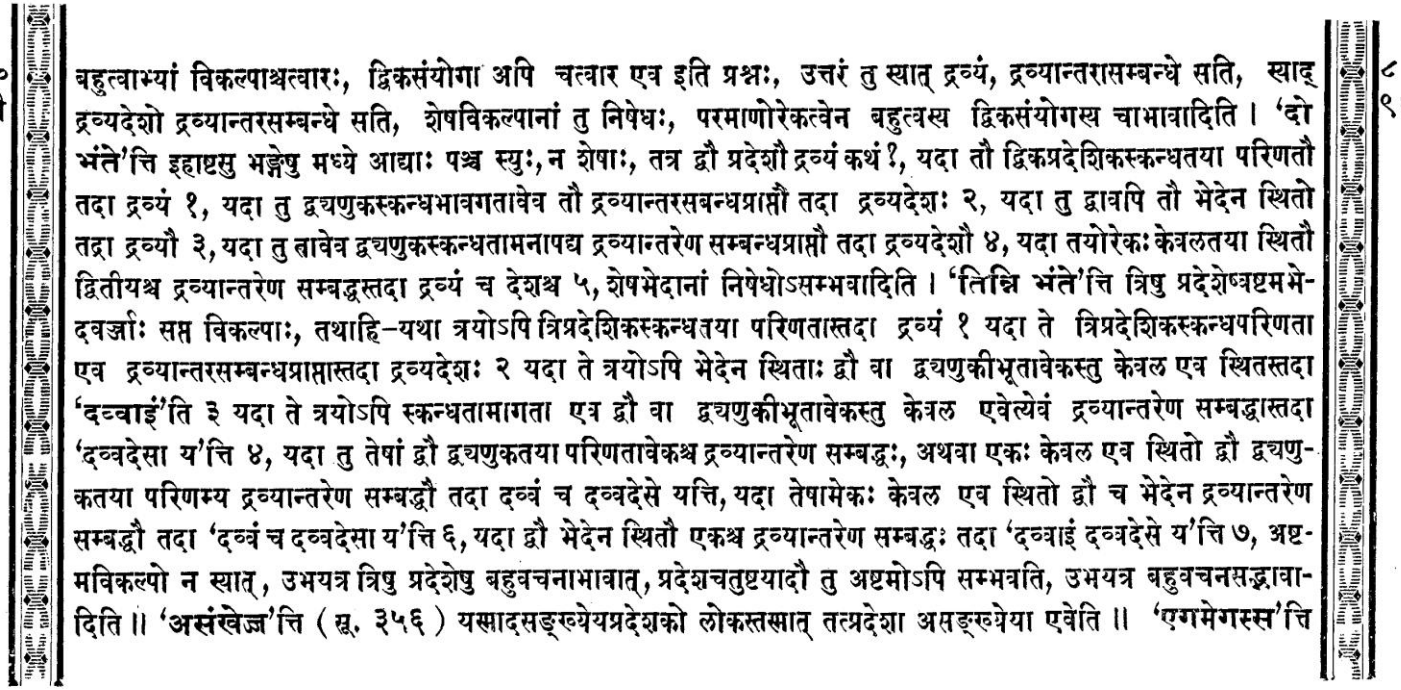
८ शतके ९ उद्देशः

॥१४९॥

अत्र **शतक-८**, **उद्देशक** : १० एव वर्तते, मूल संपादने यत् **उद्देशक** : ९ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३५२-३५९] + गाथा: दीप अनुक्रम [४३०-४३७]



श्रीभग० लघुवृत्तौ

बहुत्वाभ्यां विकल्पाश्चत्वारः, द्विकसंयोगा अपि चत्वार एव इति प्रश्नः, उत्तरं तु स्यात् द्रव्यं, द्रव्यान्तरासम्बन्धे सति, स्याद् द्रव्यदेशो द्रव्यान्तरसम्बन्धे सति, शेषविकल्पानां तु निषेधः, परमाणोरेकत्वेन बहुत्वस्य द्विकसंयोगस्य चाभाववादिति। 'दो भंते'त्ति इहाष्टसु भङ्गेषु मध्ये आद्याः पञ्च स्युः, न शेषाः, तत्र द्वौ प्रदेशौ द्रव्यं कथं?, यदा तौ द्विकप्रदेशिकस्कन्धतया परिणतौ तदा द्रव्यं १, यदा तु द्व्यणुकस्कन्धभावगतावेव तौ द्रव्यान्तरसबन्धप्राप्तौ तदा द्रव्यदेशः २, यदा तु द्वावपि तौ भेदेन स्थितो तद्रा द्रव्यौ ३, यदा तु तावेव द्व्यणुकस्कन्धतामनापद्य द्रव्यान्तरेण सम्बन्धप्राप्तौ तदा द्रव्यदेशौ ४, यदा तयोरेकः केवलतया स्थितौ द्वितीयश्च द्रव्यान्तरेण सम्बद्धस्तदा द्रव्यं च देशश्च ५, शेषभेदानां निषेधोऽसम्भवादिति। 'तिन्नि भंते'त्ति त्रिषु प्रदेशेष्वष्टमभेदवर्जाः सप्त विकल्पाः, तथाहि–यथा त्रयोऽपि त्रिप्रदेशिकस्कन्धतया परिणतास्तदा द्रव्यं १ यदा ते त्रिप्रदेशिकस्कन्धपरिणता एव द्रव्यान्तरसम्बन्धप्राप्तास्तदा द्रव्यदेशः २ यदा ते त्रयोऽपि भेदेन स्थिताः द्वौ वा द्व्यणुकीभूतावेकस्तु केवल एव स्थितस्तदा 'दव्वाइं'ति ३ यदा ते त्रयोऽपि स्कन्धतामागता एव द्वौ वा द्व्यणुकीभूतावेकस्तु केवल एवेत्येवं द्रव्यान्तरेण सम्बद्धास्तदा 'दव्वदेसा य'त्ति ४, यदा तु तेषां द्वौ द्व्यणुकतया परिणतावेकश्च द्रव्यान्तरेण सम्बद्धः, अथवा एकः केवल एव स्थितो द्वौ द्व्यणुकतया परिणम्य द्रव्यान्तरेण सम्बद्धौ तदा दव्वं च दव्वदेसे यत्ति, यदा तेषामेकः केवल एव स्थितो द्वौ च भेदेन द्रव्यान्तरेण सम्बद्धौ तदा 'दव्वं च दव्वदेसा य'त्ति ६, यदा द्वौ भेदेन स्थितौ एकश्च द्रव्यान्तरेण सम्बद्धः तदा 'दव्वाइं दव्वदेसे य'त्ति ७, अष्टमविकल्पो न स्यात्, उभयत्र त्रिषु प्रदेशेषु बहुवचनाभावात्, प्रदेशचतुष्टयादौ तु अष्टमोऽपि सम्भवति, उभयत्र बहुवचनसद्भावादिति॥ 'असंखेज्ज'त्ति (सू. ३५६) यस्मादसङ्ख्येयप्रदेशको लोकस्तस्मात् तत्प्रदेशा असङ्ख्येया एवेति॥ 'एगमेगस्स'त्ति

८ शतके ९ उद्देशः

अत्र शतक-८, उद्देशक : १० एव वर्तते, मूल संपादने यत् उद्देशक : ९ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

श्रीभग० लघुवृत्तौ

(सू. ३५७) एकैकस्य जीवस्य तावन्तः प्रदेशाः यावन्तो लोकाकाशस्य, कथं ?, यस्माज्जीवः केवलिसमुद्घातकाले सर्वं लोकाकाशं व्याप्यावतिष्ठते तस्माल्लोकाशप्रमाणास्ते इति, **'अविभागपलिच्छेद'**त्ति परिच्छिद्यन्ते परिच्छेदाः–अंशास्त एव सविभागा अपि स्युः अतः अविभागाश्च पलिच्छेदाश्चते अविभागपलिच्छेदाः, निरंशा अंशा इत्यर्थः, ते च ज्ञानावरणीयकर्म्मणोऽनन्ताः, कथं ?, ज्ञानावरणीयं यावतो ज्ञानस्याविभागभेदानावृणोति तावन्त एव तस्याविभागपलिच्छेदाः, दलिकापेक्षया वा अनन्ततत्परमाणुरूपाः, **'अविभागपलिच्छेदेहिं'**ति तत्परमाणुभिः **'आवेढियपरिवेढिय'**त्ति आवेष्टितपरिवेष्टितः–अत्यन्तवेष्टितः आवेष्टि(ष्ट्य)परिवेष्टितो वा, **'सिय नो आवेढिय'**त्ति केवलिनं प्रतीत्य, तस्य क्षीणज्ञानावरणत्वेन तत्प्रदेशस्य ज्ञानावरणीयाविभागपरिच्छेदैरावेष्टनपरिवेष्टनाभावादिति, **'मणूससस्स जहा जीवस्स'**त्ति (सू. ३५८) **'सिय आवेढिय'**त्ति वाच्यमित्यर्थः, मनुष्यापेक्षया आवेष्टितपरिवेष्टितत्वस्य तदितरस्य च सम्भवात्, एवं दर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायेष्वपि वाच्यं, वेदनीयायुष्कनामगोत्रेषु पुनर्जीवपदे इव भजना वाच्या, सिद्धापेक्षया, मनुष्यपदे तु नासौ, तत्र वेदनीयादीनां भावात्, अत आह–**'नवरं वेयणिज्जस्से'**त्यादि, अथ ज्ञानावरणं शेषैः सह चिन्त्यते–**'जस्स ण'**मित्यादि, **'जस्स पुण वेयणिज्जं तस्स नाणाव० सिय अत्थि सिय नत्थि'**त्ति अकेवलिनं केवलिनं च प्रतीत्य, अकेवलिनो हि वेदनीयं, न ज्ञानावरणमिति, **'जस्स नाणा० तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि'**त्ति अक्षपकं क्षपकं च प्रतीत्य, अक्षपकस्य हि ज्ञानावरणीयं मोहनीयं चास्ति, क्षपकस्य तु मोहक्षये यावत्केवलं नोत्पद्यते तावत् ज्ञानावरणीयमस्ति, न तु मोहनीयं, एवं यथा ज्ञानावरणीयं वेदनीयेन सहाधीतं तथाऽऽयुर्नामगोत्रत्रयेण सहाध्येयं, उक्तप्रकारभजना सर्वेषु भाव्या, अन्तरायेण समं ज्ञानावरणीयं तथा वाच्यं यथा दर्शनावरणीयं, निर्भजनमित्यर्थः, **'नियमा परुप्परं**

८ शतके ९ उद्देशः

॥१५०॥

अत्र **शतक-८**, **उद्देशक** : १० एव वर्तते, मूल संपादने यत् **उद्देशक** : ९ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति

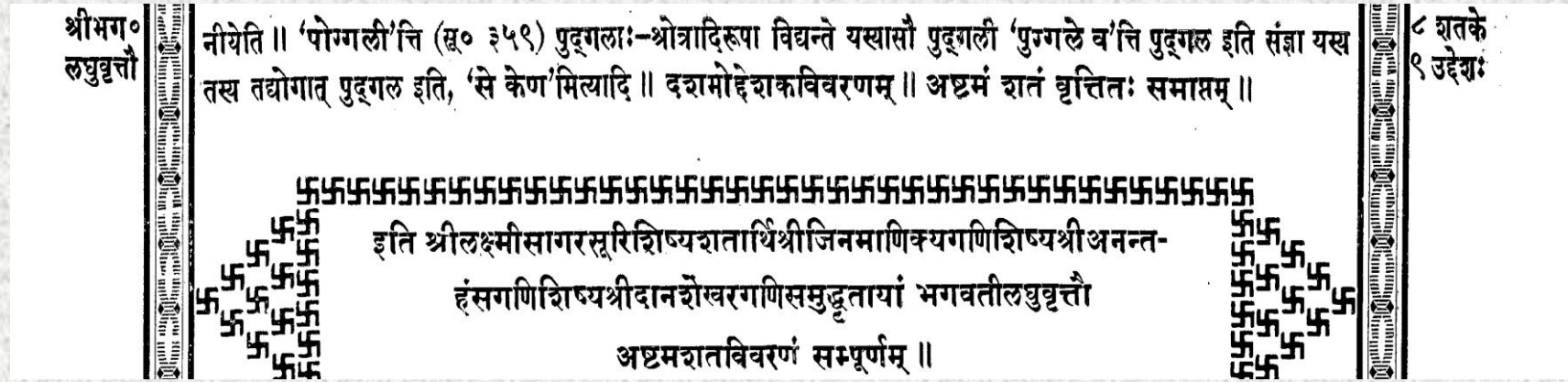
पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [३५२-३५९] + गाथा:

दीप अनुक्रम [४३०-४३७]

भाणियव्वाणी'ति कोऽर्थः?-'जस्स नाणावर० तस्स नियमा अंतराइयं, जस्संतरा० तस्स नियमा नाणावरणिज्जं? इत्येवमनयोर्मिथो नियमो वाच्य इति। अथ दर्शनावरणं षड्भिः सह चिन्त्यते-'जस्से'त्यादि, अयं च गमो ज्ञानावरणीयसमपाठः, 'जस्स णं भंते! वेयणिज्ज'मित्यादिना तु वेदनीयं शेषैः पञ्चभिस्सह चिन्त्यते, तत्र 'जस्स वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि'त्ति अक्षीणमोहं क्षीणमोहं च प्रतीत्य, अक्षीणमोहस्य हि वेदनीयमोहनीये स्तः, क्षीणमोहस्य वेदनीयं तु, न मोहनीयं.'परोप्परं नियम'त्ति, कोऽर्थः?-यस्य वेदनीयं तस्य नियमादायुः यस्यायुस्तस्य नियमाद् वेदनीयं इत्येते वाच्ये, एवं नामगोत्राभ्यामपि वाच्यं, अन्तरायेण तु भजना, यतो वेदनीयमन्तरायं चाकेवलिनामस्ति, केवलिनां तु वेदनीयमस्ति, नत्वन्तरायं, अत उक्तं-'जस्स वेयणिज्जं तस्संतरायं सिय अत्थि सिय नत्थि'त्ति अथ मोहनीयमन्यैश्चतुर्भिस्समं चिन्त्यते, तत्र यस्य मोहनीयं तस्यायुर्नियमादकेवलिन इव, यस्य पुनरायुस्तस्य मोहनीयं भजनया, यतोऽक्षीणमोहस्यायुर्मोहनीयं चास्ति, क्षीणमोहस्य त्वायुरेवेति,'एवं नाम गोयं अंतराइयं च भाणियव्वं'ति, अयमर्थः-यस्य मोहनीयं तस्य नाम गोत्रमन्तरायं च नियमादस्ति, यस्य पुनर्नामादित्रयं तस्य मोहनीयं स्यादस्त्यक्षीणमोहस्येव,स्यान्नास्ति क्षीणमोहस्येवेति। अथायुरन्यैस्त्रिभिस्सह चिन्त्यते-'जस्स णं भंते! आउय'मित्यादि, 'दोऽवि परुप्परं नियम'त्ति, कोऽर्थः?-'जस्स आउयं तस्स नियमा नामं जस्स नामं तस्स आउयं'ति इत्यर्थः, एवं गोत्रेणापि 'जस्स आउयं तस्संतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि'त्ति यस्यायुस्तस्यान्तरायः स्यादस्त्यकेवलिवत्, स्यान्नास्ति केवलिवदिति, 'जस्स णं भंते! नाम' इत्यादिना सामान्येन द्वयेन सह चिन्त्यते, तत्र यस्य नाम तस्य नियमाद् गोत्रं, यस्य गोत्रं तस्य नियमान्नाम, तथा यस्य नाम तस्यान्तरायं स्यादस्त्यकेवलिवत्, स्यान्नास्ति केवलिवदिति, एवं गोत्रान्तराययोरपि भजना भाव-

अत्र शतक-८, उद्देशक : १० एव वर्तते, मूल संपादने यत् उद्देशक : ९ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः अस्ति



श्रीभग० लघुवृत्तौ

नीयेति ॥ 'पोग्गली'त्ति (सू० ३५९) पुद्गलाः–श्रोत्रादिरूपा विद्यन्ते यस्यासौ पुद्गली 'पुग्गले व'त्ति पुद्गल इति संज्ञा यस्य तस्य तद्योगात् पुद्गल इति, 'से केण'मित्यादि ॥ दशमोद्देशकविवरणम् ॥ अष्टमं शतं वृत्तितः समाप्तम् ॥

इति श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यशतार्थिश्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्त-
हंसगणिशिष्यश्रीदानशेखरगणिसमुद्धृतायां भगवतीलघुवृत्तौ
अष्टमशतविवरणं सम्पूर्णम् ॥

८ शतके ९ उद्देशः

अत्र **शतक-८, उद्देशक** : १० एव वर्तते, मूल संपादने यत् **उद्देशक** : ९ मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: अस्ति

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

भाग-1

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

"भगवती-अङ्गसूत्र" [मूलं एवं दानशेखरसूरि-रचित वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

"भगवती" मूलं एवं वृत्ति:" नामेण परिसमाप्त:

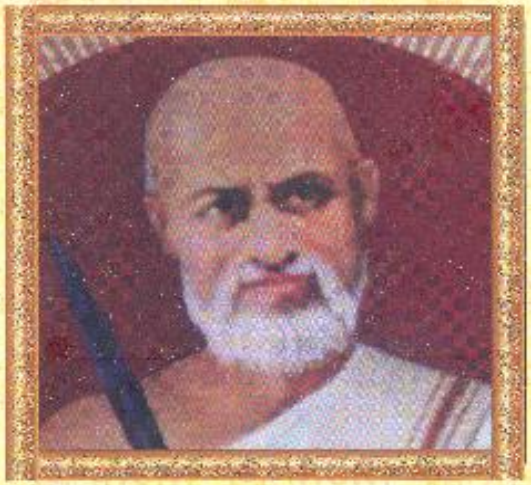
'सवृत्तिक-आगम-सुत्राणि-2' श्रेणि, भाग-१


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

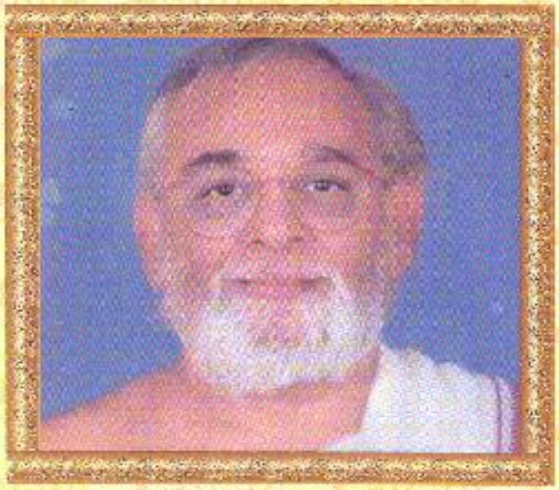
सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूड़ामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद
गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर
सूरीश्वरजी महाराज साहेब

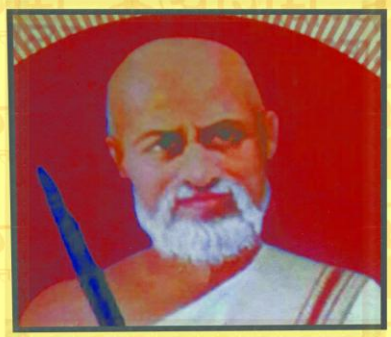


श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब पचास साल पहेले परम पूज्य स्वर्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू -भगवंत एवं साध्वी -महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |



मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम - ०५

'भगवती' मूलं एवं वृत्तिः [१]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

